नाडी-तत्त्व-दर्शनम्

सत्यदेवो वासिष्ठः

२८१, वीनस अपार्टमेन्ट,
कफ पैरेड
बम्बई—४००००२
१०-७-१६८४

आदरणीय वासिष्ठ जी,

सादर प्रणाम ।

आज अचानक मुझे कुछ गुजरे हुए पल याद आ गए और उनके याद आते ही रोंगटे खड़े हो गए। आपको याद होगा पिछले दिसम्बर के दूसरे हफ्ते में श्री महेश कुमार जी आपके पास मेरी अजीबोगरीब बीमारी के लिए आए थे। मुझे करीब १० साल पहले किडनी में पत्थरी हुई थी। इस दफा दर्द भी हुआ वह यही कहता था कि पत्थरी है। पर कोई (X-ray) एक्सरे इत्यादि यह साबित नहीं कर सका कि पत्थरी है। तो फिर क्या है ? बम्बई का बड़े से बड़ा (Surgeon) सर्जन डा० शाह एवं धन्वन्तरी एवार्ड विनर डा० मोदी भी असमंजस में पड़ गए। हर खून का, पेशाब का हर टैस्ट, (X-ray) एक्सरे इत्यादि लिया गया और पैसा पानी की तरह बहाया गया, पर सब बेकार। बीमारी का नाम पता नहीं लगा। जब नाम ही न पता हो तो इलाज किस चीज का हो।

मेरी लड़की की शादी २४ दिसम्बर की पक्की थी। और डाक्टर कह रहे थे कि चूंकी हर टैस्ट के जवाब में किसी बीमारी का पता नहीं चल रहा, इसलिये हस्पताल में (admit) दाखिल करवा दिया जाए। दिमाग बड़ा परेशान था कि इस पर लड़की की शादी है, २४ दिसम्बर से पहले सब (Advance Incometax) एडवांस कर भरने हैं। २५ दिसम्बर से पहले सारे बैंक का लेन-देन ठीक करना है और बहुत सा पैसा शादी के लिए भी चाहिए और इन्तजाम करने वाला एक मैं और मेरी हालत यह कि मैं बीमार और बीमारी का इलाज नहीं हो रहा। इलाज तो तब हो जब बीमारी का पता हो, दिमाग परेशान इतना कि कहा नहीं जा सकता और दर्द इतना कि सहा नहीं जा सकता। सामने मौत नजर आने लग गई।

इन दिनों मैं अपने परम मित्र श्री महेश कुमार जो वासिष्ठ जी के शिष्य हैं। (Indian Revenue Service) भारतीय राजस्व सेवा के सदस्य हैं और आज कल उप समाहर्ता, (Deputy Collector) केन्द्रीय उत्पादन शुल्क एवं सीमाकर (Customrs and Central Excise) का पद भार सम्हाले हुए हैं। जो दिल्ली में रहते थे, उनसे फोन पर रोज दर्द का और डाक्टरों की राय इत्यादि की बातें करता रहता था। जब थक कर डाक्टरों ने यह कह दिया कि घर पर हुए हर टैस्ट से कुछ बीमारी का पता नहीं चल सका और अब (Obseiration) परीक्षण के लिए इन्हें हस्पताल में दाखिल करवा दिया जाए। दर्द का कारण पता लगने पर ही तो सही दवा शुरू हो सकती है। यह बात मैंने महेशकुमार जी से कही। कहा दर्द सहने की शक्ति टूट चुकी है मैं टूट चुका हूं और मैं अपने आप को सम्हाल न सका और फोन पर फूट-फूट कर रो पड़ा और कह दिया कि यह दोस्त तुम्हारा चला अब और बाद में ध्यान रखना मेरे परिवार का। उस दिन ३ बार फोन पर अपने मित्र श्री महेशकुमार जी से हमारी बात हुई। . . . .

इस पर महेश कुमार जी ने हमें आपका नाम बताया और कहा कि आपको इस नाड़ी विद्या का बहुत ज्ञान है। और आप बीमार को देखे बिना उसके किसी दूत की नाड़ी देख कर

ही वीमार की वीमारी के वारे में बता सकते हैं। हमने अपने दोस्त से कहा कि मजाक का वक्त होता है क्योंकि हम रो पड़े फोन पर फूट-फूट कर इसका मतलव यह नहीं कि हमें हंसाने के लिए आप ऐसा जोक मारो। परियों के लोक की कहानी सुना रहे तो, चन्दा मामा की कहानी सुना रहे हो इत्यादि-इत्यादि और कहा ऐसे वक्त ऐसा मजाक। हंसी तो आ रही है पर अच्छा नहीं लग रहा। हमारे परिवार के लोग भी हंसने लग गए और इस बात पर अफसोस करने लग गए कि हम सव समझते हैं और उन्हें यह क्या मजाक सूझा। इस पर भी महेश कुमार जी टस से मस नहीं हुए और उतने ही विश्वास (confidence) से उन्होंने वह वात फिर दोहराई। दिल उनकी वात मानना चाहता था और दिमाग कहता था कि पागल हो गए हो क्या? वम्वई में धन्वन्तरी (awardwinner) एवार्ड विनर और उनके टक्कर के २-३ डाक्टरों को दिखाने की हैसियत रखने वाला और जिनका इलाज चल रहा है, क्या आज अपने दोस्त महेश कुमार जी के कहने पर भिवानी जैसी छोटी जगह पर रहते किसी दूत नाडी विशेषज्ञ के चक्कर में पड़ेगा? दिमाग परेशान था। आखिर दिमाग ने फैसला किया कि वम्वई वालों ने आखिर किया ही क्या है यही तो कहा है कि वीमारी पता नहीं लग रही हस्पताल दाखिल हो जाओ। मौत सामने नंगी नाच रही है। क्या नुकसान है इन्हें (try) आजमाने में, जव कि मेरा जिगरी दोस्त इतने विश्वास से कह रहा है। हमने हां कर दी। और महेश कुमार जी दिल्ली से भिवानी चल पड़े। वहां से रात ९ वजे वापिस आए और आकर हमें फोन पर जो आपने लिख कर दिया था वह सव पढ़ कर वतलाया। मैं भौचक्का रह गया, हैरान हो गया आपकी वातें सव सही थीं। मेरे दर्द की हर किस्म का आपने उल्लेख ऐसे किया था जैसे कि वीमार मैं नहीं था आप खुद थे और आप वीती सुना रहे थे। दिन के किसी वक्त दर्द का क्या रूप है और कितनी अधिक है या कितनी कम है हर वात आपने ठीक लिखी। मैं हैरान था आपने जिन्दगी में मुझे नहीं देखा मेरे दोस्त की नाड़ी में आपने कैसे यह सव कुछ देख लिया और कह दिया। विश्वास हो गया कि धृतराष्ट्र को संजय ने कुरुक्षेत्र का सारा विवरण सुनाया। यह कहानी नहीं होगी जरूर हकीकत रही होगी। आपको सैकड़ों वार नमस्कार है।

श्री महेश कुमार जी दवा लेकर (Airport) हवाई अड्डे पहुंचे, पर वम्वई के लिए आखिरी (Plane) निकल चुका था। इसी दिन सुवह फिर गए और हमें दवा पहुंचवाई। दवा का हैरतअंगेज असर था। २ दिन में वीमारी साफ और मैं हृष्ट-पुष्ट अपने पांव पर खड़ा हो गया।

मैं, दूत नाड़ी-विद्या को लाख वार नमस्कार करता हूं और आपके चरणों में कोटि-कोटि दण्डवत प्रणाम। आपने इतनी मेहनत से इस विद्या का इतना अध्ययन किया है कि आप की इस चमत्कारिक विद्या पर हैरानगी है। जब हालात के मारे कोई मरीज आप तक न भी पहुंच पाएं तो भी आपकी इस अद्भुत विद्या से उनके इलाज मे कोई कमी नहीं रह सकती। ईश्वर से प्रार्थना है कि आपको लम्वी आयु दे और स्वास्थ्य दे जिससे मेरी तरह सैकड़ों हजारों जरूरतमन्द वीमार अपनी बीमारी से मुक्ति पा सकें।

आपका दास

श्याम सेठ

281, Venus Apartments
Cuffe Parade,
BOMBAY—400002

10/7/1984

Respected Vashisthaji,

Sadar Namaskar,

You will recall that Shri Mahesh Kumar had approached you in the second week of December, 1983 about the complicated ailment I suffered from which needed immediate diagnosis and cure. I had become hopeless as the Dhanvantari award winner physician Dr. Mody and the top-most surgeon Dr. Shah had failed even after getting several expensive clinical tests done, even in diagnosing the disease leave alone tre ting the same.

My daughter's marriage had been fixed for December 24, 1983. The doctors attending on me were insistent that I should be admitted to Bombay hospital where further tests could be conducted, I could be kept under observation and surgery could, if necessary, be performed. I thought my death was certain.

I was durin all this period in co stant touch on phone with Shri Mahesh Kumar. When my admission to the Bombay Hospital became imminent I contacted Shri Mahesh Kumar thrice on the phone and when I spoke to him the third time I broke down. I asked him to do something by which I did not have to go to the hospital as intuitively I felt that if I got admitted to the hospital I may not return alive.

At this stage Shri Mahesh Kumar mentioned your name and told me about the Doot Nadi System that you had perfected; about how it was possible for you to diagnose the ailment of the patient by feeling the pulse of the patient's messenger. I expressed surprise at what Shri Mahesh Kumar told me as it was against the scientific temper. I must frankly confess that

my friends and family also felt that such things happened only in fairy tales. Shri Mahesh Kumar, however, brushed all such doubts aside and left for Bhiwani in the afternoon.

He rang me up around 9 p.m. on returning from Bhiwani after having shown his pulse as my messenger to you. Your diagnosis tallied to the last detail. It appeared as if instead of my having taken ill, you had been undergoing each one of my ailments. What impressed me all the more was the timing of events—the time when the ailment had started, different hours of the day when I felt the maximum/minimum strain of the disease. All this was really amazing and put all the doubting Thomases in their proper place.

The medicine could reach me only the next day as the last flight to Bombay h d left by the time Shri Mahesh Kumar reached Palam. The medicine had the miraculous effect. It was administered to me through anema. I had to take three/ four doses and I was up on feet again.

I wish to record my abiding gratitude to you and salute the Doot Nadi system which you have developed through years of untiring research for the benefit of helpless patients like me who are unable to undertake the long and arduous journey. Where the Dhanvartari award winner failed, you succeeded. May God grant you good health and a long life so that thousands of helpless and needy persons like me benefit from your knowledge.

With respectful regards.

Yours obediently,

(SHAYAM SUNDER SETH)
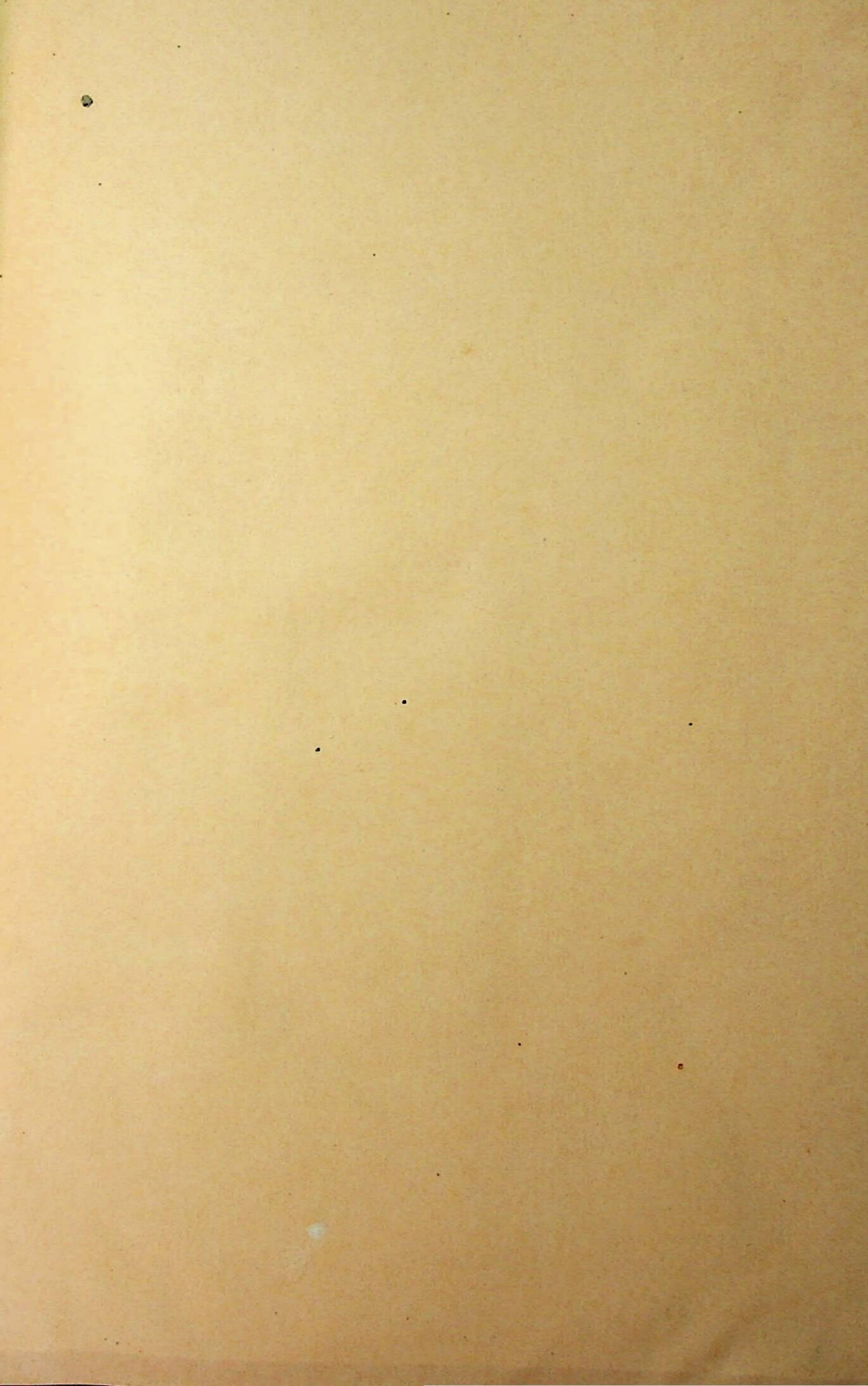
❀ ओ३म् ❀

इयमस्य धम्यते नाडी (ऋग्वेदे १०-१३५-७)

धमनीभिश्चिता दोषा हृदयं सम्पीडयन्ति हि। सम्पीड्यमानो व्यथते मूढो भ्रान्तेन चेतसा ॥
(चरके चिकित्सास्थाने १०।५)

अष्टाङ्गायुर्वेदे कायचिकित्सामधिकृत्य निदाने सहायकासु
अष्टविधपरीक्षासु नाडी-परीक्षाबोधकं कायाङ्गस्योपाङ्गम्—

नाडी-तत्त्व-दर्शनम्

(रावणीयनाडी-विवृति-विमर्श-सहितम्)

प्रणेता—

श्रीपण्डितसत्यदेवो वासिष्ठः, आयुर्वेदानूचानः

भूतपूर्व-लवपुर-दिल्ली-भिवानीस्थ-सनातनधर्मायुर्वेद-महाविद्याल-
यीय-प्रधानाध्यापकः, गुरुकुलझज्जरस्थायुर्वेदविभागाध्यक्षश्च-
सामस्वरभास्करः, वेद-शिक्षा-व्याकरण-निरुक्त-छन्द-
साहित्य-ज्यौतिषायुर्वेदाद्यनेक—शास्त्र—पारावारीणः
विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रस्य सत्यभाष्यस्य
सत्याग्रहनीतिकाव्यस्य प्रणेता च

तृतीय संस्करणम् २०४० वैक्रमाब्दे मूल्यम् [illegible]-००

एक-सहस्रम् १९८३ खिष्टाब्दे त्रिंशद् रूप्यकाणि

प्रकाशकः—

रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़ (१३१०२१)
जि० सोनीपत (हरयाणा)

नाडीतत्त्वदर्शन–निमित्तं पुरस्कारः

निखिल-भारतवर्षीय-ग्रायुर्वेदसम्मेलनस्याद्य-संस्थापक-श्रीशंकर-दा जी शास्त्री पदे ५००) पञ्चशतरूप्यकाणां पुरस्कारः १६-४-१९५६ रिव्रष्टाब्दे तात्कालिकसम्मेलनाधिकारिभिर्नाडीविज्ञानेऽपूर्वमनुसंधानं विलोक्य सम्मान-पुरस्सरं लेखकाय प्रदत्तः।

नाडीतत्त्व–दर्शन के नये संस्करण के लिये सहायता

१—श्री १०८ सत्यदेव जी वासिष्ठ (वैद्य), देवसदनम्, महममार्ग, भिवानी ८००-००
२—श्री सागरमल जी मास्टर, टी. एम. रोड़, भिवानी ३००-००
३—श्री जगदीशप्रसाद जी गोयल, आशाराम गेट, नयाबाजार, भिवानी ३००-००
४—श्री सुरेशचन्द्र जोगी, बी. टी. एम रोड़ भिवानी ३००-००
५—श्री जनकराजजी शर्मा, देवसदनम्, महममार्ग, भिवानी ५००-००
६—श्री सुरेन्द्रकुमार जी शर्मा, म० नं० x 181, प्रतापगली, गान्धीनगर, देहली—३१ ३००-००

योग २५००-००

सब दानदाताओं को रामलाल कपूर ट्रस्ट की ओर से धन्यवाद

युधिष्ठिर मीमांसक

मुद्रकः—

शान्तिस्वरूप कपूर
रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस
बहालगढ़ (सोनीपत)

प्रारम्भिकं निवेदनम्

विद्वदग्रेसराः पीयूषपाणयो वैद्याः

अद्यत्वे नाडीविषयकं बहुविधं शैथिल्यं नाडीज्ञानपरम्परा-विच्छेदं मृषा नाडी-दर्शनेन रोगिणां वञ्चनमनार्ष-पद्धत्या मिथ्याकल्पनाभिश्च नाडीज्ञानं सदोषं दर्शं दर्शं बहुभिः साम्प्रतिकैर्भिषग्वरैर्बहुवारं प्रेरितोऽहं नाडीविज्ञानविषये ग्रन्थलेखनाय। पुराप्यध्ययनकाले वाराणस्यां भिषक्शिरोमणिभिर्गुरुवरैः प्रख्यातयशोभिः श्रीमदर्जुन-मिश्रमहोदयैरपि समाज्ञापितमासीत् यत् 'त्वया नाडी-विज्ञाने परं प्रागल्भ्यमासादित तदत्र विषये कमपि प्रामाणिकं निबन्धं लिख' इति। एवमेव प्रातःस्मरणीयचरणै रुदासीनसम्प्रदायमूर्धन्यैः श्रीमत्स्वामिस्वरूपदासमहोदयैरपि समाज्ञप्तं यत् 'त्वया मत्तो नाडीज्ञाने यत् सूक्ष्मतरं रहस्यमाप्तं तत् प्रकाशय लेखनीद्वारा'—इति। एकदा मदीयं नाडी-परीक्षणमालोक्य चकितैः कलिकातास्थ-भारतप्रसिद्धवैद्यैः श्यामादासकविराज-महोदयैरप्यहं ससम्भ्रममुक्तः। अन्यैश्चापि मम गुरुचरणैरमृतशास्त्रिशिष्यैः श्रीविष्णुदासमहोदयप्रभृतिभिरपि समादिष्टः।

इत्येवं चिरकालादस्य निबन्धने कृतबुद्धिरप्यहं प्रत्यहं द्विशतरोगिपरीक्षणे, स्वयं पाके, अध्यापने, भेषजनिर्माणे च लेखनसमयमनाप्नुवन् वनस्पतिविज्ञान-राजयक्ष्म-विषयेऽपि स्वानुभवं प्रचिकाशयिषुर्नैकशश्छात्रान् समध्याप्य लेखनाय प्रैरयम्। परन्तु तद्विद्याया गभीरतरं स्तरमप्राप्यैव पण्डितंमन्यमाना भिषग्व्यापारे संलग्नाः। ततश्च कियत् समयानन्तरं सच्छिष्यगुणोपेतं वशिष्ठगोत्रं श्रीमन्तं सत्यदेवशर्म्माणमायुर्वेदे-ऽनूचानं निबन्धेऽस्मिन् न्ययोजयम्।

सोऽयमानन्तरामिरनेकविधशास्त्रेषु पारोवर्यमधितिष्ठति। तत्रास्य षडङ्गवेद-ज्ञानेनालङ्करणस्य यशो मम मान्यः सुहृत् श्रीमान् ब्रह्मदत्तजिज्ञासुर्विख्यातपोनिष्ठोऽधि-तिष्ठति। लेखनकर्मणि प्रवृत्त एव च सनातनधर्म-आयुर्वेद-महाविद्यालयाचार्यैः श्रीमद्भिर्नाथूरामशर्ममौद्गल्यैरयमत्र विद्यालयेऽध्यापनाय विनियुक्त इति निबन्ध-लेखने भूयान् विलम्बः समजनि। तत्र च विद्यालयेऽध्येतॄणां दौर्बल्यं नाडी-विज्ञान-शून्यतां नाडीज्ञाने चाश्रद्धामालोक्य मयायमायुष्मान् सत्यदेवो निबन्धलेखनेऽस्मिन् भूयोभूयः प्रेरितः। सोऽयमेकमना अस्मदभिप्रेतमुररीकृत्य सावकाशो निबन्धनेऽस्मिन् बद्धपरिकरोऽभूत्।

कृते कार्यारम्भे वह्निशून्याभ्रनेत्र (२००३) मिते वैक्रमेऽब्दे २२ तमे फाल्गुने-ऽत्रामृतसरसि हिन्दूयवनानां मिथो वधावधः प्रारभत। एवं गच्छतिकाले सायाह्ने नगरमग्निज्वालाकुलं समभूत्। तदग्रिमदिने च नगरमिदमभितो दह्यमानमिवा-लोक्यत। तस्मिन्समये पलायिताः भूयांसो जनास्त्यक्तनिवासा दग्ध-गृहाश्चास्माकं निवासे स्वात्मरक्षायै समागताः। तेषां दग्धगृहाणामतिथीनामन्नपाचनादिपुरीषप्रक्षे-पान्तां सेवां कुर्वन्तावावां निशीथे लब्धावकाशौ निबन्धस्यास्य संकलनं कुर्वन्तौ कियन्तं कालमत्यावाहयाव। परं विकारोऽयमनुदिनमेधमान एवाभवत्। तदावाममृतसरः परित्यज्य शिमला-प्रान्ते 'कुमारहटी'तो नातिदूरे 'अह्लेच'-स्थाने श्रीलाला-गीतारामाश्रये स्थित्वा निबन्ध--बन्धने सम्भार--सङ्कलने च संलग्नावभवाव।

वेदखाभ्रनेत्रमितस्य (२००४) वैक्रमाब्दस्य वैशाखे मासि पुनरप्ययं वाशिष्ठो लवपुरमगादध्यापनाय। परं कतियैरेव दिवसैः पुनः प्रदीप्ते यवन-हिन्दु-विद्वेषानले दन्दह्यमाने निखिलेऽपि पञ्चापप्रदेशे लेखकोऽयं जम्मूप्रान्तर्वतिनि 'रामपुर--रजौरी पत्तने स्वशिष्यस्य गृहे पुस्तकस्यास्य लेखनाय गतः । कतिपयाध्ययान्ते तस्य विष्णुदाससेठीति नामोल्लेखपुरस्सरं कृतज्ञता-प्रकाशनं विहितं लेखकेन।

पुनः काश्मीराक्रमणसमये यानादिव्यवस्था--भङ्गाद् ज्वराक्रान्तोऽपि लेखकः केवलं पुस्तकसहाय एवातिविस्तृतमध्वानं गच्छन्नसिहस्तैर्यवनैराक्रान्त आयुषः शेषतया जीवनं रक्षन् कार्तिके मासि ममाक्ष्णोरातिथ्यमवाप । ततो मयानेन संकलितो निबन्धः श्रुतः संशोधितः परिष्कृतश्च। पुनरनेन सच्छिष्यगुणयुक्तेन भूमिशयनादि--यतिचर्यामधितिष्ठता भोजनादिष्वप्युपेक्षां विदधता स्वल्पतमं शयनकालं विहाय सर्वोऽपि समयः प्रवन्धलेखने विनिक्षिप्तः। एवं प्रयतमानोऽप्यस्मिन् लेखे पुनः पुनः परिमार्जन-कारणेन भूयान् कालो व्यतीतः । एवमस्य सम्पादने प्रकाशनेऽपि विविधविघ्नवाहुल्येन त्रीणि वर्षाणि व्यतीतानि।

यद्यपि नाडी--विज्ञानस्य मार्ग-प्रदेष्टारः स्वल्पश्लोकात्मका विविधाः सन्दर्भा समालोक्यन्ते । तेषु सर्वेष्वपि सारार्थातिशयता 'रावणनाडी--परीक्षा'--प्रवन्ध आसीत् । सेयं रावणीया नाडी—परीक्षा गुण-परियाणं विभ्रत्यपि दुरूहतमासीत्। तेन नेयं नाडी-ज्ञानार्थिनामुपकारिणी समभूत्। तत्रास्या यावत्यो विवृतय उपलभ्यन्ते, ताः केवलश्लोकस्य भाषानुवादमात्रमेक भासयन्ति। तत्रैवं तमोविनिविष्टे सत्युपकारवहुलतामुररीकृत्यास्या एव समुद्धारः स्वीकृतः, या भवन्तः पश्यन्ति। सोऽयं रावणीयो नाडी-प्रवन्धो न हि विवृतिमात्रेण कार्यक्षमतां वहति स्मेति बुद्ध्वा--स्याग्रे सप्ताध्याया नाडी-ज्ञान-सौकर्य्याय वाशिष्ठेन नूतनगवेषणा-सहिता लिखिताः। तद्यथा—

प्रथमाध्याये त्रिदोषस्य वेदमूलकत्वं तदनुकूलार्षग्रन्थेषु च त्रिदोषस्य मूलं प्रदर्श्य तस्य विश्वव्यापकता समुपवर्णिता। तेनेयमार्षपद्धतिं सुतरां पुष्यति।

ततोऽनु नाडीपदविज्ञानीये द्वितीयाध्याये नाड्याः सर्वथा विवेचनं कृतमास्ते। न हि खलु नाडीस्वरूपज्ञानमन्तरा तदधिकृतस्य ज्ञानस्योपलब्धिः सम्भाव्यते।

ततश्च पञ्चमहाभूतत्रित्वज्ञापकस्तृतीयोऽध्यायः। तस्मिन्नध्याये पञ्चीकृतपञ्च-महाभूतानां पार्थक्येन ज्ञानोपायो नितरां सरलया प्रक्रियया वर्णितोऽस्ति।

ततोऽनु त्रिदोषसमक्षेपीयोऽध्यायश्चतुर्थः स्वावश्यकतां स्वयमेवोपस्थापयति। त्रिदोषेण समतामानीय जगतः पदार्थानां नाड्यां प्रक्षेपः सुतरां सारल्यमवगाहत एव।

यदा हि ज्ञाता त्रिदोष-समक्षेपं ज्ञास्यति, ततोऽनु पञ्चमे दूत-नाडीविज्ञानेऽध्याये यद् दूतनाडीपरीक्षा-विधानमुक्तमस्ति तत् स्वभावदुष्करं सदपि सुतरां सारल्यं भजद् वैद्यं ज्ञानगरिम्णा कल्पयति । अत्र हि दूत—नाडी--परीक्षाविधिर्वीजमात्रेण सकलात्मना निरूपितोऽस्ति। तस्माद् वैद्यबुभूषुणा नाडीज्ञाने च प्राचुर्य्यमिच्छता—नैकविधशास्त्राणां ज्ञानं कर्तव्यमेवेति दृढोऽस्माकं विश्वासः।

तदनन्तरं षष्ठाध्याये काश्यपवचनैर्यथातथं रोगाणां गणना विन्यस्तास्ति । तथा च तेषु सोपपत्ति-भेदपरिज्ञानाय पुरुषोत्तमशर्म्म-ह्रिर्ले-महानुभावस्य श्लोकैरेवोपवर्णनं कृतमास्ते । न हि रोगाणां स्थूलतया यथावत्त्वज्ञानमन्तरा वैद्यो रोगाणां नामग्राह-मुल्लेखं कर्तुमर्हति ।

तदग्रिमे सप्तमाध्याये त्रिदोषस्य विविधक्रममालक्ष्य तस्याध्येतॄणां कृते ज्ञानवैशारद्याय च गणितमाश्रयीकृत्य व्याख्यानं कृतमास्ते, येनाव्याहतधियो वैद्याः भवन्त्विति ।

एवमयं त्रिदोषसंगणनीयोऽध्याय आत्मनि विस्तरं भजत एव । सोऽयमित्थमलङ्कारपूर्वो रावणीयो नाडी-परीक्षा-प्रबन्धः सोपपत्त्या व्याख्यातो ज्ञानगौरवाय कल्पेत ।

अत्र रावणकृते नाडीप्रबन्धे व्याख्या-व्याजेन कणाद-वसवराजीय-नाडीज्ञान-प्रकाश-प्रभूतयो नाड्योऽपि व्याख्याता एव सन्ति । सोऽयं पञ्चभूतप्रक्रियामधिकृत्य सप्रमाणं व्याख्यातं सच्चिरजोवित्वमधितिष्ठन् ज्ञानगौरवाय भूयो भूयः प्रकल्पते ।

निबन्धोऽयं ज्ञानगरिम्णा दुरूहः सन्नपि संस्कृतभाषामन्तरा स्वस्मिन् गौरवं नावक्ष्यत्, यदि संस्कृतभाषायामस्य निबन्धनं नाभविष्यत् । चिरायुष्मता लेखकेन सुतरां सरलतया देवगिरा समलंकृत इति सर्वप्रियतामेष्यतीति मे निर्विवादो विश्वास । अत्र संस्कृतलेखे सत्यपि चरकप्रक्रियामनुसरतानेन सर्वेषामध्यायानामन्ते 'भवन्ति चात्र' इति सम्बोध्य सुतरांसंक्षेपः कृत आस्ते । स्मरणलाघवाय रूक्षेऽप्यस्मिन्निबन्धे सरसतापादनाय सरल-सरलाः श्लोकाः विन्यस्ताः । कार्यमिमं विद्वांसः परीक्षयिष्यन्ति ।

निबन्धोऽयं भूत-व्योमाभ्रनेत्रमित (२००५) वैक्रमाब्दे पौषे मासि वाराणसीय-विद्वद्वैद्यमण्डलेन विद्वत्तल्लजश्चाक्षरशः समाकर्ण्य प्रमाणीकृतोऽस्ति । तेषां काश्चन सम्मतयः प्रमाणपत्राणि च परिशिष्ट-प्रकरणे प्रकाशितानि । विदुषामनुरोधमूरीकृत्य राष्ट्रभाषानुवादोऽपि विहितः, येन स्वल्पसंस्कृतज्ञानामपि वैद्यानां पाश्चात्यचिकित्सकानामन्येषाञ्च तदनुरागिणां सौविध्यं सम्भवेदिति ।

निबन्धेऽस्मिन् मत्तः प्रेरितेनापि लेखकेनात्र पञ्च षड् वा वर्षाण्येकमनसा व्ययीकुर्वता निजश्रम-परिपूतं महान्तं धनञ्च व्ययतैव निबन्धोऽयं पूर्णतामानीत इति सत्यदेवो वाशिष्ठः सर्वेषां विदुषां वैद्य-समाजस्य च प्रीतिभाजनं भूयादिति कामं कामये ।

वाजार वीकानेरिया
कटरा अहलोवाला,
अमृतसर (पंजाब)

तिलकरामशर्मा ब्रह्मचारी
भिषगाचार्यः
२०. ५. १९५०

एतं द्वितीयं संस्करणमध्ययनवतो सेवायां सदुःखमिदं सूच्यते यद् भिषक्शिरोमणिस्तिलकरामशर्म्मा यतिः समुद्रेन्दुखनेत्र (२०१७) मिते वैक्रमाब्दे श्रावणमासि भंगुरं शरीरं परित्यज्य यशःशरीरेण जीवतितराम् ।

सत्यदेवो वासिष्ठः
२४. ६. १९६७.

आत्म-निवेदनं कृतज्ञता-प्रकाशश्च

निबन्धोऽयं कीदृश इति तु मर्मज्ञाः सहृदयाः सुधिय एव प्रमाणम्। नात्र मया किमपि वक्तव्यम्। येषां महानुभावानां कृपया सौहार्देन साहाय्येन च मया किमपि कर्तुं पारितम्, तेषां धन्यवादपुरस्सरं कृतज्ञता-प्रकाशनेन कृतकृत्यतां मन्यमानेन अनृण्याय च किमपि निवेद्यते।

पञ्चनद-प्रान्तस्थ-जालन्धरमण्डलान्तर्गत-माहलगहिलाख्य-ग्रामाभिजनेन, सहज-पालेतिप्रवरेण सारस्वतब्राह्मणवंशेन श्रीकृष्णसूनुना श्रीमदनन्तरामशर्म्मणा मम तात-पादेन आजन्मन आदशवर्षं उर्दूभाषया पाठितोऽहम्। तदनन्तरञ्च 'संस्कृतमेवाध्या-पनीयमस्मा' इति कृतनिश्चयेन १९७९ वर्षे-अमृतसरतो नातिदूरे विरजानन्द-ब्रह्मचर्याश्रमेऽहं संस्कृतमध्येतुं प्रवेशितः।

तत्र तदध्यक्षैस्त्यागतपोमूर्तिभिराचार्यचरणैः **श्रीब्रह्मदत्त-जिज्ञासु**-महोदयैरहं वर्णोच्चारणमारभ्यार्षप्रक्रियया‍ष्टाध्यायीतः पातञ्जलमहाभाष्यान्तं व्याकरणं निरुक्ताङ्गपुरस्सरं धर्मशास्त्रं च पाठितः। तथा च तेषां सौहार्देनाहं वाराणास्यां श्रीमद्भ्यः **शङ्कररामत्रिपाठि**-महोदयेभ्यश्चतुर्विधगान=(ग्रामगेय-आरण्यक-ऊह-ऊह्य) पुरःसरां सामसंहितामपाठिषम्। ततश्च वेदमूर्त्तिभ्यः **श्रीरामभटट् रटाटे**-महो-दयेभ्यो दर्श-पौर्णमास-प्रक्रियां क्रियाकलाप-ज्ञानपुरःसरामज्ञासिषम्। पुनरहं श्रीमद्भि-र्गुरुवरैर्जिज्ञासु—महोदयैर्महामहोपाध्याय-सुधाकरद्विवेद-शिष्यस्य **श्रीपूर्णचन्द्रत्रिपाठी** ज्यौतिषाचार्यमहोदयस्य निकटे ज्यौतिषशास्त्रमध्येतुं प्रेरितः। यस्य ज्यौतिषस्य प्रत्यक्षमुपयोगस्त्रिदोषसंगणनीयाध्याये कृत आस्ते। तस्मादत्र निबन्धे श्रीमतः पूर्ण-चन्द्रमहोदयस्यापि यशोलाभः सुतरामेव। अतस्तेषां कृतज्ञताभारं सादरं वहामि।

तदनन्तरं लवपुरे श्रीजिज्ञासुमहोदयानां निरीक्षणे परोपकारिणी-सभायाः (अजमेरस्थायाः) कार्ये श्रीमद्दयानन्दस्वामिनां पाणिनीयाष्टाध्यायी-भाष्यस्य तृतीय-चतुर्थाध्याययोः सम्पादनानुवाद-टिप्पणादि-लेखनकर्म वर्षत्रयं यावद् विहि-तम्। स एव लेखनाभ्यासोऽस्य नाडी-निबन्धस्य लेखने परमः सहायकोऽभूत्।

तत्रैवं सम्पादनकर्म कुर्वता मया समधीतायुर्वेदेनापि विशिष्टां नैपुणीमभिलब्धु लवपुरे श्रीमन्तं वैद्यचूडामणिं नाथूराममोद्गल्यमुपेत्यायुर्वेदीयार्षानार्षसंहितासु, प्रत्यक्षशारीरे, रसकर्मसु च विशिष्टमध्ययनमकारि। सोऽयमाचार्यमौद्गल्योऽतितरां यशोलाभाय धन्यवादाय च कल्पते नाडीनिबन्धलेखने।

पुनरहं वैद्यवृत्तिमधिष्ठायामृतसरस्येवावात्सम्। तत्र चायुर्वेदस्याद्यगुरुणा भिषक्शिरोमणिना पूज्य-पण्डिततिलकरामब्रह्मचारिमहोदयेन सविशेषं नाडीविज्ञाने पञ्चीकृत-पञ्चभूतानामूहापोहने च सम्यग् विज्ञापितः। त एतेऽस्मद् गुरुचरणाः यतिप्रवराः श्रीतिलकरामब्रह्मचारिणोऽस्मिन्निबन्धे मूर्धाभिषिक्तं यशोऽधिवहन्ति। तदेतेषामुपकारमानृण्यञ्च नैव कदाचित् विस्मर्तुं शक्यते जन्मान्तरेष्वपि।

ग्रस्य निवन्धस्य वन्धनप्रसङ्गे प्रचलति-ग्रमृतसरःस्थ-'फेन्सी-लाण्ड्री' स्वामिना मास्टर-हरिप्रसादमहाशयेनाहं ज्योतिर्विज्ञानस्य विशिष्टज्ञानसम्पादनाय क्षत्रिय--वंशोद्भव-लाला-हरभज-धवन--समीपे साग्रहं विनियुक्तः । तेन चाहं कामरूप--देशान्तर्वर्ति--शिलाङ्ग-पर्वतस्थस्य महात्मनः शिष्यत्वेनोपानीतः स्वयं च सतीथ्यरूपेण ज्योतिषो गणतामार्गे शिक्षितः । तस्मादहं नाडीविज्ञानगणिते महत्साहाय्यं प्राप्तवानस्मि । तस्मान्मानार्हाविमौ मास्टर–हरिप्रसाद-लालाहरभजौ निवन्ध-लेखने महत्सहायकौ स्त इति तयोः कृतज्ञता-भारं सादरमूरीक्रियते ।

तत्र प्रसंगतः सादरवन्दनीयचरणैर्गुरुभिः स्वप्रत्तज्ञानानुरूपं यो य उपाधिः प्रदत्तः स स वर्षमासदिनाङ्कसहितोऽत्र तेषां गुणगानाय प्रदर्श्यते । तद्यथा—

सर्वाङ्गसामाध्ययनानन्तरं **'सामस्वरभास्कर"** इति पदं काशीस्थश्रीशंकर–राम–त्रिपाठि-गुर्जरब्राह्मणेभ्यः प्राप्तम् । भाद्रकृष्णा १ मंगलवारः, प्रविष्टा १९–१९९१ वि संवत् । तदनुसारं ४.९-१९३४ खिष्टाब्दे ।

इतरवेदाध्ययनं पुरस्कृत्य **"चतुर्वेदी"** इत्युपाधिः काशीस्थपण्डित-रामचन्द्र-भट्ट--रटाटे-महाराष्ट्रब्राह्मणेभ्यो लब्धः । भाद्रकृष्णा ११, मंगलवारः, प्रविष्टा १९-१९९१ वि० संवत्, तदनुसारं ३-९-१९३४ खिष्टाब्दे ।

"ग्रायुर्वेदाचार्य" इति पदं श्रीपण्डितनाथूराममौद्गल्यात् तद्विद्यालयाध्यक्षात प्राप्तं ५ चेत्र १९९५ वि. संवत् । तदनुसारं १८ मार्च १९३९ खिष्टाब्दे ।

'साङ्गोपवेदवेदचतुष्टयी" इति पदं पण्डित--ब्रह्मदत्तजिज्ञासुमहोदयात् तद्विद्यालयाध्यक्षादधिगतम् । १६ माघ १९९८ वि० संवत्, तदनुसारं जनवरी १९४२ खिष्टाब्दे ।

"ग्रायुर्वेदानूचान" इति पदं श्रीतिलकरामशर्म -ब्रह्मचारिभिषगाचार्यात् तद्--विद्यालयाध्यक्षात् प्राप्तम् । माघ १५-२००२ वैक्रमे ।

"१०८" इति पदं ज्योतिषो ज्ञानस्य सारभूतं सरहस्यञ्च विज्ञाप्य तत्सारभूतस्याष्टोत्तरशतस्य (१०८ विज्ञानं विज्ञाप्य तद्विद्यया च पाठितोऽहं लाला--हर--भजमलधवनेन । तस्मात् "१०८" इत्यात्मनाम्नोऽग्रे संकेत्यते । ग्रत्र चास्मतपद्यम्—

भानां विभ्रमतां भेषुः रूपमष्टोत्तरं शतम् ।
वेद्मि वच्मि ततश्चार्थान, ततोऽस्म्यष्टोत्तरं शतम् ।।

एतमेव ज्ञानमाश्रित्यास्य ग्रन्थस्य सप्तमाध्याये विश्वगणितप्रर्शनेन रोगज्ञानसौकर्यमुपपन्नं भवति ।

प्रकृतस्य नाडीतत्त्वदर्शनस्य कृतान्वेषणपूर्वकस्य निवन्धस्याक्षरशः श्रवणानन्तरं सम्मानितोऽहं **"भिषक्केसरी"** पदेन पौषकृष्णा ११-२००५ वैक्रमे वाराणसीय–**विद्वत्परिषदध्यक्षैः ।**

तत्रेतरा अपि प्रभाकर-मैट्रिकप्रभृतिपरीक्षाः समुत्तीर्य इतरभाषायामपि प्रागल्भ्यं समासादितमिति विज्ञा निभालयन्तु । प्रयागवास्तव्यैः श्रीत्रिलोकचन्द्रवसुभिरहं सितारवादनेन शिक्षितः, तेन तज्ज्ञानं दोषाणां साम--निराम--परिज्ञाने सहायकं सत् नाडीपरीक्षाविधौ साहाय्यकरं प्रमाणतामुगच्छतीति कृत्वा तेऽप्यत्र साधवादानर्हन्ति ।

अस्यैव निबन्धस्य प्रसङ्गे २००३ मिते विक्रम-वत्सरे जम्मूप्रान्तस्थ-रामपुर--राजौर्या श्रीविष्णुदाससेठी—पुत्रेण मत्सविध एवाधीयानायुर्वेदेन सहागमम् । तत्रास्य निबन्धस्य रूपरेखामात्रं निबन्धनं कृतम् । सोऽयं स्वर्गीयोऽपि महात्मा सदानेन निबन्धेन सह चिरं यशःशरीरेण सम्बद्ध एव । (परिचय--लेखनसमये महद्—वर्णनीयं कष्टमनुभवंल्लिखामि यदसौ सेठी सपरिवारः पाकिस्तानाक्रमणसमये नृशंसतमैर्मृत्युमुखं प्रापित इति)

ततश्चाहं ज्वराक्रान्तोऽपि यानानामव्यवस्थया सपादशतमीलपर्यन्तं पद्भ्या--मागच्छन् खड्गपाणिभिर्यवनैराक्रान्तः कथंकथमपि निबन्धमेनं केवलं पृष्ठे वहन् मृत्युमुखादवतीर्यामृतसरसि प्राप्तः । तत्र च ज्वरादिरोग-वहुले शरीरे विघ्नवाहुल्यं सहमान एवास्य पुनर्लेखने परिष्कारे च संलग्नोऽभवम् । तदानीं समये जम्मूप्रान्तस्य-रतियां-ग्रामवास्तव्यस्य लाला-फतेहचन्द्र-महाजनस्य पुत्रो लालागरीवदासो महाजनः सानुरोधं मदीयं भोजनप्रवन्धं विधायास्य लेखने महान्तमुपकारमातनोत् । सोऽपि स-कृतज्ञताज्ञापनं धन्यवादपुरस्सरं च स्मर्तव्य एव ।

अथास्य सन्दर्भस्य तथा सत्याग्रहनीतिकाव्यात्मकस्य च लेखने प्रेरणां दत्तवतः पितृतुल्यस्य सत्यपथ—प्रदर्शन—प्रवणस्य, श्रीमतो रामलालात्मजस्य स्वर्गीय रूपलाल--कपूर--महोदयस्य यशःसंकीर्तनं सर्वतोभावेनावश्यकम् । **श्रीरूपलाल-कपूर--श्रीब्रह्मदत्तजिज्ञासु-महोदयौ** स्रजि सूत्रमिव प्रोतौ स्तः । इमावेव मदीय--जीवन—समुन्नतौ महदुपकारकौ गुरुवरौ महत्साहाय्यप्रदातारावभूताम् । **श्रीरूपलालमहाशयः** समाकर्ण्यैनं प्रवन्धं परं प्रसादमात्मनः प्राचीकटत् । सोऽयमिदानीमस्य प्रकाशने सञ्जाते स्वर्गलोके रमते ।

प्रसङ्गेऽस्मिन्नेतदतिरिक्तमस्य निबन्धस्य लेखने मुद्रापणे च धनसाहाय्यं दत्तवतामुदारचेतसां कृतज्ञताज्ञापनमपि नितरामावश्यकम् । तत्र सर्वप्रथमं वाराणस्यां निबन्ध-परीक्षार्थं गमनावसरे स्वर्गत-लालारामलाल-कपूर-तनयैः **श्रीहंसराज-कपूर-महोदयैः** (फर्म-रामलाल कपूर एण्ड सन्स, पेपर मर्चेन्ट्स, गुरुबाजार, अमृतसर) स्व-व्ययेनाहं सोत्साहं प्रेषितः । **श्रीमत्स्वामिब्रह्मानन्दशिष्यैः श्रीमेधानन्दस्वामिभिरस्य** निबन्धस्य पुनः सम्मार्जनाय एकोत्तरशतं पारितोषिकरूपेण प्रदत्तमिति तयोरकारणोपकारिणोर्महतीं कृपामुद्वहन् साधुवादान् वितरामि । अस्य पुस्तकस्य मुद्रापण-व्ययकृते च ममादरणीयमित्रेण **श्रीमता जगन्नाथशर्म्मणा** लेखादिकं विनैव रूप्यकाणां ५०० पञ्चशतं दत्तम् यत्कृपयास्य मुद्रणमारब्धम् । ततश्च मम लघुभगिन्या

श्रीमत्या भगवतीदेव्या अपि लेखादिकं विनैव ६०० षट्शतं रूप्यकाणां प्रदत्तमिति तयोर्महान्तमुपकारभारं विभर्मि ।

अमृतसरोनगरस्य महाकुल–प्रसूतैर्वैद्यवरैः **श्रीधरणीधर–औषधालय-स्वामिभिः श्रीमद्भिरायुर्वेदाचार्य-कविराज–पण्डित–इन्द्रदेव--वैद्यशास्त्रि**भिरस्य प्रकाशने विशिष्टाऽऽर्थिकसाहाय्येनोपकृतस्तस्य महाशयस्य कृतज्ञतां सादरमुररीकरोमि ।

एवमेव लेखनादिकर्मणि अन्येष्वप्यावश्यकेषु कार्येषु साहाय्यकर्तृषु **श्रीबाबूरामवर्मा, श्रीकैलाशनाथ--जेतली** चेति परम–प्रेमास्पदौ धन्यवादार्हौ स्तः ।

अन्ते च तेभ्यः सम्मानार्हेभ्यः प्रणतिपुरस्सरं धन्यवादान् वितरन् कृतज्ञताज्ञापनं करोमि यैर्महानुभावैर्वाराणसेयैर्विद्वद्वरैः प्रबन्धस्यास्य श्रवणे, समीक्षणे परीक्षणे च महार्घं समयं व्ययीकृत्य सस्नेहमुत्साहितः प्रेरितश्च । एतान् सर्वानपि सबहुमानं नमस्कृत्य विरमामि । **'नाडीतत्त्वदर्शन'** विषये मदीयं किमपि कथनं नातिशोभते । तदत्र सुधियः समालोचका विद्वांसो भिषजश्च प्रमाणमिति ।

सनातनधर्म आयुर्वेदकालेज,
भिवानी (हिसार)
७. ७. १९५०

विदुषां वशंवदः—
सत्यदेवो वासिष्ठा

साम्प्रतं प्रकाशतां प्राप्ते द्वितीय-संस्करणेऽहं **भिवानीनगर्यां महम--मार्गे** नगरीयजलव्यवस्थायन्त्रागारस्याभिमुखं (Near the water works) **स्वनिर्मित-देव-सदनाख्ये भवने** निवसामि ।

सत्यदेवो वासिष्ठः
२४. ९. १९६७

सम्पादकीयम्

आयुर्वेदो हि नाम यथा प्राणिनां परं हितसाधकमत्यावश्यकं शास्त्रं न तथान्यानि शास्त्राणीति निर्विवादं वक्तुं पार्यते। यतो हि जीवने सत्येव शास्त्रान्तरस्योपयोगः स्यात्। तच्च जीवनमायुर्वेदाधीनमिति। इत्येवं न केवलामायुर्वेदस्य परमप्रयोजन-परत्वमेव तस्य व्यापकत्वं प्राचीनतमत्वञ्चापि। यतो हि शरीरेन्द्रियसत्त्वात्म-संयोगस्यैवायुष्ट्वम्। तेषां पृथक् पृथग् ज्ञानमन्तरा तत्संयोगज्ञानस्यासम्भवात् शारीरशास्त्रम्, इन्द्रियविज्ञानम्, मनोविज्ञानमात्मविज्ञानञ्चेति चतुर्णां सम्यग् वेद-नमन्तरा नायुषः परमार्थतो वेदनं स्यादिति विदितमेव विदितवेदितव्यानां विदुषाम्। तत्रापि कायशास्त्रस्य विविधाः शाखाः प्रशाखाः सन्ति। इन्द्रियात्म-विज्ञाने च दर्शनशास्त्राणामन्तर्भावः सुतरां सम्पद्यते। आयुषो वेदनस्य चिकित्सा-प्रयोजन-त्वात् तच्चिकित्सायै वनस्पतिविज्ञान-रस--धातूपधातु--रत्नोपरत्नादि--विज्ञानस्य परमावश्यकत्वम्। चिकित्सा-प्रयोगाय च देश-काल-ऋतु-प्रभृतीनां ज्ञानविज्ञानं वरीवर्त्तीत्येवमनन्तमपारमतिविस्तृतमायुर्वेदशास्त्रमिति नात्र काचन विप्रतिपत्तिः। अत एवोक्तं भगवता धन्वन्तरिणा—

एकं शास्त्रमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिर्णयम्।
तस्माद् बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयाच्चिकित्सकः॥ इति॥

यथा ह्येतदायुर्विज्ञानमनन्तमपारं तथैव सर्वतः प्राचीनतममपि। मानवसृष्टेः प्रागेवायुर्वेदाङ्गभूतानामौषधीनां प्रादुर्भावः समजनीति उपनिषदि स्पष्टमेव। यथा— **'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः'** इति। वेदेष्वपि प्रायश औषधीनां वर्णनानि समुपलभ्यन्ते। जलादिचिकित्सा च बहुश. समुप-वर्णिता। अतो वेदानामाविर्भावकालादपि प्राचीनतममिदमायुषो विज्ञानम्। यथा च यजुषि—**'या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा'** इति।

वैदिककालान्तरं प्रायो महाभारतकालं यावत् सात्त्विकाचरणवतां धर्म-सम्पन्नानां स्वल्पसंख्यकानां मनुष्याणां नासीत्तथा रोगादीनां बाहुल्यम्। यत्र कुत्रापि सत्सु रोगेषु प्राकृतिकी वानस्पतिकी च चिकित्सा प्रायेण प्रावर्तत। ततश्च भग-वदात्रेयवचनैः—

"भ्रश्यति तु कृतयुगे केषाञ्चिदत्यादानात् साम्पन्निकानां शरीरगौरवमासीत्, शरीरगौरवाच्छ्रमः, श्रमादालस्यम्, आलस्यात् सञ्चयः, सञ्चयात् परिग्रहः, परिग्रहा-ल्लोभः प्रादुर्भूतः। ततश्च लोभादभिद्रोहः। पृथिव्यादीनां गुणपादप्रणाशोऽभूत्। तत्प्रणाशकृतश्च सस्यानां स्नेहवैमल्य······गुणपादभ्रंशः। ततस्तानि प्रजाशरीराणि हीयमानगुणपादैश्चाहारविहारैरयथापूर्वमुपष्टभ्यमानानि···प्राग् व्याधिभिराक्रान्तानि।"

—च० विमान० अ० ३।२७-२८

तदेवं चरकसंहितायां हिमवतः शिखरे ऋषीणां परिषद्वर्णनमुपलभ्यते । यत्राऽष्टधा विभक्तस्यायुर्विज्ञानस्य पुनर्विकासः समजनि । उक्तमेव सुश्रुतेऽपि—**ततोऽल्पायुष्ट्वमल्पमेधस्त्वं चालोक्य नराणां भूयोऽष्टधा प्रणीतवानिति** (सू० १।६) । प्रायस्तस्मिन्नेव किञ्चित्तदधस्तने काले वा, अजरामरत्वमिच्छद्भिर्देहस्य व्याडि-मत्स्येन्द्रप्रभृतिभिः सिद्धैःपारद-पद्धतेराविष्कारः कृतः । ततश्च गन्धकाभ्रक-लोहादिधातूपधातूनां रत्नोपरत्नादीनां चिकित्साविधौ वैशिष्ट्येन प्रयोगः प्रचलितः । वनस्पतीनां प्रयोगः शोधन-भावनानुपानादिषु प्रायोऽभूत् । एवं नागार्जुनकालं विक्रमचतुर्थशतकं यावदस्यैव पद्धतेरुत्तरोत्तरमुत्कर्षः शाखा-प्रशाखाभिर्विस्तारश्च समभवत् । सोऽयं सफलो भारतीयायुर्वेद-कल्पद्रुमः सम्प्रति विविध-कारण-कलापैः शोषमुपगच्छन्ननिवेदनीयां हृदयवेदनाममन्दमातनोति ।

इत्येवमतिसंक्षिप्तपर्यालोचनया सुस्पष्टमुपलभ्यते यदस्य विज्ञानस्य क्रमशो विकासः समजनि । अयमेव क्रमो विज्ञानविकासस्य सर्वदा सर्वत्र च समालोक्यते । पाश्चात्यविज्ञानविकास एवमेव चतुरस्रां समुन्नतिं कुर्वन् प्रत्यक्षमालोक्यते । परमस्माक दौर्भाग्य-विलसितेनायं विकासक्रमः प्रायः सार्द्धसहस्रवत्सरेभ्यो विविधकारणैर्विदेशीयानामाक्रमणादिभिः समवरुद्धः । **'शस्त्रेण रक्षिते देशे शास्त्रचिन्ता प्रवर्तते'** । यथा यथायमस्माकं देशः, समाजः, संघटनञ्चेति सर्वं छिन्न-भिन्नमभूत्; तथैव ज्ञान-विज्ञानक्रमोऽपि क्रमशो ह्रासमापन्नश्छिन्नो भिन्नश्च । क्रमेण बुद्धिह्रासे सम्पन्ने भारते टीकाग्रन्थानां संग्रहादिग्रन्थानां निवन्धानां साम्प्रदायिकविषयाणाञ्च वाहुल्यमभवत्, येन मूल-रक्षा तु कथमपि सम्पन्ना, परं नवनवोन्मेषस्याभाव एव समजनि । भवतु ।

यथा हि चिकित्सा-पद्धतौ नवनवा आविष्कारा अभूवन्; तथैव रोग-परीक्षण-विधावपि सूक्ष्म-तत्त्व-गवेषकाणां भारतीय-विदुषामनुसन्धानान्यभूवन् । चरकेण खलु त्रिविधो रोगपरीक्षण-प्रकारः समुपदिष्टः । यथा—**दर्शन-स्पर्शन-प्रश्नैः परीक्षेताथ रोगिणम्**—इति । सुश्रुतोऽप्येवमेव ब्रुवन् इन्द्रियपरीक्षामपि कथयति । यथा **आतुरगृहमभिगम्योपविश्यातुरमभिपश्येत् स्पृशेत् पृच्छेच्च । त्रिभिरेतैर्विज्ञानोपायै रोगाः प्रायशो वेदितव्या इत्येके । तत्तु न सम्यक् । षड्विधो हि रोगाणाँ विज्ञानोपायः । तद्यथा—पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति । (सूत्र०, अ० १०)**

सूत्रममुमभिलक्ष्य तदधस्तनैर्वैद्यैरत्रविषये सूक्ष्मतमं विवेचनं विहितम् । तत्फलस्वरूपञ्च रोगपरीक्षाया विविधाः प्रकाराः प्रादुरभवन् । यथा रावणनाडी-विवृतौ—

गदाक्रान्तस्य देहस्य स्थानान्यष्टौ निरीक्षयेत् ।
नाडी मूत्रं मलं जिह्वां शब्द-स्पर्श-दृगाकृतिम् ।। इति ।

एतदतिरिक्तं रोगि-स्वेदगन्धादपि परीक्षा श्रूयते, गणिताज्ज्यौतिषादपि च । तत्र मल-मूत्र-रक्त-परीक्षा-प्रकारस्त्विदानीं पाश्चात्यचिकित्सा-वैज्ञानिकैः परां कोटिमध्यारोपितः प्राचुर्येण प्रचलति । परं नाडीं विहाय सर्वेऽप्यन्ये प्रकारा रोग—

विशेषेष्वेव वैशिष्ट्यमावहन्ति; रोगसामान्ये तु नाडीपरीक्षैवैका सकलरोगज्ञापन-समर्थेति वहुभिः शतकैर्भारतीय-चिकित्सकेषु धरा--परीक्षण-पद्धतिरेव प्राधान्येन प्रचलति । अन्यासु मलमूत्र-परीक्षासु भारतीयभिषजां शैथिल्यमालोक्यते । साम्प्रतिकास्तु वहवो वैद्या नाडी-विज्ञानेऽपि मन्दाः केवलं नाडी-धरण-परम्परा—मावहन्तः प्रश्नैरेव कार्यं रोगपरीक्षणं च कुर्वते । कियद्भ्यो दशकेभ्यः पूर्वमासन् नाडी--निपुणा वृद्धवैद्याः, ये प्रश्नमन्तरा स्वयमेव रोगस्य मार्मिकं कथनं कुर्वन्ति स्म ।

सेयं नाडी-परीक्षा कियतः कालात् प्रचलिता ? कस्तावदस्याः प्रथम आविष्कारक इति व्यवस्थितरूपेण वक्तुं न पार्यते । साम्प्रतमुपलब्धेषु मुद्रितेषु च नाडी-विषयक-लघुतम--पुस्तकेषु रावण--कणाद--वसवराजानां स्वल्पश्लोकात्मकाः निवन्धा लभ्यन्ते । श्रूयते मद्रास-राजकीयपुस्तकालये अश्विनीकुमार-कृता नाडी-परीक्षा सप्तविंशतिश्लोकात्मिका समुपलभ्यते । एतदतिरिक्तं शार्ङ्गधर--योग-रत्नाकरादि-संग्रहग्रन्थेषु नाडी-परीक्षात्मकाः श्लोकाः समुपलभ्यन्ते । एतान्यपि पठन-पाठनविषये नायान्ति । तत्र तु गुरुपरम्परा-प्रचलितः क्रम एव । परं साम्प्रतं सोऽपि शनैः शनैरपक्षीयमाण एवावलोक्यते । केवलं नाडी धृत्वा परम्परानिर्वाहमेव कुर्वन्ति । एतान्यपि च रावणनाडी-प्रभृतिपुस्तकानि केवलश्लोकार्थमात्रेण नोपयुक्तानि भवन्ति । त्रिदोषज्ञानमन्तरा गुरूपदेशं विना च सम्यगभ्यास-राहित्येन वा सूक्ष्मतमं नाडी-विज्ञानं न साकल्येनावगन्तुं शक्यते इति निर्विवादमेव ।

एषा हि नाडीद्वारा रोग-परीक्षण-पद्धतिः प्राचीनकालादेव प्रचलति । पूर्वमेवोक्तं यद् चरक-सुश्रुत-प्रभृत्यार्षग्रन्थेषु स्पर्शन-परीक्षाया उल्लेखो विद्यते, परं तत्र नायं विषयो वैशिष्ट्येन विवेचितः । नाडी-परीक्षा-सूत्रं तु चरके समुपलभ्यते । यथा—

'तस्य चेत् मन्ये (पश्चात् ग्रीवा-सिरा) परिमृश्यमाने न स्पन्देयाताम् परासुरिति विद्यात्'—(च० इ०, २११३) । अन्यच्च—**'स्पर्शप्राधान्येन एव आतुरस्य आयुषः प्रमाणं जिज्ञासुः प्रकृतिस्थेन पाणिना शरीरमस्य केवलं स्पृशेत् विमर्शयेद्वा अन्येन । परिमृशता तु खल्वातुरशरीरमिमे भावास्तत्र तत्रावबोद्धव्या भवन्ति । तद्यथा—सततं स्पन्दमानानामस्पन्दनम्, नित्योष्मणां शीतीभावः । मृदूनां दारुणत्वम् । श्लक्ष्णानां खरत्वम् । सतामसद्भाव'** इत्यादि ।

एतेन नाडी-परीक्षा-मूलं कथमपि लभ्यते । परं रावण-कणादादिभिः कस्मिन् काले विज्ञानमिदं प्रकटीकृतमिति विचारणीयम् । रावणादपि पूर्वं नन्दिना विज्ञानमिदमाविष्कृतम् । स च नन्दी शिवगणो वान्यो वेत्यपि सन्देहास्पदम् । रसरत्न—समुच्चये शिवस्यापि-आयुर्वेद-प्रवर्त्तकत्वं समुल्लिखितम् । तस्यैव शिवस्य परमप्रियः शिष्यो नन्दी, वृषभातिरिक्तः पुरुष आसीत् । स आयुर्वेदाचार्य इति रसरत्न-समुच्चये **'नाभियन्त्रमिदं प्रोक्तं नन्दिना सर्वदर्शिना'**—इत्यादिना प्रतिपादितम् । कामशास्त्रकारोऽपि कश्चन नन्दी स एव वा भवेत् यथा कामशास्त्रे—**'महादेवानुचरो नन्दी सहस्रेणा-**

ध्यायानां पृथक् कामसूत्रं प्रोवाच' इति। लिङ्गपुराणालोचनेनापि नन्दिनोऽनेकविद्या-विशारदत्वं द्योत्यते। यथा—

"शालङ्कायनपुत्रो वै शिलाद इति विश्रुतः ।
अयोनिजो मृत्युहीनो शैलादिर्नन्दिकेश्वरः ॥
उपदिष्टा हि तेनैव ऋक्शाखा यजुषस्तथा ।
सामशाखासहस्रञ्च साङ्गोपाङ्गं महामुने ॥
आयुर्वेदं धनुर्वेदं गान्धर्वं चाश्वलक्षणम् ।
हस्तिनां चोदितञ्चैव नराणाञ्च सलक्षणम् ॥
सम्पूर्णे सप्तमे वर्षे ततोऽथ मुनिसत्तम !" इति।

(लिङ्ग-पुराणम्, अ० ४२)

जाम्ववदेशेऽस्य नन्दिन अभिषेकोऽभूदित्यपि ततः समुपलभ्यते। अयमेव नन्दी नाडीविज्ञानस्याचार्य इति प्रतीयते। एनमुपजीव्यैव रावणनाम्ना केनाप्याचार्येण नाडीविवृतिर्निर्मिता। अयं रावणोऽपि वेदभाष्य-कर्तृवत् कश्चनायुर्वेदविद्वान्, स एव वेति न निर्णयः। दशास्य-रावण-कथा तु न बुद्धिपथमवरोहति। अस्माकमनु-मितिरियं यत् नाडीविज्ञानाविष्कारका नन्दी-रावण-प्रभृतयो दाक्षिणात्या विद्वांसो विक्रमस्य चतुर्थ्यां पञ्चम्यां वा शताब्द्यां समुत्पन्नाः। वसवराजोऽपि दाक्षिणात्य एव। तस्य वसवराजीयनामा बृहदायुर्वेदग्रन्थोऽस्मन्मान्यैर्नागपुरस्थ–भिषक्केसरी-गोवर्द्धनशर्म्म–छांगाणी–महोदयैः सम्पादितो मुद्रापितश्च।

इत्येवं निश्चितमेव यदियं नाडीद्वारा रोगपरीक्षा-पद्धतिश्चिरन्तनकालादेवास्माकं देशे प्रचलति, सर्वोत्कृष्टा, पूर्णा, प्रामाणिकी चेति। परमेतस्या विशिष्टमनुसन्धानं सूक्ष्मतया विवेचनञ्च नाद्यावधि केनापि कृतमभूत्। यल्लघुकलेवराणि द्वित्राणि पुस्तकानि समुपलभ्यते, तद्रहस्यज्ञानमन्तरा गुरूपदेशं विना वा तानि व्यर्थान्येव सन्ति। तदत्र विषये प्राचीनपरम्परा-प्रवीणैर्विद्यावयोवृद्धैः श्रीमद्भिः पण्डित-तिलकरामब्रह्मचारिभिर्गुरुपरम्परया निजानुभवेन सूक्ष्मविवेचनेन च यज्ज्ञानमवाप्तं तद्योग्यतमशिष्याय श्रीमते सत्यदेववासिष्ठाय प्रदत्तम्।

कुशाग्रमतिना लेखकेन प्रवलतरैर्वैदिकैरार्षैश्च प्रमाणैस्त्रिदोषसिद्धान्तं नैकशः स्थिरीकुर्वता पञ्चभूतेषु त्रित्वं संस्थाप्य दोषाणां व्यापकत्वं सोपपत्तिकं संसाधितम्। तस्य च पुनः प्रत्यक्षरूपेण धरायां सन्निवेशनेन नितरां सरलीकृतं दुरूहं जटिलञ्च नाडी-विज्ञान-गहनम्। नैतावतैवालम्। दूतधराविज्ञानविषये यदस्यान्वेषणं तत्तु सर्वथा नवीनतमं प्राचामपि बुद्धिवैभवमतिशेते। अत्र विषये न केवलं युक्तयः प्रदर्शिताः परमनेकवर्षाणि यावद् दूतधरा-विज्ञाने स्वयमनुभवता लेखकेन महत्सा-फल्यमासाद्य सत्यं चमत्कृतो वैद्यलोक। दूतधराविषये पञ्चशदधिकानि रोगिदूतानां

प्रमाणपत्राणि प्रकाशनाय प्रहितानि; तानि च नास्माभिः प्रकाशितानि विस्तर-भिया। यतः प्रत्यक्षमस्माभिरस्मन्मित्रैश्च वैद्यवर्यैर्बहुधा सकुतूहलं परीक्षितो लेखकः सर्वानपि सर्वथा समतूतुषदिति किमपरैः प्रमाण-शतैः।

अत्र केचन सन्दिहन्ते, यदिदमसम्भाव्यं न चात्र प्राचीनैः किमपीङ्गितमित्य-विश्वसनीयमेव। परं वयन्तु जानीमो यद् विज्ञानस्य यथा-यथा नव-नवा गवेषणा विधीयते, तथा-तथा किमपि तत्त्वं नूतनतमं प्राप्यत एव। वायुयान-निस्तन्त्रीक-विद्युत्सम्वाद-आकाशवाणी-प्रभृतिष्वयं प्रयोगः प्रत्यक्षीक्रियत एव। पूर्वमेवोक्तं यत् चरकादिभिरत्र विषये न तथा सूक्ष्मतरं गवेषणं विहितं यथा नन्दी-रावण-वसवराज-प्रभृतिभिरुत्तरोत्तरमत्र सूक्ष्मतरानुसन्धानं कृतम्। तथैवात्रानेकशतका-नन्तरं प्रतिभावता लेखकेन सम्वर्द्धितेयं नाडीविज्ञान-नैपुणी सत्यमेव गर्वाय प्रमोदाय च कल्प्यते भारतीयायुर्विज्ञानविदामन्येषाञ्च विदुषामिति नाधिकं प्रपंच्यते।

एवं सप्तमाध्याये गणितप्रक्रियया रोगपरीक्षणविधिं विविधं व्याकुर्वता वैद्यवर-वासिष्ठेन महदद्भुतमनुसन्धानं विहितम्। तदस्य विविधशास्त्रविद्वत्ताया गवेषण-पाटवस्य च परां प्रौढिं परिपाकञ्च प्रकाशयतिराम्। तदपि नूतनतमं विज्ञानं वैद्यानां तदध्येतॄणाञ्च नितरां कौतूहलजनकं ज्ञानवृद्धि-करं पथ-प्रदर्शकञ्च भवेदिति सुतरां प्रतीमः।

किं बहुना, यदि नामायं प्रबन्धः समुन्नतेषु वैज्ञानिकदेशेषु लिखितोऽभविष्यन्न जाने तत्रत्यैर्वैज्ञानिकैर्विश्वविद्यालयैश्च सोत्साहं सगौरवञ्च कथं समादृतोऽभविष्य-दिति नात्र वक्तव्यम्। अस्माकं भारतीया विद्वांसो यदि निबन्धममुं निखिलमपि सावधानतया पठेयुस्तदापि लेखकस्य परिश्रमः सफलो भविष्यतीति मन्यामहे। सङ्क्षेपतः सर्वोऽप्ययं निबन्धो लेखकेन विस्तरभिया सूत्ररूपेण सूत्रितोऽपि प्रत्यध्यायं नवनव-विचार-परम्परा-रमणीयः परं महत्त्वमादधाति; वैद्यकवाङ्मये नाडीविषयक-प्रबन्धाभावञ्च दूरीकरोति।

श्रूयते हि प्राक्तनेभ्यो वैद्येभ्यो विज्ञानसम्मतञ्च प्रतिभाति यद् तन्त्रीवादनशीलो नाडीविज्ञाने परं साफल्यमनुभवतीति। यस्याङ्गुलयस्तन्त्रीष्वभ्यस्ताः स एवाङ्गुलीभिः स्वराणामिव दोषाणां ज्ञाने प्रवीणो भवति। दृष्टाश्चास्माभिः श्रीमदर्जुनमिश्रप्रभृतयो महावैद्या वीणा-वादन-तत्त्वज्ञा आसन्निति। अस्य निबन्धस्य लेखको वासिष्ठोऽपि साम-गाने तन्त्री-वादने च परां नैपुणीमादधाति। तेन च नाडीज्ञानायैव तन्त्रीवादने दाक्ष्यमधिगतमिति तस्योत्साहोऽनुकरणीयो नवीनवैद्यानाम्।

लेखकोऽयं गणित--फलित-ज्योतिर्विज्ञानेऽपि परं प्रवीणः कुण्डली-प्रश्नादिफल-कथने चेतश्चमत्करोति सचेतसामिति मया स्वयमनेकशः समनुभूतम् ।

निवन्धस्यास्य भाषापि प्राचीनतमान् चरक-सुश्रुताद्यार्षग्रन्थाननुकरोति । तेनात्र स्वाभाविकं सारल्यं सुसंवेद्यत्वञ्च वर्वर्त्ति । तथापि पाठकानामर्थावगति-सौकर्य्याय विभिन्नविरामचिह्नानां प्रयोगः क्वचित् क्वचित् सन्धीमामुपेक्षणञ्च विहितम् । हिन्दीभाषायां विशेषतः परिवर्तनं कृतम् । अग्नि-वायु-प्रभृतशब्दानां प्रयोगश्च संस्कृतव्याकरणांनुसारं पुल्लिङ्ग एवः, न तु स्त्रीलिङ्गे । विभक्तिसूचकाक्षराणा-मपि न शब्देभ्यः पृथक् प्रयोगो विहितः संस्कृतनियममनुसृत्य । यत्र कुत्रापि स्थलेषु टिप्पणप्रभृतिषु भाषान्तरप्रयोगो न विहितः केवलवैद्यप्रयोजनकत्वात् । तथाप्यस्मा-कमभिलाषो यदस्य हिन्दीभाषायां स्वतन्त्ररूपेणसविस्तरं प्रकाशनं विधेयम् । येन केवलं हिन्दीविदो वैद्या आयुर्वेदीयाश्छात्राश्च सम्यग् लाभवन्तो भवेयुरिति ।

लेखकोऽयमायुष्मान् सत्यदेवो वासिष्ठो ममादरणीयाभिन्न-सुहृदां त्यागतपो-मूर्त्तीनामादर्शविदुषां श्रीब्रह्मदत्तजिज्ञासु-महोदयानां शिष्य इति तत्सम्वन्धादावाल्यादेव कुशाग्रधीरयमस्माकमपि परमं स्नेहभाजनमभूत् । तेनैव च सम्वन्धेन निवन्धसमाप्तौ तेन वाराणस्यां निवन्धपरीक्षार्थं विज्ञापितोऽहमेनं वाराणस्यामाहूय विद्वद्वराणां वैद्य-मूर्द्धन्यानां समीपे समुपाढौकयम् । एकमासं यावच्चानेन विदुषामग्रे निवन्धस्याक्षरशः श्रावणं तत्तत्स्थलेषु मार्मिको विचार-विमर्शश्च कृतः । तैश्चायं सवहुमानं सस्नेहञ्च समादृतो निवन्ध इति सम्मतिपत्र-प्रमाणपत्र-अभिनन्दनादिपत्रेभ्यः परिशिष्टे प्रकाशितेभ्योऽवगम्यते । न केवलं वाराणसेयैरन्यत्रापि च वैद्यप्रवरैरस्य भूयसी सम्मानना प्रकटीकृता । अस्याद्वितीयस्य नाडी-विज्ञान-निवन्धस्य सर्वत्रायुर्वेद-परीक्षासु नूनं पाठ्यत्वेन नियोगो विधेयः । एषो हि छात्राणामध्यापकानाञ्च नवीन-गवेषण--मार्ग-प्रदर्शको महान् ज्ञानवर्द्धकश्च सम्पत्स्यते ।

ततोऽयं प्रोत्साहितो लेखकः प्रवन्धस्यास्य मुद्रापण-प्रवन्धे संलग्नश्चिरम् अतिष्ठत् । २००६ मिते वैक्रमाब्दे ग्रीष्मान्ते कुलूतदेशात प्रत्यावर्तमानोऽहममृतसरोनगरे लेखका-तिथिरभूवम् । ततः प्रसङ्गतोऽस्य मुद्रणविषये विविधविचारानन्तरमेष निश्चयोऽभूद् यदस्य मुद्रणव्यवस्था वाराणस्यां मदीयतत्त्वावधाने भवेदस्य सम्पादनञ्च मयैव विधेयमिति । इतश्च सुप्रभातव्यवस्थापकेन प्रियवरेण श्रीरामलालशास्त्रिणा सुप्रभात-यन्त्रालयस्य स्थापनं मत्प्रियशिष्येण आयुष्मता श्रीलीलाधरशास्त्रिणा सुप्रभात-प्रकाशनाम्ना ग्रन्थमाला–प्रकाशनाय च प्रयतितम् । तन्मयास्य प्रकाशन–मुद्रण-भारस्तयोर्विन्यस्तः । परमहं स्वयं वर्षद्वयं यावदावश्यककार्यवशाद् वाराणसीं परित्यज्य वहिरगाम् । यन्त्रालयव्यवस्थापि नूतनासीदिति ग्रन्थोऽयं शनैः शनैः कथं-कथमपि मुद्रितः । नास्य गभीरतरविषयस्य सम्पादने स्थिरमतिना मया प्रयतितम् । कियत्कालानन्तरमर्धमुद्रिते प्रवन्धे चिरकालीनव्याधिना ग्रस्तोऽहम् । आपणे च

कर्णजलाभोऽप्यतिदुर्लभोऽभूत् । तदस्वस्थेनापि मया विलम्बाल्लज्जितेन त्वरमाणेन च हिन्दीभाषाया आमूलं संशोधने बहिरङ्गसम्पादने च यथातथं प्रयतितम् । गभीर-विषयस्यास्य ग्रन्थस्य सम्पादनन्तु स्वस्थतयैत्र भवितुमर्हति । तदद्वितीय-संस्करणेऽस्य सम्यक् परिमार्जनं भविष्यति । शीघ्रतयान्यमनस्कतया चात्र सम्पादन-प्रकाशन-मुद्रण-सम्बन्धिनीनां त्रुटीनां सम्भवः स्वाभाविक एव । तन्मर्षणीयं दयालुभिः पाठकैरिति क्षमायाचनमेवावलम्बनम् ।

सुप्रभात-प्रकाशन-मन्दिरम्,
वाराणसी,
अनन्तचतुर्दशी, २००९

सहृदय-विधेयः—
श्रीकेदारनाथशर्म्मा सारस्वतः

द्वितीय-संस्करणविषये

सहृदयाः ! 'द्वितीये संस्करणेऽस्य सम्यक् परिमार्जनं भविष्यती'ति कृतधियेन श्रीकेदारनाथसारस्वतेन यदाशंसितमासीत्तत्सर्वं समादृत्यैषमे प्रस्तूयमानसंस्करणे तत्सर्वमापूरितं यत्केदारनाथशर्मभिः परिस्थितिवशात् त्यक्तमासीत् । अत एव पुस्तकमिदं पूर्वतरकलेवरमतिवर्ततेतराम् ।

सदुःखमिदं विज्ञाप्यते यत् सरस्वत्यवतारभूतास्ते केदारनाथसारस्वताः साम्प्रतं विष्णोरभयं पदमधिशेरते ।

तथाप्यायुष्मद्भ्यां मनुदेवशास्त्रि-वेदव्रतशास्त्रिभ्यां विविधवेदाङ्गोपाङ्ग-निष्णाताभ्यामायुर्वेदाचार्यपदालङ्कृताभ्यां मूलपुस्तकस्य हस्तलेखमनुशीलयद्भ्यां महता परिश्रमेण सम्पादितम् ।

महाविद्येन श्रीमता वेदव्रतशास्त्रिणा स्वकीये रोहतकस्थिते **"आचार्य प्रिंटिंग प्रेस"** नाम्नि मुद्रणालये मुद्रितम् । तत्रास्य गभीरतमस्य प्रबन्धस्य शुद्धमुद्रापणे भूयोभूयः प्रयतितमनेनाम्लानेन चेतसा ।

तदहमेतयोर्धन्यवादमाशीर्वादं च वितरामि । अनुभवामि च यदेताभ्यां सहायकाभ्यां विना नाहमशक्नुवं पारमवाप्तुमस्य प्रस्तूयमानस्य द्वितीयसंस्करणस्य । तथापि दृष्टिदोषादक्षरपंक्तिबन्धकदोषाद्वा यास्त्रुटयोऽत्र जातास्ताः सुधियो विमर्श-यिष्यन्त्येवेति ।

देवसदनम्, भिवानी
२४।९।१९६७

विनीतः—
श्री १०८ सत्यदेवो वासिष्ठः

ग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय

भारतीय ग्रायुर्विज्ञान के ग्रङ्गों में नाडी द्वारा रोगपरीक्षण ग्रत्यन्त प्राचीन ग्रौर चमत्कार-पूर्ण तथ्य है। ग्रायुर्वेद की चिकित्सा का यह मूल ग्राधार है। ग्राधुनिक विज्ञान जहां इस रहस्यमय विज्ञान से चकित एवं चमत्कृत होता है; वहां हमारे ग्राधुनिक वैद्यवन्धु भी इस गम्भीर-रहस्य से ग्रनभिज्ञ होते जा रहे हैं। इस विषय की जो दो-चार छोटी-मोटी पुस्तकें मिलती हैं, वे उपपत्ति, तर्क, प्रमाण ग्रौर युक्ति-हीन सी प्रतीत होती हैं। ग्राजकल यह ग्रत्यन्त गम्भीर ग्रत एव रहस्यपूर्ण विज्ञान केवल परम्परा के ग्राधार पर ही जीवित रह गया है।

ग्रायुर्वेद के त्रिदोष सिद्धान्त पर व्यवस्थित नाडी-विज्ञान के गूढतम रहस्य का ग्रनुसन्धान इस विज्ञान-युग में ग्रत्यावश्यक ही नहीं; ग्रनिवार्य भी हो गया है। ग्रन्यथा कुछ दिनो में यह रहस्य ग्रनन्त के गर्भ में विलीन हो जायेगा। हर्ष का विषय है कि इस जटिल, दुरूह तथा ग्रतिगम्भीर विषय को लेकर प्रखर-प्रतिभा-सम्पन्न गवेषक विद्वान् वैद्य ने पांच वर्षों के निरन्तर ग्रनुसन्धान एवं कठोर तपस्या द्वारा इस रहस्य के उद्घाटन में ग्रधिकाधिक सफलता प्राप्त की है।

गवेषक-विद्वान् लेखक ने इस ग्रनुसन्धान को चरम सीमा तक पहुंचा दिया है जो दूतधरा-विज्ञान के नाम से उल्लिखित है। इस विज्ञान द्वारा दूरदेश-स्थित रोगी के रोग का निदान उसके दूत की नाडी द्वारा करने की सफल प्रक्रिया प्रदर्शित की है। लेखकने इसके शताधिक प्रयोग किये हैं ग्रौर ग्रनेक छात्रों को तैयार किया है। ग्रनेक प्रसिद्ध वैद्यों, उच्च ग्रधिकारियों एवं नागरिकोंने दूतधरा द्वारा चिकित्सा कराकर सफलता प्राप्त की है ग्रौर प्रमाणपत्र दिये हैं।

इसके ग्रतिरिक्त पुस्तकमें सबसे प्रथम त्रिदोष सिद्धान्तका सप्रमाण विवेचन किया गया है जो भारतीय ग्रायुर्वेद-सिद्धान्त का मूल ग्राधार है। उसके ग्रतिरिक्त पञ्चभूतों दोषों ग्रौर मलों का विवेचन करते हुये चरक एवं सुश्रुत की ग्रनेक पंक्तियों की रहस्यपूर्ण वैज्ञानिक व्याख्या भी विद्वान् वैद्यों एवं वैद्य-विद्या-स्नातकोंके मननकी महान् वस्तु है। पुस्तक की एक एक बात सप्रमाण है, जो ग्रनुसन्धानका मूल ग्राधार है। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, चरक, सुश्रुत तथा काश्यप संहिता ग्रादि ग्रार्षग्रन्थों के ग्रतिरिक्त किसी भी ग्रनार्ष ग्रन्थ का प्रमाण के रूपमें नामोल्लेख इसमें नहीं है। ग्रायुर्वेद की ग्रनेक रहस्यमय गुत्थियों को सरलता से सप्रमाण सुलझाया गया है।

नाडी-विषयक ग्रनुसन्धान करने के ग्रनन्तर विद्वान् लेखक ने **रावणकृत 'नाडी-विवृति'** की युक्ति-युक्त व्याख्या करते हुए **कणाद-नाडी, वसवराजीय-नाडी** तथा नाडी-सम्बन्धी सभी उपलब्ध श्लोकों की यथावसर युक्ति-पूर्ण व्याख्या कर दी है। सारांश यह कि लेखक ने नाडी-ज्ञान सम्बन्धी सर्वविध ग्रन्धकारको दूर करने एवं ग्राधुनिक विज्ञान का तर्कपूर्ण समाधान करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है।

पाश्चात्य देशो में इस प्रकार के अत्यन्त उपयोगी, आवश्यक एवं युक्तिपूण प्रामाणिक अनुसन्धान पर लेखकका जितना सम्मान और पुस्नक पर जितना विचार-विनिमय होता, वह सदियों से निर्जीव बने हुए इस देश में सम्भव नहीं है, तथापि हर्ष का विषय है कि आयुर्वेद-संसार के प्रसिद्ध एवं मर्मज्ञ विद्वानों ने अत्यन्त सहृदयतापूर्वक इस रचना के प्रति सम्मान प्रदर्शित कर लेखक के उत्साह को सफल वनाया है। दार्शनिक विषय की प्रचुरता के कारण संस्कृत-संसार के दार्शनिक विद्वानों ने भी इसका समुचित आदर किया है। आयुर्वद के **'सुधानिधि' 'धन्वन्तरि' 'आयुर्वेद संसार''** तथा देहली के दैनिक **''हिन्दुस्तान'' 'नव भारत टाइम्स'** तथा **'जनसत्ता'** आदि लोकप्रियपत्रों ने भी इस अनुसन्धान की सराहना की है।

पुस्तक प्रकाशित होने के पूर्व ही काशो के भारत-प्रसिद्ध विद्वान् वैद्यों तथा दार्शनिक विद्वानोंने पुस्तक को अक्षरशः सुनकर अपनी समुचित सम्मति ही नहीं दी; प्रत्युत काशी के जनपद वैद्य सम्मेलन के अवसर पर माननीय काशीनरेश, राष्ट्रपति के चिकित्सक भिषक् शिरोमणि विद्वत्सम्राट् **पं० सत्यनारायण शास्त्री,** वैद्य सम्मेलन के सभापति **श्रोयुत मजूमदार महोदय** एवं तीन सौ वैद्यों की उपस्थिति में लेखकका गौरवपूर्ण अभिनन्दन किया है। काशो की पंडित-सभाने भी **'भिषक्-केसरी'** की उपाधि सहित लेखक को सम्मानपत्र समर्पित किया है।

सारांश यह है कि यह पुस्तक प्रत्येक वैद्य-विद्यास्नातक के लिये परम उपादेय, शिक्षक एवं पथ-प्रदर्शक है और उन्हें इसका अध्ययन आवश्यक हो नहीं, अनिवार्य-रूप से करना चाहिये। नाडी-विज्ञान पर यह अपने ढंग की वस्तुत: सर्वप्रथम अद्वितीय अनुसन्धानपूर्ण पुस्तक है। भारत की प्रत्येक आयुर्वेद परीक्षाओं, विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं पुस्तकालयों में इसका अध्ययन अध्यापन, विचार विमर्श आदि अनिवार्य रूप से होना आवश्यक है।

नाडी–तत्त्व दर्शन का विषय–परिचय

१. प्रथम अध्याय—त्रिदोषवेदमूलीय

आयुर्वेद—सिद्धान्त एवं नाडी–विज्ञानका आधार त्रिदोष है। आधुनिक वैज्ञानिक त्रिदोष को नहीं मानते एवं कुछ लोग उसे अप्रामाणिक समझते हैं। अतः प्रथम अध्याय में सिद्ध किया है कि त्रिदोष ऋक्, यजुष्, अथर्ववेद, ब्राह्मणग्रन्थों तथा चरक सुश्रुत आदि आर्षग्रन्थों में वर्णित है और त्रिदोष–सिद्धान्त वेद-मूलक है और उसके आधार पर स्थित नाडी-विज्ञान भी वैदिक-परम्परा-सिद्ध है।

२. द्वितीय अध्याय–नाडीपदविज्ञानीय

इसमें नाडी और उसके पर्यायवाचक सभो शब्दों का निर्वचन तथा वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, व्याकरण एवं कोष आदि के प्रमाणों द्वारा पूर्ण रूपेण विवेचन किया गया है।

३. तृतीय अध्याय–पञ्चमहाभूतत्रित्वज्ञापक

इस अध्याय में पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पांच भूतों का वात, पित्त और कफ में समावेश किया गया है । जैसे–"**आकाशमारुताभ्यां वात: श्रित:, अग्निमादित्यञ्च पित्तम्**, तथा **सोमं वरुणञ्च कफ:** ।" इस विषय का विशद विवेचन है ।

४. चतुर्थ अध्याय–त्रिदोषसमक्षेपीय

इस अध्याय में सुश्रुत के आधार पर त्रिदोष की व्यापकता सिद्ध करते हुए संसार के समस्त पदार्थों में त्रिदोष का अस्तित्व सिद्ध किया गया है। जैसे–दोष, धातु और मल-ये तीन क्रमश: वात, पित्त और कफ स्थानीय है। वाल्य, यौवन एवं वार्द्धक्य इन तीनों में क्रमश: वात, पित्त और कफ की प्रधानता है । इस प्रकार संसार के पदार्थों में त्रिदोष की स्थापना करते हुए नाडी में त्रिदोष का समावेश किया गया है ।

५. पञ्चम अध्याय–दूतनाडीविज्ञानीय

इस अध्याय में रोगविज्ञान के विविध प्राचीन प्रकारों का प्रदर्शन करते हुए रोगी के भेजे हुए उपचारक (दूत) की नाडीपरीक्षा द्वारा वास्तविक रोगी की त्रिदोषानुसार परीक्षा करना इस विषय का सोपपत्तिक और सप्रमाण विवेचन किया गया है । यह अध्याय प्राकृतिक सिद्धान्तों से परिपुष्ट एवं मननीय है ।

६. षष्ठ अध्याय–रोगगणना

नाडी–परीक्षा द्वारा वैद्य रोग का नाम निर्देश कर सके इसलिये काश्यप संहिता से रोगों की नामावली एवं उनके संक्षिप्त स्वरूप का परिचय दिया गया है ।

७. सप्तम अध्याय–त्रिदोष संगणनीय

इसमें संक्षेप और विस्तार से गणित प्रक्रिया द्वारा त्रिदोष की व्याख्या और विस्तार बताया गया है । दूसरे गणित द्वारा रोग का मूलकारण जानने का प्रकार ज्योतिष प्रश्न आदि के द्वारा रोगज्ञान, अरिष्टज्ञान आदि विविध चमत्कारपूर्ण विषयों का विवेचन दर्शनीय है ।

८. अष्टम अध्याय–रावण–नाडीविवृत्ति

इस अध्याय में प्राचीन एवं प्रचलित आचार्य रावण कृत नाडीविवृति नामक ग्रन्थ की, जो आज तक दुरूह और एक पहेली सा प्रतीत होता था, उपपत्ति, प्रमाण एवं युक्तिपूर्ण व्याख्या है । इसके साथ कणाद, वसवराज तथा शार्ङ्गधर आदि में, लिखित सभी नाडी विषयक श्लोकों की संगति उन उन स्थानों पर करते हुए नाडी सम्बन्धी साहित्य की स्थिरता प्रदर्शित की गयी है ।

अन्त में प्रत्येक वैद्य वन्धु तथा आयुर्वेद के विद्यार्थियों से मैं सानुरोध निवेदन करता हूं कि वे इस "नाडीतत्त्वदर्शन" शास्त्र को आद्योपान्त पढकर लाभ उठायें।

मनुदेव शास्त्री

दण्डिस्वामिश्रीदत्तपादाचार्याणां पुत्रस्य श्रीपण्डितकेशवदेवात्रेयस्य सम्मतिः——

अयि शास्त्रनिष्णातधिषणा भिषजः ! तत्र तत्रभवतां ज्ञानपयोधिनिमग्न-चेतसामधिज्ञानं निवेदयन् हर्षमनुभवामि यदयं प्रकृतनाडीतत्त्वदर्शनस्य लेखकः श्री १०८ पण्डितसत्यदेवो वासिष्ठः श्रीपण्डितानन्तराम-शर्मणां तनुजोऽनेकशास्त्र-ज्ञाननिष्णातः सनातनधर्म–प्रेमगिरी–आयुर्वेदिक–कालेज-लाहौरनगरे प्राध्यापक-कालेजे ई० सन् १९५० मध्ये मम दृष्टिपथमुपागतः। तत्राहमपि स० ध० प्रे० आ० कालेजीयफार्मेसीविभागाध्यक्षत्वेन कार्यं कुर्वाण आसम्। तत्रास्य नैकटयेन विचारविमर्शोऽलभ्यलाभमलभे। यथा यथायं मया ज्ञानलब्धयेऽभ्यर्थित तथा तथास्य ज्ञानगौरवमवगत्य श्रद्धावानभवम्। सोऽयं स्वल्पसाधनः कृशकायः सद्गुणैकगुरुः सन्नपि नम्र उदारश्च मयि प्रीतिमावहन् मम श्रद्धास्पदतामगमत्।

मया हि वैद्यपद्धतिमनुसरता वहून्यायुर्वेदिकसम्मेलनान्यलंकृतानि वहूनि चेतरसभासु पदान्यप्यधिष्ठितानि, तेनापि विविधपद्धतिजुषां चिकित्सकानां निदानं चिकित्सा च नैकटयेन दृष्टा, किन्तु यदस्य महानुभावस्य नाडीपरीक्षातो रोग-निदानं चिकित्सा च दृष्टा, सा न केवलं दृष्टैव, अपितु तदन्तेवासित्वमधिगत्य स क्रमोऽपि मयाशिक्षि,समननं मतौ निहितश्च। तत्रैनमायुर्वेदानूचानं शतशः स्वक्रियायां सफलं मन्यमानोऽहं सर्वानपि भिषजो नाडीतत्त्वदर्शनं नाम निवन्धं पुनः पुनः पठितुमभ्यर्थये।

तत्रादृष्टपूर्वमेतस्य सूक्ष्मं दूतनाडीतो रोगस्य प्रत्यक्षमिव कथनं दृष्ट्वा चकितः सत्यं मन्यमानो नूनं श्रद्धातिरेकं भजामि। सोऽयं दूतनाडीपरीक्षाक्रमो लेखकेन वहूनां वर्षाणामभ्यासस्य सारभूतं फलं प्रस्तुते पुस्तके निश्छलं निवद्धमास्ते। तत्रास्य सकल-मप्यायुर्वेदजगत् भूयसीमाभारितामावक्ष्यतीति निःशंकं ब्रवीमि। श्रद्धया चैनं विद्वांसं भिषक्केसरिणमायुर्वेदाचार्यं वासिष्ठं नमस्कुर्वन् विरमामि।

- केशवदेव आत्रेयः

३-१-१९६८

विषय-सूची

पञ्चमहाभूत-त्रित्व-ज्ञापकस्तृतीयोऽध्यायः

त्रिदोषसमक्षेपीयश्चतुर्थोऽध्यायः

दूतनाडीविज्ञानीयः पंचमोऽध्यायः

रोगगणनात्मकः षष्ठोऽध्यायः

त्रिदोषसंगणनीयः सप्तमोऽध्यायः

अष्टमोऽध्यायः

अथ रादण-नाडीं-परीक्षा-विवृतिः

परिशिष्टम्

लेखकस्य द्वौ ग्रन्थौ

❋ सत्याग्रह-नीति-काव्यम् ❋

(आर्यभाषानुवादसहितम्)

१९३९ ख्रिष्टाब्दे भाग्यनगरे (हैदराबादनगरे) प्रचलिते सत्याग्रहे सत्यस्य-आग्रह एव विविधरूपेण सर्वराष्ट्राणि सम्बोध्य लिखितोऽयं पद्यात्मको ग्रन्थो नूनं पठनीयः सत्याग्रह-नीति-बुभुत्सुभिः ।

काव्ये प्रयुज्यमानशृङ्गाररस-सर्गादिशब्द-प्रयोग-विनिर्मुक्ते स्वतन्त्रशैल्या विरचिते काव्येऽस्मिन् सत्याग्रहस्य नीतिर्वर्णिता । प्रसंगतो निजामराज्य-स्यात्याचाराः स्वास्थ्यनियमादयोऽपि समुपनिबद्धाः । रचना मधुरा प्राञ्जला च वर्तते ।

द्वितीयं परिशोधितं संस्करणम् मूल्यम् ५.००

विष्णु-सहस्रनाम-सत्यभाष्यम्

(आर्यभाषानुवादसहितम्)

महाभारतान्तर्गतानां विष्णोः सहस्रनाम्नां 'सत्यभाष्ये' व्याकरणं मन्त्रलिङ्गं लोके च तेषां व्यापकत्वं प्रतिपाद्यान्ते सारांशभूताः स्वश्लोका निर्दिष्टाः । तदिदं सत्यभाष्यमद्वितीयमपूर्वं चेति सर्वैः पठनार्हं मननार्हं चास्ति ।

साधारणजनानामुपकारार्थमार्यभाषानुवादोऽप्यत्र विरचितः ।

चतुर्षु भागेषु मुद्रितस्य मूल्यम् ६०-००

नाडीतत्त्व-दर्शनस्य, सत्याग्रहनीति-काव्यस्य,
विष्णुसहस्रनाम्नां सत्यभाष्यस्य च प्रणेता

श्री १०८ पं० सत्यदेव वासिष्ठ (नाडी-वैद्य)

जन्म-तिथि—२४ अगस्त, सन् १९१२ ई०

ओ३म् नम आयुर्वेद-प्रवक्तृभ्यो ब्रह्मादिभ्य ऋषिभ्यः

नाडीतत्त्वदर्शनम्

मङ्गलाचरणम्

तस्याभीद्धाद् विभक्ता प्रकृतिरुदनयद्दोषधीन् सा हिमाद्रौ।
तेभ्यो रेतः प्रजज्ञे, पुरुष इह ततो दोष-दूष्यैर्विमिश्रः ॥

तस्येति—परब्रह्मणोऽभीद्धात्=तपसः,अव्यक्ता प्रकृतिर्महदादिषु विपरिणमन्ती, आकाशवाय्वग्निजलपृथिव्यादि-पञ्चमहाभूतेषु व्यक्तेषु विभागं प्राप्ता, सर्वप्रथमं हिमाद्रौ, दोषधीन्=दोषप्रशमन-समर्थान्, अग्नि-सोम-गुण-वहुलान्, उदनयत्= उदजनिष्ट। उक्तञ्च—

"ओषधीनां परा भूमिर्हिमवान् शैलसत्तमः।
तस्मात् फलानि तज्जानि ग्राहयेत् कालजानि तु ॥"

—चरकः, चि० स्था०, १।३८

दोषाणां धारणकर्तृत्वादत्र दोषधिपदमुपात्तम्, तेन पृथिव्यन्तर्गतानां लोह-सुवर्णताम्रादिधातूनां, पारदरूपात्मकस्य रसस्य, अन्येषां च भूगर्भादुपात्तानां रसानामपि ग्रहणं भवति। एवं च गन्धक-गैरिक-प्रभृतीनां पार्थिवांश-वहुलानां शिलाजतु-प्रभृतिसारप्रधानद्रव्याणामपि संग्रहः।

पुनश्च, तेभ्यः=ओषधीभ्यः, अनन्तरं, रेतः=प्राणिवीजम्, प्रजज्ञे=अजनिष्ट। तदुक्तमुपनिषत्सु—

"तस्माद् वा एतस्मादाकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः" इति

ततः=रेतसः, अनन्तरम्, दोष-दूष्यैः, विमिश्रः पुरुषः, प्रजज्ञे। दोषास्त्रयः—वात-पित्त-श्लेष्माणः, दूष्याश्च रस-रक्त-मांस-मेदोऽस्थि-मज्ज-शुक्राणि मलाश्च। उक्तं चाभियुक्तैः—

"दोष-धातु-मल-मूलं हि शरीरम्"।

परब्रह्म के प्रबल तप से अव्यक्त-प्रकृति, आकाश आदि पंचमहाभूतों में व्यक्त होकर सर्वप्रथम हिमालय पर्वत पर औषधियों को उत्पन्न करने में समर्थ हुई। औषधियों से प्राणि-बीज-रेतस् की उत्पत्ति हुई और रेतस् से दोष एवं दूष्यों से युक्त पुरुष की उत्पत्ति हुई। प्राचीन आचार्यों ने कहा भी है कि "शरीर दोष, धातु और मल से उत्पन्न है" इसी कारण पुरुष में

रोगास्तस्मिंस्त्वनन्ता धमनिगतिवशात् ते तु सुज्ञा नृणां स्युः ।
वन्दे नन्दीं शिवं वा धमनिगतिविदं रावणं विघ्नशान्त्यै ॥१॥

तस्मिन्=पुरुषे, अनन्ताः=असंख्येयाः, रोगा भवन्तीति शेषः । उक्तञ्चाचार्यैः—

"तत्र व्याधयोऽपरिसंख्येया भवन्त्यतिबहुत्वात्, दोषास्तु खलु परिसंख्येया भवन्त्यनतिबहुत्वात् ।" —चरकः, वि० स्था०, ६।६

"त एवापरिसंख्येया विद्यमाना भवन्ति हि ।
रुजा-वर्ण-समुत्थान-स्थान-संस्थान-नामभिः ॥"

—चरकः, वि० स्था० ४।३

ते च रोगाः—इति भावः । धमनिगतिवशात्=नाडी-परिस्पन्दन-स्पर्श-विशेषात् । नृभिः, सुज्ञाः=सुखं ज्ञेयाः स्युः । नृणामित्यत्र कृद्योगात् षष्ठी । तस्मात् नन्दीं, शिवं, धमनिगतिविदं रावणञ्च वन्दे=नमस्करोमि । किन्निमित्तम् ? इत्याह—विघ्नप्रशान्त्यै । अत्र नन्दि-शिव-रावणाभिधाना वैद्यविशेषाः । रावणकृत-नाडी-विवृतौ नन्दि-रावणयोर्विवेचनञ्च कृतमास्ते ।

प्रणम्य जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारकारणम् ।
धरया दोष-दूष्याणां वक्ष्ये ज्ञानक्रमं त्विह ॥२॥

प्रयोजनम्

अथास्य नाडीतत्त्व-दर्शनस्य लेखने हेतुरुच्यते—

धरा-विधानं भिषगाद्यभूषणम्, भिषग्वरैराप्तयशोऽपि तद्भृशम् ।
यशः सुदुह्यादपि मादृशांस्तथा भिषग्बुभूषूनिति कीर्त्यते मया ॥३॥

अनन्त रोग उत्पन्न होते हैं । वे रोग, नाडी की गति के ज्ञान द्वारा सरलता से जाने जा सकते हैं । इसलिये मैं नाडी-तत्त्व के आविष्कारक=आचार्य नन्दी शिव और रावण को विघ्न परिहार के लिये नमस्कार करता हूं ।

जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं संहार के कारण सच्चिदानन्द को नमस्कार करके नाडी क द्वारा रोगों और दूष्यों के परिज्ञान का प्रकार कहता हूं ।

ग्रन्थ निर्माण का प्रयोजन

नाडी द्वारा रोगों का ज्ञान करना, ब्रह्मा आदि प्रथम-आचार्यों ने प्रचलित किया था । उनके अनन्तर अनेक प्रवुद्धतम विद्वान् वैद्यों ने नाडी के द्वारा रोग-ज्ञान करने में ख्याति प्राप्त की है । वह नाडी-विज्ञान, मुझ जैसे वैद्य वनने की इच्छा रखने वाले व्यक्तियों को भी यशस्वी वना सके इसलिये 'नाडीतत्त्व-दर्शन' की रचना करता हूं ।

❋ त्रिदोष-वेदमूलीयः प्रथमोऽध्यायः ❋

अथातस्त्रिदोषस्य वेदे मूलमधिकृत्य कृतमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
तत्र तावद्वातस्य—

'द्वाविमौ वातौ' इत्यस्य शंतातिः ऋषिः । वातो देवता ।

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः । दक्षं ते अन्य आवातु व्यन्यो वातु यद्रपः ।।
अथर्व० ४।१३।२

द्वाविमौ वातौ=इमौ द्वौ वातौ स्तः, एकः आसिन्धोः=सिन्धुदेशान्तं याति, आफुफ्फुसान्तमिति यावत् । तत्र रक्तं शुद्धवायुयोगात् शुद्ध्यति । वेदे हि फुफ्फुसौ कफोढावुच्येते । तद्यथा मन्त्रः—

**"कति देवा कतम त आसन् य उरो ग्रीवाश्चिक्युः पूरुषस्य ।
कति स्तनौ व्यदधुः कः कफोढौ कति स्कन्धान् कति पृष्टीरचिन्वन् ।।"**

अथर्व० १०।२।४

अपरः, आपरावतः=वहिर्दूरस्थलान्तं याति, अनयोः, अन्यः ते=एकस्तव कृते, दक्षं=वलम्, आवातु=आवहतु, वर्द्धयतु वा । यद् रपः, अन्यः, विवातु=यद्-दूषितं विकारजातमस्ति; तमपरो वहिर्निर्यापयतु ।

इस अध्याय में वात, पित्त और कफ—इन तीनों की वेदमूलकता बतलायी जावेगी । कारण यह है कि जो वेद के द्वारा कहा गया हो वही धर्म और वही मान्य होता है । अतः वेदों के द्वारा वात, पित्त और कफ—इन त्रिदोषों की सिद्धि करना आवश्यक है । इसलिये इस सर्व प्रथम अध्याय में पृथक्-पृथक् और समष्टि रूप से वेदों में दोषों की चर्चा दिखलायी गयी है ।

विस्तृत वैदिक-वाङ्मय में त्रिदोष सम्बन्धी अनेक मन्त्र हैं । स्थानाभाव के कारण हम एक-एक या दो-दो मन्त्रों द्वारा ही उनका निर्देश करेंगे ।

वायु के सम्वन्ध में:—

'द्वाविमौ' यह मन्त्र है । इसका ऋषि शंताति है और वायु देवता है । भावार्थ यह है कि प्रधान रूप से शरीर में दो प्रकार के वायु रहते हैं:—प्राण और अपान । इनमें एक तो फुफ्फुसों द्वारा रक्त को शुद्ध करता है और दूसरा शरीर से बाहर मलों को ले जाता है । इन दोनों में से 'एक तुझे बल प्रदान करे और दूसरा विकारों को शरीर से बाहर करे ।'

'कति देवाः' इस मन्त्र में फुफ्फुसों को 'कफोढ' कहा गया है ।

सारांशः—द्वौ प्राणापानात्मकौ वातौ भवतः ।
"प्राणापानौ हि तौ स्मृतौ" बृहद्देवता ७।१२६, तौ=अश्विनाविति शेषः । तावेवात्र मन्त्रे निर्दिष्टौ प्राणापानौ । तयोः स्थानं स्वरूपञ्च प्रदर्श्यते ।
तत्र प्राणस्य—

"प्राणः संज्ञावाहिनीनां मूले मूर्द्धन्यवस्थितः ।
सूक्ष्मरूपो बुद्धिचित्तेन्द्रियाणां स हि साधकः ।।
हृदादीनामिन्द्रियाणामभिप्रेतार्थ—साधने ।
प्रमुखः प्रेरकश्चायं ततः प्राण इति स्मृतः ।।"

अपानस्य—

"उदरस्याधःप्रदेश अपानाख्ये समाश्रितः ।
शुक्रार्त्तवशकृन्मूत्र-गर्भनिष्क्रमणक्रियः ।।
अधःसमीरणादुक्त अपानाख्यः समीरणः ।।" (शरीरसत्त्व-दर्शनतः)

प्राणो वायुर्बलाधानकर्त्ता, अपानो वायुर्मलानां दोषाणां वापहन्ता ।
तथा च—

"आ वात वाहि' इत्यस्य शंतातिः ऋषिः । वातो देवता ।
आ वात वाहि भेषजं विवात वाहि यद्रपः । त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे ।।
—अथर्व, ४।१३ ३

हे वायो ! त्वं सूक्ष्मतत्त्वैः सह रोगनाशकं भेषजं शरीरे प्रापय । ये दोषाः सन्ति, तान् विवाहि=दूरं नय । हे विश्व-भेषज ! त्वं देवानां दूत इव, ईयसे=प्राप्तो

सारांश यह कि प्राण और अपान ये दो प्रधान वायु हैं । बृहद्देवता नामक ग्रन्थ में इनको 'अश्विनौ' कहा गया है । शरीरतत्त्व-दर्शन में—प्राण का स्थान मस्तिष्क बतलाया गया है, जो ज्ञान या संज्ञा-वाहिनियों का मूल उद्गम स्थान है । अष्टाङ्गहृदय में भी प्राणवायु को 'ऊर्ध्वग' कहा है । वेद में भी कहा है—'पवमानो अधिशीर्षतः' अर्थात् प्राणवायु शीर्षस्थानीय है । प्राणवायु, बुद्धि, चित्त एवं इन्द्रियों को, हृदय को और हृदयगत-भावों को अपने-अपने ईप्सित अर्थ की प्राप्ति करने अथवा सिद्ध करने में प्रधान रूप से प्रेरक है ।

अपान वायु उदर के निचले प्रदेश में रहता है और शुक्र, आर्तव, मूत्र, पुरीष तथा गर्भ आदि का बाहर की ओर प्रेरक है । इसीलिये उसे 'अपान' कहा गया है ।

तात्पर्य यह कि प्राणवायु बल देता है और अपान मलों को या दोषों को दूर करता है ।

वायुनिर्देशक दूसरा मन्त्र—

'आ वात वाहि'—इसका ऋषि शंताति और देवता वायु है ।

सारांश यह है कि—'हे वायो ! तुम सूक्ष्मतत्त्वों के साथ औषधि को शरीर में पहुंचाओ, क्योंकि तुम देवताओं के दूत हो ।

भवसीति भावः । एवमन्येऽपि वह्वो मन्त्रा वात-महिम्नो ज्ञापकाः सन्ति ।

अथ पित्तस्य—

सुपर्णो जातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्तसासिथ । तदासुरी युधा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन् ।।

अथर्व, १।२४।१

मन्त्रस्यास्य ऋषिर्ब्रह्मा । आसुरी वनस्पतिर्देवता । आशयः—सुपर्णोऽत्र सूर्यः, असौ हि स्वकिरणैः पित्तमूष्माणं वर्धयति । तद्धि पित्तं सूर्यकिरणैर्वनस्पतिषु सञ्चितं भवति । ते हि परिपाकरूपात्मकेन पित्तेन युक्त्या प्रयुक्ताः रूपं चक्रे=वर्णं वलञ्च प्रसाधयन्ति । **"प्रभावर्णकरो हि सः"** इति चरकः । सोऽग्निरित्यर्थः ।

अपरश्च—

उप द्यामुप वेतसमवत्तरो नदीनाम् । अग्ने पित्तमपामसि ।।

अथर्व, १८।३।५

नदीनामपाम्, द्यामुप=द्यो-शब्दोऽत्रावकावाची, जलानामुपरि पुष्पवत् शैवालमिति यल्लोके ब्रुवन्ति । वेतसमुप=नड्वलानां नदीकूल आरूढानां वेतसेति संज्ञा । अवकावेतसयोः, अवत्तरः=रक्षकः, सारभूतोंऽशोऽस्ति । उक्तञ्च तैत्तिरीय-संहितायाम् - **"अपां वा एतत् पुष्पं यद्वेतसः । अपां शरोऽवका वेतसशाखया चावकाभिश्च विकर्षति"** इति । (तैत्ति० सं० ५।४।४।२०)

हे अग्ने ! त्वं अपां सम्वन्धी, पित्तम्=पित्तधातुरसि । 'तेजोऽप्पित्तमपां पित्ताम्' (वैज० कोषः, लोकपालाध्यायः, श्लोक १९) उपपद्यते चैतत्—वह्निजलाभ्यां पित्ताम् ।

इस प्रकार वायु की महिमा एवं उसके कार्यों के सम्वन्ध में अन्य अनेक मन्त्र वेदों में प्राप्त होते हैं संक्षेप के कारण यहां उद्धृत नहीं किये गये ।

पित्त सम्वन्धी मन्त्र--

'सुपर्णो जातः'--इस मन्त्र का ऋषि ब्रह्मा और आसुरी वनस्पति देवता है ।

भावार्थ यह है कि—सूर्य अपनी किरणों से पित्त अर्थात् ऊष्मा को बढ़ाता है । वह पित्त सूर्य-किरणों द्वारा वनस्पतियों में सञ्चित होता है और उसके=पित्तके द्वारा वनस्पतियों में जो परिपाक होता है उसी से वनस्पतियों में बल और वर्ण की उत्पत्ति होती है । चरक संहिता म कहा है कि पित्त, प्रभा और वर्ण-कारक है । वही अग्निरूप है ।

'उप द्यामुप',—इस मन्त्र में द्यो शब्द अवका के अर्थ में प्रयुक्त है जो पानी का बूर या शैवाल कहा जाता है । शैवाल के सारभूत रक्षक अंशको अवत्तर कहते हैं । सारांश यह कि 'हे अग्ने ! तू पानी से सम्वन्ध रखने वाला पित्त धातु है । वैजयन्ती कोष में भी पित्त को तैजस् कहा है (देखिये—वैजयन्तीकोष, लोकपालाध्याय, श्लोक १९) आयुर्वेद के आचार्य भी कहते हैं कि 'अग्नितत्त्व और जलतत्त्व क संयोग से पित्त बनता है ।' इस समय प्रचलित तैजस् आप—तेजाव को भी पित्त स्थानीय ही जानना चाहिये ।

तथा च यजुषि—

उप ज्मन्नुप वेतसेऽवत्तर नदीष्वा । अग्ने पित्तमपामसि
मण्डूकि ताभिरागहि सेमं नो यज्ञं पावकवर्णं शिवं कृधि ।।

—यजु०, अ० १७ मं० ६

अग्ने ! त्वमपां पित्तं=तेजोऽसि । पावकवर्णम्=अग्निसमानतेजसम् । उक्तञ्च चरके="**पाचिताः पित्ततेजसा**" इति । तथा च 'पित्त' मिति पदं यजुषि (१६।८५) द्रष्टव्यम् । पित्तेने'ति च पदं द्रष्टव्यं यजुषि (२५।७) ।

अथ श्लेष्मणः—

अस्थिस्रंसं परुःस्रंसमास्थितं हृदयामयम् ।
बलासं सर्वं नाशयाङ्गेष्ठा यश्च पर्वसु ।।

—अथर्व, ६।१४।१

ऋषिर्बभ्रुः । देवता बलासः । क्षयरोगनिवारणे विनियोगः । अस्थिस्रंसम्, परुःस्रंसम्=अस्थिसन्धीनां शैथिल्य-कर्त्तारं, आस्थितं हृदयामयम्= हृदयरोगमर्थात् बलासं सर्वविधं क्षयरोगं, यः अङ्गेष्ठाः, यश्च पर्वसु=अङ्गानां सन्धिषु विशेषेण तिष्ठति, तं सर्वविधं रोगम् । नाशय=दूरे नय । '**बलास**' शब्दोऽत्र कफे,

---

यजुर्वेद के '**उप ज्मन्**'—इस मन्त्र में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि अग्ने ! पित्त-मपामसि'—अर्थात् 'हे अग्नि ! तू जल का पित्त है ।' इस पद से पित्त को जलका तैजस रूप बतलाया गया है । 'मण्डूकि ताभिरागहि'—पदसे यह दिग्दर्शन करोया गया है कि सभी जल-मय प्राणी भीतर से उष्ण होते हैं । जैसे—जल में रहने वाले मण्डूक भयङ्कर विषधर होते हैं ।

इसी प्रकार यजुर्वेद के अध्याय १६ मन्त्र ८५ में 'पित्तम्' पद का प्रयोग किया गया है और २५ वें अध्याय के ७वें मन्त्र में 'पित्तेन' पद का प्रयोग किया गया है । चरक में भी कहा है—"पाचिताः पित्ततेजसा" पित्त की उष्मा से परिपाक होता है ।

श्लेष्म (कफ) प्रदर्शक मन्त्रः—

'अस्थिस्रंसं'—इस मन्त्र का ऋषि बभ्रु है और बलास देवता है । इसका भावार्थ यह है कि अस्थियों एवं अस्थि सन्धियों को शिथिल करने वाले, हृदय में और अङ्गों की सन्धियों में रहने वाले बलास अर्थात् कफ को नष्ट करो ।

इस में हृदय को कफ का अधिष्ठान माना गया है । सुश्रुत ने भी 'कफप्रसादजं हृदयम्' कहते हुए हृदय को कफ-संस्थान माना है । वेद ने भी हृदय और कफ का सम्बन्ध स्वीकार किया है ।

वैदिक 'बलास' शब्द कफ का वाचक है । इसके दो अर्थ हैं:-(१) कफ और (२) कफ-क्षय । बलस्य आसः=स्थानम्—बलासः, अर्थात् बलका आश्रय, विशुद्ध कफ । यह 'आस उप-वेशने' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होकर बना है । दूसरे, बलस्य आसः=नाशकः—अर्थात् बलका नाशक । यहां 'असू-क्षेपणे' धातुसे 'घञ्' प्रत्यय होता है ।

कफ-क्षये चास्ति । उपपद्यते चातः—**"प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते"**—चरकः । एवमस्मिन् सूक्तेऽन्येऽपि मन्त्राः सन्ति । विस्तरभिया नोद्धृताः ।
एकस्यामृचि त्रिदोषप्रयोगो यथा—

मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं परुस्परुराविवेशा यो अस्य ।
यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्त्सचतां पर्वतांश्च ।।

—अथर्व० १ । १२ । ३

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः । देवता यक्ष्मनाशनम् ।

शीर्षक्त्याः=शिरःशूलात्, उत=अन्यः, यः कासः=यः कासोऽस्ति, तस्मादेनं, मुञ्च=मोचय । तथा चास्य परुस्परुः=पर्वणि-पर्वणि, यो रोगः, आविवेश=आविष्टोऽस्ति, तस्मादपि मोचय । यः अभ्रजा=मेघवृष्टचा अर्थात् कफहेतोः, यो रोग उत्पन्नः, तथा च, वातजाः=वातोत्थो यो व्याधिः, यश्च शुष्मः=पित्तजो यो रोगोऽस्ति तं नाशयितुं वनस्पतीन् सचताम् पर्वतांश्च= वृक्ष-वनस्पति-पर्वत-सम्बन्धं कुरुथ । तथा चाथर्वणि—

शतधारं वायुमर्कं स्वर्विदं नृचक्षसस्ते अभि चक्षते रयिम् ।
ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति सर्वदा ते दुह्रते दक्षिणां सप्तमातरम् ।।

—अथर्व० १८।४।२९

ते नृचक्षसः=आयुर्वेदविशारदा विद्वांसः, शतधारं वायुम्=असंख्यधाराभिरर्थात् नाडीस्रोतोभिर्वायुम्, स्वर्विदमर्कम्=तेजःस्थानमर्थात्-अग्निरूपमूष्मणो द्वारं, सूर्यरूपं पित्तम् । **अग्निर्वा अर्कः**–शत० (१०।६।२।५) तथा च, रयिम्=सोमरूपं पुष्टिप्रदं कफम्, अभिचक्षते=अभितो जानन्ति । तथा च विशेषविवेचनया मन्वते । ये

चरक ने भी इसे स्वीकार किया है—"प्राकृत कफ बल है और विकृत—कफ मल है ।" यही विकृतकफ बलनाशक है ।

इस प्रकार अथर्ववेद के इस सूक्त में कफ सम्बन्धी और मन्त्र भी हैं । विस्तार के भय से उन्हें यहां उद्धृत नहीं किया गया ।

एक मन्त्र में 'त्रिदोष' का प्रयोग—

'मुञ्च शीर्षक्त्या'—इस मन्त्र का ऋषि अङ्गिरा और यक्ष्मनाशन देवता है । भावार्थ यह कि हे यक्ष्मनाशन देव ! इस रोगी को शिरःशूल से और कास रोग (खांसी) से मुक्त करो । इस रोगी के पोर-पोर म सञ्चित कफ-जन्य विकारों, वायु से उन्पन्न होने वाले रोगों और पित्त से उत्पन्न होने वाले रोगों के लिये वृक्ष, वनस्पति तथा पर्वतों का सेवन करो ।

अथर्ववेद में और भी कहा है:—

'शतधारम्'—इस मन्त्र का तात्पर्य यह है कि—वे आयुर्वेद के विशारद असंख्य नाडीस्रोतों से बहते हुए वायु को, सूर्य-देवताक अग्नि-पित्त को और सोमदेवताक पुष्टिकारक कफ को तर्क-वितर्क के द्वारा भली भांति जानते हैं, ये तीनों (वात, पित्त, और कफ) रस, रक्त, मांस,

वात-पित्त-कफास्तथा च, सप्तमातरं दक्षिणाम्=रस-रक्त-मांस-मेदः-अस्थि-मज्ज-शुक्रमित्येतेषां सप्तधातूनां निर्माणकर्त्तारः सन्ति, तथाभूतं भोगकलाधारं शरीरं, पृणन्ति=प्रकृतिस्थाः, सन्तः पालयन्ति। तथा च प्रकुपिताः सन्तः शरीरं मृत्यवे रोगाय वा प्रयच्छन्ति, ते=वात-पित्त-कफाः, सर्वदा, दुह्रते=शरीरं प्रपूरयन्ति व्याप्नुवन्तीति वा। शतशब्दो वहुपर्य्यायो निघण्टौ। उक्तञ्चापि –

'नित्याः प्राणभृतां देहे वातपित्तकफास्त्रयः।
विकृताः प्रकृतिस्था वा तान् बुभुत्सेत पण्डितः॥ —च०, सू०, अ० १८।५०

सुश्रुतेऽपि च—

"वात–पित्त–श्लेष्माण एव देह–सम्भव–हेतवः।
तैरेवाव्यापन्नैः शरीरमिदं धार्य्यते॥"—सुश्रु०, सू० अ० २१।अनु० ३

तथा च—

"दोषाः पुनस्त्रयो वात–पित्त–श्लेष्माणः। ते प्रकृतिभूताः शरीरोपकारका भवन्ति। विकृतिमापन्नास्तु खलु नानाविधैर्विकारैः शरीरमुपतापयन्ति।"

—च०, वि०, १।५

"सर्वशरीरचरास्तु–प्रकृतिभूताः···विकृतिमापन्ना विकारसंज्ञकानि"–च० सू०–२०।६॥

"प्रकृतिभूतानां खलु वातदीनां फलमारोग्यम्॥ च० शा० ६।१८

"विसर्गादान-विक्षेपैः सोमसूर्य्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद्देहं वात-पित्त-कफास्तथा॥" सुश्रु० सू० २१।६

मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्र-इन सात धातुओं के निर्माण कर्ता है। इस प्रकार ये त्रिदोष, प्रकृतिस्थ होकर पालन करते हैं और कुपित होकर विविध प्रकार की व्याधियों को उत्पन्न करते हैं। ये वात, पित्त और कफ, शरीर को सदा पूर्ण करते रहते हैं या भरते रहते हैं।

इस मन्त्र में 'शतधार' पद आया है। यहां शत शब्द का अर्थ वहुत है। वैदिककोष निघण्टु में 'वहुत' के पर्यायों में शत-शब्द का प्रयोग किया गया है।

चरक-संहिता के सूत्रस्थान, अध्याय १८ में कहा है कि "त्रिदोष प्राणियों के शरीर में सर्वदा रहते हैं। विद्वान् वैद्य उन्हें 'प्रकृतिस्थ हैं या विकृत हैं' यह जानने का यत्न करें।

सुश्रुत के सूत्रस्थान में भी लिखा है कि—"वायु, पित्त और कफ-इन तीनों से शरीर का निर्माण हुआ है। वे अविकृत रहने पर शरीर की कर्तृत्व शक्ति को बनाये रहते हैं।"

चरक के विमान स्थान में लिखा है:—"वात, पित्त और कफ ये तीन दोष हैं ये प्रकृतिस्थ रहने पर शरीर को बढ़ाते हैं, अपने इष्ट साधन की शक्ति को भी बनाये रहते हैं और शरीर की इष्ट-सिद्धि में सहायक होते हैं।

सूत्रस्थान में लिखा है कि "शरीर के प्रकृतिभूत ये त्रिदोष, आरोग्य-प्रदान करते हैं और विकृत होने पर वे ही विकार कहे जाते हैं। त्रिदोष का प्रकृतिस्थ रहना ही आरोग्य है।"

सुश्रुत के सूत्रस्थान में कहा गया है कि "जैसे वायु, सूर्य और चन्द्रमा परस्पर विसर्ग आदान और विक्षेप करते हुए जगत् को धारण करते हैं उसी प्रकार वात, पित्त और कफ शरीर को धारण करते हैं।"

विशेषपरिज्ञानाय चरकस्थ-सूत्रस्थानीयो वात-कलाकलीयोऽध्यायो द्रष्टव्यः ।

ऋग्वेदे च—

'त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि भेषजा त्रिः पार्थिवानि त्रिरु दत्तमद्भ्यः ।
ओमानं शंयोर्ममकाय सूनवे त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पती ॥

ऋ० १।३४।६॥

अत्र सायणः—हे शुभस्पती,=शोभनस्य प्रधानजातस्य पालकौ, युवां त्रिधातु-वातपित्तश्लेष्मधातुप्रशमनं, सुखं वहतं=प्रापयतम् ।

अन्यच्च—

या वः शर्म्म शशमानाय सन्ति त्रिधातूनि दाशुषे यच्छताधि ।
अस्मभ्यं तानि मरुतो वि यन्त रयिं नो धत्त वृषणः सुवीरम् ॥

—ऋ० १।८५।१२

अत्र "त्रिधातूनि" पदं व्याचक्षाणो महर्षिर्दयानन्दः—**"त्रयो वात-पित्त-कफा येषु शरीरेषु वाऽयःसुवर्णरजतानि येषु धनेषु तानि"** इति व्याचख्यौ ।

एतेन स्पष्टं ज्ञायते यत् मन्त्रार्थविधौ वैद्यकार्थजुष्टः सनातनोऽयं सम्प्रदायः सर्वमान्य आसीदेवेत्यास्माकीनो दृढः प्रत्ययः ।

महाभारतेऽपि—

त्रिदोष के विशेष-परिचय के लिये चरकसंहिता-सूत्रस्थान के १२वें वातकला-कलीय अध्याय को देखना चाहिये ।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ३४ वें सूक्त में आये हुए "त्रिर्नो अश्विनौ" इस मन्त्र में 'त्रिधातु"-पद का प्रयोग किया गया है । इस पर भाष्य करते हुए आचार्य सायण ने लिखा है-"हे सुन्दर जगत् के पालन करने वाले अश्विनी-कुमार! तुम वात, पित्त और श्लेष्म इन तीन धातुओं का भली भांति प्रशमन करो ।"

उसी के प्रथम मण्डल के ८५ वें सूक्त में आये हुए "या वः शर्म्म" इस मन्त्र में पठित त्रिधातूनि पद का अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द ने वात, पित्त, कफ और लोहा, सोना तथा चांदी—दोनों अर्थ किये हैं ।

उक्त प्रमाणों से यह नितान्त स्पष्ट है कि वेदार्थप्रक्रिया में आयुर्वेद क मूलाधार—त्रिदोष की व्यवस्था सर्वत्र सम्मान्य थी ।

'त्रिधातु' शब्द का लोक में भी वात, पित्त, कफ के अर्थ में प्रयोग है । यथा—

"यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके ।"

महाभारत के युद्धपर्व में लिखा है:—"हे राजन्! संग्राम में शत्रुओं के साथ अभिमन्यु का परस्पर ऐसा युद्ध हुआ, जिस प्रकार शरीर का वात, पित्त और कफ से हुआ करता है ।"

अभिमन्योस्ततस्तैस्तु　　तथा　　युद्धमवर्त्तत ।
शरीरस्य यथा राजन् ! वात-पित्त-कफैस्त्रिभिः ॥—युद्ध पर्व ६।८१।४१

एतेन स्पष्टं प्रतीयते यन्महाभारतकालेऽपि त्रिदोष-व्यवस्थयैव चिकित्साक्रम आसीदिति ।

अथ शरीरोत्पत्तिः—

द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनुद्यामिमञ्च योनिमनु यश्च पूर्वः ।
समानं योनिमनुसञ्चरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः ॥—अथर्व, १८।४।२८

द्रप्सः=प्रवृत्तिमान् जीवः, दृप हर्षमोहनयोः, दिवादिः । पृथिवीं द्याञ्चानु=द्यावापृथिव्योरुत्पत्यनन्तरं, योनिमनु=मनुष्यादियोनिम्, चस्कन्द=प्राप्नोति, यश्च पूर्वः=यश्च नित्योऽस्ति । समानं योनिमनु=स्वकर्मानुसारं योनिं, सञ्चरन्तम्=गृह्णन्तम्, द्रप्सं=मोहप्रवृत्तिमन्तं जीवं, सप्त होत्रा अनु=रसरक्तमांसमेदोऽस्थि-मज्जशुक्ररूपात्मकान् सप्तधातून्, शरीरावयवान् प्रति, जुहोमि=सृजामीत्युपदिशतीश्वरः । होत्राः=अङ्गानि । अत्र प्रमाणम्—**'अङ्गानि वाव होत्राः'** गोपथब्राह्मणे उत्तरार्द्धे, (६।६) ।

'त एते शरीरधारणात् धातव इत्युच्यन्ते' ।　　　—सु० सू०, १४।२१

जीवस्य प्रवृत्तिमत्त्वज्ञापिका ऋग्, यथाः—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

—ऋ० १ । १६४ । २० ।

इससे यह सिद्ध होता हैं कि महाभारत काल में भी चिकित्सा पद्धति का आधार त्रिदोष था ।

अथर्ववेद के 'द्रप्सश्चस्कन्द' इस मन्त्र में वात, पित्त और कफ इनको शरीरोत्पत्ति का कारण कहा गया है । अर्थात् "प्रवृत्तिमान् जीव, द्यावापृथिवी की उत्पत्ति के अनन्तर मनुष्य आदि योनियों को प्राप्त करता है, जो नित्य है । स्वकर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनि को ग्रहण करते हुए जीव की स्थिति के लिये रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र रूप सात धातुओं को शरीर के अवयवों के लिए सर्जन करता हूं ।"

यह ईश्वरीय कथन है । इस मन्त्र में उल्लिखित 'होत्रा' शब्द का अर्थ अङ्ग है । गोपथ ब्राह्मण उत्तरार्ध में लिखा है कि अङ्गों का नाम 'होत्रा' है ।

सुश्रुत में शरीर के धारक होने के कारण त्रिदोष को भी धातु कहा है ।

जीव की प्रवृत्तिमत्त्व—

ऋग्वेद के प्रसिद्ध मन्त्र 'द्वा सुपर्णा' में जीव के प्रवृत्तिमान् होने का निर्देश किया गया है । अर्थात्—"दो सुन्दर पंख और रूपवाले पक्षी, एक ही साथ एक वृक्ष पर निवास करते हैं । उनमें से एक पिप्पल के स्वादिष्ट फल को खाता है और दूसरा अनशन करता हुआ तृप्त एवं प्रदीप्त रहता है ।"

द्वा=द्वौ, सुपर्णा=शोभनपत्रौ, सुरोचिष्णू वर्णवन्तौ, सयुजा=सुयोगमाप्तौ, सखाया,=सखायौ, समानख्यानौ=मित्रे, समानं=एकं वृक्षं,=व्रश्चनं, तरुम्, परिषस्वजाते=परितः सर्वतः सेवेते। तयोः अन्य=इतरः, स्वादु=रुचिकरं, पिप्पलम्=अश्वत्थफलम्, फलोपलक्षणमेतत्, अत्ति=खादति, अन्यः=तयोरेकः, अनश्नन्=अखादन्, अभिचाकशीति=अभितस्तत् तत्त्वपरिज्ञानेन तृप्तिमेति।

सारांशः—जीवो जगतः पदार्थान् भुङ्क्ते, ईश्वरो न भुङ्क्ते, स एकरसः सन् सर्वं सर्वभावेन जानातीति। मन आत्मा च द्वौ, तयोरपि सङ्गतिरत्र।

अथ स्पर्शविज्ञानम्—

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः॥ —अथर्व, ४।१३।६

वैद्यो वक्ति—हे रोगिन्! अयं पुरोदृश्यमानः, मे=मम, वामहस्तः=वामः करः, भगवान्=सामर्थ्यवानस्ति, तथा च—अयं, मम दक्षिणो हस्तः, भगवत्तरः=अधिकसामर्थ्ययुक्तोऽस्ति, अपि च—अयं मे हस्तः, विश्वभेषजः=विश्वानि भेषजानि, सर्वव्याधिनिवर्त्तकानि औषधानि, यस्मिन् हस्ते, सः, तथोक्तगुणविशिष्टो मदीयोऽयं हस्तः शिवाभिमर्शनः=सुखकरस्पर्शनयुक्तोऽस्ति। भगवान् भगं पूजितं ज्ञानं तद्वान्।

यहां पिप्पल शब्द का अर्थ फल है। वेद में 'अश्वत्थ' और 'पिप्पल' इन शब्दों का अनेक बार उल्लेख आया हैं। उसका अर्थ फल है।

सारांश यह कि जीव, जगत् के पदार्थों का सेवन करता है और परमात्मा निर्लिप्त भाव से एक रस रहता है।

यह मन्त्र जीव और ब्रह्म के समान आत्मा और मन के सम्बन्ध में भी संघटित होता है। अर्थात् मन और आत्मा एक ही हृदय-गुहा में रहते हैं। उनमें मन वेगवान् होने के कारण दूर-दूर तक गति करता है और आत्मा निर्लिप्तभाव से अपने आश्रय में ही स्थित रहता है और प्रकाशित होता है।

स्पर्शविज्ञान

नाडी-ज्ञान में अंगुलियों द्वारा स्पर्श करना ही विशेष साधक है। इस सम्बन्ध में अथर्ववेद का 'अयं मे हस्तः'—यह मन्त्र स्पष्ट निर्देश करता है। वैद्य रोगी से कहता है:—"हे रोगिन्! यह मेरा बांया हाथ, भाग्यवान् है, यह मेरा दाहिना हाथ अधिकतर भाग्यवान् है; विश्व के लिये औषधिस्वरूप है और यह हाथ सर्वविध मङ्गल को बढ़ाने वाला है।"

इस मन्त्र में वैद्य क हाथ की विशेषरूप से प्रशंसा की गयी है। यहां 'भग' शब्द के अनेक अर्थों में भाग्यवान् अर्थात् रोगों के दूर करने म प्रशस्त, पूजित या सफल अर्थ है। आयुर्वेद में भी वैद्य को 'पीयूषपाणि' कहा गया है। इसी बात को 'भगवत्तर' कहकर और भी पुष्ट किया

यथोक्तम्—

उत्पत्तिः प्रलयञ्चैव भूतानामागतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति ।।

अथवा भगशब्दः समस्तैश्वर्यमाहात्म्यादिवचनः । यथोक्तम्—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना ।।

यस्मादत्र मन्त्रे भगवानिति पदं हस्तस्य विशेषणत्वेनोपन्यस्तमस्ति, तस्मादुपपद्यते—भगं पूजितं प्रशस्तं, रोगाणामुत्पत्तिप्रशमनज्ञानवतो मे'हस्तो'भगवानिति, तस्यैव पुनः शक्त्यतिशयतां प्रदर्शयन्'भगवत्तरः,विश्वभेषजः,शिवाभिमर्शनः'इतिपदैर्विशिनष्टि ।

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी ।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभिमृशामसि ।। अथर्व ४ । १३ । ७
अनामयित्नुभ्यां त्वां ताभ्यां त्वोप स्पृशामसि । ऋग्० १०, १३७, ७

हस्ताभ्यां-दशशाखाभ्यां=शाखति व्याप्नोतीति शाखा, 'शाखृ' व्याप्तौ धातुः । शाखाशब्देनात्राङ्गुलयोऽभिप्रेयन्ते । खे शेरेत इति । यत उक्तञ्च निरुक्ते—**"शाखा खशया शक्नोतेर्वा"** (१।४)। ताश्चोभयोर्हस्तयोर्मिलित्वा दश भवन्ति । दशशाखाभ्यां हस्ताभ्यामर्थादुभाभ्यां हस्ताभ्यां, अनामयित्नुभ्यां=रोगरहिताभ्यां रोगनाशकसामर्थ्ययुक्ताभ्यां वा, हे रोगिन् ! त्वा त्वां, अभिमृशामसि=अभितः सर्वतः संस्पृशामः । अत्र **'इदन्तो मसि'** (अ० ७ । १ । ४६) इत्यनेन 'मसः' प्रत्ययस्येकारान्तनिपातनम् ।

अत्र मन्त्रे स्पर्शसामान्येऽभिहिते सत्यपि नाडी-स्पर्शोऽपि परिगृहीतो भवति, कुतः ? धरास्पर्शन-द्वारा धमनि-विज्ञान-विशेषज्ञो रोगात्मकं विकारमवबुध्यते, तत उत्तरकालं तत्प्रशमनाय प्रयतत इति यतः । तथा च रावणनाडीविवृतौ हस्तस्य पादस्य च नाडीपरीक्षा समकाल एव उभाभ्यां हस्ताभ्यां वैद्येन कर्त्तव्येति **"स्त्रीणां भिषग्वामहस्ते वामपादे च यत्नतः** (श्लोक ८) इत्यत्र वक्ष्यते ।

तस्माद् रोगज्ञानाय सर्वभावावेशस्थानेन हृदयेन ध्मातां सर्वशरीरस्थां धमनीं संस्पृशाम इत्यपि । जिह्वा=वागिन्द्रयाधिष्ठानभूता रसना, वाचः=शब्दस्य, पुरोगवी=पुरोगन्त्री भवतु, यत्र यत्र शब्दः प्रयुज्यते तत्र तत्र तस्य शब्दस्योच्चारणाय पुरतो व्याप्रियते ।

गया है । इसके अतिरिक्त 'विश्वभेषज' और 'शिवाभिमर्शन' इन विशेषणों से वैद्य के हाथ को औषधिरूप और कल्याणकारी बतलाया गया है ।

इसी प्रकार अथर्ववेद का दूसरा मन्त्र—"हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां" इसी विषय का विशेष निर्देश करता है । वैद्य कहता है कि—"हे रोगिन् ! मैं दश शाखा–अंगुलियों वाले नीरोग हाथ से तुझे स्पर्श करता हूं और कल्याणवर्षिणी वाणी से तुझे पूछता हूं ।"

इसका विशद विवेचन अगले अध्यायों में किया जायेगा । उक्त मन्त्र से यह ध्वनि भी निकलती है कि वैद्य का हाथ स्वयं नीरोग, स्वच्छ और अमृतमय होना चाहिये; जिसके स्पर्श से रोगी को शान्ति और धैर्य्य प्राप्त हो सके ।

वैद्येन रोगिणो धैर्याभिवृद्धये कीदृशी वाक् प्रयोक्तव्या, तामुपदिशति।

सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा बिभेः।
न वै तत्र म्रियन्ते नो यन्त्यधमं तमः ॥२४॥
सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः।
यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम् ॥२५॥ अथर्व, ८, सू० २

हे अरिष्ट! =अरिष्टवान् रोगिन्, न मरिष्यसि, अत्र 'न मरिष्यसि' इत्यस्य द्विवारं प्रयोगो दार्ढ्य-सूचकः, रोगिणे धैर्य्यप्रदानाय। मा बिभेः=भयं मा कुरु। यत्र, परिधिः=आतुरालयः, जीवनाय=जीवयितुं निर्मायेति शेषः इदं ब्रह्म—दृश्यमान-मोषधं क्रियते=उपचर्य्यते, दीयते वा। तत्र, (प्राणिनः) नैव म्रियन्ते, नो अधमं तमः=दुःखातिशयम्, यन्ति=प्राप्नुवन्ति। तत्र च गौः, अश्वः, पुरुषः, पशुः,—सर्वः, अपि जीविति=इति भावः।

अत्र हि "ब्रह्म"—शब्दस्य भेषजार्थे प्रयोगः। उक्तं हि—**'यद् भेषजं तदमृतं यदमृतं तद् ब्रह्म'**—गोपथब्राह्मणे, पू० ३।४

पूर्वोद्धृतमन्त्रेषु स्पर्शसामान्य-विधानात्, नाड्याश्च स्पर्शाधिष्ठानभूतत्वात्, मन्त्रस्य नाडीस्पर्शेऽपि विनियोग उपपद्यत एव। नाड्याः स्पर्शज्ञाने तु विशेषसाधनी-भूतास्त्वङ्गुल्य एव। उक्तञ्चापि चरकसंहितायाम्—

स्पर्शनेन्द्रिय-संस्पर्शः स्पर्शो मानस एव हि।
द्विविधः सुख-दुःखानां वेदनानां प्रवर्त्तकः॥
उपादत्ते हि सा भावान् वेदनाश्रय-संज्ञकान्।
स्पृश्यते नानुपादाने नास्पृष्टो वेत्ति वेदनाः॥ —शारीर० १।१३३-१३५

अथर्ववेद के 'सोऽरिष्ट' इस मन्त्र में रोगी को सान्त्वना-धैर्य्य—प्रदान करने के लिये वैद्य को कैसे शब्दों का प्रयोग करना चाहिये--इसका निर्देश किया गया है। वैद्य कहता है—"हे रोगिन्! तू न मरेगा, न मरेगा! डर मत। निश्चय तू न मारेगा। जहां पर औषधालय या आतुरालय बनाकर यह औषधि दी जाती है, वहां सभी जीवन धारण करते हैं। केवल पुरुष ही नहीं, गाय, घोड़े, आदि पशु भी इस अमृत-औषधि के द्वारा अन्धकारमय मृत्युलोक में नहीं जाते।"

यहां पर औषध के लिये ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया गया है। गोपथ ब्राह्मण के पूर्वार्ध (३।४) में स्पष्ट लिखा है कि "जो भेषज है, वह अमृत है और जो अमृत है, वही ब्रह्म है।"

पूर्वोक्त स्पर्शविधान करने वाले दोनों मन्त्रों में सामान्य रूप से स्पर्श का निर्देश किया है। नाडी का ज्ञान भी स्पर्श के आश्रित है। इसलिये स्पर्श से नाडी—स्पर्श का ग्रहण भी करना चाहिये। नाडी-स्पर्श में अंगुलियों का ही प्रयोग किया जा सकता है। इसी से 'दश-शाखाभ्यां' विशेषण का प्रयोग किया है।

चरकसंहिता के शरीरस्थान [१।१३३] में लिखा है कि 'स्पर्श, त्वगिन्द्रिय के आश्रय में रहता है। मानसिक और शारीरिक-दो प्रकार का स्पर्श होता है। क्योंकि मन और शरीर

तस्माल्लघुभ्यां हस्ताभ्यां वैद्यो नाडीं तथा स्पृशेद् यथा नाड्याः स्पर्शस्तु सम्यक् प्रतीयेत; परन्तु नाडी विशेषं संवहनं न प्राप्नुयात् । यथा हि व्याघ्री मार्जारी वा स्वपुत्रान् द्रंष्ट्राभ्यामुत्थाप्य स्थानान्तरं नयति, परन्तु दंष्ट्राघातं न प्रापयति ।

इदान त्रिदोषस्य विश्वव्यापकता प्रदर्श्यते—

तथा च सुश्रुते—**'वैश्वरूपाच्च'**—सु०, उ० तन्त्र, ६।१।१७।।

उक्तं हि काश्यपसंहितायां शिष्योपक्रमणीय–विमानाध्याये—

"ते च वात–पित्त–कफाः—द्वे द्वे देवते श्रिताः । तद्यथा—आकाशमारुताभ्यां वातः श्रितः, अग्निमादित्यं पित्तम्, सोमं वरुणञ्च कफः । तास्तेषां देवताः ।।"

"छिद्रमेवेदमन्तरिक्षम्"—ताण्ड्यब्राह्मण, ३।१०।२; २१।७।३।।

"अन्तरिक्षमेवेदं सर्वं पूर्णम्"—तां, ब्रा०, १५।१२।५

सुश्रुतेऽप्युक्तम्—**'सर्वश्छिद्रसमूह आकाशस्य ।'**

शरीरस्य जीवनीयतत्त्ववर्णने निर्देशभेदात् पित्त-कफ-वायूनां निर्देशः । वातकलाकलीयेऽध्याये चरकः—

'अग्निरेष शरीरे पित्तान्तर्गतः' इति । (सूत्रस्थान अ० १२)

तस्माद् यद्यद्गुणवर्णनं संहितासु, तच्छाखासु, ब्राह्मणेषु वा अग्नि-सोम-वायूनां महिमवर्णनं कर्मातिशयत्वं वा तत् तत् सर्वमार्षादाम्नायात् परिज्ञाय, त्रिदोषव्यवस्थां प्राप्य, वैद्येन धरया तद् विकृतं प्राकृतं वा वक्तव्यम् । कुतः ? **'यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे'** इति न्यायात् । एतस्योदाहरणमात्रमेव तावदग्रे निरूप्यते । येनाव्याहतगतिर्वैद्यो भवेदिति ।

दोनों ही सुख दुःख के आधार हैं । ज्वर आदि शरीरिक रोग और काम, क्रोध, लोभ आदि मानसिक रोग हैं ।'

आगे आठवें अध्याय में नाडी स्पर्श से मानसिक रोगों के ज्ञान का उपाय लिखा जायेगा ।

रोगी को सान्त्वना देने क लिये शब्द प्रयोग करते हुए वैद्य को विभिन्न मनो-विकारों में व्याधि के अनुकूल प्रिय या अप्रिय शब्दों का प्रयोग करना चाहिये । शब्द-तन्मात्र के अतिशय सूक्ष्म होने के कारण मन को प्रभावित करने में शब्द सब से अधिक सहायक होता है ।

वैद्य को नाडी स्पर्श इस प्रकार करना चाहिए, जैसे सिंहनी, बिल्ली आदि पशु दांतों से अपने बच्चों को इधर उधर ले जाते हैं, परन्तु दांतों का आघात नहीं होने पाता । इसी प्रकार वैद्य भी नाड़ी को इस प्रकार लघुस्पर्श से दबावे जिस से उसकी गति में तनिक भी विघात उत्पन्न न हो ।

वैद्य की बुद्धि को प्रगति प्रदान करने के लिये वेद, ब्राह्मण आदि सत्य शास्त्रों से सिद्ध किये गये त्रिदोष-विज्ञान की वेदानुकूल विश्वव्यापकता प्रदर्शित की जाती है । सुश्रुत में 'वैश्वरूपाच्च' इस पद से त्रिदोष-विज्ञान को विश्वव्यापक बतलाया गया है ।

काश्यप संहिता नामक कौमारभृत्य-तन्त्र में त्रिदोष में प्रत्येक के दो-दो देवता माने जाते हैं । जैसे—आकाशतत्त्व और वायुतत्त्व के योग से वायु नामक दोष आश्रित है । अग्नि और आदित्य के आश्रित पित्तदोष है और कफ, सोम एवं वरुण के गुणों का आश्रय करता है ।

१. अन्तरिक्षेणेदं सर्वं पूर्णम्—ताण्डय ब्रा०, १५।१२।२
२. छिद्रमेवेदमन्तरिक्षम्—ताण्डच ब्रा० ३।१०।२, २१।७।३
३. अयम्म आकाशः स मे त्वयि—जैमि० ब्रा०, उ०, १।२०।२
४. अन्तरिक्षमस्याग्नौ श्रितम् । वायोः प्रतिष्ठा—तैत्ति० ब्रा० ३।११।१।८
५. स एवायं पवते (वायुः),एतदेवान्तरिक्षम्—जैमि० ब्रा० उ०, १।२०।२
६. अयं वै वायुर्योऽयं पवते, एष वा इदं सर्वं विविनक्ति यदिदं किञ्च विविच्यते—शत० ब्रा०, १।१।४।२२
७. वातो (यजुः, १५।६२) हि, वायुः—शत०, ८।७।३।१२
८. यो वै वायुः स इन्द्रः, य इन्द्रः, स वायुः—शत०, ४।१।३।१९
९. वायुर्वै जातवेदा वायुर्हीदं सर्वं करोति यदिदं किञ्चन—ऐ० ब्रा०, २।३४
१०. योऽयं पवते एष द्यु तानो मारुतः—शत० ब्रा०, ३।१।१६
११. वायुर्वै तार्क्ष्यः—कौषीतकी ब्रा० ३०।५
१२. अयं वै तार्क्ष्यो योऽयं पवते एष स्वर्गस्य लोकस्याभिवोढा—ऐ० ब्रा०, ४।२०
१३. वायुर्वा आशुस्त्रिवृत्, स एष त्रिषु लोकेषु वर्तते—शत० ब्रा०, ८।४।१।१९
१४. अयं वै वायुः विश्वकर्मा योऽयं पवते । शत० ब्रा० ८।१।१।७

वैदिक संहिताओं, शाखाओं एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में अग्नि सोम और वायु के जिन जिन गुणों तथा विशेष कर्मों का वर्णन किया गया है उन सब गुण-कर्मों का उक्त ग्रन्थों द्वारा भली भांति अनुसंधान करके नाडी द्वारा शुभाशुभ कथन करना चाहिये ।

यहां क्रमशः वेदों एवं ब्राह्मणों के उद्धरणों का हिन्दी अर्थ दिया गया है । इसके अध्याय मन्त्र आदि की संख्या मन्त्रों के साथ दी गई है, वहीं देखिये ।

१. यह सारा विश्व अन्तरिक्ष से व्याप्त है ।
२. यह छिद्र ही अन्तरिक्ष है ।
३. यह जो बाहर आकाश है, वही तुझ मे और मुझ में है ।
४. अग्नि अन्तरिक्ष तथा वायु के आश्रय पर है ।
५. जहां जहां वायु चलता है वहां वहां आकाश है ।
६. वायु गतिशील है, और वायु ही पृथक् पृथक् पदार्थों को अवस्थित करता है ।
७. वात का पर्यायवाची वायु शब्द है ।
८. जो वायु है, वह इन्द्र है, जो इन्द्र है, वह वायु है ।
९. वायु का नाम ही जातवेदा है, जो कुछ जगत् में क्रियामय दीख रहा है, वह सब वायु का ही माहात्म्य है ।
१०. जो यह आकाश में चलता है, वायु है ।
११. वायु ही तार्क्ष्य है ।
१२. स्वर्ग लोक का वहन करने वाला तार्क्ष्य वायु ही है ।
१३. वायु ही तीनों लोकों में व्यापक है, अतः वह आशुत्रिवृत् है ।
१४. वायु ही विश्वकर्मा है ।

१५. एष हीदं सर्वं करोति—शत० ब्रा०, ८।१।१।७,८।६।१।१७।
१६. वायुर्वै प्राणः—कौषीतकि ब्रा०, ८।४,
१७. वायुर्हि प्राणः—ऐत० ब्रा०, २।२६,३।२
१८. वायुर्वै प्राणे श्रितः—तैत्ति०, ब्रा०, ३।१०।४।८
१९. मनो हि वायुर्भूत्वा दक्षिणतस्तस्थौ—शत० ब्रा०, ८।१।१।७
२०. इमे वै त्रयो लोकाः पूः, अयमेव पुरुषो योऽयं पवते, सोऽस्यां पुरि शेते, तस्मात् पुरुषः—शत० ब्रा०, १३।६।२।१
२१. सर्वेषामु हैष देवानामात्मा यद्वायुः—शत० ब्रा०, ९।१।२।३८
२१. वायुर्वै नभस्पतिः—गोपथ ब्रा०, उ०, ४।९
२३. वायुर्वान्तिरिक्षस्याध्यक्षः—तै०, ब्रा०, ३।२।१।३
२४. सोऽयं वायुः पुरुषेऽन्तःप्रविष्टस्त्रेधा विहितः प्राण उदान व्यान इति—
शत० ३।१।२।२०

अग्नेः—

२५. तेजो वा अग्निः—शत० ब्रा०, २।५।४।८
२६. तपो वा अग्निः—शत० ब्रा०, ३।४।३।२
२७. अग्निर्वै देवानां जठरम्—तै० ब्रा०, २।७।१२।३,
२८. अग्निर्वै सर्वमाद्यम्—ताण्ड्य ब्रा०, २५।९।३
२९. अग्निर्वै मिथुनस्य कर्ता प्रजनयिता च—शत० ब्रा०, ३।४।३।४,

---

१५. वायु ही सब कुछ करता है।
१६. यह पवित्र करने वाला वायु है।
१७. वायु ही प्राण है।
१८. प्राणवायु भी वायु के आश्रय पर है।
१९. मन ही प्राण बनकर दक्षिण की ओर खड़ा हुआ था।
२०. तीनों लोक एक प्रकार की नगरी है, उसमें रहने से वायु का नाम पुरुष है।
२१. वायु सब देवताओं की आत्मा है।
२२. वायु ही आकाश का स्वामी है।
२३. वायु ही अन्तरिक्ष का आधार है।
२४. यह एक ही वायु पुरुष में प्राण, उदान तथा व्यान तीन प्रकार का है।

अब अग्नि का स्वरूप प्रदर्शित करते हैं—

२५. तेजःस्वरूप का नाम अग्नि है।
२६. तप का नाम अग्नि है।
२७. अग्नि ही देवताओं का जठर है।
२८. अग्नि ही सब कुछ खाने योग्य बनाती है।
२९. अग्नि ही मैथुन तथा प्रजनन का स्वामी है।

३०. इयं पृथिवी वा अग्निः—शत० ब्रा०, ७।३।१।१२,
३१. अग्निर्वै देवानां यष्टा—शत० ब्रा०, ३।३।७।३,
३२. अग्निर्हि देवानां दूत आसीत्—शत० ब्रा०, १।४।१।३४
३३. अग्निरेव देवानां दूत आस—शत० ब्रा०, ३।५।१।२१
३४, अग्निर्हिमस्य भेषजम्—यजु० २३।४६।। तै० ब्रा०, ३।६।५।४
३५. अग्निर्वै यशः ।

आदित्यस्य—

३६. चक्षुरादित्यः—शत० ब्रा०, ३।२।२।१३
३७. देवलोको वा आदित्यः—कौषी० ब्रा०, ५।७
३८. असौ वा आदित्य एकाकी चरति–आदित्य उदयनीयः—शत०ब्रा० ३।२।३।६
३९. सहस्रं हैत आदित्यरश्मयः—जैमि० ब्रा० उ०, १।४४।५
४०. सर्प्पा वा आदित्याः—ताण्डच ब्रा०, २५।१५।४

सोमस्य—

४१. सोमो राजा चन्द्रमाः—शत० ब्रा०, १०।४।२।१
४२. चन्द्रमा वै सोमः—कोषी० ब्रा०, १६।५; तै०, १।४।१०।७; श० १२।१।१।२
४३. वृत्रो वै सोम आसीत्—शत० ब्रा०, ३।४।३।१३; ३।९।४।२
४४. पितृलोकः सोमः—कौषी० ब्राह्मण, १६।५
४५. सोमो रात्रिः—शत० ब्रा०, ३।४।४।१५

---

३०. यह दृश्यमान जगत् अग्नि रूप है ।
३१. अग्नि ही देवताओं का यष्टा है ।
३२. अग्नि ही देवताओं का दूत है ।
३३. अग्नि ही देवताओं का दूत था ।
३४. अग्नि ही शीत की ओषधि है ।
३५. शुद्ध अग्नि ही यश है ।

अब आदित्य का स्वरूप वताया जाता है—

३६. आदित्य चक्षु है ।
३७. आदित्य ही देवलोक है ।
३८.आकाश में जो अकेला चलता है, वह आदित्य है जो पूर्व में उदय होता है वह आदित्य है।
३९. आदित्य की असंख्य रश्मियां हैं।
४०. 'अथवा' ये सर्प ही आदित्य हैं।

अब सोम का स्वरूप—

४१. नक्षत्रों का स्वामी चन्द्रमा सोम कहलाता है ।
४२. चन्द्रमा ही सोम है ।
४३. वृत्र ही सोम था ।
४४. पितृलोक का नाम सोम है ।
४५. रात्रि का नाम सोम है ।

४६. परोक्षमिव ह वा एष सोना राजा यन्न्यग्रोध इति—ऐत० ब्रा०, ७।३१
४७. सोमो वै दधि—कौषी० ब्रा०, ६।८,६
४८. रसः सोमः—शत० ब्रा०, ७।३।१।३
४९. तस्मात् सोमो राजा सर्वाणि नक्षत्राण्युपैति—षड्विंष ब्रा०, ३।१२
५०. अन्तरिक्षदैवत्यो हि सोमः—गो० ब्रा० उ०, २।४
५१. सोमो वै ओषधीनामधिराजः—कौषी० ब्रा०, ४।१२; तै० ब्रा०, ३।६।१७।१
५२. स वा एष (सूर्यो) ऽपः प्रविश्य वरुणो भवति—कौषी० ब्रा०, १८।६
५३. अप्सु वै वरुणः—तै० ब्रा०, १।६।५।६
५४. रात्रिर्वरुणः—ऐ० ब्रा०, ४।१०; ता० ब्रा०, २५।१०।१०
५५. द्यावापृथिवी वै मित्रावरुणयोः प्रियं धाम—ताण्ड्य ब्रा०, १४।२।४
५६. अयं वै (पृथिवी) लोको मित्रोऽसौ (द्यलोको) वरुणः—
शत० ब्रा०, १२।६।१।१२

---

४६. यह वटवृक्ष भी तिरोहित रूप में सोम है ।
४७. दही का नाम सोम है ।
४८. रस का नाम सोम है ।
४९. सोम "चन्द्रमा" राजा सब नक्षत्रों को प्राप्त करता है ।
५०. सोम अन्तरिक्ष देवता है ।
५१. सोम ओषधियों का अधिराजा है ।

वरुण का स्वरूप—

५२. पानी में दीखने वाला सूर्य ही वरुण है ।
५३. वरुण का स्थान जल है ।
५४. रात्रि का नाम वरुण है ।
५५. मित्रावरुण का प्रिय स्थान द्यावापृथिवी है ।
५६. अथवा यह पृथिवी लोक मित्र है और यह द्युलोक वरुण है ।

ऊपर कहे हुए कतिपय वेदवाक्यों का सङ्गति-प्रदर्शन दिखाया जाता है जिससे कि अन्य वाक्यों के सङ्गतिकरण का मार्ग प्रशस्त हो सके ।

देखिये अष्टम वाक्यः—जिसका वायु सम-चारी है, उसी का शरीर बलिष्ठ है । वायु के विषम होने पर बलवान् का शरीर भी निर्बल हो जाता है ।

देखो नवम वाक्यः—जिसका वायु सम है, वही 'जातानि वेदाः—अर्थात् उत्पद्यमान पदार्थों को जान सकता है । समवायु वाले को ज्ञान भी स्थिर रहता है ।

इसी प्रकार देखो सत्ताईसवां वाक्यः—जिसका पित्त समचारी है वह तपसे दुर्गम को भी पार कर सकता है और दुर्ज्ञेय का भी ज्ञान कर सकता है ।

इस प्रकार विलोम प्रक्रिया-दूतधरा द्वारा रोगी की नाडी देख कर यह बतलाया जा सकता है कि तुम अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकोगे या बीच में ही अटक जाओगे ।

इसी प्रकार उन्तीसवें वाक्य का अनुसन्धान करते हुए नाडी देखकर कहा जा सकता कि जिसकी पित्तधरा जितनी बलवती है, वह उतना ही अधिक अन्न पचा सकता है ।

भवन्ति चात्र—

'द्वाविमौ वातौ वातः' 'आ वात वाहि भेषजम्' ।
एताभ्यां वातदोषस्य मूलमात्रं निरूपितम् ॥१॥
'सुपर्णो जातः' इत्यस्मात्—**'उपद्यामुपवेतसात्'** ।
'उपज्मन्नुपवेतसात्' पित्तमूलं निर्दशितम् ॥२॥
'पित्तं' 'पित्तेन' नामान्तौ[1] यजुषात्र प्रदर्शितौ ।
'अस्थिस्रंसं परुःस्रंसं' श्लेष्ममूलार्थमुद्धृतः ॥३॥
'अभ्रजा' 'वातजा' 'शुष्म'—पदैर्दोषत्रयस्य च ।
ब्रह्मस्थ[2] **'मुञ्च शीर्षक्त्या'**श्लेष्मवातानलान् पृथक् ॥४॥
दोषस्य सप्त-धातूनां **'शतधारेति'** मन्त्रतः ।
प्राकृता विकृता दोषा यान्ति घ्नन्ति वपुर्यतः ॥५॥
'त्रिर्नो अश्विना'—मन्त्रे त्रिधातुपदमुच्चरन् ।
वात-पित्त-श्लेष्म-धातु—प्रशमं प्राह सायणः ॥६॥

पचासवें वाक्य का अनुसन्धान करने से मालूम होता है कि जिसकी कफ-नाडी सम, अर्थात विशुद्ध रूप से चल रही हो, उस में गम्भीरता, उदारता एवं शान्ति आदि गुण अधिक होंगे।

ऐसे ही बावनवें वाक्य द्वारा यह माना जाता है कि जब कफ, कुपित होकर वायु के मार्ग को अवरुद्ध कर देता है, तब वह आकाश में न जाकर विषमावस्था को प्राप्त कर वमन, ग्रहणी या अग्निमान्द्य आदि को उत्पन्न करता है।

इस प्रकार सम्यक् रूप से जाना हुआ तथा दूत-धरा द्वारा प्रयोगों में लाया हुआ यह नाड़ीविज्ञान, वैद्य को यशस्वी, धनी एवं सफल बना सकता है।

प्रथम अध्याय का संक्षेप

'द्वाविमौ वातौ वातः' और 'आवात वाहि भेषजं' इन दोनों मन्त्रों द्वारा वेदों में वायु का दिग्दर्शन है ॥१॥

'सुपर्णो जातः' 'उपद्यामुप' एवं 'उपज्मन्नुपवेतसे' इन मन्त्रों द्वारा पित्त का मूल स्थापन है ॥२॥

यजुर्वेद में 'पित्तम्' पद द्वितीयान्त तथा 'पित्तेन' यह तृतीयान्त पद प्रदर्शित किया गया है, 'अस्थिस्रंसम्' इस मन्त्र से कफ का प्रदर्शन कराया गया है ॥३॥

अथर्ववेद के एक ही मन्त्र में आये 'अभ्रजा' 'वातजा' तथा 'शुष्म' इन पदों से क्रमशः कफ, वात और पित्त—तीनों का मूल प्रदर्शित किया है ॥४॥

'शतधार' इस मन्त्र के द्वारा सप्तधातुओं के निर्माण कर्ता सप्त दोषों का प्रकृतावस्था में शरीर को पुष्ट करने तथा विकृत अवस्था में शरीर को दूषित करने का मूल बतलाया गया है ॥५॥

ऋग्वेद के "त्रिर्नो आश्विनौ" इस मन्त्र के "त्रिधातु" पद का सायणाचार्य द्वारा किया गया वात पित्त-कफ रूप-अर्थ प्रदर्शित किया गया है ॥६॥

---

१. सुवन्तौ। २. अथर्वस्थात्।

'या वः शर्म्मे'ति मन्त्रस्थ--**'त्रिधातूनि'** पदं स्मरन् ।
'वात-पित्त-कफा येषु' दयानन्दर्षिभाषितम् ॥७॥
आसीद् भारतकालेऽपि सर्वमान्यमतं त्वदः ।
शरीरस्य यथा राजन् ! वातपित्तकफैस्त्रिभिः' ॥८॥
'द्रप्सश्चस्कन्द'--मन्त्रेण शरीरोत्पत्ति-वर्णनम् ।
'द्वा सुपर्ण'ति जीवस्य प्रवृत्तिमत्त्व-दर्शनम् ॥९॥
'अयं मे हस्त' इत्यस्मात् स्पर्शज्ञानमुदाहृतम् ।
'हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां'मयं स्पर्शो धरागते ॥१०॥
स्पर्शनाद् वेदनाज्ञानं त्रिदोषो देवताश्रितः ।
विश्वव्यापकता चास्य ब्राह्मणादिभिराहिता ॥११॥
त्रिदोषवेदमूलीयोऽध्यायः पूर्ति समन्वगात् ॥
पुनःशोधनमाश्रित्य स्थानेऽमृतसरोऽभिधे ।
वाणशून्याभ्रनेत्राब्दे श्रावणार्के दिगंशगे ॥

इति त्रिदोष-वेदमूलीय प्रथमोऽध्यायः ।

"या वः शर्म्म" इस मन्त्र में पठित "त्रिधातूनि" पद का अर्थ ऋषि दयानन्द जी के मतानुसार वात, पित्त, कफ या लोहा, सोना, चांदी किया गया है—यह दिखलाया गया है ॥७॥

महाभारत के 'अभिमन्योः' इस श्लोक द्वारा तत्कालीन—चिकित्सापद्धति में वात, पित्त और कफ को चिकित्सा का मूल आधार बताया गया है ॥८॥

"द्रप्सश्चस्कन्द" इस मन्त्र के द्वारा शरीरोत्पत्ति का वर्णन तथा "द्वा सुपर्णा" इस मन्त्र के द्वारा जीव की प्रवृत्तिमत्ता प्रदर्शित की गयी है ॥९॥

"अयं मे हस्तः" तथा "हस्ताभ्यां" इन दोनों मन्त्रों से नाडी-स्पर्श में विनियोग की व्यवस्था बतायी गयी है ॥१०॥

चरक के "स्पर्शनाद्वेदना" इस वचन से स्पर्शविज्ञान का समर्थन किया गया है । काश्यप संहिता के वचनानुसार वात, पित्त और कफ के दो-दो देवता तथा ब्राह्मण आदि ग्रन्थों से उसकी विश्वव्यापकता निर्दिष्ट की है । इस प्रकार आर्ष—आम्नायके द्वारा उक्त विषयों का प्रदर्शन किया गया है कि वैद्य की बुद्धि वैदिक—आम्नाय की अनुगामिनी होकर चतुर्वर्ग को प्राप्त कर सके ॥११॥

यह 'त्रिदोष-वेदमूलीय' नाम का प्रथम अध्याय पूरा हुआ । सम्वत् २००५ के श्रावण (अगस्त १९४८) में अमृतसर में इस का पुनः संशोधन किया गया ।

प्रथम अध्याय समाप्त ।

* नाडी-पद-विज्ञानीयो द्वितीयोऽध्यायः *

अथातो नाडी-पदविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः—

का नाम नाडीति पूर्वं विविच्यते । नाडीशब्दोऽयं शरीरस्य तत् प्रणाल्या वाचकः, या हि मस्तिष्कस्य तथा च नाभिचक्रादिषट्चक्राणामाधारस्य-इडा-पिङ्गला-सुषम्णानाञ्च सुदैर्घ्यस्य प्रसारं निर्मिमीते । एवं नाडी, जात्या एका सत्यपि स्थानभेदान्नानाविधत्वं प्राप्नोति । उक्तञ्च—

शिरा-धमन्योर्नाभिस्थाः[1] सर्वां व्याप्य तनुं स्थिताः ।
पुष्णन्ति चानिशं वायोः संयोगात् सर्वधातुभिः ॥

—शार्ङ्गधरः पू०, ५।४३

तथा च—

यावत्यस्तु सिराः काये सम्भवन्ति शरीरिणाम् ।
नाभ्यां सर्वा निबद्धास्ताः प्रतन्वन्ति समन्ततः ॥
नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः प्राणान्नाभिर्व्युपाश्रिता ।
सिराभिरावृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः ॥

—सु०, शा०, ७।४।५

कणादनाड्यामपि—

आपादतः प्रततगात्रमशेषमेषाम् आमस्तकादपि च नाभिपुरःस्थितेन ।
एतन्मृदङ्ग इव चर्मचयेन नद्धं कार्यं नृणामिह शिरा-शत-सप्तकेन ॥

इस अध्याय में 'नाडी' शब्द का विवेचन किया जायेगा । 'नाडी' शब्द शरीर की उस प्रणाली का वाचक है, जो मस्तिष्क एवं नाभिचक्र आदि षट्चक्रों के आधार को तथा इडा, पिङ्गला एवं सुषुम्णा को प्रसारित करती है । इस प्रकार नाडी एक होते हुए भी स्थानों के भेद से विविध प्रकार की होती है ।

शार्ङ्गधरसंहिता में कहा है—'सिरायें तथा धमनियां समूचे शरीर में व्याप्त होकर वायु के संयोग से सर्वधातुपोषक रसों का वहन करती हुई शरीर को पुष्ट करती हैं ।'

सुश्रुत के शारीर स्थान (७ अ०, ४-५ श्लोक) में भी कहा गया है कि शरीर की समस्त सिराएं, नाभि से सम्बद्ध होकर शरीर में फैली हुई हैं, प्राणियों के प्राण नाभि के सहारे हैं । नाभि सिराओं से उसी प्रकार आवृत है जिस प्रकार रथ-चक्र की नाभि अरों से आवृत (ओत-प्रोत) होती है ।

कणादकृत नाडी विज्ञान में लिखा है कि नाभि से ऊपर मस्तिष्क तक और नीचे पैरों तक समूचा शरीर सात सौ (७००) सिराओं से मृदङ्ग की भांति बंधा और ढका हुआ है ।

---

१. "पक्वामाशयोर्मध्ये नाभिर्नाम मर्म"—सु०, शा०, अ० ६।२६,
सुश्रुत में नाभि नामक मर्मस्थान को पक्वाशय और आमाशय के मध्य में अवस्थित कहा है ।

नाड्यो हि ह्यसुषिरा भवन्ति। ता हि ज्ञानं कर्मशक्तिञ्च विद्युदिव सर्वशरीरे निरन्तरं प्रवहन्ति। आयुर्वेदशास्त्रं विहाय योगशास्त्रे, तन्त्रशास्त्रे च बहुशो नाडी-वर्णनमुपलभ्यते। यतो ह्येता एव मानसिक-शक्तीनां मुख्याधारत्वेन सञ्चालिकाः सन्ति। मनोनिग्रहमधिकृत्य या विशिष्टाः सिद्धयो योगशास्त्रे योगानुवर्त्युपनिषत्सु तन्त्रग्रन्थेषु वा विहिताः सन्ति; ता हि मनोनिग्रहमन्तरा नैव सम्भवन्ति। तस्मात्तत्तद् ग्रन्थकर्तृभिर्नाडीनाम्, विशेषतया, शेष-शारीरिक-स्रोतसामवयवानाञ्च साधारण-तयोपयोगः कृतः। तद् यथा वाराहोपनिषदि—

नाडीनामाश्रयः पिण्डो नाड्यः प्राणस्य चाश्रयः।
जीवस्य निलयः प्राणो जीवो हंसस्य चाश्रयः॥

धमन्यपरनाम्नो नाडीशब्दस्य नाडीपरीक्षाविधौ कुतो नु प्रयोग आरब्ध इत्यत्र तावद् विचार्य्यते—वर्तमानकाले समुपलभ्यमानासु सर्वास्वायुर्वेदीयार्षा-नार्ष-संहितासु स्रोतसां पृथक्त्वे स्वीकृतेऽपि संज्ञा--प्रयोग--व्यभिचारो दृश्यत एव। एतामेव शैलीमनुसरद्भिर्नाडीविषय-प्रकाश-कर्तृभिः सिरा-धमनी-नाडी-प्रभृतिशब्दाः परस्परं पर्यायत्वेन प्रयुक्ताः। तद् यथा कणादः—

स्नायुर्नाडी वसा हिंस्रा धमनी धामनी धरा।
तन्तुकी जीवितज्ञा च सिरा पर्य्यायवाचकाः॥

ये नाडियां असुषिरा (ठोस) होती हैं। ये समस्त शरीर में विद्युत् की भांति ज्ञानशक्ति तथा कर्मशक्ति का वहन करती हैं। आयुर्वेदशास्त्र के अतिरिक्त योग एवं तन्त्रशास्त्र में नाडी का अधिकाधिक प्रयोग मिलता है, क्योंकि ये ही ठोस नाडियां मानसिक शक्ति के सञ्चालन का मूल आधार हैं। इसके अतिरिक्त योग शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाली उपनिषदों तथा तत्सम्बन्धी अन्य ग्रन्थों में भी नाडी का अधिक उपयोग किया गया है। शरीरस्थ अन्यान्य स्रोतों का प्रयोग अल्पमात्रा में किया गया है। कारण यह है कि मनःसंयम के विना सिद्धियां नहीं हो सकतीं और मनःसञ्चार इन्हीं ठोस नाडियों द्वारा सम्पन्न होता है।

वाराह उपनिषद् में कहा है कि नाडियों का आश्रय शरीर है, नाडियां प्राणों का आश्रय हैं और जीवका निवास प्राण के आश्रय पर है। वह जीव हंस (अहं सः) के सहारे है।

उक्त विवेचन के अनन्तर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'नाडी-परीक्षा' आदि प्रयोगों में 'धमनी' शब्द का प्रयोग न करके 'नाडी' पद का प्रयोग क्योंकर प्रचलित हुआ? इसका समा-धान इस प्रकार है कि वर्तमान समय में प्राप्त होनेवाली आयुर्वेद की सभी आर्ष या अनार्ष संहिताओं में स्रोत का पृथक्-पृथक् प्रयोग किये जाने पर भी नाडी, धमनी, सिरा आदि शब्दों का प्रयोग मिश्रितरूप से किया हुआ देखा जाता है। इसी क्रम का अनुसरण करते हुए नाडी-परीक्षा सम्बन्धी ग्रन्थों में भी इस शब्द का प्रयोग किया गया है इसी परम्परा के अनुसार निबन्ध ग्रन्थों में नाडी, धमनी, सिरा आदि का प्रयोग समान अर्थ में किया गया है।

जैसे कणाद नाडी विज्ञान में—१. स्नायु २. नाडी ३. वसा ४. हिंस्रा ५. धमनी ६. धामनी ७. धरा ८. तन्तुकी ९. जीवितज्ञा १०. सिरा ये दश नाडी के पर्याय कहे हैं।

अत्र सिराया नव पर्य्याया उक्ताः, सिरा सहिता च ते दश भवन्ति स्वेष्टार्थ-प्रकाशने। एवं विविध-विकल्पे समुपस्थिते विचार्यं भवति यत् किं नाम वास्तविकं शारीरिकं स्रोतो 'नाडी' शब्देनाभिप्रेयते, यत् स्पर्शनेनाङ्गुलिभिः स्पर्शविज्ञान-विशेषज्ञा रोगात्मकं वार्थविशेषमभिव्यञ्जयन्ति। वयं हि यस्याः स्पन्दस्य मणिबन्धे नाभौ, गले, पादयोः, गुल्फयोरङ्गुलीभिरनुभवविशेषं कुर्मः, सा हि महास्रोतसः क्षुद्र-शाखा वर्त्तते या हृदय-यन्त्र सम्वद्धा रक्तवर्णात्मकेन विशुद्धरक्तेन सुशोभितास्ति। विशुद्धरक्तलक्षणं तु—

तपनीयेन्द्रगोपाभं पद्मालक्तक-सन्निभम्।
गुञ्जाफल-सवर्णञ्च विशुद्धं विद्धि शोणितम्॥

—च० सू०, २४।२२

अस्या एतदेव कार्यं यत् शुद्धं हृदय-यन्त्रप्रेरितं रक्तमाप्लाव्य शरीरस्य सूक्ष्मातिसूक्ष्मांशेषु प्रसारणम्। एतासां रक्तवाहिनीनां दूषणेन व्याध्युत्पत्तिर्भवतीति वक्ति भगवान् पुनर्वसुरात्रेयः—

यदा तु रक्तवाहीनि रस-संज्ञावहानि च।
पृथक् पृथक् समस्ता वा स्रोतांसि कुपिता मलाः॥
मलिनाहारशीलस्य रजोमोहावृतात्मनः।
प्रतिहत्यावतिष्ठन्ते जायन्ते व्याधयस्तदा॥

—च० सू०, २४।२५-२६

ऐसी संदिग्धपरिस्थिति में यह विचारणीय है कि नाडी शब्द से वस्तुतः शरीर के किस स्रोत का ग्रहण करना चाहिये जिसके स्पर्श से वैद्यगण रोग या स्वास्थ्य की परीक्षा करते हैं, हम मणिबन्ध, नाभि, गुल्फ, गला, तथा पैरों का स्पर्श करके जिसके स्पन्दन का अनुभव करते हैं, उस महास्रोत की क्षुद्र शाखा हृदय यन्त्र से सम्बन्धित लालरङ्ग वाले शुद्ध रक्त से भरी हुई है। शुद्धरक्त का लक्षण इस प्रकार है।—

वर्षाऋतु में उत्पन्न होने वाले इन्द्रगोप (वीरवहूटी) के समान, लाल पद्म के समान अथवा गुञ्जा की लालिमा के समान रंगवाला रक्त 'शुद्ध-रक्त' कहा जाता है।

∴ इस क्षुद्रशाखा का एकमात्र यही कार्य है कि हृदय से प्रेरित रक्त को शरीर के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्रोतों में प्रसारित करते रहना। इन रक्तवाहनियों के दूषित होने से विविध व्याधियों की उत्पत्ति होती है। जैसा कि चरक संहिता में कहा गया है कि जब रक्त का वहन करने वाले तथा रस का वहन करने वाले स्रोतों में पृथक् पृथक् अथवा एक ही काल में, मलिन आहार विहार के कारण प्रज्ञापराधी व्यक्ति के दोष कुपित होकर रुक जाते हैं, तब वे विविध व्याधियों को उत्पन्न करते हैं।

नाड्यो हि कार्यमिदं कर्तुं न क्षमा भवन्ति । कुतः ?

"नाड्योऽनन्ताः समुत्पन्नाः सुषुम्णा पञ्चपर्वसु ।"
"सुषुम्णा चव्यवल्लीव मेरुमध्ये परिस्थिता ।"

—शारदातिलक तन्त्रे

मेरुदण्डस्था सुषुम्णा महानाडी मस्तिष्केन सम्बध्यते न हृदयेन । उक्तञ्चापि षट्चक्रनिरूपणटीकायाम्—**"सुषुम्णा ग्रीवान्तं प्राप्य गलिता तिर्यग्भूता"** इति । रागश्चैतासां पीताभो भवति नारुणाभः । एता ह्यसुषिरा भवन्ति, रक्तवाहिनीभिर्धमनीभिर्भिन्ना इति ।

सिरा अपि रक्तं न प्रेरयन्ति, परन्त्वशुद्धं रक्तं हृदयं प्रति प्रतिवहन्ति । स्पष्टमेतत् सुश्रुतस्य सिराव्यधनाध्याये—**'वेध्याः सिरा बहुविधा मूत्रवृद्धिदकोदरम्'** (सु. सू. २५।९) इति । यदि ताः शुद्धं जीवनीयं शोणितमवहिष्यंस्तदा तासां सुश्रुते व्यधनोपदेशो नाभविष्यत् । **'सरणात् सिराः'** (च० सू० ३०।१२) ।

अथ स्नायवोऽपि नैतस्मिन् रक्तवहन-प्रसारण-कर्मणि समर्थाः । यतस्ताह्यस्थि-

---

इससे स्पष्ट है कि स्पर्श के द्वारा नाडी-गत दोषों का, मलों का तथा साम, निराम आदि का ज्ञान विलोम त्रैराशिक विधि से जाना जा सकता है । इस प्रकार रोग विज्ञात करना कठिन नहीं है । आचार्य स्रोतोविज्ञान के सम्बन्ध में इससे अधिक और क्या कह सकते थे ?

पूर्वोक्त विवेचन से यह सिद्ध है कि नाडियां, इस प्रकार के दूषित रक्त का वहन नहीं कर सकतीं, क्योंकि वे ठोस हैं । लिखा भी है—

सुषुम्णा नाडी चव्य की लता के समान मेरुदण्ड के मध्य में अवस्थित है । सुषुम्णा मेरुदण्ड में अवस्थित होती हुई मस्तिष्क से सम्बद्ध है; हृदय से नहीं ।

इसी आशय को लेकर षट्चक्र निरूपण की टीका में लिखा गया है कि सुषुम्णा ग्रीवा के अन्त को प्राप्त होकर टेढ़ी हो गयी है, उसका रंग पीताभ है, लाल नहीं, यह ठोस है, पोली नहीं । अतः यह रक्त वाहिनियों से भिन्न है इस लिये नाडी-शब्द धमनी [रक्तवाहिनी] का पर्यायवाची नहीं हो सकता ।

अब नाडी के पर्यायवाची दूसरे शब्द 'सिरा' पर विचार करते हैं । क्या 'सिरा' नामक स्रोत धमनी का कार्य करते हैं ।

सुश्रुत के सिराव्यधनाध्याय से ज्ञात होता है कि सिरायें अशुद्धरक्त को हृदय में ले जाने का कार्य करती हैं, वे शुद्ध रक्त का वहन नहीं कर सकती । यदि सिरायें शुद्ध रक्त का वहन करतीं तो उनके वेधन का विधान न किया जाता । इससे स्पष्ट है कि नाडी के पर्यायवाची शब्दों में सिरा शब्द का प्रयोग भी अनुचित है ।

नाडी-शब्द के पर्याय में दिये गये 'स्नायु' शब्द का प्रयोग भी भ्रामक है । कारण यह कि स्नायुओं द्वारा रक्तका वहन-कार्य नहीं किया जाता । स्नायुओं का कार्य रस्सी की भांति अस्थिसन्धियों

सन्धीनां वन्धने रज्जुरिव विनियुज्यन्ते । यथा चोक्तम् —

शिरास्नाय्वस्थिमर्माणि सन्धयश्च शरीरिणाम् ।
पेशीभिः संवृतान्यत्र बलवन्ति भवन्त्यतः ॥३८॥
मांसान्यत्र निबद्धानि सिराभिः स्नायुभिस्तथा ।
अस्थीन्यालम्बनं कृत्वा न शीर्यन्ते पतन्ति वा ॥
एवमेव शरीरेऽस्मिन् यावन्तः सन्धयः स्मृताः ।
स्नायुभिर्बहुभिर्बद्धास्तेन भारसहा नराः ॥३४॥ सु० शा० अ० ५

एवं स्थिते पुनरुत्पद्यते प्रश्नो यत् रक्तवाहिनीनां शाखानां किं नाम स्यादिति ? अत्र सुश्रुतस्य शोणितवर्णनीयाध्यायमनुसृत्य ता धमनीति नाम्ना व्यवहर्त्तुं शक्नुमः । तद् यथा—

तस्य च हृदयं स्थानम् । हृदयाच्चतुर्विंशतिधमनीरनुप्रविश्य, ऊर्ध्वगा दश दश चाधोगामिन्यश्चतस्रस्तिर्यग्गाः, कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति, वर्धयति, धारयति, यापयति, जीवयति चादृष्टहेतुकेन कर्म्मणा, इति ।

धमन्यो हि केन हेतुना ? **"ध्मानाद् धमन्यः"** (च० सू० अ०, ३०) इति निरुक्तत्वात् धमनीशब्दो हि सौत्रेण 'धम-ध्माने' धातुना निष्पद्यते । ध्वनेः पर्याय-वाचका, ध्वानघोषादयोऽपि हृदययन्त्रेण यत्नात् तन्त्रितात् प्रधमितात् रक्तादेवोत्पद्यन्ते, न चान्येन हेतुना । अत्रेदं प्रसङ्गप्राप्तमुच्यते शब्दमधिकृत्य—

को सुदृढ़रूप से वांधना है । जैसा कि सुश्रुत में कहा गया है, सिरायें, स्नायु मर्म एव अस्थि सन्धियां मांसपेशियों से आवृत-ढकी रहने के कारण सुदृढ़ है । सिराओं तथा स्नायुओं द्वारा अस्थियां बंधी हुई हैं । इसी से खिसकती या गिरती नहीं । इसी प्रकार शरीर की सन्धियां स्नायुओं से वंधी है । और इसी कारण भार सहन करने में समर्थ हैं । पशु-पक्षियों में भी यही व्यवस्था है ।

अब यह प्रश्न उठता है कि रक्त वहन करने वाली शाखाओंका क्या नाम है ? इसके उत्तर में देखिये सुश्रुत का शोणितवर्णनीयाध्याय । सुश्रुत के मतानुसार रक्तवाहिनी शाखाओं का नाम 'धमनी' कहा गया है । रक्त का स्थान हृदय है । वह रक्त हृदय से निकल कर चौबीस धमनियों में अनुप्रविष्ट होता है । दस धमनियों द्वारा ऊपर, दस धमनियों द्वारा नीचे और चार धमनियों द्वारा तिरछा प्रवाहित होता है इस प्रकार रक्त सारे शरीरका निरन्तर सिञ्चन करता रहता है । इसका कारण मानव का अदृष्ट [सुख-दुःख-भोग] माना गया है ।

धमनी शब्द 'धम-ध्माने' सौत्र धातु से बनता है । निरन्तर प्रधमित होनेके कारण ही इसका नाम धमनी पड़ा है । ध्वनिके पर्यायवाचक ध्वान, घोष आदि शब्दों का उत्पत्ति कारण हृदय ही है ।

द्वे ब्रह्मणि हि मन्तव्ये शब्दब्रह्म परञ्च यत् ।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छत ।। (त्रिपुरोपनिषदि)

तथा च—

सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ।
नाद एवानुसन्धेयो योग-साम्राज्यमिच्छता ।। (वाराहोपनिषदि)

एवं ज्ञायते यद् यथा हृदयेन नाड्याः सम्बन्धोऽव्याधितरूपेणास्ति, तथा नादोऽपि हृदयेनैवाववद्धः । तस्मान्नादभेद-प्रभेद-ज्ञान-रिरंसुना तन्त्रीवादने तारप्रधानेषु यथेष्टाभिरुचिमत्सु वा वाद्येषु प्रयतनीयमेव नित्यम् । यतः—**'एवं नाडीगतिं वायुगतिं ज्ञात्वा विचक्षणः'** इति वाराहोपनिषदि । यथा ह्याकाशवाताभ्यां शब्दो नीयते तथैवाकाशवाताभ्यां प्रधमनं नाड्यां धीयते । तारवाद्येषु सर्वभावाविष्ट-स्वरस्य तद्भावाविष्ट-स्वरस्य सद्भावात् । तस्मात् सप्ततारवाद्येष्वस्माकं विशिष्टाभिरुचिः सामगायकत्वात् ।

प्रकृतमनुसरामः । अत एतदुपपद्यते यद् रक्तवर्णात्मकस्य शुद्धरक्तस्य शरीरे प्रधमनकार्यं हृदयमाश्रयीकृत्य धमन्य एव कुर्वन्ति । तस्मान्मणिबन्धादिषु स्पन्दनकर्म कुर्वतां स्रोतसां धमनीनाम्नैव व्यवहारः कर्तुं शक्यते, नान्यसंज्ञया ।

त्रिपुरोपनिषद् में शब्द के सम्बन्ध में कहा गया है कि पुरुष को शब्दब्रह्म और परब्रह्म दोनों का ही चिन्तन करना चाहिये, क्योंकि शब्दब्रह्म का ज्ञान होने पर परब्रह्म का ज्ञान होता है । इसलिये शब्दब्रह्म को जानना अत्यावश्यक है ।

वारहोपनिषद् में भी—

योग की विभूतियां चाहने वाले को सब चिन्ताओं को छोड़कर समाहित मन से नाद का ही चिन्तन करना चाहिये ।

जिस प्रकार धमनियों का सम्बन्ध हृदय से है उसी प्रकार शब्द का सम्बन्ध भी हृदय से ही है । इसलिये नाड़ी का प्रभेद जानने के लिए जिज्ञासु को अपनी रुचि के अनुसार तार-प्रधान वाद्यों के ज्ञान में यत्नवान् होना आवश्यक है । क्योंकि वायु की गति को जानना ही नाड़ी की गति को जानना है । जैसे आकाश और वायु के सहारे आकाश में शब्द ले जाया जाता है, उसी प्रकार आकाश औरं वायु के सहारे ही धमनियों में रक्त-संचार होता रहता हैं ।

तन्त्री-प्रधान वाद्यों में सभी प्रकार के यथेष्ट शब्दों का प्रतिध्वान होता रहता है । तन्त्री के शिथिल होने या अधिक कसे जाने पर शब्द में भेद उत्पन्न होता जाता है, इसी प्रकार नाड़ी की शिथिलता आदि का भेद समझना चाहिये । हम तो सामवेद के गायक होने के नाते सितार में अपनी अभिरुचि रखते है ।

तात्पर्य यह कि धमनियां ही सारे शरीर में हृदयाश्रित शुद्ध-रक्त का प्रधमन करती हैं । इसलिये मणिबन्ध आदि स्थानों में स्पन्दित होने वाले का भी धमनी शब्द से ही व्यवहार करना चाहिये, अन्य संज्ञाओं से नहीं ।

अत्रेदमवधार्यम्—

षडङ्गमङ्गविज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम् ।
आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यञ्च हृदि संस्थितम् ॥
तस्योपघातान्मूर्च्छायं भेदान् मरणमृच्छति ।
यत् तद्धि स्पर्शविज्ञानं धारि तत् तत्र संस्थितम् ॥ च० सू० ३०।४

'तत्र'— इति पदेन हृदयमभिप्रेयते । शिष्टं स्पष्टम् ।

तथा चाथर्ववेदे—

इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि ।
यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः ॥ अथर्व १९।९।५

तत्रैव पुनश्चरके **"सर्वेषामेव भावानां हृदयं स्थानमुच्यते"** इति । किं नाम धारीति ? धारि नाम जीवनाश्रयभूतं रक्तमुच्यते, तद्धि रक्तं यथाभूतात् शुभाशुभभावमयात् त्रिदोष-दोष-युक्तात् हृदयान्मुक्तं भवति, तथाविधमात्मनः स्वरूपं गति-विशेषेण स्पर्श-विशेषेण च स्प्रष्टारमभिव्यनक्ति । अतश्चेदमुच्यते—धमनीपरीक्षेति वक्तव्ये नाडी-परीक्षेत्युच्यते ।

अथेदानीमिदं मीमांस्यते—धमनीपर्याये कुतो नु नाडीप्रयोग आरब्ध इति । तद्यथा-अमरकोशे द्वि०का० मनुष्यवर्गे - "नाडी तु धमनिः सिरा" इति स्पष्टमुक्तम् । यद्यपि सुश्रुते (शा० अ० ९) स्पष्टमुक्तमस्ति स्रोतसां पार्थक्यवर्णनम् । तद्यथा—

"तत्र केचिदाहुः—सिरा-धमनी-स्रोतसामविभागः, सिराविकारा एव हि धमन्यः

यहां यह भी समझना आवश्यक है कि षडङ्गविज्ञान, ज्ञानेन्द्रियां, इन्द्रियों के विषय, आत्मा, सत्त्व, रज, तम एवं चिन्तनीय विषय—ये सब हृदय में ही स्थित हैं । हृदय के विकृत हो जाने पर मूर्च्छा और फट जाने पर मृत्यु हो जाती है । यह स्पर्शविज्ञान-नाड़ीस्पर्श से रोगज्ञान-रक्त के आश्रित है । अतः धमनी-ज्ञान भी हृदयाश्रित ही है । इसी आशय को अथर्ववेद की ऋचा में व्यक्त किया गया है । यथा—

ये जो पांच इन्द्रियां तथा छटा मन है इन्हें ब्रह्म ने हृदय में संश्रित किया है इनके मिथ्या योग से अनर्थ और सम्यक् प्रयोग से हमें शान्ति मिलती है ।

चरक के इसी प्रकरण में हृदय को ही सब भावों का स्थान कहा गया है जीवन को धारण करने वाला रक्त, जिस प्रकार के शुभ या अशुभ भावों से, वात, पित्त और कफ से, इनके द्वन्द्व या सन्निपात से दूषित होकर हृदय में फेंका जाता है उसी भाव को या उसी दोष को नाडी द्वारा अपने स्पन्दन (गति) विशेष से वैद्य के लिए व्यक्त करता है इसलिये धमनी परीक्षा के स्थान में नाडी परीक्षा शब्द भी उपयुक्त है ।

धमनी शब्द के स्थान पर नाडी शब्द का प्रयोग कैसे आरम्भ हुआ—यह भी विचारणीय है । अमर-कोष में नाडी के पर्यायों में "नाडी तु धमनी सिरा" लिखकर तीनों शब्दों को पर्यायवाची लिखा हैं । सुश्रुत ने धमनी और सिरा का परस्पर भेद स्पष्ट प्रदर्शित किया है ।

स्रोतांसि चेति । तत्त न सम्यक्, अन्या एव हि धमन्यः स्रोतांसि च सिराभ्यः, कस्मात् ? व्यञ्जनान्यत्वान्मूलसन्नियमात् कर्म-वैशेष्यादागमाच्चेति । केवलं तु परस्परसन्निकर्षात् सदृशागम-कर्मत्वात् सौक्ष्म्यत्वाच्च विभक्तकर्मणामप्यविभाग इव कर्मसु भवतीति ।"

अत्र ध्यातव्यमेतत्—शास्त्रे सिरादीनां सामीप्यात् सौक्ष्म्याच्च मिथः कर्मभेदे सत्यपि एकता=अपृथक्ता वा प्रतिपादितास्ति, किन्तु वस्तुतस्तु सर्वथा भिन्ना एव, न तु मिथोऽभिन्ना इति । अलमित्येव सुश्रुतस्य वक्तव्ये सारभूतम् । तथा चाथर्वणि—

इमा यास्ते शतं हिराः (सिराः) सहस्रं धमनीरुत । —७।३५।२

तथा च नाडीशब्दप्रयोगः—

समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेऽधि समाहिताः ।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥१५॥
यस्य चतस्रः प्रदिशो नाड्यस्तिष्ठन्ति प्रथ्यसाः ।
यज्ञो यत्र पराक्रान्तः स्कम्भं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥१६॥

—अथर्व० १०।७

एतेनानुमीयते यत् स्यादन्यतन्त्रमधीयानानां भिषजां मिथो व्यभिचारेण संज्ञायाः प्रतिनिधित्वेन प्रयोगः । इत्यनुचलनमनुसरन्तीषूपनिषत्सु वहुत्र नाडीशब्दस्य सामान्येन प्रयोगः कृतः । तद्यथा—अथर्ववेदीय-क्षुरकोपनिषदि—

तत्र नाडी सुषुम्णा तु नाडीभिर्बहुभिर्वृता ।
अणु-रक्ताश्च पीताश्च कृष्णास्ताम्रा विलोहिता ॥
अतिसूक्ष्मा च तन्वी च शुक्ला नाडी समाश्रयेत् ।
ततो रक्तोत्पलाभासं पुरुषायतनं महत् ॥

जैसे—कुछ आचार्यों का मत है कि 'सिरायें और धमनियां एक ही हैं, धमनियां तथा अन्यान्य स्रोत सिराओं के ही रुपान्तर हैं' सुश्रुत में इस प्रकार लिखा है कि उक्त कथन युक्त नहीं है, क्योंकि धमनियां तथा स्रोत सिराओं से भिन्न हैं तथा उनकी भेद से प्रतीति होती है और कर्म भी भिन्न हैं, हां मूल एक है तथा इनका परस्पर सम्बन्ध अवश्य है ।

इसके लिये त्रिवेणी का उदाहरण उपयुक्त है । त्रिवेणी (नीम, पीपल, बड़) लगी हुई एक ही मालूम होती है परन्तु वास्तव में हैं पृथक् । केवल परस्पर अतिसन्निकर्ष होने से एवं सूक्ष्म होने से पृथक् होती हुई भी एकसी प्रतीत होती हैं । तत्त्व यही है कि सिरा, धमनी और स्रोत परस्पर पृथक्-पृथक् होते हुए और भिन्न-भिन्न कर्म करते हुए भी एक से ही प्रतीत होते हैं । वास्तव में हैं पृथक्-पृथक् । अथर्ववेद में सिरा, धमनी और नाडी शब्दों का प्रयोग किया गया है । 'इमा यास्ते शतं हिराः सहस्रं धमनीरुत ।' 'यस्य नाड्यस्तिष्ठन्ति' इत्यादि ।

आयुर्वेदीय संहिताओं में इस संज्ञाप्रयोग-व्यभिचार को देखते हुये यह अनुमान होता है कि कुछ चिकित्सक अपने पठन-पाठन में इन शब्दों का प्रयोग पर्यायरूप में किया करते हैं ।

इसी प्रकार उपनिषदों में भी प्रायः नाडी शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है । क्षुरकोपनिषद् में लिखा है कि "वहुत सी नाडियों के साथ सुषुम्णा नाडी विराजमान है । इसका वर्ण कुछ लाल-पीला काला-लाल होता है । इनमें से अतिसूक्ष्म शुक्लवर्ण वाली नाडी का आश्रय

अन्यच्च—

सुषुम्णा तु परे लीना विरजा ब्रह्मरूपिणी।
इडा तिष्ठति वामेन पिङ्गला दक्षिणेन च।

तथा च सुवालोपनिषदि—

प्राणः शरीरं परिरक्षति, हरितस्य नीलस्य लोहितस्य श्वेतस्य नाड्यो रुधिरस्य पूर्णाः। अथात्रैतद्दहरं पुण्डरीकमिवानेकधा विकसितं यथा केशा सहस्रधा भिन्नास्तथा हि नाम नाड्यो भवन्ति, हृदयाकाशे परे कोशे दिव्योऽयमात्मा स्वपितीति।

तथा च—हृदयस्य मध्ये लोहितं मांसपिण्डं पुण्डरीकं कुमुदमिवानेकधा विकसितं तन्मध्ये समुद्रः समुद्रस्य मध्ये कोशस्तस्मिन्नाड्यः चतस्रो भवन्ति। दहरं नाम हृदयाकाशः। अत्र प्रमाणम्—

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति।

अथर्वशिर उपनिषदि यथा—

हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः।

देवताः – शुभाशुभभावविशेषाश्चिन्त्यार्था वा। एतमेवाथर्ववेदोऽनुगायति—

प्राणः सिन्धूनां कलशाँ अचिक्रददिन्द्रस्य हार्दिमाविशन् मनीषया। १८।४।५८

(प्राणः) प्राणवायुः, (इन्द्रस्य) जीवस्य, (मनीषया) चेतनया प्रेरितं (हार्दिम्) हृदयकमले, (आविशन्) यथायोगमावेशं भजन्, (सिन्धूनाम्[1]) स्पन्दमानामर्थात्

लेवे। तदनन्तर लाल कमल के समान जो पुरुष का निवासस्थान है, हृदय है, उसका आश्रयण करे।

सुवालोपनिषद् में भी लिखा है— "प्राण शरीर की रक्षा करता है। हरे, नीले, लाल और श्वेत रंग की नाडियां रुधिर से पूर्ण पुण्डरीक कमल की भांति विकसित दहर को भरती हैं। जैसे असंख्य बाल, सिर की रक्षा करते हैं उसी प्रकार अनेक नाडियां आत्मा के निवास-स्थान—हृदय को आच्छादित तथा रक्षित करती हैं।"

इस प्रकार अनेक नाडियां आत्मा के निवासस्थान हृदय को पूर्ण कर रही हैं। और भी लिखा है—

"हृदय के मध्य में लालरंग का मांसपिण्ड है। उस में जो दहर है, वह कमल की भांति खिला हुआ है। उस में समुद्र है, उस समुद्र के मध्य कोश है और कोश में चार नाडियां हैं।

अथर्वशिर उपनिषद् में लिखा है:—

'हृदय में ही सब देवता हैं और हृदय में ही प्राण अवस्थित हैं।' यहां देवता शब्द से शुभाशुभ भाव या वाञ्छित—अर्थ समझना चाहिये।

इसी विषय को अथर्ववेद में इस प्रकार लिखा है:—

'प्राणः कलशां'—प्राणवायु, जीव की इच्छा (चेतना या तप) से प्रेरित हृदयकमल में यथामार्ग प्रवेश करता हुआ रक्तवहन करने वाली नाडियों के रक्त के यातायात से शब्दायमान रक्ताशयों को पुनः पुनः कंपाता है।

१, सिन्धूनाम्—तद्यैरिद सर्वं सितं बद्धं तस्मात् सिन्धवः। —जै० उ० १।२९।६।

रक्तवाहिनीनां नाडीनां, (कलशान्[1]) रक्तविक्षेपाक्षेपाभ्याम्-अर्थात् ग्रहणविसर्जनाभ्यां शब्दायमानान् रक्ताशयान्, (अचिक्रदत्[2]) पुनः पुनः कम्पयति ।

प्र वा एतीन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतिं सखा सख्युर्न प्र मिनाति सङ्गिरः ।
मर्य्य इव योषाः समर्षसे सोमः कलश शतयामना पथा ।

—अथर्व, १८।४।६०

(इन्दु) जीवनं रसो रक्तं वा (इन्दुरुदकनामसु पठितं निघण्टौ—१।१२) (वै) निश्चयेन, (इन्द्रस्य) जीवस्य, (निष्कृतिं) प्रतिष्ठापनाय जीवनं प्रति, (प्रैति) प्रगतिं कुरुते, (सखा सख्युर्न) यथा मित्रं मित्रस्य, (सङ्गिरः) संवादं—अनुमतिं वा, (प्रमिनाति) प्रमाणीकुरुते, अथवा (मर्य्य इव योषाः) यथा मनुष्यो भार्य्यामधिकृत्यानुकूलमाचरति, एवं (सोमः) देहस्थरक्तमर्थात् रसः, (कलशे) रक्ताशये, (शतयामना पथा) वहुभ्यो गतिमद्भ्यो मार्गेभ्यः, सर्वत्र शरीरे निरन्तरं गतिं कुरुते । [शतशब्दो वहुपर्य्यायेषु निघण्टौ पठितः] यदुक्तं **"जीवनं रसो रक्तं वा ।"** अत्र प्रमाणम्—**सन्तत्या भोज्यवस्तूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत् ।**—च०चि०, १५।२१

विण्मूत्रमाहारमलः सारः प्रागीरितो रसः ।
स तु व्यानेन विक्षिप्तः सर्वान् धातून् प्रतर्पयेत् ।। सु० सू० ४६।५२८
व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा ।
युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा ।।
विक्षिप्यमाणो वैगुण्यात् रसः सज्जति यत्र सः ।
करोति विकृतिं तत्र खे वर्षमिव तोयदः ।।
दोषाणामपि चैवं स्यादेकदेशप्रकोपणम् ।—च०चि० १५।३६,३७,३८

यहां सिन्धु शब्द का तात्पर्य नाडियों से है क्योंकि समूचा शरीर नाडियों से बंधा है। कल—संख्याने धातु से कलशब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ शब्द है। वैक्लव्य के अर्थ में क्रद धातु है जिससे अचिक्रदत् वना है। इन्दु शब्द का अर्थ - निघण्टु के अनुसार जल, रस या रक्त है। अर्थात् "रक्त, जीव के जीवन स्थापन के लिये प्रगति करता है, जैसे मित्र मित्र की सम्मति को प्रमाण करता है, अथवा पुरुष स्त्री के अनुकूल आचरण करता है, उसी प्रकार सोम—देहस्थ रस—नामवाला रक्त, रक्ताशय में धमनीरूप अनेक मार्गों से शरीर में निरन्तर गति करता है। यहां रस शब्द से रक्त का ग्रहण होता है। जैसा कि चरक में लिखा है कि 'भोज्य वस्तुओं के खाने से रस, रस से रक्त इस प्रकार चक्र की भांति परिवर्तित होता रहता है।'

सुश्रुत में भी कहा गया है कि 'मूत्र और पुरीष आहार का मल हैं और रस आहार का सार है। व्यानवायु द्वारा फेंका हुआ वह रस सब धातुओं को परिपुष्ट करता है।'

इसी विषय को चरक के चिकित्सास्थान में भी कहा गया है कि रसधातु व्यान के द्वारा उचित मार्गों से समूचे शरीर में सदा फेंका जाता हुआ वह रक्त, जिस जिस स्थान में विकृत हो जाता हैं, वहां वहां व्याधि उत्पन्न करता है। जैसे—मेघ; जहां जहां जाता है, वहां वहां वर्षा करता है। इसी प्रकार दोष भी जिस शरीरावयव में दूषित होता है, वहां रोग उत्पन्न करता है। उसी शरीरावयव को रोगातुर कहते हैं।

१—कल—संख्याने भ्वादिः। २—क्रद—वैक्लव्ये वैकल्ये चेतयन्ये, भ्वादिः।

रसवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं दश च धमन्यः। च० वि० ५।८।
तत्र रस-गतौ धातुः, अहरहर्गच्छतीत्यतो रसः। सु० सू० १४।१३
दश मूलसिरा हृत्स्थास्ताः सर्वं सर्वतो वपुः।
रसात्मकं वहन्त्योजस्तन्निबद्धं हि चेष्टितम् ॥ अ०हृ०शा० ३।१८,१९

रसरूपो धातुः। किंवा रसतीति रसो द्रव धातुरुच्यते। तेन रुधिरादीनामपि द्रवाणां ग्रहणं भवति। चक्रपाणिः, च० चि०, १५।३६,३७

तथा च सुश्रुते—

तत्र पाञ्चभौतिकस्य चतुर्विधस्य षड्सस्य च द्विविधवीर्यस्य वानेकगुणयुक्तस्योपयुक्तस्याहारस्य सम्यक् परिणतस्य यस्तेजोभूतः सारः परमसूक्ष्मः स रस इत्युच्यते, तस्य हृदयं स्थानम्। —सुं० सू० १४।३

देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्य्यते।
तस्माद्यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थिति ॥ सु० सू०, १४।४४
हृदो रसो निःसरति तस्मादेव च सर्वशः।
सिराभिर्हृदयं चैति तस्मात्तत्प्रभवाः सिराः॥
—भेलसंहिता, सू० स्था० अ०, ३१

'शतयामना पथा'—अत्रैव पूर्वमुक्तम् 'आहारस्य सम्यक् परिणतस्ये'ति तदग्रे—स हृदयाच्चतुर्विंशतिधमनीरनुप्रविश्योर्ध्वगा दश, दशाधोगामिन्यः, —इति।
—सु० सू०, १४।३

रस (रक्त) वहन करनेवाले स्रोतों का मूल हृदय और धमनियां हैं।

सुश्रुत के सूत्रस्थान में लिखा है—

'रस' शब्द 'रस गतौ' धातु से बनता है, जिसका अर्थ है—गतिशीलता।

अष्टांगहृदय के शारीर में कहा है कि दश मूल भूत सिरायें हृदय में स्थित होकर समूचे शरीर को व्याप्त कर रही है उन्हीं के द्वारा प्राणी की चेष्टायें सम्बद्ध हैं।

चरक के प्रसिद्ध टीकाकार चक्रपाणि ने भी रस शब्द से द्रवधातु का ग्रहण किया है इससे रक्त का नाम भी रस है।

सुश्रुत में भी कहा है'षड्रस-सम्पन्न पाञ्च-भौतिक चार प्रकार के आहार का भलीभांति परि-पाक होने पर शीत, उष्ण एवं अनेक गुणों से युक्त तेजःस्वरूप जो सार है उसे रस कहते हैं और उसका स्थान हृदय है। शरीर का रुधिर है, रुधिर से ही शरीर की क्रियायें सम्पन्न होती है। इस लिये परम प्रयत्न से रुधिर की रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि रुधिर ही जीवन है।

भेल संहिता में कहा है हृदय से रस निकलता है और वहीं से सिराओं द्वारा सर्वत्र गति करता है। अशुद्धरक्त सिराओं द्वारा पुनः पुनः हृदय में ही लौटता है इस लिये सिरायें भी हृदय मूलक हैं।

उक्त वेदमन्त्र में 'शतयामना पथा' से रक्त भ्रमण का वर्णन किया गया है। इसका विवरण सुश्रुत ने किया है कि भली भांति परिपक्व आहार का अत्यन्त सूक्ष्मसार रस है, उसका स्थान हृदय है वह रस चौबीस धमनियों में जाकर दस के द्वारा ऊपर, दस के द्वारा नीचे और चार धमनियों के द्वारा तिरछे जाता है।

रसभ्रमणं तु—

स शब्दार्चिर्जलसन्तानवदणुना विशेषेणानुधावत्येवं शरीरं केवलम्—इति ।

—सु० सू०, १४।१६

तथा च शरीरस्थधमनीनां वर्णनम्—

एतास्ते असौ धेनवः कामदुघा भवन्तु ।
एनीः श्येनीः सरूपा विरूपास्तिलवत्सा उप तिष्ठन्तु त्वात्र ।।

अथर्व० १८।४।३३

अर्थात्—(असौ) हे जीव ? (ते) त्वत्कृते, (एताः) इमाः, (धेनवः) धमन्यः, धमनीरूपात्मिका गावो वाः (कामदुघाः) इच्छानुकूलं रसादीनां दात्र्यः, (भवन्तु) सन्तु, (अत्र) शरीरे, (एनीः) अरुणरागमत्यो वातवाहिन्यः सिराः, (श्येनीः) श्वेतरागमत्यः कफवाहिन्यः सिराः, (सरूपाः) रक्तवर्णवत्यो रक्तवाहिन्यः सिराः, (विरूपाः) नील-वर्णविभासिन्यः पित्तवाहिन्यः सिराः, (तिलवत्साः) तिलरूपलघुग्रन्थिमत्यः सिरा (त्वा) त्वत्कृते, (उपतिष्ठन्तु) आश्रयं ददतु ।

अमुमेवार्थं सुश्रुतोऽनुगृणाति—

तत्रारुणाः वातवहाः पूर्यन्ते वायुना सिराः ।
पित्तादुष्णाश्च नीलाश्च शीता गौर्य्यः स्थिराः कफात् ।
असृग्वहास्तु रोहिण्यः सिरा नात्युष्णशीतलाः ।

—सु० शा०, अ०, ७।१८

रक्त का भ्रमण—

सुश्रुत में कहा है कि 'शब्द' प्रकाश तथा जल की लहरों की भांति रस समूचे शरीर में भ्रमण करता है ।'

यहां गति तथा शोधन अर्थ में प्रयुक्त धावु धातु का प्रयोग किया गया है । इसलिये रक्त भ्रमण करता हुआ शरीर के दोषों को भी शुद्ध करता चलता है जिससे पुरुष नीरोग तथा प्रकाशमान बना रहता है ।

शरीरस्थ धमनियों का वर्णन—

अथर्ववेद के 'एतास्ते' इस मन्त्र में कहा गया हैं । 'हे जीव ! तेरे लिये ये धमनीरूपी गायें इच्छानुकूल रस रक्त आदि का वहन करने वाली हों इस शरीर में उदीयमान सूर्यकी भांति कुछ लालरंगवाली वातवाहिनी सिरायें श्वेतवर्णवाली कफवाहिनी सिरायें, समवर्णवाली लालरंग की सिरायें और तिल के समान लघुग्रन्थीयुक्त सिरायें तेरे कार्य साधन के लिए उपस्थित हों ।

इसी वेदोक्त अभिप्राय का शल्य-शास्त्र के आचार्य सुश्रुतने भी वर्णन किया है–'तत्रारुणा वातवहा' अर्थात् अरुण रंगकी वातवाहिनी सिरायें, कुछ उष्ण नीले रंगकी पित्त की सिरायें, गौर वर्णवाली कफ की स्थिर और श्वेत सिरायें और सम-शीतोष्ण रक्त वहन करने वाली सिरायें स्वयं रक्तवर्ण से शोभित होती हैं ।

अत्र किञ्चित् प्रसङ्गप्राप्तमुच्यते वैद्यकार्थमधिकृत्य वेदार्थनिरूपणे—

तस्माद् ये याज्ञिकैर्येषां वैद्यैर्वार्था निरूपिताः ।
तेषां त एव शब्दानामर्था मुख्या हि नेतरे ॥

मीमांसा-तन्त्रवार्तिकम्, १।३।६

यथा—

एता देहे विशेषेण तव नित्या हि देवताः ।
एतास्त्वां सततं पान्तु दीर्घमायुरवाप्नुहि ॥

सु० सू० अ०, ५।३०

अत्र टीकायां—

यस्त्विन्द्रो लोके, पुरुषेऽहंकारः सः, रुद्रो रोषः, सोमः प्रसादः, वसवो मुखम्[1], अश्विनौ कान्तिः, मरुदुत्साहः, तमो मोहः, ज्योतिर्ज्ञानम्—इत्यादि ।

चरकस्य शारीरस्थाने, पञ्चमाध्याये यथार्थं द्रष्टव्यञ्च ।

तथा च निरुक्ते—

न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा, पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति । निरुक्तम् १३।१२

इन रक्तवाहिनी सिराओंका प्रतान समझाने के लिये सद्योमृत शव में सिन्दूररस आदि का सिरा वेधन द्वारा प्रवेश करा देने पर रक्तवाहिनियां पृथक् ही भासित होती हैं। लेखक ने इस का प्रत्यक्ष अनुभव किया है।

वेदमन्त्रों के द्वारा वैद्यक सम्बन्धी अर्थ परम प्रामाणिक है। मीमांसा—तन्त्रवार्तिक (१।३।६)में स्पष्ट ही लिखा है कि "जो जो मन्त्रार्थ याज्ञिकों ने यज्ञपरक किये हैं और वैद्यों ने वैद्यक परक किये हैं, वे ही मन्त्रोंके मुख्य अर्थ हैं., दूसरे नहीं।"

उदाहरण के लिये सुश्रुत (सू० अ० ५) में स्पष्ट लिखा है कि-"तेरे शरीर में रहने वाले ये देवता तेरी सदा रक्षा करते हुए तुझे दीर्घ आयु प्रदान करें।"

इसके टीकाकार डल्हण ने व्याख्या करते हुए लिखा है "जो लोक में इन्द्र है वह शरीर में अहङ्कार है, जो लोक में रुद्र है, वह शरीर में रोष(क्रोध)है, जो लोक में सोम है, वह शरीर में प्रसाद है, जो लोक में वसु हैं, वह शरीरमें मुख[1] है, जो लोक में अश्विनी हैं, वह शरीर में कान्ति हैं, जो लोकमें मरुत् है, वह शरीरस्थ उत्साह है, तम ही मोह है और जो लोकमें ज्योति है वह ज्ञान है। यह पाठ चरक में भी ऐसा ही है।

निरुक्त में भी कहा है कि अनृषि और अतपस्वी जन मन्त्रार्थ करने में असमर्थ रहते हैं क्योंकि विद्वानों में तो अनेकविध अकल्मष ज्ञानवाला ही प्रशंसित होता है।

१— यहां वसु से गौणार्थ में दांत भी समझने चाहियें। क्योंकि दांत शीर्ण होने पर पुरुष क्षीणता को प्राप्त होने लगता है। इसलिये ये भी वासव हैं। इनकी संख्या भी वसु (आठ)को चतुर्गुणित करने से ८×४=३२ होती हैं। ३+२=५ होते हैं। अतः ये चतुर्विध दांत पंचभूतात्मक आहार को चबाने में समर्थ होते हैं।

तथा च निरुक्तभाष्यकर्त्ता दुर्गाचार्यो मन्त्रार्थविधौ स्पष्टयति—

'न ह्येतेषु अर्थस्येयत्तावधारणमस्ति। महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च। यथाश्वारोहवैशिष्टयादश्वः साधु साधुतरश्च वहति, एवमेते वक्तृवैशिष्टयात् साधून् साधूतरांश्चार्थानभिस्रवन्ति।' एते=मन्त्रा इति शेषः।

एतत् निदर्शनमात्रमुक्तं विज्ञानां ज्ञानवैशद्याय द्रढयितुञ्चात्मनो वर्णयितुमर्हस्य पञ्चीकृत-पञ्चमहाभूत-त्रित्व-ज्ञापकाध्याये प्रमाणवाहुल्येन जगति नानाविधत्वेन त्रिदोषपरिज्ञानलक्षणं व्यापकत्वञ्च त्रिदोषस्य। एतामेव पूर्वाचार्यैरुपसेवितां वैदिकीं पद्धतिमनुसृत्य दूतनाडीपरीक्षाविज्ञानीयेऽध्याये विशिष्टचमत्कृतये वैद्यबन्धूनां यशोलाभाय च युक्तिं वक्ष्यामः। तां युक्तिमनुसृत्य विज्ञैर्नानाविधकल्पनाः स्वयमुपकल्पनीया भवन्तीति। स्पष्टयति चात्र सुश्रुतः। यथा—

एकं शास्त्रमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम्।
तस्माद् बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयात् चिकित्सकः॥

सु० सू० अ० ४।६

तथा च—

न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते।
ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमहेतुकम्॥

वाक्यपदीयम् १।१३

निरुक्त-व्याख्याता दुर्गाचार्य ने भी मन्त्रार्थ-प्रक्रिया में लिखा है कि "वेदमन्त्रों का इतना ही अर्थ है, यह नहीं कहा जा सकता। मन्त्र महार्थ हैं और दुष्परिज्ञेय हैं। सुयोग्य अश्वारोही (सवार) जैसे घोड़े को विविध गतियों से उत्तम चालें चलाता है, और वही घोड़ा अनाड़ी सवार को गिरा देता है। उसी प्रकार वेदमन्त्र व्याख्याता की योग्यतानुसार अनेक अर्थों (तत्त्वों) का ज्ञान कराते हैं।"

यह दिग्दर्शनमात्र करा दिया गया है। विस्तृत और विशेष ज्ञान तत्तद्विषय के प्रधान ग्रन्थों के अवलोकन से ही होता है।

हम आगे 'पञ्चीकृत—महाभूत—त्रित्वीय' अध्याय में त्रिदोष की विश्वव्यापकता तथा दूतधरा विज्ञानीय' अध्याय में दूतवरा मूलमन्त्र भी लिखेंगे। वैद्यों के मार्गप्रदर्शन के लिये युक्तियों का भी प्रदर्शन करेंगे ताकि वैद्य-बन्धुओं में स्वयं विविध कल्पना करने की शक्ति उत्पन्न हो जिससे वैद्य रोग-परीक्षा में चतुर एवं प्रवीण हो सके।

सुश्रुत (सू० अ० ४।६) में लिखा है कि एकशास्त्र-व्याकरण, वेदान्त, ज्योतिष या वैद्यक आदि पढ़ने से शास्त्र का तत्त्वार्थज्ञान नहीं होता। अतः चिकित्सक को बहुश्रुत और बहुत से शास्त्रों का ज्ञाता होना चाहिये।"

इसी आशय को वाक्यपदीय में भर्तृहरि ने भी कहा है कि विना आगम अर्थात् वेद के अथवा गुरु-उपदेश के ऋषियों को भी धर्मतत्त्व का ज्ञान, केवल तर्क से नहीं होता। ऋषियों का ज्ञान भी वेद-मूलक ही है।

अन्यच्च—

बिभेत्यल्पश्रुतात् वेदो मामयं प्रचलिष्यति ।

महाभारते आदिपर्व १।१६५

नीतिशास्त्रकृतोऽप्येवमाहु.—

अश्वः शस्त्रं शास्त्रञ्च' वीणा वाणी नरश्च नारी च ।
पुरुषविशेषं प्राप्ता भवन्ति योग्या अयोग्याश्च ॥

मित्रभेदे पञ्चतन्त्रे

अत्र शास्त्रशब्दो वेदवाचकः । तथा च मनुः—

अशक्यञ्चाप्रमेयञ्च वेदशास्त्रमिति स्थितिः । मनुः १२।९४

अमुनैव विधिविशेषेण धराज्ञानमपि ज्ञानविशेषं लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि पश्यन्तं धीरं भिषजं यशसा योजयति । वक्ष्यामश्च-**'नाविरतो दुश्चरिता'**-दित्यादि ।

अथेदानीं नाडीशब्दस्य प्रयोगवाहुल्यविषये विचार्य्यते—

तत्र केचित् णल गन्धे, (बन्धन इति काश्यपः) इत्यस्माद् धातोः **'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्'** (अ० ३।३।१९) इत्यनेन घञि प्रत्यये 'नालः' इति सिद्ध्यति । **"षिद्गौरादिभ्यश्च'** (अ० ४।१।४१) इति ङीषि प्रत्यये 'नाली'—शब्दं साधयन्ति ।

इसी भाव को महाभारत (आदि० १।२६५) में व्यास जी ने प्रदर्शित किया है कि अल्पज्ञजनों से वेद भी डरता है कि 'कोई मेरे अर्थ का अनर्थ न कर डाले' ।

पञ्चतन्त्र में भी कहा गया है कि "अश्व, शस्त्र, शास्त्र, वीणा, वाणी, स्त्री और पुरुष, योग्य व्यक्ति के पास रहने से योग्य और अयोग्य व्यक्ति के पास जाने से अयोग्य हो जाते हैं ।"

यहां शास्त्र शब्द का अर्थ वेद है । मनु ने भी वेद को ही शास्त्र कहा है । उसका अर्थ सीमित नहीं है । इसी प्रकार धरा[नाडी]विज्ञान भी लोकमें आत्मा को और आत्मा को लोकमें देखने वाले महाज्ञानी, संयमी, धीर पुरुषों को प्राप्त होता है और उन्हें यश का भागी बनाता है।

अब नाडी शब्द के प्रयोग-वाहुल्य पर विचार किया जाता है—

किसी आचार्य के मत में नाडी शब्द बन्धनार्थक या सूचनार्थक 'णल्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय द्वारा 'ङीष्' करके सिद्ध होता है । लकार और डकार का अभेद मान कर 'नाली' नाडी को कहा जाता है । इससे यह सिद्ध है कि डकार और लकार का अभेद-प्रयोग चिरकाल से

---

१. अत्र किञ्चित् सङ्गृह्यते—

"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ"—(गीता) ।

"शासनाच्छंसनाच्छास्त्रम्"—(पराशरपुराणे, १२ अ०,) ।

"शास्त्रं=धर्मशास्त्रपुराणोपबृंहिता वेदाः" [गीताभाष्ये, रामानुजाचार्यः] ।

श्रुतिस्मृतिशास्त्रचोदना शास्त्रम्'—[शङ्कराचार्यः] ।

'नहि वेदात् परं शास्त्रम्—(अत्रि सं० १।१४८) ।

'शास्त्रयोनित्वात्—(वेदान्तसूत्रम् १।१।३) ।

अस्मिन् धातौ प्रणाली गौरादिः । डलयोरेकत्वस्मरणात् 'नड' इति माधवीयधातुवृत्तौ । अनेनानुमीयते यच्चिरकालाद् डलयोरभेदेन प्रयोग आरब्ध आसीत्, तेन नालीशब्दो नाडी-शब्देन व्यपदिश्यते । एवं हि नलः सन् 'नड' इत्युच्यते । नाली नालो वात्मनि सौषिर्य्यसद्भावात् तरलपदार्थ वायुसमसूक्ष्मद्रव्यमेकेन मार्गेण पीत्वापरेण निर्मुञ्चति । तद् यथा नाल्यर्थे नाडीप्रयोगः—

दूराद् विनिर्गतः पर्वच्छिन्नो नाडी तनूकृतः ।—चरकः सू०, ५।५०

नाड्यर्थे नाली प्रयोगो यथा—

विकासमथ सङ्कोचमत्र नाली हृदि स्थिता ।
यदायाति तदा प्राणैश्छेदैरायाति याति च ॥
बाह्योपस्करभस्त्राया यथाकाशास्पदात्मकः ।
वायुर्यात्यपि चायाति तथात्र स्पन्दनं हृदि ॥

योगवाशिष्ठः, नि० प्र०, उ०, १७८।९-१०,

एतं कार्यविशेषं हृदययन्त्रसम्वद्धा धमन्य एव कुर्वन्ति, तस्मादुपपद्यते धमनीपर्य्यायो 'नाडी' शब्द इति ।

अपरश्चात्र हेतुः—'नट अवस्पन्दने' (चुरादिः, प० सेट्) इत्यस्माद्धातोः पूर्ववत् 'घञ्' 'ङीषि' च प्रत्यये कृते 'नाडी' शब्दः सिद्धयति । धमनीगतं स्पन्दनधर्ममनुभूय धमन्यर्थे पूर्वाचार्यैः—'नाटी'—शब्दः प्रयुक्तः स्यात्, स च पुरुषस्वभावशैथिल्यात्, देशभेदेनोच्चारणभेदात्, लेखदोषात्, क्रियासादृश्याद् वा 'नाटी' शब्दो 'नाडी'—शब्दत्वमापन्नः स्यात् । 'नाट्यं कर्म कुर्वन्ती'ति यथात्र स्पन्दनमभिप्रेयते ।

धमनीपर्य्याये योऽयं 'नाडी' शब्दः सहस्रशो वत्सरेभ्यः प्रचलितोऽवलोक्यते, स तु समुचित एव । यतो हि व्याकरणात्, कोषात् आयुर्वेद-सम्प्रदायात्, व्यवहारतो

प्रचलित हो चुका था । इसी प्रकार 'नल' शब्द 'नड' कहा जाता है । नाली का अर्थ यह है कि जिसके एक ओर से द्रव पदार्थ या वायु प्रवेश करके दूसरी ओर से निकल जाय ।

प्राचीन ग्रन्थों में दोनों शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया गया है । चरक में 'नाडी तनूकृतः' और योगवाशिष्ठ में 'अत्र नाली हृदि स्थिता' दोनों का प्रयोग देखा जाता है ।

जिस प्रकार भस्त्रा [धौंकनी] वायु से फूलती और दवाने से सिकुड़ जाती है उसी प्रकार हृदय स्थित नाडी प्राणवायु के आवागमन से विकसित एवं सङ्कुचित होती रहती है । यही प्रकार हृदय के स्पन्दन का है । यद्यपि यह रक्त-वहन का कार्य धमनियां करती हैं परन्तु इस अर्थ में नाडी शब्द का प्रयोग किया जाता है । इसलिये यह मानना पड़ता है कि यहां नाडी का धमनी अर्थ है ।

दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि नाडी के स्पन्दन अर्थ को देखकर पूर्व आचार्यों ने 'नट अवस्पन्दने' धातु से पूर्ववत् 'घञ्' और 'ङीष्' प्रत्यय करके 'नाटी' शब्द का प्रयोग किया हो, जो कालान्तर में लेखप्रमाद या उच्चारण भेद से नाडी कहा जाने लगा हो । उत्तर भारत में डकार का प्रयोग दाक्षिणात्य उच्चारण में टकार के रूप में परिणत हो जाता है ।

हम देखते हैं कि सन्निपात आदि रोगों में नाडी नाना प्रकार से उछल-कूद करती है । लोक में भी उछल-कूद करने वाली स्त्री या स्त्रीलिङ्ग विशिष्ट को नटनी अथवा नाटी भी

वा धमन्यर्थं वोधयतः–'नाडी-विज्ञानम्' 'नाडीपरीक्षा' 'नाडीप्रकाश'-प्रभृतिषु प्रयुक्तस्य नाडी-शब्दस्य प्रयोग उचित एवेति नः सिद्धान्तः।

वयन्त्वपरथा व्याचक्ष्महे—**आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।** (मनु० १।१०)। शब्दकल्पद्रुमे —'**नारं जलं ददातीति**' नारदशब्दो व्याख्यातः। वाचस्पत्याभिधाने च '**नारं पानीयमित्युक्तम्' तत् पितृभ्यो भवान् सदा ददातीति तेन ते नारदेति नाम भविष्यति**—इति व्याख्यातम्। अस्मन्मते तु हृदयं नारदशब्दाभिधेयतामर्हति। तद्धि हृदयं शरीर-पोषण-कर्तृभ्यो धमनीभ्यः सदा पितृभ्यः पोषणकर्तृभ्यो मांसोद्भवशिराजालेभ्यो नित्यं रक्तं ददाति तस्मान्नारदो हृदयम्। यथाहि नारदो देवर्षिः प्रसिद्धः, एवं हि मनस आत्मनश्चाश्रयभूतत्वाद्, हृदयमपि देवर्षिसमानमेव। क्षीणे हि हृदये देवाः=इन्द्रियाणि नाशमुपयान्तीति यतः।

'देवो दानाद्वा द्योतनाद् वा द्युस्थानो भवतीति वा' निरुक्ते, ७।१५

वेदे मेघभेदवर्णने प्रयुज्यन्त एते शब्दाः-जलन्धरः=वर्षणवान् मेघः, कबन्धः= जलवन्धको मेघः, न तु वर्षकः। नमुचिः=अवर्षणमान् मेघः। नारदो जलमुङ्— मेघः। एवं हि हृदयं रक्तमुक् **'आपो हि रसः'** रसशब्देन रुधिरस्यापि ग्रहणं भवतीत्यत्रैव प्रागुक्तम्। उक्तञ्च—

"ततो वा इन्द्रो देवानामधिपतिरभवत्" —तैत्तिरीय ब्रा० २।२।१०।३

"को नामेन्द्रः? हृदयमेवेन्द्रः"–शत०, १४।२।२।३७, **"मन एव इन्द्रः"**–गो० ब्रा०, १२।६।१।१३

प्राणा वै विश्वेदेवाः—शत० १४।२।२।३७, **"प्राणा इन्द्रियाणि"**

—ताण्ड्य० ब्रा० २।१४।२; २२।४।३

दश प्राणायतनेषु हृदयस्यापि स्थानमस्ति। तस्मान्नारदो हृदयमिति स्पष्टम्। अथवा नारो रक्तम्, तत्प्रधमनमस्तीति 'अत इनिठनौ' (पा० अ०, ५।२।११५)

कहते हैं। गौण प्रयोग से चंचल वालक को नट-खट भी कहते हैं।

कोई भी कारण क्यों न हो, नाडी शब्द कहने से ही बुद्धि में तुरन्त धमनी का ज्ञान हो जाता है। अतः 'धमनी-परीक्षा' 'धमनी-विज्ञान' आदि शब्दों के स्थान पर 'नाडी-परीक्षा,' 'नाडी-विज्ञान' आदि शब्दों का प्रयोग समुचित ही है।

हम इसका समन्वय एक अन्य प्रकार से करते हैं। पहले कहा गया है कि नाडी का सम्वन्ध हृदय से है। नारद नाम हृदय का है। मनु ने नार शब्द को जल का पर्यायवाची माना है। शरीर में पान—आहार आदि द्वारा उत्पन्न होने वाला तेजःस्वरूप—परमसूक्ष्म—रस, रञ्जित [रङ्गीन] होकर हृदय में जाता है और हृदय, उस रस को धमनियों द्वारा सारे शरीर में फैलाता है। इसलिये नारद-विज्ञान ही नाडी-विज्ञान है।

जैसे इतिहास और पुराण ग्रन्थों में नारद को देवर्षि कहा है वैसे ही हृदय भी सर्वोत्तमाङ्ग जीव या मन का आश्रय है।

वैदिक वाङ्मय में नारद नाम बरसने वाले मेघ का है। हृदय समस्त शरीर में रस की वर्षा करता रहता है। रस शब्द से रुधिर का भी ग्रहण होता है—यह पहले कहा जा चुका है। दश प्राणायतनों में मुख्य स्थान हृदय का ही है। इसलिये 'नारद' शब्द का अर्थ हृदय है।

'नार' शब्द रक्त का वाचक भी है। उस रक्त का प्रधमन हृदय से होता है। अतः 'मतुप्'

इति सूत्रेण मत्वर्थीये 'इनि'प्रत्यये 'नारिन्'शब्दो हृदयवाची सिद्ध्यति । तस्मात्—नारी-विज्ञानमिति स्थाने 'नाडीविज्ञान'मित्युच्यते । स्पष्टञ्चैतत् पूर्वोक्तेन—**'यत्तद्धि स्पर्शविज्ञानं धारि तत् तत्र संश्रितम्'** इति, **'सर्वेषामेव भावानां हृदयं स्थानमुच्यते'**—इति च ।

अथ हृदयमधिकृत्य–हृन्मस्तिष्कयोः सम्वन्धः—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत् ।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः ॥ —अथर्व, १०।२।२६

(मूर्धानं) मस्तिष्कं, (अस्य) मनुष्यस्य, (संसीव्य, अथर्वा) निश्चलः, परमात्मा, (हृदयं च यत् मस्तिष्कात्) मस्तिष्कस्नेहात्, (प्र) वहिः, (ऐरयत्) आगच्छत्, (पवमानः) शुद्धस्वभावः । अधि=उपरि, शीर्षतः=मस्तिष्कात् ।

हृदयं मनसः स्थानमोजसश्चिन्तितस्य च ।
मांसपेशीचयो रक्त-पद्माकारमधोमुखम् ॥
योगिनो यत्र पश्यन्ति सम्यग् ज्योतिः समाहिताः ।
रसो यः स्वच्छतां याति स तत्रैवावतिष्ठते ॥
ततो व्यानेन विक्षिप्तः कृत्स्नं देहं प्रपद्यते ।

अष्टाङ्गहृदयम् सू०, १२।१५

तत्रैव ते समुद्धृताः सर्वाङ्गसुन्दराय़ां प्राचां श्लोकाः । अन्यच्च—

स्तनयोर्मध्यमधिष्ठायोरस्यामाशयद्वारं सत्त्वरजस्तमसामधिष्ठानं हृदयं नाम ।

—सु० शा०, ६।२५

अर्थ में 'इति' प्रत्यय करने से 'नारिन्' शब्द वनता है । इसका प्रथमा विभक्ति के एक वचन में 'नारी' रूप सिद्ध होता है । रेफ डकार का उच्चारण अभिन्न होने से नारी और नाडी समानार्थक सिद्ध होते हैं । अतः नारी-विज्ञान या 'नाडी-विज्ञान' एक ही हैं ।

हृदय और मस्तिष्क का सम्वन्ध—

अथर्ववेद (१०।२।२६) में हृदय और मस्तिष्क का सम्वन्ध वताया गया है कि "परमातमाने मानव के शिर और हृदय को नाड़ियों द्वारा परस्पर मिलाकर विवेक-सामर्थ्य प्रदान किया है, परन्तु वह स्वयं अनादि अनन्त एवं सर्वशक्तिमान् होने के कारण मनुष्यज्ञान से परे है।"

अष्टाङ्गहृदय (सूत्र १२–१५) में हृदय के स्थान और स्वरूप का वर्णन किया है:—

"हृदय, मन, ओज तथा चिन्तनीय अर्थो का स्थान है । हृदय, मांस पेशियों से बना हुआ लाल कमल के समान अधोमुख रहता है । योगिजन, जिस हृदय में समाहित होकर ज्योतिःस्वरूप को देखते है, जिस में स्वच्छ रस स्थित होता है और सारे शरीर में फेंका जाता है उसका नाम हृदय है ।"

सुश्रुत के शरीरस्थान (६।२५) में कहा है:—

"दोनों स्तनों तथा अमाशय-द्वार के अन्तराल में छाती के आश्रय में हृदय है, जो सत्व रजस् और तमस् का निवास स्थान है ।"

"शोणित-कफ-प्रसादजं हृदयं यदाश्रया हि धमन्यः प्राणवहाः"।

सु० शा०, ४।३१

रक्तम्—

रसस्तु हृदयं याति समानमरुतेरितः।
रञ्जितः पाचितस्तत्र पित्तेनायाति रक्तताम्॥

शा० पू० ६।६

हृदयस्वरूपम्—

पद्मकोष-प्रतीकाशं सुषिरैश्च विभूषितम्।
हृदयं तद् विजानीयाद् विश्वस्यायतनं हि तत्॥

नाडीज्ञानप्रकाशे, ८३

तस्यां हिरण्ययः कोषः स्वर्गो ज्योतिषावृतः। —अथर्व; १०।२।३१
हृदये चित्तसंवित् —योगसूत्रम्
हृदयं विशेषेण चेतनास्थानम् —सु० शा०, ४।३१
आत्मनः श्रेष्ठतममायतनं हृदयम् —च० नि०, ८।७
पुण्डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम् —सु० शा०, ४।३२

नाडीस्पन्दनहेतुवर्णने प्राचां वहवः श्लोकाः समुपलभ्यन्ते। यथा—

परिव्याप्याखिलं कायं धमन्यो हृदयाश्रयाः।
वहन्त्यः शोणितस्रोतः शरीरं पोषयन्ति ताः॥

सुश्रुत में लिखा है कि "शोणित और कफ के प्रसाद से हृदय वनता है। इसी हृदय के सहारे धमनियां तथा प्राणवाहक-स्रोत सम्वद्ध हैं।"

शार्ङ्गधर संहिता में रक्त का स्वरूप इसी प्रकार कहा गया है:—"आहार से उत्पन्न रस, रञ्जकपित्त से रञ्जित होकर समान वायु की क्रिया से हृदय में आता है"

नाडीज्ञानप्रकाश में भी लिखा हैं "लाल कमल के समान, अनेक छिद्रों से विभूषित और सारे विश्व का निवास हृदय है।"

अथर्ववेद (१०।२।३१) में कहा है:—

"उस हृदय में हिरण्यकोष (साधक पित्त) रहता है। यह सुख की ओर ले जाने वाला एवं प्रकाशयुक्त है।"

योगसूत्र में हृदय को चेतना का अनुभव करने वाला बताया गया है।

इसी प्रकार सुश्रुत के शारीरस्थान (४।३१) में हृदय को विशेषकर-चेतना-स्थान, लाल कमल के समान रंग वाला और अधोमुख कहा है।

चरक (नि० ८।७) में भी हृदय को आत्मा का उत्तम निवास माना है।

नाडी के स्पन्दन का कारण और उसका स्वरूप बताने के लिये पूर्वाचार्यों ने इस प्रकार लिखा है—

"रक्त को वहन करने वाले स्रोतों के रूप में हृदयाश्रित नाडियां (धमनियां) सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर शरीर का षोषण करती हैं। हृदय के सङ्कोच तथा विकास से फेंका हुआ रक्त

हृदयाकुञ्चनाद् रक्तं कियदुदुत्प्लुत्य धामनीम् ।
तत्सञ्चितं तदुत्थञ्च प्रविश्य चापरास्वपि ।।
व्रजित्वा निखिलं देहं ततो विशति फुफ्फुसम् ।
फुफ्फुसाद् हृदयं याति क्रियैवं स्यात् पुनः पुनः ।।
रुधिरोत्प्लववेगेन धमनी स्पन्दते मुहुः ।
उत्प्लवप्रकृतेर्भेदात् भेदः स्यात् स्पन्दनस्य च ।।
स्थौल्यादिकं धमन्याश्च तत्प्रकृत्यैव जायते ।

नाडीदर्पणतः

अथ दश नाडीपर्यायाणां व्याकरणमुच्यते—

१. स्नायु--

ष्णा=शौचे,अदादिः । वाहुलवचनादुणादौ'उण्' प्रत्यये स्नायुशब्दः सिद्धयति । "स्नाति=शोधयत्यङ्गानीति स्नायुर्नाडी वा" (इति स्वामी दयानन्दः)

२. नाडी-'णल' धातोर्घञि ङीषि च डलयोरेकत्वस्मरणात् "नाडी" ।

३. वसा—

वसन्ति=निवसन्ति, आच्छादिता भवन्ति, शुभाशुभभावविशेषा रक्तञ्चा—स्यामिति वसा=धमनी । वासयति, निवासयति, आच्छादयति वान्तः सौषिर्ये रक्तं दोषान्, शुभाशुभभावविशेषांश्चेति वसा । वस=आच्छादने धातोरदादिकादचि टापि च 'वसा' शरीरान्तर्गतस्नेहद्रव्यं तद्धि व्याप्य तिष्ठति, इति माधवीय—

सारे शरीर में व्याप्त होकर पुफ्फुसों में आता है, फुफ्फुसों से हृदय में, हृदय से पुनः शरीर में और शरीर से पुनः हृदय में जाता है । इस प्रकार रक्त के निरन्तर प्रक्षेप-विक्षेप से धमनियों में बार बार स्पन्दन होता रहता है । रक्त के उत्प्लव (उछलने) से धरा में स्थूलता तथा सूक्ष्मता का भेद उत्पन्न होता है । इस सब का कारण हृदय के शुभ-अशुभ भाव है ।"

कणाद ने नाडीके दश नाम लिखे हैं। अब क्रमशः एक एक नाम का व्याकरण किया जाता है।

१. स्नायु—

'ष्णा-शौचे' धातु से उणादि के बहुल नियम से 'उण्' प्रत्यय करके 'स्नायु' शब्द सिद्ध होता है । अङ्गों का शोधन करने के कारण नाडी का नाम स्नायु हैं ।

२. नाडी—

गन्धार्थक 'णल्' धातु से घञ्' और 'ङीष्' प्रत्यय करके 'नाली' शब्द बनता है । 'डकार' और 'लकार' में अभेद मान कर 'नाली' को 'नाडी' कहा जाता है । इसकी विस्तृत व्याख्या की जा चुकी है ।

३. वसा—

'वस-निवासे' या 'वस-आच्छादने' धातु से 'अच्' तथा 'टाप्' प्रत्यय करके नाडी का पर्यायवाची 'वसा' शब्द सिद्ध होता है । हृदय द्वारा आप्लावित रक्त शुभ या अशुभ भाव से युक्त होकर और नाडियों में तिरोहित [आच्छादित] होकर गति करता है । इसलिये नाडी का नाम वसा=रक्त का आच्छादन करने वाली है। वसा नाम शरीर के एक धातु-[चर्बी]का भी है। वह

धातुवृत्तौ ।

४. हिंस्रा—

हिसि हिंसायाम् (तुदादिः) इत्यस्माद् धातोः **'नमिकम्पि'** (पा० ३।२।१६७) इत्यादिना तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिष्वर्थेषु 'र'—प्रत्यये, स्त्रियां टापि सति 'हिंस्रा' शब्दो निष्पद्यते । विकृतिमापन्ना धरा ताच्छील्याद् रोगिणो जीवनं हिनस्ति, मृतिमाचष्टे, अरिष्टयुक्ता भवति, तस्मात् हिंस्रा धमनीति । मारयति वा सन्निपातादिषु दूषितदोषवहनात्, तस्मात् हिंस्रा धमनीति युज्यते । सर्पादीनां विषमपि धमनीषु प्रविश्यैव मारकं भवति ।

५. धमनिः, धमनी—

"अर्त्तिसृधृधम्यम्यश्यवितृभ्योऽनिः" (पं०उणा० २।१०३) इत्यौणादिकः सौत्रो 'धमि' धातुः । **धमति=प्रापयति रसादिकमिति धमनिः, नाडी** वेति दयानन्दस्वामी ।

'अर्त्तिसृधमिभ्यश्च' (द० उ० १।२) इत्यस्मादौणादिकाद् धमधातोः धमति, धम्यते वासौ धमनिः, मात्रैकदेशः कर्त्ता कर्म च । स्त्रियां **'कृदिकारादक्तिनः'** (पा० ४।१।५१) सूत्रस्थवार्त्तिकेन वा 'ङीष्' भवति, तेन स्त्रियां धमनीति ।

६. धामनिः—

धमतेर्णिचि बाहुलकात्—धामनी, समाना धमनिना । धामयति, धाम्यते वासौ धमनिः, धामनिः ।

७. धरा—

धृञ्=अनवस्थाने तौदादिकात्, धृञ्=धारण-पोषणयोरित्त्यस्माद् वा अचि टापि च 'धरा' शब्दः सिद्धयति ।

भी इसलिये कि वह सारे शरीर में व्याप्त रहती है ।

४. हिंस्रा—

हिंसार्थक 'हिसि' धातु से ताच्छील्य अर्थ में 'रक्' तथा 'टाप्' प्रत्यय करने से 'हिंस्रा' शब्द सिद्ध होता है । सन्निपात आदि विषमज्वरों में अरिष्टयुक्त व्याधियों में रोगी की मृत्यु-सूचना देने के कारण नाडी का नाम हिंस्रा है । सर्पादि का विष भी धमनियों में जाकर ही मारक होता है ।

५. धमनि—

ध्मानार्थक 'धम' धातु से उणादि में 'अनि' प्रत्यय होकर 'धमनि' शब्द बनता है । स्त्री प्रत्यय-'ङीष्' करने से 'धमनी' शब्द बनता है ।

६. धामनि—

'धम' धातु से णिच् प्रत्यय करने पर धमनी के समान 'धामनी' शब्द सिद्ध होता है ।

७. धरा—

चञ्चलता के अर्थ में तुदादिगण के 'धृञ्' धातु से 'अच्' तथा 'टाप्' प्रत्यय करके 'धरा' शब्द बनता है । जो चञ्चलता के कारण 'नाडी' का पर्याय है ।

८. तन्तुकी—

तनोतेः **'सितनिगमिमसिसिच्यवि०** (पं०, उ० १।६९) इति तुन् । तनोति विस्तृणोतोति तन्तुः । तन्यत इति तन्तुः (दशपाद्युणादिः १।१२२) अत्र संज्ञायां कन् (पा० ५।३।८७) इति कन् प्रत्यये ङीपि च सति 'तन्तुकी' धमनीपर्यायः सिद्धयति सर्वशरीरे विस्तृतत्वात् ।

९. जीवितज्ञा—

जानातेर्जीवित—उपपदे **'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः'** (पा० ३।१।३५) इति 'क'-प्रत्यये टापि च 'जीवतज्ञा' इति पदं सिद्धयति । अनया वैद्यो रोगिणो जीवतमवबुध्यते जानातीति वा, तस्माद् युज्यते धमनीपर्याये जीवितज्ञेति ।

१०. सिरा—

षिञ् =बन्धने (क्र्यादिः) । **'स्फायितञ्चिवञ्चि०** (पं० उ० १।१३) इति सिनोते 'रकि' 'सिरा' शब्दः सिद्धयति । **सिनोति बध्नाति मांसरुधिरादिकमिति सिरा नाडी वेति** स्वामी दयानन्दः । **'सरणात् सिरा'** इति वा चरकः ।

एवमेते धमनीपर्याया यथार्थज्ञानवृद्धये वैद्यजनप्रीतये च स्पष्टीकृताः । तथा च चरके स्रोतसां पर्याये नाडीशब्दप्रयोगो विहितः । यथा—

'स्रोतांसि सिरा धमन्यो (रसायन्यो) रसवाहिन्यो नाड्यः पन्थानो मार्गाः शरीरच्छिद्राणि संवृतासंवृतानि स्थानाशयनिकेताश्चेति शरीरधात्ववकाशानां लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि भवन्ति । तेषां प्रकोपात् स्थानस्थाश्चैव मार्गगाश्च शरीरधातवः प्रकोपमा-

---

८. तन्तुकी—

विस्तारार्थक तनादिगण के 'तनु' धातु से उणादि प्रत्यय 'तुन्' होता है। उससे कन् प्रत्यय और स्त्री-लिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय करने से 'तन्तुकी' शब्द बनता है। धमनियां समूचे शरीर में विस्तृत रहने के कारण 'तन्तुकी' कही जाती हैं।

९. जीवितज्ञा—

जीवित शब्द उपपद है। ज्ञानार्थक ज्ञा धातु से 'क' प्रत्यय तथा स्त्री लिङ्ग में 'टाप्' प्रत्यय होने से 'जीवितज्ञा' पद सिद्ध होता है। नाडी द्वारा जीवन का ज्ञान किया जाता है इससे उसका नाम 'जीवितज्ञा' है।

१०. सिरा—

क्र्यादिगण के बन्धनार्थक 'षिञ्' धातु से 'रक्' प्रत्यय होकर 'सिरा' बनता है। चरक में सरण धर्मवाली होने के कारण उन्हें 'सिरा' कहा गया है।

इस प्रकार नाडी के अन्य पर्यायों की व्याख्या द्वारा वैद्यों का पथ प्रदर्शन किया गया है।

चरक ने नाडी शब्द को स्रोतस् का पर्याय माना है।

'स्रोतस्, सिरा, धमनी, रसायनी, रसवाहिनी, नाडी, पथ, मार्ग, शरीरच्छिद्र, संवृतासंवृत स्थान, आशय, निकेत—ये शरीर धातुओं के स्थूल तथा सूक्ष्म अवकाशों के नाम हैं। इन मार्गों के कुपित या अवरुद्ध होने से शरीर के धातु अपने-अपने आशय में विशेष कुपित हो जाते हैं।

पद्यन्ते,इतरेषां प्रकोपादितराणि च । स्रोतांसि स्रोतांस्येव धातवश्च धातूनेव प्रदूषयन्ति प्रदुष्टाः, तेषां सर्वषामेव वातपित्तश्लेष्माणः प्रदुष्टा दूषयितारो भवन्ति दोषस्वभावादिति ।' —चरक, वि० ५।१३,१४—

सुश्रुतेऽपि नाडीपरीक्षाया मूलम्—

शोणितक्षये त्वक्पारूष्यमम्लशीतप्रार्थना सिराशैथिल्यञ्च । मांसक्षये स्फिग्गण्डौष्ठोपस्थोरुवक्षःकक्षापिण्डिकोदरग्रीवाशुष्कता रौक्ष्यतोदौ गात्राणां सदनं धमनीशैथिल्यञ्च । सु० सू० १५।६ ।

अतिवृद्धे रक्ते—**रक्तं रक्ताङ्गाक्षितां सिरापूर्णत्वं च ।**—सु० सू० १५।१४ ।

धमनी त ः प्रलापी— सु० शा० ३।६५

एतेन स्पष्टमुपपद्यते यन्नाड्याः स्रोतसां संवृतासंवृतत्वं ज्ञात्वा यथादोषं धातूनां दूषणं लब्ध्वा धातुविशेषमधिकृत्य दुःखाभिधानात्मकं रोगं यथालक्षणोद्देशं वक्तुं शक्नोतीति प्राचीनानामाविष्कृतरमणीयमेतत् ।

ये किल धरापरीक्षामार्षसंहिताभ्योऽसम्मतां भिन्नां वा मन्यन्ते, त एवास्मन्मते चिन्त्याः ।

उनके प्रकोप से पुनः दूसरे मार्ग या आशय कुपित हो जाते हैं । दूषित स्रोत, स्रोतों को और दूषित धातु धातुओं को दूषित करके विविध रोग उत्पन्न करते हैं । स्रोतों और धातुओं के दूषित होने का कारण वात, पित्त और कफ ही है । क्योंकि ये दोष, स्वभाव से ही दूषित हैं । एक रस नहीं रहते ।'

सुश्रुत में भी नाडी परीक्षा का मूल—

रक्त के क्षीण होने पर त्वचा में रूखापन, खट्टे और ठण्डे की उच्छा, शरीर का शिथिल होना लक्षित होते हैं ।

मांस के क्षीण होने पर स्फिक् (चूतड़)गालें, ओष्ठ, उपस्थ, उरु, वक्ष, काखें, पिण्डलियां, उदर, ग्रीवा, आदि स्थानों में शुष्कता, रूक्षता, चुभान, और अंगों का सोना अथवा भारी होना और नाडी की शिथिलता लक्षित होती हैं ।

रक्त के अतिवृद्ध हो जाने पर मुखादि पर लाली तथा आंखों में लाली और सिराओं में रक्त का स्राव दीखता है तथा परिपुष्ट शरीरी प्रलापी (बहुभाषी) आदि लक्षंण व्यक्त होते हैं ।

इस से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि नाडी द्वारा सवृतासंवृत स्रोतों के दोषों को भलीभांति ज्ञान करके अर्थात् किस धातु को वहन करनेवाले स्रोत विकृत हैं—यह जान कर, उस धातु से आश्रित व्याधि का नाम तथा लक्षण जानने का सर्वोत्तम प्रकार नाड़ी विज्ञान ही है।

जो चिकित्सक या अन्य शिक्षित व्यक्ति, नाडी–परीक्षा को अवैज्ञानिक, अनार्ष या आर्ष ग्रन्थों में अनिर्दिष्ट मानते हैं, हमारे मत से पहले उनकी ही परीक्षा करनी चाहियें कि वे महापुरुष इस गंभीर और महत्तम त्रिदोष–विज्ञान को समझते भी हैं या नहीं, अथवा अपने ही अल्प ज्ञान से त्रिदोष के मूलाधार पर बनी हुई आर्ष–संहिताओं की निन्दा मात्र करना जानते हैं ।

वास्तविक बात यह है कि स्रोतोविज्ञान आकाशतत्त्व से समता रखता है । आकाश ही

आकाशप्रधानत्वात् स्रोतसां स्रोतोनिदानं दुरूहतममस्ति, 'सर्वच्छिद्रसमूह आकाशस्ये'ति वचनात् ।

अथेदानीं नाडी-स्पन्दन-सङ्ख्या कालेन निवध्यते सामान्यतः स्वस्थेषु । अत्र श्लोकाः—

षष्ट्या स्पन्दास्तु मात्राभिः षट्पञ्चाशद् भवन्ति हि ।
शिशोः सद्यः प्रसूतस्य पञ्चाशत्तदनन्तरम् ॥
चत्वारिंशत्ततः स्पन्दाः षट्त्रिंशद् यौवने ततः ।
प्रौढस्यैकोनत्रिंशत् स्युर्वार्धकेऽष्टौ च विंशतिः ॥
पुंसोऽतिस्थविरस्य स्युरेकत्रिंशत्ततः परम् ।
योषितां पुरुषाणाञ्च स्पन्दास्तुल्याः प्रकीर्तिताः ॥
प्रौढानां रमणीनां तु द्व्यधिका सम्मत्ता बुधैः ।

मात्राप्रमाणं तु—

दश गुर्वक्षरोच्चारकालः प्राणः षडात्मकैः ।
तैः पलं* स्यात्तु तत् षष्ट्या दण्ड इत्यभिधीयते ॥

विशेषस्तु—

एवं बहुविधाद्रोगाद् तत्तल्लिङ्गानुबोधनी ।
नाडीनाञ्च गतिस्तद्वद् भवेत् कालात् पृथक् पृथक् ॥

सव विज्ञानों का भण्डार है । इस आकाशतत्त्व का परिज्ञान, संयतात्मा योगियों के लिये भी कठिन है, फिर श्रम, प्रमाद और आलस्य से मारे हुए साधारण जीवों की तो वात हा क्या ?

स्रोतोविज्ञान या त्रिदोष विज्ञान के ज्ञान में जितना श्रम,तपस्या,विनयाचार और सद्भाव अपेक्षित है उसके विना केवल तर्कों और कुतर्कों के आधार पर विज्ञान प्राप्ति कैसे हो सकती है?

नाडी—स्पन्दन संख्या—

सद्यःउत्पन्न बालक की नाडी एक पल में ५६ वार स्पन्दित होती है । उसके अनन्तर ५० तथा ४० वार, यौवन में ३६ वार और प्रौढावस्था में २९ वार चलती है । वृद्धावस्था में २८ वार और अतिवृद्धावस्था में ३१ वार स्पन्दित होती है ।

इसके अतिरिक्त स्त्री-पुरुषों के नाडी--स्पन्दन में समानता होने पर भी प्रौढा और युवतियों की नाडी का स्पन्दन पुरुषों की अपेक्षा एक पल में दो वार अधिक होता है ।

दश गुरु या दीर्घ अक्षरों के उच्चारण काल को 'प्राण' कहते हैं । दश प्राणों का एक 'पल' होता है । साठ पल का एक दण्ड (घड़ी) होता है ।

इस प्रकार रोग और कालविशेष या व्याधिविशेष के कारण होने वाले उसके भेदों को वतलाती हुई नाडी पृथक् पृथक् गतियों को धारण करती है ।

---

* मात्रा=विपलम् । ६० मात्रा १ पलम् ।

हृदयस्य बृहद्भागः सङ्कोचं प्राप्यते यदा ।
प्रसारयेत्तदा नाडीं वायुना रक्तवाहिनीम् ॥

सामान्यतः पञ्चधा नाडीगतयो भवन्ति—

तर्पयन्त्यसृजं देहे व्याघातैर्गतिभेदतः ।
तेजःपुञ्जा चञ्चला च दुर्बला क्षीण-धीरकैः ॥

लक्षणानि यथा—

रक्तोष्णे शीघ्रगा नाडी चञ्चला च ज्वरे भवेत् ।
ज्वरारम्भे तथा वाते तेजःपुञ्जा गतिः सिरा ॥
दुर्बले ज्वररोगे च अतिसारे प्रवाहिके ।
दुर्बला क्षीणदा नाडी प्रबला प्राणघातिका ॥
बहुकालगता रोगा सा नाडी धीरगामिनी ।

—नाडीदर्पणतः

अथेदानीं वायूनामेकोनपञ्चाशत्त्वं नाड्यां विनियोज्यते । उक्तञ्च शतपथ-ब्राह्मणे—**सप्त सप्त च मरुतां गण'** इति ।

एक एव विष्णुनामान्तरिक्ष्यो वायुरेकोनपञ्चाशद्धाभवत् । ते च एकोनपञ्चाशद् वायवः कलादिसप्त-सप्तकेषु भिन्ना आयुर्वेदविदां स्पष्टा एवैकोनपञ्चाशद्धा भवन्ति तेषामेकोनपञ्चाशतां परस्पर योगस्त्रयोदश(४+९=१३) भवति । ते चैकेन-इन्द्रेण मरुत्सहायेन युक्ताश्चतुर्दश (१३+१=१४) भवन्ति । तस्मादुपपद्यते समाहारतो भुवनानां = स्थानानां चतुर्दशत्वम् । प्रसिद्धिश्चैषा-**'भुवनानि चतुर्दश'** इति । ते च चतुर्दश सङ्क्षेपमापन्ना (१+४=५) पञ्चभूतमयीं स्वां योनिमापद्यन्त एव ।

हृदय के बृहद् भाग के संकुचित होने पर रक्तवाहिनी धमनियां वायु के द्वारा प्रसारित होती हैं ।

साधारण रूप से नाडी की पांच गतियां होती हैं । जिनके नाम हैं:—

१ तेजःपुञ्जा, २ चञ्चला, ३ दुर्बला, ४ धीरा, ५ क्षीणा ।

१. वात प्रकोप में नाडी तेजःपुञ्जा होती है । ज्वरारम्भ के समय यद्यपि पित्तप्रकोप का अनुभव होता है, परन्तु वास्तव में वह वायुजन्य ही होती है । २. ज्वर में नाडी चञ्चला होती है । ३. ज्वर, अतिसार तथा प्रवाहिका में दुर्बल पुरुष की नाडी दुर्बला होती है । ४. चिरकालीन रोगीकी नाडी धीरा और ५.क्षीणता की ओर ले जाने वाली प्राणघातिनी नाडी क्षीणा होती है ।

४९ प्रकार के वायु का नाडी-विज्ञान से सम्बन्ध—

गति का आश्रय वायु है । अतः नाडी की गति भी वायु के आश्रय पर अवलम्बित है । मरुद्गण की संख्या ४९ उनचास है अतः नाडी की गति भी ४९ प्रकार की होती हुई व्याधि, देश, काल, आयु, सात्म्य और सत्व आदि भेदों से अनेक प्रकार की होकर जगत् का सञ्चालन करती है ।

४९ उनचास को परस्पर जोड़ने से ४+९=१३ तेरह होते हैं । उनमें १ इन्द्र को जोड़ने से १४ हो जाते हैं । सङ्क्षेपतः ये ही चौदह भुवन और चतुर्दश विद्यायें हैं । ये ही चौदह १४=१+४= ५ पञ्चतत्त्व होते हैं ।

भुवनशब्दोऽयं स्थानवाची, तथा च श्रुतिः—**'धामानि वेद भुवनानि विश्वा'** (यजु० ३२।१०) ।

यथैवायं जीवात्मा सहजस्वभावेन चक्षुषोर्निमेषोन्मेष इव शारीरं विकारजातं वेत्ति, तथैवायं क्लेश-कर्म-विपाकाशयैरपरामृष्ट ईश्वरः सकलकलासु पूर्णो विश्वानि धामानि वेदेति तस्य मिषतो वशित्वमेव । तस्य विष्णुसंज्ञकवायोर्विभागेष्वनपेक्षं कारणवत्त्वात् मरुतामेकोनपञ्चाशत्त्वं स्पष्टमेव । तस्मादुपपद्यते एकस्या एव नाड्या गतिभेदादेकोनपञ्चाशत्त्वमेव ।

वायूनामेकोनपञ्चाशत्त्वादेव एकोनपञ्चाशद्गतिषु सर्वं जगद् भ्रमदपि दोषाणामंशांशभेदैर्दूष्याणां भेदात्, काल--सात्म्य--सत्त्वादीनां भेदात् तथा च पञ्चमहाभूतत्रित्वीयाध्यायोक्त--प्रकृति--वयोवलादीनां भेदाच्च नाडीगतीनामपरिसंख्येयत्वं भवति, तस्मान्नाडीगतिज्ञानेप्सुना मूलमेषामेकोनपञ्चाशदेव स्मर्तव्यम् ।

यत्तूक्तमुपलभ्यते--**'अशीतिर्वातविकाराः'** इति, ते च यथास्थूलं वायोर्गतिवैषम्यमधिकृत्योच्यन्ते । एकोनपञ्चाशत्त्वं च वातानां निजसत्ताभेदात् । तस्मान्न विसंश-

---

भुवनशब्द स्थान का वाचक है । यजुर्वेद में कहा है परमात्मा सब स्थानों को जानता है। इन चौदह में एक जीव को मिला देने से १५ होते हैं । ये ही पन्द्रह तिथियां है । चन्द्रमा इन्हीं १५ तिथियों में पूर्ण होता है और इन्ही में अस्त होता है । इनमें एक अङ्क=ईश्वर को मिला देने से सोलह हो जाते हैं । ये ही सोलह कलायें हैं और इन्हीं से चन्द्रमा पूर्णचन्द्र होता है ।

त्रिदोष--संगणनीयाध्याय में स्त्री को चन्द्रस्थानीय सिद्ध किया गया है । अतः महाज्ञानी ऋषियों ने कुमारी को १६ वर्ष में पूर्ण युवती मानकर उसी काल को गर्भाधान का समुचित समय माना है ।

चार वर्णों में—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र--विभक्त मानव समाज चातुर्वर्ण्य में सोलह कलाओं को १६×४=६४ चौसठ रूप में व्यक्त करता है । इन्हीं को तन्त्र शास्त्र में चौसठ योगिनियों की संज्ञा दी गयी है ।

जैसे जीव शरीरस्थ सुख--दुःख को सहजस्वभाव से अनुभव करता है, उसी प्रकार परमात्मा इस समूचे विश्व को सहज स्वभाव से जानता है । इसीलिये वेद में उसे 'मिषतो वशी' कहा है ।

सारांश यह कि कला आदि सप्तक के आधार पर बना हुआ शरीर ही समस्त व्याधियों का आधार है । इसलिये ४६ प्रकार का वायु,अपनी सत्ता के भेद से नाडियों को ४६ भेद से चलाता है । अंशांश कल्पना, दूष्यों (वात, पित, कफ) के भेद, काल, सत्व, आदि भेद, अगले 'पञ्चमहाभूत--त्रितीय' अध्याय में वर्णित प्रकृति, वय और बल आदि के भेद से नाडियों की असंख्य गतियां हो जाती है। वास्तव में नाड़ी—विज्ञान-जिज्ञासुओं को मुख्य उनचास भेदों को ही समझना चाहिये ।

वायु की विषमता और शीघ्रचारिता के कारण वायु से उत्पन्न होनेवाले रोगों की संख्या अस्सी बतलायी गयी है । वायु के उनचास भेद तो अपनी सत्ता से हैं--इसलिये इस विषय में

नीय आत्मेति निर्णिक्तं ब्रूमः ।

संगीतविशारदो नारदोऽपि स्वकीयशिक्षायां स्वरमण्डलमुपादिशन् स्मरति—

सप्त स्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्छनाश्चैकविंशतिः ।
ताना एकोनपञ्चाशदित्येतत् स्वरमण्डलम् ॥

स्वरनिरुक्तिः—

रजयन्ति स्वतः स्वान्तं श्रोतृणामिति ते स्वराः ।
स्वराः–स-रे-ग-म-प-ध-नि-रूपाः ।

एतेषां द्रष्टारः—

अग्निर्ब्रह्मा मृगाङ्कश्च लक्ष्मीशो नारदो मुनिः ।
तुम्बुरुर्धनदश्चेति सप्तैते स्वरदर्शिनः ॥

ग्रामो हि नाम—

ग्रामः स्वर-समूहः स्यान्मूर्छनादेः समाश्रयः ।

'ग्राम' शब्दस्य व्याख्यानं यथा—

यथा बहुगृहाकारो ग्राम इत्यभिधीयते ।
तथा बहुस्वराकारः संगीते ग्राम उच्यते ॥

ते च ग्रामास्त्रयो भवन्ति । यथा—

अथ ग्रामस्त्रयः प्रोक्ताः स्वरसन्दोहरूपिणः ।
षड्ज-मध्यम-गान्धार-संज्ञाभिस्ते समन्विताः ॥

मूर्छना नाम—

स्वरः सम्मूर्छितो यत्र रागतां प्रतिपद्यते ।
मूर्छनामिति तां प्राहुः कवयो ग्रामसम्भवाम् ॥ —संगीतविनोदे

यथैवेदं त्रिदोषात्मकं त्रित्वमधिकृत्य शारीरसंहिता व्याचक्षते, तथैवेदं संगीत-

---

संशय न करना चाहिये ।

इन उनचास वायुओं के सम्बन्ध स्पष्टीकरण के लिये स्वरशास्त्र का दिग्दर्शन कराया जा रहा है । स्वरशास्त्र में भी उनचास तानें हैं । इसलिये कि वायु के वहन करने की सत्ता से शब्द उनचास प्रकारों से वहन किया जाता है ।

नारद शिक्षा में लिखा है—"सात स्वर हैं, तीन ग्राम हैं, इक्कीस मूर्छनायें हैं और ४९ ताने हैं यह स्वर मण्डल है ।"

स-रे-ग-म-प-ध-नि—ये सात स्वर हैं । श्रोताओं के हृदयों को प्रसन्न कर देते हैं—इसलिये उन्हें स्व+र=स्वर कहते हैं ।

इन सात स्वरों के क्रमशः सात द्रष्टा [देवता] हैं–१ अग्नि, २ ब्रह्मा, ३ चन्द्र, ४ विष्णु, ५ नारद, ६ तुम्बुरु और ७ कुवेर ।

स्वर के समूह का नाम ग्राम है, जो मूर्छनाओं का आधार है । जैसे लोक में बहुत घरों के समूह को ग्राम कहते हैं उसी प्रकार स्वरों के समूह को स्वरशास्त्र की परिभाषा में ग्राम कहा जाता है । स्वरशास्त्र में—षड्ज, मध्यम तथा गान्धार—ये तीन ग्राम हैं ।

जो कला स्वर को मूर्छित करके मनोरञ्जन करे–उसे मूर्छना कहते हैं । जैसे शरीरशास्त्र

मपि त्रित्वं नातिवर्तते । उक्तञ्च—

गीतवादित्रनृत्यानां त्रयं संगीतमुच्यते ।
गानस्यात्र प्रधानत्वात् संगीतमितीरितम् ।।

स्वरो हि नादमनुक्रमते । स च द्विविधः । उक्तं हि संगीतरत्नाकरे—

नाभेरूर्ध्वं हृदि स्थानान्मारुतः प्राणसंज्ञकः ।
नदति ब्रह्मरन्ध्रान्ते तेन नादः प्रकीर्तितः ।।
हृद्यनाहतचक्रेऽस्मिन्ननिलानलयोगतः ।
आहतस्तत्र नादः स्यादिति शास्त्रे प्रकीर्तितम् ।।
नादस्तु स द्विधा प्रोक्तः पूर्वनादस्त्वनाहतः ।
कर्णरन्ध्रे तथा नद्यां निर्झरेऽपि भवेच्च यः ।।
आहतस्तु द्वितीयोऽसौ वाद्येष्वाघातकर्म्मणा ।
तेन गीत-स्वरोत्पत्तिः स नादो जायते भुवि ।।

अमुनैव विधिना नाडी गतिभेदेन द्विविधा भवति । तत्रैका स्वस्थस्य सुखसमाचारान्विता, सा अनाहतनाद इव । यतो हृदयस्य स्वभावसिद्धस्य गतिमत्त्वाद् धरायाः स्फुरणं भवति ।

आधि--व्याधिभ्यां शोक-क्रोधादिमानसदोषात्,ज्वरातिसारादि-शारीरिकव्याधियोगाद् वा या गतिरुत्पद्यते, सा रोगैराहतमिव हृदयं स्वाभाविकीं गतिमतिक्रम्य हृदयं धामयति 'आहतनाद' इव सा धमनिगतिरुपलक्ष्यते ।

त्रित्व का आश्रय लेकर पूर्ण होता है उसी प्रकार गाना, नाचना और बजाना—तीनों मिलकर संगीत कहा जाता है ।

स्वर नाद के आश्रित है । नाद दो प्रकार का है । नाभि के ऊपर उरःप्रदेश से उठकर प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र में नाद या ध्वनि को उत्पन्न करती है । हृदय में होने वाले नाद को अनाहत नाद और आघात से उत्पन्न होने वाले नाद को आहतनाद कहते हैं । कान, नदी और निर्झर में होने वाली ध्वनि भी अनाहत नाद है । गायक, वादक आदि के आघात से उत्पन्न होनेवाली ध्वनि को आहतनाद कहते हैं ।

इसी प्रकार नाडी की गति में भी दो प्रकार होते हैं । एक स्वस्थ शरीर की गति और दूसरी अस्वस्थ शरीर की । स्वस्थ शरीर की नाडी, हृदय की स्वभाव सिद्ध गति से चलती है, अतः 'अनाहत नाडी' कही जाती है, और अस्वस्थ शरीर की नाडी ज्वर आदि शारीरिक तथा शोक आदि मानसिक रोगों से आहत होने के कारण 'आहत नाडी' कही जाती है ।

जैसे आकाश और वायुके योग से शब्द की व्यक्ति होती है उसी प्रकार आकाश और वायु के योग से हृदय की ध्वनि भी व्यक्त होती है । इसी प्रकार हृदयकी गतिसे ध्मात रक्त भी आकाश और वायु के योग से नाडीरूप धमनियों में प्रगति प्राप्त करता है । इसलिये यह सिद्ध है कि 'नाद' का ज्ञान ही 'नादी' अर्थात् हृदय का ज्ञान है और 'नादी' का ज्ञान ही 'नाडी' का ज्ञान

यथा हि शब्दोऽनिलानलाकाशैर्विना स्वात्मानं न व्यनक्ति, तथैव हृदयस्थो ध्वनिरपि। तत्र समस्तभावेन नाद-विज्ञानमेव नादी-विज्ञानं सत् नाडी-विज्ञान—मित्युच्यते। तथा चाह भगवान् पुनर्वसुरात्रेयः—

सर्वेषामेव भावानां हृदयं स्थानमुच्यते।
यत्तद्धि स्पर्शविज्ञानं धारि तत्तत्र संश्रितम्॥

तत्र 'णद अव्यक्ते शब्दे' इत्यनेन धातुना नदः, नादः, नदी-प्रभृतयः शब्दाः सिध्यन्ति। दृश्यते हि वेदाङ्गे निरुक्ते वाङ्नामसु 'नाडी' पदनिर्देशः।

तानानामेकोनपञ्चाशत्त्वञ्च वातानामेकोनपञ्चाशत्त्वात्। विकृतिमाप्तानां तानानां वहुत्वं स्पष्टमेव। अनेनैव प्रकारेण नाडीनामपि वहुत्वं स्पष्टमेव गतिभेदात्। भवन्ति चात्र—

नाडी-स्वरूपं कार्यञ्च वैषम्यं नामतः कुतः।
स्नायु-नाड्योर्धमन्यश्च विविक्तिः सोपपत्तिका॥१॥
सिरा-धमन्योरथ स्रोतसां चाभेदं हि केचित् भिषजो वदन्ति।
अध्यात्मवादेऽपि रिरंसमाना नाड्याः प्रयोगं सुतरां लषन्ति॥२॥
वात-पित्त-कफानां याः सिरा रक्तस्य वा पुनः।
उपनिषत्तोऽथ वेदाच्च सुश्रुताच्च प्रदर्शिताः॥३॥

है। चरक संहिता में आत्रेय पुनर्वसु ने उसे कितना स्पष्ट लिखा है:—

'सभी प्रकार के भावों का स्थान हृदय है और यह जो स्पर्श विज्ञान अर्थात् नाडी विज्ञान है यह जीवन का आधार=रक्त है। यह रक्त हृदय में रहता है।'

नाद शब्द 'णद्' धातु से बनता है जिसका अर्थ है-अव्यक्त शब्द। 'अच्' और 'घञ्' प्रत्ययों के लगने से इसके क्रमशः दो रूप बनते हैं—१ नद और २ नाद, उसी से स्त्री लिङ्ग में नदी शब्द भी बनता है। वेदाङ्ग निरुक्त में वाणी के नामों में 'नाडी' पद भी आया है।

पहले कहा जा चुका है कि वायु की संख्या ४९ उनचास है, इसीलिये संगीत शास्त्र की तानें भी उनचास हैं। इसी प्रकार वायुओं के आधार पर गति करने वाली नाडियों की गति भी उनचास प्रकार की है। विकृत होने पर वायु की असंख्य गतियां होती है। इसी प्रकार नाडी की भी असंख्य गतियों का होना स्वाभाविक ही है।

उपसंहार

इस दूसरे अध्याय में नाडी का स्वरूप, उसके कार्य, धमनी, सिरा, नाडी आदि शब्दों का सप्रमाण विशद विवेचन किया गया है॥१॥

नाडी, सिरा और धमनी को एक ही माननेवाले आचार्यों का मत, तथा तन्त्र उपनिषद् आदि में उनका प्रयोग बताया गया है॥२॥

वेद, उपनिषद् तथा सुश्रुत के प्रमाणों द्वारा वात, पित्त, कफ तथा रक्त की पृथक्-पृथक् सिराओं का दिग्दर्शन कराया गया है॥३॥

प्राणः सिन्ध्वादिनाथर्वात् प्र वा एतीन्दुनापि च ।
एतास्तेऽसौ धेनवः कालसंख्याभिरीरितम् ॥४॥
तस्माद् ये याज्ञिकैर्येषां वैद्यैर्वार्था निरूपिताः ।
तेषां तदेव शब्दानां मुख्यार्थत्वं निरूपितम् ॥५॥
निवद्धं तत् प्रमाणैश्च वैद्यज्ञानविवृद्धये ।
शास्त्रशब्दस्य वेदार्थे प्रयोगो ग्रथितस्त्विह ॥६॥
णलाद्धातोर्नटाच्चैव नालीं नाटीं प्रकल्प्य वै ।
डलयोरैक्यमाश्रित्य शैथिल्यं वा स्वभावजम ॥७॥
नाड्याः प्रकल्पना प्रोक्ता धमन्यर्थस्य साधिका ॥
आत्मनस्तु मतं भिन्नं नारदेन समन्वितम् ।
प्रामाणैस्तर्कतो वापि युक्तियुक्तं प्रकाशितम् ॥८॥
नारदो जलमुङ् मेघो हृदयं चापि रक्तमुक् ।
उभयोः साम्यमालक्ष्य नारो रक्तस्य वाचकः ॥९॥
नारशब्दादिनिं कृत्वा मतुबर्थस्य वाचकम् ।
नारिन्,प्रसाधितो ह्यत्र धमन्यर्थसुशोभितः ॥१०॥
डलयोरैक्यमाश्रित्य रलयोश्चापि तादृशम् ।
नारी,नाली तथा नाडी सिद्धान्ते हृत्प्रवाचकाः ॥११॥
निरूपितं हृत्स्वरूपं लोक-वेद-प्रमाणतः ।
नाड्याः संस्पन्दने हेतुः प्राचां श्लोकैः प्रकाशितः ॥१२॥
नाड्याः पर्यायशब्दानां दशानां व्याकृतेः क्रमात् ।
व्याख्यानमुक्तं वैद्यानां यशोज्ञानाभिवृद्धये ॥१३॥
कालमादृत्य नाडीनां स्पन्दनं गणितं त्विह ।
पञ्चधा भेदमापन्ना नाडी प्रोक्ता सलक्षणा ॥१४॥

अथर्ववेद के तीन मन्त्रों—'प्राणः सिन्धूनाम्' 'प्र वा एतीन्दुरिन्द्रस्य' 'एतास्तेऽसौ धेनवः' द्वारा सिराओं का वर्णन प्रदर्शित किया गया है ॥४॥

वैद्यक परक वेदार्थ प्रक्रिया की प्रामाणिकता, नाडी-ज्ञान की महत्ता और 'शास्त्रशब्द का अर्थ वेद है' यह वर्णन किया गया ॥५॥६॥

धमनी के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले नाडी शब्द की उत्पत्ति, नाटी और नाडी शब्दों में अभेद, लेखप्रमाद आदि द्वारा नाडी शब्द की सिद्धि की गयी है इसके साथ अपना स्वतन्त्र मत प्रदर्शित करते हुये और नारद की हृदय से अभिन्नता दिखाते हुए नारी, नाली, नाडी आदि को हृदय का पर्याय सिद्ध किया गया है ॥७–११॥

लोक और वेद से हृदय का स्वरूप वर्णन करते हुए नाडी-स्पन्दन में पूर्वाचार्यों के श्लोक उद्धृत किये गये और नाडी के दश नामों की व्याख्या की गयी। वैद्यों के यश और ज्ञान की अभिवृद्धि के लिये नाडी की स्पन्दन-संख्या और उसके ५ भेद वतलाये गये हैं ॥१२–१४॥

नाडीनां गतयः प्रोक्ताश्चत्वारिंशन्नवाधिकाः ।
मरुतां च पुराणोक्तो न्यस्तोत्पत्तिक्रमस्त्विह ॥१५॥

गद्योक्तो यः पुनः पद्यैरर्थः समनुगीयते ।
तद् व्यक्तिव्यवसायार्थं द्विरुक्तिः स न गृह्यते ॥१६॥

वाक्यमेतदनुसृत्य द्विरुक्तिरादृता मया ।
नाडीपदस्य विज्ञाने सर्वमेतत् प्रकाशितम् ॥१७॥

॥ इति नाडीपदविज्ञानीयो द्वितीयोऽध्यायः ॥

भागवत पुराण में वर्णित उनचास मरुद्गणों की उत्पत्ति तथा उसका नित्यपक्ष से सम्बन्ध प्रदर्शित करते हुए नाडी की उनचास प्रकार की गतियों का रहस्य प्रदर्शित किया गया है ॥१५॥

जो बात गद्य में क़ही जा चुकी है, उसी को पुनः दृढ़ करने के लिये पद्य में कहना पुनरुक्त दोष नहीं कहाता ॥१६॥

चरक के इसी आशय के अनुसार मैंने (ग्रन्थ-प्रणेता ने) भी इस अध्याय में पुनरुक्ति का आश्रयण करके पद्यों द्वारा वक्तव्य को स्पष्ट करने की चेष्टा की है ॥१७॥

इस प्रकार 'नाडीपद विज्ञानीय' नाम का यह द्वितीय-अध्याय समाप्त हुआ ।

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥

* पञ्च-महाभूत-त्रित्व-ज्ञापकस्तृतीयोऽध्यायः *

अथातः पञ्चमहाभूतत्रित्वज्ञापकमध्यायं व्याख्यास्यामः—

अध्यायोपक्रम-प्रयोजनम्—

पञ्चभूतोत्थितः कायो दोषा वै पञ्चभूतजाः ।
पञ्चानां त्रिषु विज्ञानं कायज्ञानमिहोच्यते ॥१॥
धरायां गतिमत्यां हि यतो वैद्य-प्रयोजनम् ।
निर्गते धमनिस्पन्दे विज्ञेयं नास्ति किञ्चन ॥२॥
तस्मात् प्रक्रम्यते ह्येषोऽध्यायस्त्रित्वविनिर्णयः ।
बालानां सुखबोधाय कश्मीरे भ्रमता मया ॥३॥

तथा च सुश्रुते—

क्रमोपयोगाद्दोषाणां क्षणिकत्वात्तथैव च ।
आगमाद् वैश्वरूपाच्च स तु निर्वर्ण्यते बुधैः ॥

उत्तरतन्त्रे, ६१।१७

इस अध्याय में पञ्चभूतों को त्रिदोष में तथा उन्हें त्रिदोष से पृथक्-पृथक् जाने का क्रम वर्णन किया गया है ।

शरीर, पञ्चभूतों से उत्पन्न है और दोष भी पञ्चभूतों से ही उत्पन्न होते हैं । उन पञ्चभूतों को तीन दोषों में जानना शरीर का ज्ञान है । इसलिये जब तक नाडी चलती है, तभी तक वैद्य की आवश्यकता है । नाडी के रुक जाने पर कुछ भी ज्ञातव्य नहीं रह जाता ।

कश्मीर प्रदेश में भ्रमण करते हुए मैंने छात्रों को सरलता से नाडी विज्ञान कराने की दृष्टि से इस अध्याय का प्रारम्भिक सङ्कलन किया ।

सुश्रुत के उत्तरतन्त्र [६१।१७] में 'वैश्वरूपाच्च' इस पद की व्याख्या में कहा गया है कि "त्रिदोष अर्थात् वात पित्त और कफ विश्व–रूप हैं--अर्थात् व्यापक हैं, सर्वत्र हैं ।" इससे यह सिद्ध होता है कि त्रिदोष और पञ्चभूत सर्वत्र हैं ।

दोषाणां क्रमोपयोगात् सञ्चयादिक्रमेण विकारजननयोगात्, तथा च दोषाणामेव क्षणिकत्वात्, आगमात्=आयुर्वेदात्, वैश्वरूपात् च=वात-पित्त-श्लेष्मणां सर्वत्र सद्भावात्' इति मुरलीधरव्याख्या।

इदञ्च जगत् पञ्चीकृतैः पञ्चभिर्भूतैर्व्याप्तमस्ति। तद् यथा—

चेष्टा वायुः खमाकाशमूष्माग्निः सलिलं द्रवम्।
पृथिवी चात्र संघातः शरीरं पाञ्चभौतिकम्॥
इत्यैतैः पञ्चभिर्भूतैर्युक्तं स्थावर-जङ्गमम्। महाभारते

पञ्चीकृतैः पञ्चमहाभूतैरिति। पञ्चीकरणप्रकारो यथा—

द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा पञ्चमं पुनः।
स्व-स्वेतर-द्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च पञ्च ते॥ पञ्चदशी

अपरथापि--

पृथिव्यादीनि भूतानि प्रत्येकं विभजेत् पुनः।
एकैकं भागमेकस्मिन् चतुर्धाविभजेत् पुनः॥
एकैकं भागमेकस्मिन् भूते संवशयेत् क्रमात्।
पञ्चीकरणमेतत् स्यादित्याहुस्तत्त्ववेदिनः॥

(पञ्चीकरणवार्तिकात्)

एतान्येव हि भूतानि त्रित्वमापन्नानि वात-पित्त-कफाभिधेयानि प्रकृतिस्थानि शरीरारोग्याय कल्पन्ते, विकृतानि च पुनस्तानि रोगाय कल्पन्ते।

यथैतानि पञ्चमहाभूतानि, अन्योऽन्यानुप्रविष्टानि परस्परमुपजीवकानि भवन्ति तथैव त्रित्वमापन्नानि त्रिदोषापरनामधेयानि परस्परमुपजीवकानि भवन्ति। यथोक्तं काश्यपसंहितायाम्—

महाभारत में लिखा है—'इस शरीर में चेष्टा-कर्म वायु का है। अवकाश (पोलापन) आकाश है। उष्णता अग्नि है। द्रव रूप जल है और स्थूलता (ठोस) भाग पृथिवी है। इस प्रकार इन पांचों भूतों से स्थावर और जङ्गम अर्थात् चर और अचर जगत् व्याप्त है।'

इसके साधक हैं-पञ्चीकृत-पञ्चमहाभूत। अतः पञ्चमहाभूतों के पञ्चीकरण प्रकार को देखिये—

एक भूत के पहले दो-दो भाग करने चाहिये। अनन्तर अपने दूसरे भाग को परस्पर मिला देने से पञ्चभूत पञ्चावस्था में व्यक्त होते हैं।

प्रकारान्तर से-प्रत्येक भूत के दो-दो भाग करें। पुनः द्वितीयभाग के चार भाग करके एक-एक भूत में एक-एक भूत का चतुर्थांश मिलाते जायें तो प्रत्येक भूत, अपने गुण की प्रधानता को लेता हुआ अन्य भूतों के गुण से युक्त हो जाता है।

यहां पांच महाभूत शरीर में त्रित्व (वात, पित्त, कफ) के रूप में होकर वृद्धि तथा क्षय के कारण बनते हैं। जैसे ये पञ्चमहाभूत परस्पर मिलकर कार्य-साधक होते हैं, उसी प्रकार ये त्रिदोषसंज्ञक पञ्चमहाभूत परस्पर मिलकर ही कार्यसाधक होते हैं। इसी आशय को काश्यप संहिता में व्यक्त किया है कि—

अन्योऽन्य-संश्रयाण्याहुरन्योऽन्य-गुणवन्ति च ।
महाभूतानि दृश्यानि दावाग्नि-तिलतैलवत् ।।

अन्यच्च—

अन्योऽन्यानुप्रविष्टानि सर्वाण्येतानि निर्दिशेत् ।
स्वे स्वे द्रव्ये तु सर्वेषां व्यक्तं लक्षणमिष्यते ।। सु०शा०, १।२२

अष्टाङ्गहृदयेऽप्येवमुक्तम्–"आकाश-मारुताभ्यां वातः । वह्नि-जलाभ्यां पित्तम् । अम्भःपृथिवीभ्यां श्लेष्मा ।" सू० २०।१

ज्योतिर्विदोऽप्येवमाहुः—

इन्दुर्जलं कुजोऽग्निर्जलमिश्रं त्वग्निरेव पित्तं स्यात् ।
एवं रक्ते क्षुभिते पित्तेन रजः प्रवर्तते स्त्रीषु ।।

बृहद्दैवज्ञरञ्जने

सुश्रुतेऽपि यथा—

'वायोरात्मनैवात्मा, पित्तमाग्नेयम्, श्लेष्मां सौम्यः' इति ।

सु० सू० ४२।५

एतद्धि प्राधान्येन गुणवर्णनम् । पञ्चभूतानुसारि गुणवर्णनं तु चरके—

रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः ।
विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुतः संप्रशाम्यति ।।५८।।
सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णञ्च द्रवमम्लं सरं कटु ।
विपरीतगुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति ।।५९।।

पांचों भूत परस्पर आश्रययुक्त होने के कारण परस्पर के गुणों से युक्त हैं । जैसे-काष्ठ में अग्नि अनुस्यूत है और तिलों में तैल ।

शरीर में आकाश और वायु का सम्मिश्रण ही 'वायु' नामक दोष है वह्नितत्त्व तथा जलतत्त्व का योग ही पित्तदोष है । इसी आधार पर ज्योतिर्विज्ञान के आचार्य भी पित्त को चंद्रमा तथा मंगल का ग्रहांश मानते हैं । इन्दु नाम चन्द्रमा का है । चन्द्रमा का तात्पर्य यहां जल से है। अतः चन्द्र-मंगल अर्थात् अग्नि जल ही पित्त है । पित्त से क्षुब्ध रक्त ही स्त्रियों के रजोदर्शन का कारण है । शरीर में कफ, जलतत्त्व और पृथ्वीतत्त्व का योग है ।

अष्टाङ्गहृदय में इसी को स्पष्ट किया गया है कि–'आकाश और वायु के योग से शरीरस्थ वायु है । पित्त, अग्निगुण-प्रधान है एवं जल तथा पृथिवी का संयोग श्लेष्मा-कफ है ।'

सुश्रुत ने भी कहा है—'वायु की भांति शरीर में वात दोष है, पित्त आग्नेय है और कफ सोम-गुणात्मक है ।

चरक ने इन त्रिदोष के गुणों को भी पञ्चमहाभूतों के गुणानुसार ही लिखा है—

"वायु रूक्ष, शीतल, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद तथा खर है । इन गुणों के विपरीत गुणों वाले पदार्थों के सेवन से वह शान्त होता है ।

"पित्त सस्नेह, उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, अम्ल, सर और कटु है । इन गुणों के विपरीत गुण-वाले पदार्थों के सेवन से वह शान्त होता है ।

गुरु-शीत-मृदु-स्निग्ध-मधुर-स्थिर-पिच्छिलाः ।
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः ।।६०।। च० सू० अ० १

तत्र यदि नाडी—सौक्ष्म्येन, सारल्येन, लाघवेन, वैशद्येन च चलति, तदाकाश-तत्त्वमस्यां साम्प्रतं प्रधानमिति चिन्तनीयम् । यदि नाडी सौक्ष्म्य-सारल्य-लाघव-वैशद्यादीन् वहन्त्यपि कौटिल्य रौक्ष्यं वा भजेत, तदा साम्प्रतं वाततत्त्वस्य प्राधान्य-मित्यवधेयम् । एवमेव सौक्ष्म्यादीन्, कौटिल्यं रौक्ष्यञ्च भजन्त्यपि नाडी, यदि तैक्ष्ण्येन, औष्ण्येन च चलति, तदा आग्नेयतत्त्वं प्रधानं साम्प्रतमित्यवगन्तव्यम् । यदि सौक्ष्म्यादि-औष्ण्यान्तान् गुणान् वहन्त्यपि नाडी, मन्दतां, स्निग्धतां, साभिष्य-न्दतां प्रियस्पर्शतां च दधन्ती स्पन्दते; तदा जलतत्त्वं प्रधानमित्यवधेयम् । एवं पूर्वोक्तान् सकलानपि गुणान् धारयन्ती धमनी, यदि सगौरवं, सस्थौल्यं, सस्थैर्यं वा धमति तदा पार्थिवं तत्त्वमस्यां साम्प्रतं विशेषेणेति विज्ञेयं विज्ञवरैर्भिषक्प्रवरैरिति ।

एवं पृथक्त्वेन दिङ्मात्रं पञ्चमहाभूतनिर्देशे निर्दिष्टं, साम्प्रतं त्रित्वेन निर्दि-श्यन्ते । यथा—रूक्ष-शीत-लघु-सूक्ष्म-चल-विशद-खर-कुटिलादयो वातगुणाः । तीक्ष्णो-ष्ण-द्रव-अम्ल-सर-सस्नेह-कटुकादयो पित्तगुणाः । गुरु-शीत-मृदु-स्निग्ध-मधर-स्थिर-पिच्छिल-विष्यन्द-प्रियस्पर्श-स्थूलत्वादयः श्लेष्मगुणाः । तत्र यस्य-यस्य भूतस्याधिक्यं जायते; स्वमानानुपातात्तदा तस्य-तस्य गुणानुरूपलक्षणस्याभिवृद्धिर्भवति । दोषाणां समानुपातकर्त्ता वह्निः शरीरे, स यदा मन्दत्वं तैक्ष्ण्यं वैषम्यं वा प्राप्नोति तदा दोषान् विषमान् करोति । विषमा हि दोषाः सामा भवन्ति । स यदि जाठरोऽग्निर्मन्दो भवति

"श्लेष्मा, गुरु [भारी,] शीतल, मृदु, स्निग्ध मधुर, स्थिर और पिच्छिल है । अतः इन गुणों से विपरीतगुणों वाले पदार्थों के सेवन से वह शान्त होता है ।

अब इस विज्ञान को नाडी में देखिये—

यदि नाडी की गति, सूक्ष्म,सरल लघु तथा विशदरूप से चलती हो तो नाडी में आकाश-तत्त्व की अधिकता समझनी चाहिये । यदि नाडी, सूक्ष्म, सरल तथा लघु या विशद होकर भी कुटिलता तथा रूक्षता को लिये हुये हो तो वाततत्त्व की प्रधानता समझनी चाहिये । इसी प्रकार यदि नाडी, लघु, विशद, कुटिल और रूक्ष होती हुई भी तीक्ष्णता या उष्णता को लिये हुये हो तो अग्नितत्त्व की प्रधानता समझनी चाहिये । यदि नाडी पूर्वोक्त सभी गुणों से युक्त होकर भी मन्द, स्निग्ध और प्रियस्पर्श हो तो जलतत्त्व की प्रधानता समझनी चाहिये । इसी प्रकार पूर्वोक्त सभी गुणों से युक्त होकर भी यदि नाडी में, गुरुता, स्थिरता एवं स्थूलता प्रतीत हो तो शरीर के प्रकृति विकृति भाव से विद्वान् वैद्य को पृथिवीतत्त्व की वृद्धि समझनी चाहिये ।

इस त्रिदोषमय शरीर में जिस-जिस भूत की शरीर-पोषक मान के अनुपात से वृद्धि हो जाती है उस-उस भूत के अनुशरण करने वाले लक्षणों की वृद्धि हो जाती है । शरीर में दोषों के अनुपात को सम रखने वाली अग्नि है । जब अग्नि, मन्द, तीक्ष्ण तथा विषम हो जाती है तब दोषों को विषम कर देती है । विषम हुये दोष साम हो जाते हैं । जब जठराग्नि मन्द हो जाती है तब विषमता को धारण करती हुई नाडी को श्लेष्मगुणवहुल कर देती है । जब

तदा वैषम्यं विदधत् श्लेष्मगुणवहुलां नाडीं विधत्ते । स यदि तीक्ष्णो भवति तदा नाडीं पित्तवहुलां करोति, विषमश्च वातवहुलामिति । समोऽग्निर्जीवयति, स्वास्थ्याय च कल्पयति ।

तत्रेदानीं प्रसङ्गतो भूतानां दोषेष्वनुश्लेषं ज्ञातुं सामनिरामस्वरूपं वर्ण्यते। उक्तं हि वाग्भट्टेन—

आमोत्पत्तिस्तत्स्वरूपञ्च —

ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम् ।
दुष्टमामाशयगतं 'रसमामं' प्रचक्षते ।।
अन्ये दोषेभ्य एवातिदुष्टेभ्योऽन्योऽन्यमूर्छनात् ।
कोद्रवेभ्यो विषस्येव वदन्त्यामस्य सम्भवम् ।।
आमेन तेन सम्पृक्ता दोषा दूष्याश्च दूषिताः ।
सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवाः ।।
स्रोतोरोध-बलभ्रंश-गौरवानिल-मूढताः ।
आलस्यापक्ति-निष्ठीव-मलासङ्गारुचिक्लमाः ।।
(विण्मूत्र-नख-दन्त-त्वक्-चक्षुषां पीतता भवेत् ।
रक्तत्वमथ कृष्णत्वं पृष्ठास्थिकटिसन्धिरुक् ।।
शिरोरुक् जायते तीव्रा निद्रा विरसता मुखे ।
क्वचिच्च श्वयथुर्गात्रे ज्वरातीसार-हर्षणम् ।।)
लिङ्गं मलानां सामनां निरमाणां विपर्ययः ।
वायुः सामो विबन्धाग्निसादस्तम्भान्त्रकूजनैः ।।
वेदना-शोफ-निस्तोदैः क्रमशोऽङ्गानि पीडयेत् ।।

जठराग्नि तेज हो जाती है । तब नाडी को पित्तगुणवहुल कर देती है । और जब वह विषम हो जाती है तब नाडी को वातगुणवहुल वना देती है । सम-अग्नि जीवन धारण करवाती है और स्वास्थ्य को ठीक रखती है ।

अब प्रसङ्ग प्राप्त भूतों का दोषों में अनुश्लेष जानने के लिये 'साम' 'निराम' का स्वरूप वर्णन किया जाता है । जैसा कि वाग्भट्ट ने लिखा है—

जठराग्नि की दुर्वलता से प्रथम 'रस' धातु, कच्चा रहकर विकृत हो जाता है—उसे—आम रस कहते हैं, उसी रस के सम्पर्क से दोष एवं अगले धातु साम कहे जाते हैं । उनसे उत्पन्न रोग भी साम कहे जाते हैं । स्रोतों का अवरोध, वल की हानि, शरीर में गुरुता, वायु की मूढता (निश्चलता) आलस्य, अन्न का न पचना, थूक अधिक आना (विशेषतः प्रातःकाल) मल-भेद (पतलापन), अरुचि एवं थकावट आदि साम मल के लक्षण हैं । निराम मलों के लक्षण इसके विपरीत समझें ।

साम वायु के लक्षण—विवन्ध (मल का रुकना), अग्निमान्द्य; तन्द्रा, अन्त्रकूजन, पीडा, शोथ और निस्तोद (सूई की सी चुभन) अङ्गग्राह (शरीर की जकड़न) । यह साम वायु स्निग्ध

विचरेद् युगपच्चापि गृह्णाति कुपितो भृशम् ।
स्नेहाद्यैर्वृद्धिमायाति सूर्यमेघोदये निशि ॥
निरामो विशदो रूक्षो निर्विबन्धोऽल्पवेदनः ।
विपरीतगुणैः शान्तिं स्निग्धैर्याति विशेषतः ।
दुर्गन्धं हरितं श्यामं पित्तमम्लं घनं गुरु ।
अम्लिका कण्ठहृद्दाहकरं सामं विनिर्दिशेत् ॥
आताम्रपीतमत्युष्णं रसे कटुकमस्थिरम् ।
पक्वं विगन्धि विज्ञेयं रुचिपक्तिबलप्रदम् ॥
आविलस्तन्तुलस्त्यानः कण्ठदेशेऽवतिष्ठते ।
सामो बलासो दुर्गन्धः क्षुदुद्गार-विघातकृत् ॥
फेनवान् पिण्डितः पाण्डुर्निःसारोऽगन्ध एव च ।
पक्वः स एव विज्ञेयश्छेदवान् वक्त्रशुद्धिदः ॥
अष्टाङ्गहृदयम् सू० अ० १३, श्लो० २५,२६,२७,२३,२४,

सङ्क्षेपत आमस्वरूपम्—

व्याध्युत्पत्तिकरं यच्च पोषणानुपयोगि यत् ।
मलस्वरूपं तत्सर्वमाम इत्यभिधीयते ॥

उपर्युक्तेषु केषांचिल्लक्षणानां निदर्शननिमित्तमुपपत्तिः प्रदर्श्यते । साममलेषु तावत्—मलं हि नाम किट्टमुच्यते निःसारद्रव्यम् । भेदनं कर्म च पित्तस्य । पित्तं हि

आहार से, प्रातःकाल सूर्योदय के समय, मेघ आने पर, वर्षा काल में और रात्रि में बढ़ता है ।

निराम वायु के लक्षण—विशुद्ध, रूक्ष, विबन्ध रहित, स्वल्पपीडा-युक्त होता है । यह निराम वायु अपने गुणों से विपरीत गुणोंवाले द्रव्यों से शान्त होता है ।

साम पित्त के लक्षण—दुर्गन्धित हरे काले या पीले रंगवाला, खट्टा स्थिर और भारी होता है । वह अम्ल पित्त कण्ठ और छाती में दाह करता

निराम पित्त के लक्षण—वही (साम) पित्त जब निराम हो जाता है तब तांबे के समान वर्णवाला या पीला हो जाता है, एव अत्युष्ण, रस में कटु, अस्थिर, गन्धरहित, रुचिकर तथा अग्निवर्धक होता है ।

साम कफ के लक्षण—साम कफ आविल (गदला=अशुद्ध) तन्तुओं वाला दुर्गन्ध युक्त, क्षुधा तथा उद्गारनाशक होता है । इसका स्थान कण्ठ है ।

निराम कफ के लक्षण—वही साम कफ जब निराम व पक्व हो जाता है तो फेनयुक्त घन पाण्डु सर तथा गन्धरहित हो जाता है और वह मुख द्वारा निकलता हुआ मुख को भी शुद्ध करता है ।

आम का स्वरूप—जो व्याधि उत्पन्न करने में समर्थ तथा शरीर पोषण में असमर्थ मल रूप है वह आम कहाता है ।

इन उपर्युक्त लक्षणों में से कुछ एक की सोदाहरण उपपत्ति देखिये—

प्रथम साम मल के लक्षणों में से किट्ठ (मल) अथवा निस्सार द्रव्य को कहते हैं ।

वह्निरुच्यते शरीरे। स च पाचकाग्निर्यदा भोज्यं शरीरपोषणांशैर्वियोजनेऽशक्तो भवति तदा मलेषु तस्य तस्य द्रव्यांशस्य शेषत्वात् तेषु सामता संजायते । तद्द्रव्यापृथग्भूतिर्हि गौरवाय कल्पते ।

गौरवं नाम श्लेष्मणो गुण: । श्लेष्मप्रधानं रक्तं शरीरे वहन् सूक्ष्म-स्रोतसामवरोधं करोति । स्वयं च विकृतिभावमापन्न: श्लेष्मा स्थूलस्रोतसां च रोधं करोति। तत्र भोज्यद्रव्ये यदि मरिचादिरूपमाग्नेयं द्रव्यं प्राधान्येनावशिष्टमस्ति, तच्चाग्निना न पृथक् कृतं तदा तन्मलं गुरुत्वात् स्रोतसामवरोधं कुर्वन्नन्त:स्रोत:सु गुदवल्यादिषु दाहं विदधाति, **'प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मलमुच्यते'**—इति न्यायात् । वलभ्रंशता वलहानिरित्युपपद्यते । तत्र पैत्तिके बलहीनेऽपि सामे दोषे दाहादयो गुणा अनुश्लिष्टा भवन्त्येव । तत्र यदि श्लेष्मावृतो वायुस्तदा श्लेष्मण: शीतधर्मित्वाद् वायुरपि शीतसंसर्गं भजन् वस्तौ, आमाशये, अन्त्रेषु वानिलमूढतां भजते । स वायुश्चलन्निवानुभूयते, परं न वहिर्नि:सरति । स श्लेष्मसम्पर्काद् वलं विनाशयति । आलस्यमुपजनयति । एवं ह्यामाशये वायुमिश्रो दुष्ट: श्लेष्मा निष्ठीवयति । शेषेष्वरुचिक्लमादिष्वप्येवमेवोह्यम् ।

सामो वायुरिति—यथा हि लोक आर्द्राणि काष्ठानि प्रज्वलन्ति, गुरुं गाढञ्च धूममुद्गिरन्ति; न तथा शुष्काणि । अङ्गाराणि च पुनर्हसन्त्यां हसन्ति; शुष्ककाष्ठेन

पदार्थों को पृथक्-पृथक् करना अग्नि का कार्य है । शरीर में पित्त ही अग्नि है । वह शरीराग्नि दुर्बल होने के कारण जब भुक्तांशों को पृथक्-पृथक् करने में असमर्थ होती है तब मलों में उन द्रव्यों का शेष रहने से "सामता" होती है । उन द्रव्यों का पृथक्-पृथक् न होना ही शरीर में दोषों का साम स्वरूप है ।

भारीपन श्लेष्मा का गुण है । सामश्लेष्मा स्वयं भी विकृत होकर शरीर के स्थूल स्रोतों (नासिका, गुदा आदि) का अवरोध करता है । इस अवरोध के समय यदि मिर्च आदि तीक्ष्ण पदार्थ खाये जाते हैं तो दुर्बल शरीराग्नि उन्हें पृथक् नहीं कर पाती, अत: वे भी स्रोतों के रोध के साथ-साथ अन्दर की गुदवल्लियों में दाह उत्पन्न करते है । कहा है प्रकृतिस्थ-श्लेष्मा बल है और विकृता श्लेष्मा मल है । इससे यह स्पष्ट है कि साम-मल बलहानि करता है । पित्त-प्रधान सामतामें दुर्बलता होने पर दाह आदि का अनुभव होता है । यदि साम-वायु कफ युक्त होता है तो वायु शीत हो जाती है और वस्ति आमाशय एवं आंतों में अनिल-मूढता (गुम) हो जाती है । उसका अन्त शरीर में अनुभव होता है, लेकिन वह बाहर नहीं निकलती । वह श्लेष्मावृत होने से बल को नष्ट करती है । आमाशय में स्थित कफ, वायु से विकृत होकर थूक को उत्पन्न करता है । इसी प्रकार अरुचि, क्लम आदि गुणों में भी वैद्य कल्पना कर लें ।

संसार में देखा जाता है कि गीली लकड़ियों का धूआं भारी और सूखी लकड़ियों का लघु होता है परन्तु कोयलों का ऊष्मा (वाष्प) रूप धूआं अत्यन्त लघु होता है । इसी प्रकार शरीर में

सममपि धूमं नोद्वमन्ति । सैवावस्था वायोः । हसन्त्या य उद्वम्यत उष्मा धूमस्थानीयः सा निरामावस्था । यश्च शुष्ककाष्ठानां धूमः, सोऽपि सामः । स च प्राकृतः । परन्त्वार्द्राणां काष्ठानां धूमस्तु मलभूतः सामो रोगाणामुत्पत्तेर्भूमिः । धूमो हि आप्यः। उक्तं हि **'स्थानेऽन्तरतमः'** इति सूत्रभाष्ये पतञ्जलिना—

तदयथा लोष्टः क्षिप्तो बाहुवेगं गत्वा नैव तिर्यग् गच्छति नोर्ध्वमारोहति पृथिवीविकारः पृथिवीमेव गच्छत्यान्तर्यतः । तथा या एता आन्तरिक्ष्याः सूक्ष्मा आपस्तासां धूमः, स धूम आकाशे निवाते नैव तिर्यग्गच्छति, नार्वागवरोहति, अब्विकारोऽप एव गच्छत्यान्तर्यतः । तथा ज्योतिषो विकारोऽर्चिराकाशदेशे निवाते सुप्रज्वलितो नैव तिर्यग्गच्छति, नार्वागवरोहति, ज्योतिषो विकारो ज्योतिरेव गच्छत्यान्तर्यतः ।

महाभाष्ये १।१।५० वा० ८

एतेनेदमप्यवधेयं यदार्याः सर्गारम्भादेवाकर्षणविज्ञानविदो वभूवुरिति ।

धूमानाञ्च लोकेऽसङ्ख्यातभेदाः । कुतः ? पदार्थेषु पञ्चमहाभूतानामुपचितेवैंशिष्ट्यात् । एषा ह्यन्तःशरीरस्थवायोरवस्था । स वायुर्यदि जीवितदारुधूमवद् गुरुस्तदा विवन्धमग्निसादञ्च जनयति । स यदि शुष्ककाष्ठसमधूमवान् तदान्त्रकूजनादिकां वेदनां जनयति, श्वयते, निस्तुदति च ।

वायु की स्थिति है । कोयले के धुएं के समान लघु वायु निराम है । शुष्क काष्ठ के धुएं के समान साम है और गीली लकड़ी के घूमके समान मलरूप है । इसी मलरूप वायु का साम होना विविध रोगों को उत्पन्न करता है । धूम ज़ल का विकार है । महर्षि पतञ्जलि ने अपने व्याकरण महाभाष्य (१।१।५०) में लिखा है–

बलपूर्वक फेंका हुआ ढेला, पार्थिव होने के कारण ऊपर या तिरछा न जाकर पृथिवी पर ही गिरता है । इसी प्रकार अन्तरिक्ष-जलका विकार-धूम भी निवासस्थान में ऊपर की ओर ही जाता है; नीचे या तिरछे नहीं । क्योंकि समुन्द्र मेघ के रूप में अन्तरिक्ष में ही रहता है। धूम ऊपर इसलिये जाता है कि उसकी योनि=कारण ऊपर है। इसी प्रकार निवातस्थान में जलते हुए दीप की ज्वाला या अग्नि ज्वाला भी ऊपर की ओर ही जाती है । क्योंकि अग्नि की योनि=कारण सूर्य ऊपर हैं ।"

इस से पाठकों को यह भी जानना चाहिये कि भारतीय आर्य, सृष्टि के आरम्भ में ही आकर्षण सिद्धान्त को जानते थे ।

संसार के पदार्थों में पञ्चमहाभूतों के न्यूनाधिक होने से उनसे उत्पन्न धूम भी असंख्य हैं। वही अवस्था हमारे शरीरस्थ वायु की भी है । यदि वायु, गीले काष्ठ के धूएं के समान गुरु है तो वह नाना प्रकार के—विवन्ध-अजीर्ण-आमवात-आदि-रोगों को उत्पन्न करता है। यदि वह सूखे काष्ठ के समान साम है तो शोथ, अन्त्रकूजन और निस्तोद (चुभन) आदि उत्पन्न करता

स्वयं धूमावृतो मन्दीभूतो वायुर्यथा शोषणकर्मण्यशक्तो भवति शुद्धवायोरपेक्षया तथैव स्नेहाद्यैः स्वं रौक्ष्यं विजहद्धर्मापि प्रकोपमात्मनो वर्धयति। तत उपपद्यते—**"स्नेहाद्यैर्वृद्धिमाप्नोति"** इति। यथा हि काष्ठभेदो धूमभेदेन भवति, तथैव हि शरीरे कदाचित् पित्तावृतः सामो वायुर्भवति, कदाचिच्च श्लेष्मावृतः सामो वायुरिति।

अथ पित्तस्य—**'दुर्गन्धमित्यादि'**। दुर्गन्धता हि सामे पित्ते भवति। कस्यचिन्मुखाद् भृशं दुर्गन्ध आयाति,कस्यचित् स्वेदात्,कस्यचिच्च शुक्रात्। दुर्गन्धनामश्रवणादेव वैद्येनावगन्तव्यं यद् दूषितं पित्तमस्य तदाश्रयस्थमिति। उपपत्तिर्यथा—महानसे क्षीरं पचन् पुरुषः सोपकरणः स्वयं प्रबुद्धो मृद्वग्निना सुस्वादु रुचिरं क्षीरं पाकाय कल्पते। नासया गन्धमाघ्राय जिघत्सति, अश्नंश्च मोदते, एष प्रसादो युक्तियुक्तस्याग्नेः। तस्मादुपपद्यते श्लोकोक्तं–**'पक्वं विगन्धि विज्ञेयमिति'**। स एवाग्निर्यदा पक्तुः प्रमादात्, उपकरणशैथिल्याद्वा क्षीरं दहति, स्थाल्यां ज्वालयति तदा भवति दुग्धे दुर्गन्धः, आस्वादे किञ्चिदम्लता, वर्णे श्यावता रक्तिमा वा। अत उपपद्यते सामे पित्ते दुर्गन्धत्वम्।

तत्र यदि सामे पित्ते श्लेष्म-वायोः प्रकोपस्तदा हरितत्वं भवति। यथा यत्र जलं वहति तत्र हरितं शेवालमुत्पद्यते, तथा पित्तेऽपि जलस्य सद्भावाद् हरितलक्षणमुचितम्।

ससार में देखा जाता है कि गीले वस्त्र आदि, शुद्ध वायु के द्वारा जिस प्रकार शीघ्र सूखते हैं, उस धूएं वाली वायु से नहीं। यही अवस्था शरीरस्थ वायु की है। साम वायु, स्वयं गुरु होने से घी, तैल आदि चिकने पदार्थों से अधिक कुपित और विकृत हो जाता है।

जैसे पदार्थों के भेद से धूम अनेक प्रकार का होता है, उसी प्रकार शरीरस्थ वायु भी वायु, पित्त और कफ की अंशांश कल्पना से अनेक प्रकार का होता है।

साम पित्त में दुर्गन्ध होती है। किसी के पसीने से, किसी के मुंह से और किसी के शुक्र से दुर्गन्ध आती हैं। इस दुर्गन्ध का नाम सुन कर ही वैद्य को समझ लेना चाहिये कि उन-उन स्थानों का पित्त दूषित है।

पित्त के साम होने का कारण उसका अपरिपक्व रह जाना है। जैसे, यदि दूध को मन्द आंच में धीरे-धीरे पकाया जाये तो उसकी गन्ध ही उसके पीने के लिये आकर्षण करती है और उसे पीकर स्वाद, आनन्द और तृप्ति होती है। दूध में यह प्रसाद, अग्नि का है। यदि वही दूध, तीव्र आंच से पकाया जाये और जल जाये तो उसकी जली गन्ध से आकर्षण न होगा। पीने पर स्वाद या आनन्द न आवेगा। पेंदे में दूध जल जायेगा। रंग भी लाल हो जायेगा। कहा जाता है कि यदि दूध में से धूआं निकल गया तो दूध के स्वाद और रंग में परिवर्त्तन हो जाता है। इसी प्रकार साम पित्त में दुर्गन्ध उत्पन्न हो जाती है। यदि पित्त, श्लेष्मा और वायु के योग से साम हो जाये तो उसका रंग हरा होता है।

लोक में देखा जाता है कि जहां निरन्तर पानी वहता है, वहां काई या शैवाल उत्पन्न हो जाता है,जो हरे रंग का होता है। उसी प्रकार साम पित्त में हरा रंग हो जाना स्वाभाविक है।

तत्र वैद्येन नाड्यामौष्ण्यं तैक्ष्ण्य वा दृष्ट्वा पित्तनाडीत्यवगन्तव्यम् । तत्र यदि मन्दता, प्रियस्पर्शता वास्ति, तदा तच्छ्लेष्मणा सामं पित्तम्, यदि कौटिल्यं स्थान-विच्युतिर्वा दृश्येत तदा तद्वायुना सामं पित्तमित्यवगन्तव्यम् ।

'सामो बलास' इत्यादि । सामो हि वलासः स्वस्मिन् पृथिवीतत्त्वं वाहुल्या-दासादयन् जाठरमग्निमाच्छादयति । स क्षुधमवरोधयति, स यदा वायुमाच्छादयति तदोद्गारमवरोधयति । सामःश्लेष्मा आविलस्तन्तुलः स्त्यानश्च भवति । स हि पित्तेन युक्तो दुर्गन्धाय कल्पते ।

एवं हि बुद्धिमता शेषेष्वपीदृशेषूक्तेष्वनुक्तेष च विकारेषु जगतः प्रकृति-विकृतिभावमालक्ष्य चिन्तनीयम् । अत्र नैपुण्यमभिलषता चरक-सूत्रस्थानस्य द्वादशो वातकलाकलीयोऽध्यायः पौनःपुन्येन समध्येतव्यः स्मर्तव्यश्च । अत्रास्माभिरनार्षवत् पिष्टपेषणदोषभिया न लिख्यते ।

अथेदानीं नाडीतः शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धानां ज्ञानक्रमो वक्ष्यते—

अथ शब्दविज्ञानम्—

कीदृशं शब्दं श्रुत्वायं रुजार्त्त आह्लादमेप्यतीति मीमांसायां वैद्येन कुशलेन विद्याविनयनिष्ठेन पूर्वं तावन्नाड्यां सारल्यं सौक्ष्म्यं लाघवञ्च द्रष्टव्यम् । अपरं वा गगनतत्त्व-वहुलं शास्त्रप्राप्तं लक्षणमन्वेष्टव्यम् ।

प्रसङ्गादाकाशीयद्रव्यगुणा लिख्यन्ते वहुत्र बुद्धिवैशारदाद्याय—

वैद्य को नाडी में तीक्ष्णता या उष्णता देखकर नाडी में पित्त का वेग समझना चाहिये । उसके साथ यदि मन्दता या प्रियस्पर्शता अनुभव हो तो श्लेष्मायुक्त साम-पित्त समझना चाहिये और यदि नाडी में कुटिलता या स्थान भ्रष्टता जान पड़े तो वायु से साम पित्त समझें ।

साम-कफ में पृथिवी तत्त्व की वहुलता होती है अतः वह जठर-अग्नि को आच्छादित करके भूख को बन्द कर देता है । साम-कफ गदला तन्तुल (डोरे वाला) और घन होता है । वह पित्त के सम्पर्क से साम होकर दुर्गन्ध-युक्त हो जाता है ।

इसी प्रकार अन्य-अन्य लक्षणों की उपपत्ति भी वैद्य को जगत् के प्रकृतिविकृतिभाव को देखकर करनी चाहिये । कहा है कि यह पुरुष, लोक के समान है। अर्थात् जैसा लोक में है वैसा ही शरीर में । त्रिदोष विज्ञान में निपुणता प्राप्त करने के लिये चरक-सूत्रस्थानके वारहवें वातकला-कलीय अध्याय का बार-बार अध्ययन, मनन और स्मरण करना चाहिये । इस प्रबन्ध में अनार्ष ग्रन्थों की भांति पिष्ट-पेषण नहीं किया गया जिससे इसकी आर्षता सुरक्षित एव समुज्ज्वल रहे ।

अत्र इस त्रिदोष गुणात्मिका नाडी से पञ्चमहाभूतों को पृथक्-पृथक् जानने का उपाय कहा जायेगा ।

शब्द-विज्ञान—

यदि वैद्य को यह जानने की इच्छा हो कि रोगी किस प्रकार के शब्द सुनने की इच्छा रखता है तो सर्वप्रथम नाडी में सरलता, सूक्ष्मता या लघुता आदि में से किसी एक लक्षण को देखे । अथवा नाडी में शास्त्रोक्त किसी अन्य लक्षण को ढूंढे । इससे आकाशतत्त्व की प्रधानता मालूम होती है ।

आकाश-तत्त्व-प्रधान द्रव्यों के गुण इस प्रकार हैं—

"श्लक्ष्ण-सूक्ष्म-मृदु-व्यवायी-विशद-विविक्तमव्यक्तरसं शब्दबहुलमाकाशीयं, तन्मार्दव-सौषीर्य-लाघवकरमिति ।" सु० सू० ४१।५

मृदुलघुसूक्ष्मश्लक्ष्णशब्दगुणबहुलान्याकाशात्मकानि, तानि मार्दवसौषीर्यलाघवकराणि । च० सू० २६।३०

तदनन्तरं द्रष्टव्यं नाडी कं दोषमनुशेते । सा यदि तैक्ष्ण्यमौष्ण्यं वानुशेते, तदा वक्तव्यं यद् भक्तिभावप्रधानानि धर्मप्रधानानि दयाकारुण्यभाव-प्रधानानि वा गायनानि श्रावणीयान्यस्मै । स ताञ्छब्दान् श्रोतुं कामयत एव । तत्र यदि नाडी सारल्यादिलक्षणं वहन्ती गौरवादिगुणानलङ्करोति तत्र ज्ञातव्यं तीक्ष्ण-मन्यु-युक्ता युद्धादिकथा अस्मै श्रावयन्तु, उच्चःस्वरप्रधानानि गायनानि वा; रसेषु रौद्र-बीभत्स-भयानक-वीररसप्रधानानि वा । तत्र यदि नाड्यां वातः प्रधानः स्यात् तदा शृङ्गाररसप्रधानानां कथा-काव्य-गीतानां विधानं कारयेत् । अमुनैव विधिनात्र शरीरोद्भवध्वनेरपि गौरवं लाघवं वैशद्यं तैक्ष्ण्यञ्चानुमातव्यं भवति ।

अथ स्पर्शविज्ञानम्—

स्पर्शवान् वायुरिति सिद्धान्तमनुसृत्य कुशलेनानुशिष्टेन तत्र तावन्नाड्यां वातस्य रौक्ष्य-चलत्व-खरत्व-कौटिल्यादयो गुणाः प्रसमीक्ष्याः । तत्र यदि तैक्ष्ण्यमौष्ण्यं चाञ्चल्यादिषु कतरदनुशयितं स्यात् तदायं शीतस्पर्शमभिकाङ्क्षतीति बोद्धव्यम् । स्वयं वा तथा विधानमनुविदध्यात् ।

सूक्ष्म, मृदु, व्यवायी, विशद, विविक्त, अव्यक्त-रस और शब्दबहुल-यह आकाश के गुण हैं । ये पदार्थ मृदुता, पोलापन तथा लघुता करने वाले हैं ।

चरक ने कहा है:—"शब्दगुणप्रधान या आकाशीय तत्त्वप्रधान द्रव्य, मृदु, लघु, सूक्ष्म और श्लक्ष्ण-होते हैं । वे पोलापन, मृदुता और लघुता करने वाले होते हैं ।"

तदनन्तर वैद्य को यह देखना चाहिये कि नाड़ी किस दोष का अनुवहन कर रही है। यदि नाडी में तीक्ष्णता या उष्णता हो तो भक्तिभावप्रधान और दया-करुणा-भावप्रधान रागों तथा कथा-प्रबन्धों को सुनना चाहता है । यदि नाडी, पूर्वोक्त सरलता आदि गुणों के साथ ही गौरव आदि गुण-युक्त भी हो तो ओजस्वी वीर-गाथाएं और ऊंचे स्वर से रौद्र, वीर, भयानक या करुणरसप्रधान गाने सुनाए जाने चाहियें । यदि वायु का अनुषङ्ग हो तो शृङ्गाररस-प्रधान कथा, गीत, श्लोक, कविता आदि सुनने की इच्छा होती है । इसी विधि के अनुसार हृदय में होने वाले धुक्-धुक् शब्द में भी गौरव, वैशद्य और तीक्ष्णता का अनुमान करना चाहिये ।

स्पर्श-विज्ञान—

स्पर्श वायु का प्रधान गुण है । इस सिद्धान्त के अनुसार वैद्य को समझना चाहिये कि नाडी में वातगुणानुसारी रूक्षता, चलता, खर-स्पर्शता या कुटिलता आदि में से किसी लक्षण को देखे । इसके अनन्तर अग्नितत्त्वजन्य उष्णता चञ्चलता आदि में से यदि एक भी लक्षण इसके अनुगत हो तो रोगी को शीतस्पर्श की आवश्यकता समझनी चाहिये ।

यदि शैत्य-गौरव-स्थिरत्व-स्निग्धत्वादिषु कतरदनुस्यूतं स्यात्तदायमुष्णस्पर्श-मभिवाञ्छतीति। तत्र यदि कौटिल्य-खरत्व-विशदत्व-सूक्ष्मत्वादिवातगुणेषु कतरदनु-पतितं स्यात्तदायं विषमं स्पर्शमभिकाङ्क्षति, अर्थात् कदाचिच्छीतम्, कदाचिदुष्णम्। कुत एवम्? वातस्यैव तावत् स्वकोपनैर्विषमीभावात्। वातो हि यदा स्वयं कुपितः पित्तमनुनयते, तदा भवति शीतस्पर्शाद् द्वेषः, प्रीतिश्च विपरीते।

एवं हि वायुर्यदा श्लेष्माणं विषमीकृत्यानुनयते तदायमुष्णस्पर्शमभिप्राप्यापि न शान्तिमभ्येति, वातेन विषमीकृतत्वाच्छ्लेष्मणः। यदा च वायुरतिशयेन पित्तं प्रकोपयति तदा भवति स्पर्शासहत्वम्। यदा च वायुः श्लेष्माणं भूयसा बलेन प्रकोपयति, तदा बहून्याच्छादनान्छाद्यापि शीतमेवानुभवति। यदा च कौटिल्यादिभिः सह नाडी पार्थिवगुणेभ्यः कतरदनुवर्तयति तदायं लघूष्णं स्पर्शमभिकामयते। एवं स्वजिज्ञासामधिकृत्य सर्वविधस्पर्शेषु वैद्यो यथेष्टं विधानं प्रतिषेधं वा कर्तुं शक्नोति।

अथ प्रसङ्गतो वायवीय-द्रव्यगुणा निरुच्यन्ते—

सूक्ष्म-रूक्ष-खर-शिशिर-लघु-विशदं स्पर्शबहुलमीषत्तिक्तं विशेषतः कषायमिति वायवीयम्, तद्वैशद्य-लाघव-ग्लपन-विरूक्षण-विचारणकरमिति। —सु० सू०, ४१।६

लघु-शीत-रूक्ष-खर-विशद-सूक्ष्म-स्पर्श-बहुलानि वायव्यानि, तानि रौक्ष्य-ग्लानि विचार-वैशद्य-लाघव-कराणि। —च० सू० ६।१

यदि वात लक्षणों के साथ शीतता, गुरुता, स्थिरता या स्निग्धता आदि में से कोई लक्षण अनुस्यूत हो तो रोगी की उष्ण स्पर्श की इच्छा होती है। यदि नाडी कुटिलता आदि वायु के लक्षणों वाली हो तो रोगी विषम स्पर्श चाहता हैं। कभी ठण्डा कभी गरम स्पर्श उसे कराना चाहिये। क्योंकि वायु ही अपने दूषक कारणों से स्वयं कुपित है और उसमें दोनों स्पर्श होते हैं।

इसी प्रकार वायु कुपित होकर पित्त को दूषित कर देता है तब रोगी शीत स्पर्श से द्वेष करता है और उष्ण-स्पर्श चाहता है। यदि कुपित वायु श्लेष्मा को दूषित करके अपने अनुगत कर लेती है तो रोगी उष्म स्पर्श को प्राप्त करके भी शान्त नहीं होता। क्योंकि वायु श्लेष्मा को विषम कर देता है।

जब वायु पित्त को अति कुपित कर देता है; तब रोगी स्पर्श को सहन नहीं करना चाहता। जब वायु अपने बलातिशय से श्लेष्मा को अतिकुपित कर देता है तब रोगी का भारी-भारी ओढने और कम्बलों से भी शीत नहीं हटता। जब नाडी कुटिलता आदि गुणों के साथ पृथिवीतत्त्व-जन्य गुरुता या स्थिरता आदि में से किसी लक्षण को अनुसरण करती है तब रोगी लघु पदार्थों का स्पर्श और लघु आच्छादनों को चाहता है।

इस प्रकार वैद्य अपनी जिज्ञासानुसार सब प्रकार के स्पर्शों का विधान एवं प्रतिषेध कर सकता है।

प्रसङ्ग से वायवीय-पदार्थों के गुण लिखे जाते हैं—

वायवीय पदार्थ-सूक्ष्म, रूखे, खर, ठण्डे, हलके, विशद, अधिक स्पर्श वाले, थोड़े तिक्त और विशेषतः कसैले रस वाले होते हैं। वायवीय पदार्थों में विशदता ग्लानि रूखापन विचार विकास-लाघव आदि होते हैं।

अथ रूपविज्ञानम्—

रूपं ह्यग्नेरिति सिद्धान्तमनुसृत्य रूपविज्ञानजिज्ञासुना वैद्येन नाड्यां सर्वप्रथमं पित्तगुणबहुलं तीक्ष्णमौष्ण्यादिष्वपरं लक्षणं वीक्ष्यम्, तदनु पित्तोपशयत्वं द्रष्टव्यम्। प्रसङ्गतो बुद्धिवैशद्याय तैजस-द्रव्य-गुणा लिख्यन्ते—

उष्ण-तीक्ष्ण-सूक्ष्म-खर-लघु-विशदं रूपबहुलमीषदम्ल-लवण-कटुक-रस-प्रायं विशेषतश्चोर्ध्वगतिस्वभावमिति तैजसं, तद्-दहन-पचन-दारण-तापन-प्रकाशन-प्रभावर्णकरमिति। सु० सू० ४१।३

उष्ण-तीक्ष्ण-सूक्ष्म लघु-रूक्ष-विशद-रूपगुण-बहुलान्याग्नेयानि, तानि दाह-पाक-प्रभा-प्रकाश-वर्णकराणि। च० सू० २६।२८

तत्र यदि स्वकोपनैः कुपित्तं पित्तं स्यात् स रुजार्त्तः श्वेतं हरितं वा रूपं द्रष्टुमभिलषति। वैद्येन चैवंविधानां रूपाणां निर्देशो विधेयः। तत्र यदि पित्तं वातमनुशेते तदा स विविधानि रूपाणि पौनःपुन्येन द्रष्टुमभिलषतीति।

अथ रसविज्ञानम्—

रसास्तावत् षट्। ते च मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाः। ते सम्यगुपयुज्यमानाः शरीरं यापयन्ति। मिथ्योपयुज्यमानास्तु खलु दोषप्रकोपायोपकल्पन्ते।

चरकः, चि० १।४

तेऽपि पञ्चमहाभूतजा एव। यथा पञ्चभिर्महाभूतैरिदं जगद् व्याप्तमस्ति तथैव षड्रसैरिदं पदार्थजातं व्याप्तमस्ति। 'अातश्चैव वक्तुं षड्रसमयं जगदिति।

रूप-विज्ञान—

रूप अग्नि का धर्म है। इसलिये जिज्ञासु वैद्य को सर्व प्रथम नाडी में पित्त के तीक्ष्णता, उष्णता एवं चञ्चलता आदि गुणों में से किसी एक को देखना चाहिये और फिर उसके साथ पित्त का अनुषङ्ग देखना चाहिये। यदि किसी का पित्त, अपने ही कारणों से दूषित हो गया हो तो वह रोगी, श्वेत या हरे रंग के पदार्थों को देखना चाहता है। यदि पित्त, श्लेष्मा के साथ मिश्रित है तो रोगी, पीले एवं लाल रंगों में रुचि रखता है। यदि पित्त के साथ वायु का अनुषङ्ग है तो रोगी नाना प्रकार के रूपों को बार-बार देखना चाहता है।

तैजस-पदार्थ—"गरम, तीखे, सूक्ष्म, हल्के, रूखे, विशद तथा रूप गुण-प्रधान आग्नेय द्रव्य हुआ करते हैं। वे दाह, पाक, प्रभा, प्रकाश, बल तथा वर्ण कारक होते हैं।"—चरक

रस-विज्ञान—

चरक संहिता में लिखा है कि—'मधुर, अम्ल, लवण, कटु तिक्त और कषाय के भेद से रस छः प्रकार के होते हैं। इन रसों का बुद्धि पूर्वक प्रयोग शरीर को बढ़ाता है और अनुचित या मिथ्या प्रयोग विविध रोगों को उत्पन्न करता हैं।'

ये छः रस पञ्चमहाभूतजन्य हैं। इन पञ्चभूतों की भांति सभी पदार्थ इन रसों से व्याप्त है। इसलिये कहा जा सकता है कि यह सम्पूर्ण जगत् षड्रसमय है।

---

१. स्वार्थेऽण् दार्ढ्याय प्रयुक्तं भवति।

रसो हि आप्यः । तस्मादनुषङ्गत आप्य-द्रव्यगुणाः प्रदर्श्यन्ते—

शीत-स्तिमित-स्निग्ध-मन्द-गुरु-सर-सान्द्र-मृदु-पिच्छिलं रसबहुलमीषत्कषायाम्ल-लवणं मधुर-रसप्रायमाप्यं, तत् स्नेहन-ह्लादन-क्लेदन-बन्धन-विष्यन्दकरमिति ।

सु० सू०, ४१।४

तथा च चरके—

द्रव-स्निग्ध-शीत-मन्द-मृदु-पिच्छिल-रसगुण-बहुलान्याप्यानि, तान्युपक्लेद-स्नेह-बन्ध-विष्यन्द-मार्दव-प्रह्लादकराणि । —सूत्रस्थानम्, २६।२७

भूतद्वयसंयोगात् षड्रसाः । उक्तञ्च—

धराम्बु-क्ष्मानल-जल-ज्वालनाकाश-मारुतैः ।
वाय्वग्नि-क्ष्मानिलैर्भूत-द्वयै रससम्भवः क्रमात् ॥

—शार्ङ्गधरसं० २।४

तथा च सुश्रुते—

तत्र भूम्यम्बुगुणबाहुल्यान्मधुरः, भूम्यग्निगुणबाहुल्यादम्लः,तोयाग्निगुणबाहुल्या-ल्लवणः, वाय्वग्निगुणबाहुल्यात् कटुकः, वाय्वाकाशगुणबाहुल्यात्तिक्तः, पृथिव्यनिल-गुणबाहुल्यात् कषाय इति । —सु० सू० ४२।३

तथा च चरके—

तेषां षण्णां रसानां सोमगुणातिरेकान्मधुरो रसः, पृथिव्यग्निगुणभूयिष्ठत्वादम्लः, सलिलाग्निगुणभूयिष्ठत्वाल्लवणः, वाय्वग्निगुणभूयिष्ठत्वात् कटुकः, वाय्वाकाशातिरे-

---

रस जलतत्त्व का गुण है । जलतत्त्व-प्रधान-द्रव्यों के गुण ये हैं—

"शीत, स्तिमित (गीलापन), स्निग्ध (चिकनापन), मन्द, गुरु, सान्द्र (सघन), मृदु, पिच्छिल । जलतत्त्व प्रधान द्रव्य, कुछ कसैले, मधुर, लवण और अम्ल रस वाले हैं । ये द्रव्य स्नेहन, क्लेदन, ह्लादन, बन्धन और विष्यन्द-कारी होते हैं ।" सुश्रुत ।

चरक ने भी कहा है—'जलज पदार्थ, द्रव, स्निग्ध, शीत, मन्द, मृदु और पिच्छिल गुण प्रधान होते हैं और वे उपक्लेद, स्नेह, बन्ध, विष्यन्द, मार्दव तथा आह्लाद कारक होते हैं ।

शार्ङ्गधर में लिखा है—

'पृथिवी और जलतत्त्व के संयोग से मधुर रस, पृथिवी और अग्नितत्त्व के योग से अम्ल-रस, अग्नि और जलतत्त्व से लवण रस, आकाश और वायुतत्त्व से कटु रस अग्नि और वायुतत्त्व के मिश्रण से तिक्त रस और पृथिवी एवं वाततत्त्व के संयोग से कषाय रस उत्पन्न होता है ।'

इस प्रकार एक-एक रस में दो-दो भूतों के मिश्रण हैं । सुश्रुत ने भी लिखा है:-"पृथिवी एवं जल के गुणों की अधिकता से मधुर रस, पृथिवी एवं अग्नि से अम्ल रस, अग्नि-जल से लवण, वायु-अग्नि से कटु, धायु आकाश से तिक्त और पृथिवी-वायु तत्त्व से कषाय रस उत्पन्न होता है ।"

इसी प्रकार चरक ने भी लिखा है । उसका आशय यह है कि यद्यपि जगत् के सभी पदार्थों की सत्ता पञ्च महाभूतों से है तो भी पदार्थों में रहनेवाले पञ्चभूतों में जिन-जिन उपर्युक्त दो-दो भूतों की अधिकता होगी उस-उस पदार्थ में उस-उस रस की प्रधानता होगी । शेष रस तो अपने अपने भूत-गुण-धर्म से न्यून या न्यूनतम मात्रा में रहते ही हैं ।

जैसे:—विना लवण के दाल या शाक को खाने से किसी विशेष रस की प्रतीति होती

कात् तिक्तः, पवनपृथिव्यतिरेकात् कषाय इति । —चरकः, सूत्र० २६।"८

तत्र यदि नाडी सौक्ष्म्यं लाघवं कौटिल्यं सारल्यं वा वहन्ती चलेत्, तदा ज्ञातव्यं तिक्तो रसः प्राधान्येन साम्प्रतमस्मिन्नुपजात इति । सो हि कफं शमयति, वात-पित्ते प्रकोपयति ।

विपरीत-प्रक्रियया च वात-पित्तयोर्विकारं दृष्ट्वा वक्तव्यं यत् तिक्तो रसः प्राधान्येन साम्प्रतम् । तत्र ये गुणा अवगुणा वा तिक्तरसे विहिताः सन्ति, तान् प्रगल्भो वैद्यः संयमेन युक्तियुक्तं भाषेत । एवमेवापरेष्वपि रसेषूह्यम् ।

रसनां कर्म्माणि—

रसानामतियोगाच्च विकाराभिनिर्वृत्तिपरिज्ञानं तु चरकस्य सूत्रस्थानीये षड्विंशेऽध्याये द्रष्टव्यम् । तथा च सुश्रुतस्य सूत्रस्थानस्थ-द्विचत्वारिंशत्तमोऽध्यायो द्रष्टव्यः । लेखगौरवभिया नात्र प्रदर्श्यते । तत्रेयं रससन्ततिः—

रसाः	कोपनः	उपशमनः
१ मधुरः	१ कफस्य	१ वात-पित्तयोः
२ अम्लः	२ कफ-पित्तयोः	२ वातस्य
३ लवणः	३ पित्त-कफयोः	३ वातस्य
४ कटुकः	४ वातस्य	४ कफ-पित्तयोः
५ तिक्तः	५ वातपित्तयोः	५ कफस्य
६ कषायः	६ वातस्य	६ कफपित्तयोः

'तत्र दोषमेकैकं त्रयस्त्रयो रसा जनयन्ति, त्रयस्त्रयश्चोपशमयन्ति, तद् यथा— कटुतिक्तकषाया वातं जनयन्ति,मधुराम्ललवणास्त्वेनं शमयन्ति । कट्वम्ललवणाः पित्तं जनयन्ति, मधुरतिक्तकषायास्त्वेनं शमयन्ति । मधुराम्ललवणाः श्लेष्माणं जनयन्ति, कटुतिक्तकषायास्त्वेनं शमयन्ति ।"

च० वि० स्था० १।६

है । उसमें लवण मिला देने से वह नमकीन हो जाती है अर्थात् लवण मात्रा की अधिकता से उसके स्वाभाविक रस को दवा देता है, लेकिन वह रस तो रहता ही है इसी प्रकार सभी रसों में समझना चाहिये । यदि नाडी, सूक्ष्म, लघु और कुटिल गति से चलती है तो रोगी में तिक्तरस की प्रधानता समझनी चाहिए । तिक्तरस कफ को शान्त करने वाले और वात एवं पित्त को कुपित करने वाला है । प्रतिलोम विधि से वात और पित्त का विकार देखकर तिक्तरस की प्रधानता समझनी चाहिये । अतः तिक्तरस के या उसके तत्त्व सम्वन्धी जो उसके गुण शास्त्र में लिखे हैं उन्हें सोच-समझकर वैद्य युक्ति-युक्त निर्णय कर सकते हैं । शेष रसों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार कल्पना कर लेनी चाहिये ।

रसों के कार्य तथा उनके अतिसेवन या मिथ्या प्रयोग जो व्याधियां उत्पन्न होती हैं उनका विस्तृत व्याख्यान, चरक सूत्रस्थान के २६ वें अध्याय में तथा सुश्रुत-सूत्रस्थान के ४० वें अध्याय में देखना चाहिये ।

रसों का कोप तथा प्रशमन ऊपर दिये कोष्ठक से समझें । इस विषय को विशद रूप से जानने के लिए चरक के विमानस्थान का प्रथम अध्याय (अनुक्रम ६) देखना चाहिये ।

उक्तञ्च तत्रैव—

यः स्याद्रसविकल्पज्ञः स्याच्च दोष-विकल्पवित् ।
न स मुह्येद्विकाराणां हेतुलिङ्गोपशान्तिषु ॥

—च० सू०, २६।४५

यदुपभुज्यते तत् त्रिधा विपाकमेति । विपाकलक्षणं यथा—

जाठरेणाग्निना योगाद् यदुदेति रसान्तरम् ।
रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः ॥

मधुरलवणयोर्मधुरो विपाकः । अम्लस्याम्लः । तिक्तकषायकटुकानां कटुरिति । तेषाञ्च वीर्यमपि द्विधा—शीतमुष्णञ्चेति । उक्तञ्च "अग्निषोमीयं जगत्" इति । पित्तमग्निः । कफः सोमः । इमावग्निषोमौ शरीरे, अश्विनौ वा । वायुर्हि उभयचारी, तद् यथा—

तत्कावश्विनौ ? द्यावापृथिव्यावित्येके । अहोरात्रावित्येके । सूर्याचन्द्रमसावित्येके । राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः ।

—निरुक्तम्, १ ।१

बृहद्देवतायाञ्च—

सूर्याचन्द्रमसौ तौ हि प्राणापानौ च तौ स्मृतौ ।
अहोरात्रौ च तावेव स्यातां तावेव रोदसी ॥
अश्नुवाते हि तौ लोकान् ज्योतिषा च रसेन च ।
पृथक्-पृथक् च चरतो दक्षिणेनोत्तरेण च ॥ ७।१२६,१२७

चरक में कहा भी है:—जो रस के विकल्पों[1] को जानता है और जो दोषों के विकल्प को जानता है ऐसा सद्वैद्य रोगों के हेतु (निदान) लक्षण तथा शान्ति (चिकित्सा) में कभी भ्रान्त नहीं होता।

पहले कहा जा चुका है कि भोज्य चार प्रकार के होते हैं । उनका विपाक तीन प्रकार का होता है । विपाक का लक्षण—

जठराग्नि के योग से खाये हुए द्रव्य का जो रसान्तर होता है, उसे विपाक कहते हैं । जैसे मधुर और लवण रस का विपाक मधुर होता है । अम्ल का अम्ल, तिक्त, कषाय और कटु का कटुविपाक होता है । इसके दो भेद होते हैं—शीतवीर्य तथा उष्णवीर्य । इसी आशय से जगत् को अग्निषोमीय कहा गया है । इस शरीर में पित्त अग्निरूप है और कफ सोमरूप है । शरीरस्थ कफ और पित्त को अश्विनी कहा जाता है । वायु दोनों के साथ रहता है ।

निरुक्त में कहा है—अश्विनी नाम द्यावापृथिवी का है । दिन रात को अश्विनी कहते हैं । ऐतिहासिक लोग पुण्यकृत राजा को अश्विनी कहते हैं ।

बृहद्देवता में भी कहा गया है:—"सूर्य और चन्द्रमा, प्राण और अपान, दिन तथा रात्रि और द्यावापृथिवी अश्विनी हैं । दक्षिण और उत्तर अपने-अपने इन दो भागों में विभक्त सूर्य के अयन द्वारा तथा प्रकाश से जगत् को व्याप्त करते हैं अतः वे अश्विनी कहे जाते हैं ।"

१–विकल्प=अंशांश कल्पना का नाम है ।

अत्रैवं सङ्गतिः—

अहः=पित्तम्, रात्रिः=कफः। सूर्यः=पितम्, चन्द्रः=कफः। ज्योतिः= पित्तम्, रसः=कफः। उत्तरायणं=पित्तम्, दक्षिणायनं=कफः।

आतश्च नाडी-विज्ञाने नैपुणीमभिलषता भिषजा रसोपपत्ति-विज्ञानं, रसानां दोष-प्रशमन-कोपन-क्रमः, विपाकः, वीर्यञ्चेति कण्ठाग्रमास्थाप्यम्।

अत्र केवल नाड्या इष्टार्थस्यान्वेषणवीजमुपवर्णितम्, साकल्येन वक्तुमशक्य-त्वात्। यतो हि रसानां सूक्ष्मातिसूक्ष्मयोगादसंख्येयत्वात्। उक्तञ्चापि चरके—

नहिविस्तरस्य प्रमाणमस्ति न चाप्यतिसङ्क्षेपोऽल्पबुद्धीनां सामर्थ्यायोपकल्पते, तस्मादनतिसङ्क्षेपेणानतिविस्तरेण चोपदिष्टाः, एतावन्तो ह्यलमल्पबुद्धीनां व्यवहा-राय, बुद्धिमताञ्च स्वालक्षण्यानुमान-युक्तिकुशलानामनुक्तार्थज्ञानायेति।

सूत्र०, ४।१५

गन्ध-विज्ञानम् –

गन्धवती पृथिवीति न्यायमनुसरता वैद्येन यदा रोगिणो गन्धकामिता विजि-ज्ञासितव्या स्यात्; तदा नाड्यां तावद् गुरुत्व-स्थैर्य-स्थौल्य-काठिन्यं वा विवेचनीयम्। तत्र यदि नाडी गुरुत्वादिषु कतममपि गुणं वहन्ती तीक्ष्ण्यमौष्ण्यं वा वहति; तदा ज्ञातव्यं यदयं मृदुगन्धिपुष्पाणि समाघ्रातुं कामयत इति। तानि मालारूपेणोपधार-यितुमस्मै प्रदेयानि। अथ चेद् गौरवादिगुणैः साकं प्रियस्पर्शं द्रवं, सान्द्रं स्निग्धं वा गुणं नाडी वहति; तदा तीक्ष्णगन्धीनि पुष्पाणि देयान्यस्मै। यतो विपरीते भक्ति-

---

जैसे—दिन पित्त है, रात्रि कफ है। सूर्य पित्त है, चन्द्रमा कफ है। ज्योति पित्त है, रस (जल-तैल-घृत) कफ है। उत्तरायण पित्त है और दक्षिणायन कफ है।

नाडी विज्ञान में विशेष निपुणता चाहने वाले वैद्य को चाहिये कि रसों के परस्पर दोष शमन, कोपन, त्रिविध विपाक और द्विविध—शीत एवं उष्ण वीर्य को भी ध्यान में रखे। यहां तो नाडी से रस परिज्ञान कराना अपेक्षित है-अतः रसों के अनेकविध सूक्ष्म—अतिसूक्ष्म भेदों का वर्णन नहीं किया गया। इस विषय पर चरक ने भी लिखा है कि—

विस्तार का अन्त नहीं और अतिसंक्षेप मन्दमतियों के लिये उपकारक नहीं होता—अतः हमने न तो अतिसंक्षेप और न अतिविस्तार से विवेचन किया है। अल्पबुद्धियों के लिये जितना उपयुक्त समझा वर्णन कर दिया।

गन्ध-विज्ञान

गन्ध,पृथिवी का गुण है। अतः जब वैद्य को यह जानने की आवश्यकता हो कि रोगी को किस प्रकार के गन्ध सूंघने की इच्छा है या किस प्रकार का गन्ध सुंघाना चाहिये तब उसे सब से पहले रोगी की नाडी में गुरुता, स्थूलता, स्थिरता, कठिनता, सान्द्रता और मन्दता का विवेचन करना चाहिये। यदि नाडी में गुरुता आदि लक्षणों के साथ तीक्ष्णता तथा उष्णता दीख पड़े तो समझना चाहिये कि रोगी मृदुगन्धवाले फूलों को सूंघना चाहता है या सुंघाना चाहिये।

यदि ऊपर कहे हुए गुरुता आदि गुणों के साथ प्रियस्पर्शता, द्रवता, सान्द्रता या स्निग्धता आदि में से कोई गुण नाडी में हो तो तीखे गन्धवाले फूलों या पदार्थों का सेवन कराना चाहिये। कारण यह कि जगत् में आकर्षण, परस्पर विपरीत वस्तुओं का होता है। इसीलिये चरक में

भवतीति न्यायात्। उक्तं हि त्रिदोषप्रशान्तौ सङ्क्षेपतश्चरके—

रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः।
विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुतः संप्रशाम्यति।
सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णञ्च द्रवमम्लं सरं कटु।
विपरीतगुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति।
गुरु-शीत-मृदु-स्निग्ध-मधुर-पिच्छिलाः।
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः।

—सूत्र०, १।५९-६१

तथा च सुश्रुतेऽपि—

गुणैर्भूभ्यम्बुजैः पित्तं क्षिप्रमाप्नोति निर्वृतिम्।
आग्नेयमेव यद् द्रव्यं तेन पित्तमुदीर्यते॥

सु० सू० ४१।७-८

तीक्ष्णगन्धे वकुलचम्पकादिपुष्पाणि तत्सत्वानि वा। तत्र यदि पित्तानुश्लिष्टं पृथिवीतत्त्वं तदोशारादीनामावृतिपटानि जवनिकादीनि यूथिका-प्रभृतिमृदुगन्धीनि कुसुमानि, तत्सत्वानि वा प्रदेयानि। वायुस्तु कमपि संसर्गमवश्यं भजत एव; तस्मात् कफपित्तयोरेव लीयते।

अथ यदि श्लेष्मा स्वकोपनैर्भृशं प्रकोपमापन्नोऽस्ति,तदा वक्तव्यं नायं काङ्क्षते गन्धान्। न चास्मै देया गन्धाः श्लेष्मणोपरुद्धत्वात् स्रोतसामिति।

अथेदानीं प्रसङ्ग-प्राप्तान् पार्थिव-गुणान् निर्देक्ष्यामो वैद्यानां सौकर्य्याय—

तथा च सुश्रुते—**तत्र स्थूल-सान्द्र-मन्द-स्थिर-गुरु-कठिनं गन्धबहुलमीषत्कषायं प्रायशो मधुरमिति पार्थिवम्। तत् स्थैर्य-बल-गौरव-संघातोपचयकरं विशेषतश्चाधो-**

त्रिदोष की शान्ति का विधान परस्पर विरुद्ध गुणों द्वारा किया गया है।

'वायु – शीतल, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद तथा खर गुणों वाले पदार्थों से शान्त होता है। पित्त— सस्नेह, उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, अम्ल, सर और कटु है। वह इस से विपरीत गुण वाले द्रव्यों से शान्त होता है। श्लेष्मा गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध मधुर, स्थिर, और पिच्छिल है। यह अपने विपरीत गुणों वाले पदार्थों से शान्त होता है।'

सुश्रुत के भी कहा है— 'जल और पृथिवीतत्त्व प्रधान पदार्थों के सेवन से पित्त शान्त होता है और आग्नेयपदार्थों से बढता है।

ऊपर तीक्ष्ण और मृदु– ये दो प्रकार के गन्ध कहे गये हैं। तीक्ष्ण गन्ध में बकुल (मौल-सरी) चम्पक (चम्पा) आदि पुष्प या इनके इत्र लेने चाहियें। अथवा खस के परदों पखों आदि का प्रयोग होना चाहिये। वायु-कफ और पित्त का सहारा लेती है अतः उन्हीं के प्रयोगों में भी अन्तर्भूत समझना चाहिये।

यदि अपने निजी कारणों से कुपित हुआ हो तो रोगी किसी प्रकार की भी गन्ध में रुचि नहीं करता। क्योंकि श्लेष्मा से गन्ध-ज्ञानवाही स्रोत अवरुद्ध कर दिये जाते हैं।

गतिस्वभावमिति । —सु० सू०, ४१।४

तत्र द्रव्याणि गुरु-खर-कठिन-मन्द-स्थिर-विशद-सान्द्र-स्थूल-गन्धगुणबहुलानि पार्थिवानि तान्युपचय-संघात-गौरव-स्थैर्यकराणि ।

—च० सूत्र०, ६।११

शरीरस्य पञ्चमहाभूतमूलकत्वं यजुषश्चत्वारिंशत्तमेऽध्याये स्पष्टमुच्यते—

'वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतं स्मर ॥ —यजु० ४०।१५
ओ३म् खं ब्रह्म । यजु० ४०।१७

तानि महाभूतानि त्रित्वे परिणाममापन्नानि शरीरोपकाराय कल्पन्ते । तानि तथोपरिष्टाद् व्याख्यातानि । वायुर्वातः । अनिलोऽग्निः । अमृतं जलम् । भस्मान्तं भस्मावशेषत्वात् पृथिवी । ओ३म् खं ब्रह्मेत्याकाशस्य ज्ञापकः । तथा च चरके—

'पञ्चभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वं गतमुच्यते'—इति । चरक शा० १।७४

इदमत्राध्यवसेयम्—आकाशं हि द्रव्यम् । तच्च योनिश्चतुर्णां भूतानाम् । न ह्याकाशमन्तरोपजीवन्ति शेषभूतानि चत्वारि । अवकाशस्तस्य गुणः । अवकाशार्थेऽप्याकाशशब्दप्रयोगो दृश्यते, परन्तु वैद्येन नाड्यां न केवलमाकाशमात्र कल्पयित्वोपेक्षणीयम् । आकाशावकाशयोः पृथक्त्वमवश्यमधेयम् ।

सङ्क्षेपस्त्वयम् यथा लोके वैय्याकरणानां मते विशेष्यं विशेषणञ्च वक्तुराधीनं भवति तथैव नाड्यां स्वजिज्ञासामधिकृत्य पञ्चमहाभूतगुणेषु विशेषण-विशेष्यभावो गौण-मुख्यभावो वा कल्पनीयः । यथा च सुश्रुते—

पहले कह आये हैं कि शरीर पञ्चभूतमय है और ये पञ्चभूत वात, पित्त और कफ–इन तीन रूपों में किस प्रकार शरीर के उपकारक होते हैं ।

यजुर्वेद के मन्त्र में भी इन पञ्चभूतों का उल्लेख किया गया है । मन्त्र के ये पद–वायु, अनिल (अग्नि), अमृत (जल), भस्मावशेष रहने से भस्मान्तं पद से पृथिवी और खं (आकाश) तत्त्व को व्यक्त करते हैं । चरक ने भी लिखा है कि 'मृतक के अनन्तर पञ्चभूतों का समूह शेष रह जाता है । इसलिये मृत शरीर को कहा जाता है कि पञ्चता को प्राप्त हो गया ।'

वैद्य को इस विषय पर ध्यान देना चाहिये कि आकाश वह महाभूत है, जो शेष चार तत्त्वों को अवकाश प्रदान करता है । यह अवकाश आकाश का गुण है, आकाश-स्वरूप नहीं है । वैद्य को नाड़ी ज्ञान के समय आकाश को अवकाश से भिन्न द्रव्य मानकर उसके सरलत्व सूक्ष्मत्व आदि गुणों का विचार करना चाहिये । आकाश और अवकाश का भेद समझना अत्यावश्यक है ।

संक्षेप से इस पञ्चमहाभूतज विज्ञान का सार यह है कि वैद्य को रोगी के जिस-जिस गुण-शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श जानने की आवश्यकता हो, उस-उस गुण के ज्ञान के लिये व्याकरण के नियमानुसार गौण एवं मुख्य भाव की कल्पना करनी चाहिये । अपने भावज्ञापक भूतगुण को मुख्य और शेष चार-भूतों के गुणों की गौण रूप से कल्पना करनी चाहिये । पदार्थ विज्ञान में सुश्रुतोक्त सामान्य नियम यह है—

तत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां समुदायाद् द्रव्याभिनिर्वृत्तिः । उत्कर्षस्त्वभिव्यञ्जको भवति—इदं पार्थिवमिदमाप्यमिदं तैजसमिदं वायव्यमिदमाकाशीयमिति ।
सु० सू०, ४१।३

सर्वद्रव्यं पाञ्चभौतिकमस्मिन्नर्थे— च० सू०, २६।१०

तद्यथा रोगार्तेऽस्मिन्-आस्तिक्यमस्ति न वेति जिज्ञासायां वैद्येनाकाशीया गुणा विशेष्यत्वेन कल्पनीयाः । अपरेषां चतुर्णां गुणा विशेषणत्वेन कल्पनीयाः ।

अथवा, आकाशे येषां गुणानां सद्भावः शास्त्रविहितो लोकविहितो वा, तत्र यस्य यस्य भावविशेषस्य जिज्ञासा स्यात्, तं तमेव भावविशेषमाकाशं मत्वा तं विशेष्यं कल्पयित्वा परान् भूतचतुष्टय-गुणान् विशेषणान् कल्पयेत् ।

अथ पञ्चमहाभूतगुणाः । यथा—

तत्र सत्त्वबहुलमाकाशम्, रजोबहुलो वायुः, सत्त्व रजो-बहुलोऽग्निः, सत्त्व-तमोबहुला आपः, तमोबहुला पृथिवीति । सू० शा० १।२०

सत्त्वादिगुणप्रधानपुरुषाणां लक्षणं यथा—

"सात्विकास्तु—आनृशस्यं, संविभागरुचिता, तितिक्षा, सत्यं, धर्मः, आस्तिक्यं, ज्ञानं, मेधा, स्मृतिः, धृतिः, अनभिषङ्गश्च ।

राजसास्तु दुःखबहुलता, अटनशीलता, अधृतिः, अहङ्कारः, आनृतिकत्वं

'संसार के समस्त पदार्थ, पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश के संघात से सत्तावान् हैं । उनमें जिस-जिस भूत की अधिकता होती है वह अधिकता के कारण अन्य भूतों की अपेक्षा अपना पृथक् अस्तित्व रखता है जिससे कि यह जाना जाता है कि यह पृथिवी-तत्त्व प्रधान है या जल-तत्त्व प्रधान ।'

चरक संहिता में भी संक्षेप से कहा गया है कि—"इस शरीरशास्त्र में सभी द्रव्य पाञ्चभौतिक है, इसलिये सर्वत्र पञ्चभूतों की ही चर्चा है ।"

उदाहरण—यदि वैद्य यह जानना चाहे कि रोगी में आस्तिक बुद्धि है या नहीं, तो उसे आकाशीय गुणों को विशेष्य तथा शेष भूतों के गुणों को आकाशीय गुणों के विशेषण रूप में कल्पना करनी चाहिये । इसे यों भी कहा जा सकता है कि आकाशतत्त्व में जिस-जिस लोक या शास्त्र विहित गुण की सत्ता है उस-उसको विशेष्य मानकर शेष चार भूतों के गुणों को उस आकाशीय गुण का विशेषण समझें ।

प्रसङ्गानुसार यहां पञ्च-महाभूतों के गुणों की चर्चा की जाती हैः—

सुश्रुत ने लिखा है आकाश सत्त्वगुण प्रधान है । वायु रजोगुण प्रधान है । सत्त्व और रजोगुण युक्त अग्नि है । जल, सत्त्व और तमोगुण बहुल है । पृथिवी तमोगुण प्रधान है ।

सत्त्व आदि गुण-प्रधान-पुरुषों के लक्षण भी सुश्रुत ने लिखे हैंः—

"दया, बांट के खाना, मिल-जुलकर रहना, सहनशीलता, सत्य में रुचि, धर्मनिष्ठा, आस्तिकता, ज्ञान, बुद्धि, मेधा, स्मृति, धैर्य और अनासक्ति—यह सत्त्व गुण-प्रधान पुरुष के लक्षण हैं ।

"रजोगुण-प्रधान-पुरुष में—दुःखी रहना, अधीरता, असत्य-प्रियता, निर्दयता मिथ्याभिमान, मान चाहना, स्त्री आदि विषयों में आसक्ति, विविध मनोरथों की कल्पना और

अकारुण्यं, दम्भः, मानः, हर्षः, कामः, क्रोधश्च ।

तामसास्तु—विषादित्वं, नास्तिक्यं, अधर्मशीलता, बुद्धेर्निरोधः, अज्ञानं, दुर्मेधस्त्वं, अकर्मशीलता, निद्रालुत्वञ्चेति ।"

अत्र नैपुणीमिच्छता वैद्येन त्रिदोषस्य कुपितस्य धर्म्माः, कर्म्माणि च ज्ञातव्यानि, तानि चतुर्भिः पद्यैरुद्ध्रियन्ते—

प्रकुपितमरुत्-कर्माणि—

आध्मान-स्तम्भ-रौक्ष्य-स्फुटन-विमथन-क्षोभ-कम्प-प्रतोदाः,
कण्ठध्वंसावसादौ श्रमक-विलयन-स्रंस-शूल-प्रभेदाः ।
पारुष्यं कर्णनादो विषम-परिणतिर्भ्रंश-दृष्टि-प्रमोहाः,
विस्पन्दोद्घट्टनानि ग्लपनमशयनं ताडनं पीडनञ्च ॥१॥

नामोन्नामौ विषादो भ्रम-परिपतनं जृम्भणं रोमहर्षो,
विक्षेपाक्षेप-शोष-ग्रहण-सुषिरता वेष्टनं छेदनञ्च ।
वर्णः श्यावोऽरुणो वा तृडपि च महती स्वाप-विश्लेष-सञ्ज्ञाः,
विद्यात् कर्माण्यमूनि प्रकुपितमरुतः स्यात् कषायो रसश्च ॥२॥

प्रकुपितपित्त-कर्माणि—

विस्फोटाम्लकधूमकाः प्रलपनं स्वेदः स्रुतिर्मूर्च्छनम्,
दौर्गन्ध्यं दरणं मदो विसरणं पाकोऽरतिस्तृड्भ्रमौ ।

क्रोध गुण होते हैं ।

'तमो गुण-प्रधान पुरुष में—नास्तिकता, अधर्म प्रवृत्ति, मन्दबुद्धिता, अज्ञान, विपरीत भावना एवं आलस्य आदि गुण होते हैं ।

इस त्रिदोषमयी नाडी के जिज्ञासुओं को कुपित त्रिदोष के गुण तथा धर्म भी जानने और स्मरण रखने चाहियें, इसलिए इनका संग्रह भी इन चार श्लोकों द्वारा किया गया है ।

कुपित वायु के कार्य का लक्षण—

आध्मान (अफारा), जकड़ाहट, अङ्गों का टूटना, मथने जैसी पीडा, क्षुब्धता, कम्पन, चुभान, गले का जकड़ना (कण्ठ-ध्वंस), थकावट, विलाप, सन्धियों का शैथिल्य, शूल, अङ्गों का फटना, खरखरापन, कर्णनाद, भोजन का विषमपाक, सन्धियों का पृथक् सा होना, दृष्टि में व्याकुलता, स्पन्दन, उद्घट्टन, हर्षक्षय, निद्रा-नाश, ताडन, पीडन, अङ्गों का नमना एवं उठना, विषाद, भ्रम, बार-बार गिरना, जम्हाई, रोम-हर्ष, चित्त की विक्षिप्तता, आक्षेप, शोष, सुषिरता, अङ्गों की ऐंठन, यकृताभ या शाकाभ वा अरुण वर्ण, अधिक प्यास लगना सुप्तिवात, शिथिलता और मुंह का कषैला स्वाद—ये कुपित या विकृत वायु के कर्म या लक्षण हैं ॥१; २॥

कुपित पित्त के कार्य या लक्षण—

विस्फोट, मुंह का खट्टा स्वाद, धूआं सा उठना, प्रलाप करना, पसीना आना, मूर्च्छा, दुर्गन्ध, दरण, मद, विसरण, पाक, अरति (किसी काम में मन न लगना), प्यास, चक्कर आना, ऊष्मा,

ऊष्मातृप्ति-तमःप्रवेश-दहनं कट्वम्लतिक्ता रसाः,
वर्णः पाण्डुविवर्जितः क्वथितता कर्म्माणि पित्तस्य वै ॥३॥

प्रकुपितकफकर्माणि—

तृप्तिस्तन्द्रा निद्रा गुरुता स्तैमित्यं कठिनता मलाधिक्यम्,
स्नेहापक्त्युपलेपः श्वैत्यं कण्डूः प्रसेकश्च ।
चिरकर्तृत्वं शोथो निद्राधिक्यं रसौ पटुस्वादू,
वर्णः श्वेतोऽलसता कर्माणि कफस्य जानीयात् ॥४॥

—सुदान्तसेनस्य ।

द्विदोषलिङ्गः संसर्गः सन्निपातस्त्रिलिङ्गकः ।

त्रिदोषकोपने वाह्य-हेतवस्त्रिजटाचार्योक्ताः—

वातप्रकोपस्य—

व्यायामादपतर्पणात् प्रपतनात् भङ्गात् क्षयाज्जागरात्,
वेगानाञ्च विधारणादतिशुचः शैत्यादतित्रासतः ।
रूक्ष-क्षोभ-कषाय-तिक्त-कटुकैरेभिः प्रकोपं व्रजेत्,
वायुर्वारिधिरागमे परिणते चान्नेऽपराह्णेऽपि च ॥१॥

पित्तप्रकोपस्य—

कट्वम्लोष्ण-विदाहि-तीक्ष्ण-लवण-क्रोधोपवासातपाः,
स्त्री-सम्पर्क-तिलातसी-दधि-सुरा-शुक्तारनालादिभिः ।

अतृप्ति, अन्धकार में जाने की प्रवृत्ति, जलन, कड़वा, तीता और खट्टा स्वाद, श्वेत रंग को छोड़कर अन्य वर्ण और परिपक्वता का अनुभव, ये विकृत पित्त के कार्य हैं ॥३॥

कुपित-कफ के कार्य या लक्षण—

तृप्ति, तन्द्रा, गुरुता, निश्चलता, कठिनता, मल की अधिकता, स्निग्धता, अपाक, उपलेप, शीतता, खुजली, प्रमेह, दीर्घसूत्रता, अतिनिद्रा, लवण एवं मधुर रसता, श्वेतवर्णता और आलस्य, ये विकृत कफ के कार्य हैं। ॥४॥

जहां दो-दो दोषों के लक्षण मिलते हों वहां द्वि-दोषता और जहां तीनों दोषों के लक्षण मिलते हों वहां सन्निपात समझना चाहिये। यह विस्तृत विवेचन चिकित्सा सौकर्य के लिये किया गया हैं।

त्रिदोष कोप के वाह्य कारण—

आहार-विहार आदि वाह्य कारण भी त्रिदोष को करने के कारण होते हैं। इस सम्वन्ध में त्रिजटाचार्य क्रमशः लिखते हैं—

वात प्रकोप के वाह्य कारण—

व्यायाम, लङ्घन, गिरना, अङ्ग-भङ्ग, क्षय, जागरण, वेगधारण, अत्यन्त शोक, अत्यन्त भय, अतिशीत, क्षोभ, रूक्षता, कषाय, तिक्त और कटु पदार्थों का सेवन, क्रोध, वर्षाऋतु, भोजन के पच जाने पर दिन रात के उत्तर भाग, के वायु-प्रकोप के बाहरी कारण होते हैं ॥१॥

पित्त प्रकोप के वाह्य कारण—

कटु, अम्ल, उष्ण, विदाही, लवण, तीक्ष्ण, क्रोध, उपवास, आतप, स्त्री-सम्पर्क, तिल, अतसी

भुक्ते जीर्यति भोजने च शरदि ग्रीष्मे सति प्राणिनाम्,
मध्याह्ने च तथार्धरात्रिसमये पित्तं प्रकोपं व्रजेत् ॥२॥

कफ-प्रकोपस्य—

गुरु-मधर-रसातिस्निग्धदुग्धेक्षु-भक्ष्य-
द्रव-दधि-दिननिद्राऽपूप-सर्पिष्प्रपूरैः ।
तुहिन-पतनकाले श्लेष्मणः संप्रकोपः,
प्रभवति दिवासादौ भुक्तमात्रे वसन्ते ॥३॥

नाडीतो रोगाख्यानं कुर्वता वैद्येनाधिकरणभूतस्य रोगिणो रोगस्य वैविध्यं ध्यानेनावधार्यम् तद् यथा—

प्रकृति-वयो-बल-शरीर-सत्त्व-अग्नि-मूलानुबन्ध-ग्रहणी-देश-काल-औषधकाल—केवलदोष—संसृष्ट-सन्निपात-स्थान-व्याधिस्थान-व्याधिविशेष-पुरुषविशेष-सात्म्य-क्रिया—विशेष-मात्रा- अभिजन-आरोग्यप्रायत्व- अनारोग्यप्रायत्व- व्यापत्-सिद्धि-द्रव्य-रस-गुण-वीर्य-विपाक-कर्माण्यनवेक्ष्य प्रवृत्तिर्मिथ्या, सम्यगवेक्ष्य सम्यक् । —रसवैशेषिकात्

(अलसी), दधि, सुरा, शुक्त (अचार), सिरका इत्यादि पदार्थों के सेवन से, भोजन के पचते समय में, भोजन खाते समय में, शरद् ऋतु में, गरमी होने पर, मध्याह्न समय में और आधी रात्रि के समय में पित्त प्रकुपित होता है ॥२॥

कफ प्रकोप के वाह्य कारण—

गुरु पदार्थ, मधुर रस, अतिस्निग्ध दुग्ध आदि, दधि तथा मीठे से वनी वस्तुओं के सेवन से, दिन में सोने से, हिमपात के समय, दिन एवं रात के पूर्व भाग में, भोजन के अनन्तर और वसन्त ऋतु में कफ का प्रकोप होता है ॥३॥

नाडी द्वारा रोग—कथन करते हुए वैद्य को चाहिये कि रोगों के अनेक भेद करनेवाली नाडी की गति को, उसके सूक्ष्मतम भेदों को और समान रोगों में परस्पर अपेक्षा करने वाले कारणों को भी ध्यान में रखना चाहिये । जैसे:—

प्रकृति (वातल, पित्तल, श्लेष्मल, द्वन्द्वज या सन्निपातिकी), वय (आयु), बल (उत्तम मध्यम या अवर), सत्त्व (रससार-प्रधान या रक्त सर प्रधान, अथवा सत्त्व (मन) का विकृता-विकृत भाव), अग्नि (चार प्रकार की अग्नि), मूलरोग—(कभी-कभी रोग का अनुवन्ध ही भ्रम में डाल देता है अतः मूलरोग तथा अनुबन्ध का निर्णय) ग्रहणी-(अन्नधरा कला का त्रिदोषज भेद) देश-(अनूप या धन्व=रूक्ष), काल-(शीत या उष्ण) औषधकाल, केवल दोष, संसृष्ट, सन्निपात, व्याधिस्थान, व्याधि विशेष, पुरुष विशेष—(स्त्री या नपुंसक) सात्म्य (जिससे शरीर को सुख मिले), क्रियाविशेष—(क्या काम करता है), मात्रा, अभिजन- (मातृकुल से या पितृकुल से आयी हुई व्याधि), व्यापत्-(वमन-विरेचन आदि के वैषम्य से होने वाले व्याधि विशेष) सिद्धि द्रव्यों के रस-गुण-वीर्य-विपाक तथा द्रव्यों के कर्म्म—इनको विना जाने चिकित्सा में प्रवृत्ति मिथ्याप्रवृत्ति है और इनका यथार्थ ज्ञान करके प्रवृत्ति करना सम्यक्-प्रवृत्ति है ।

'रस वैशेषिक के निर्माण कर्त्ता ने समस्त शरीर शास्त्र का यह संग्रह किया है। इसका विशेष व्याख्यान उसी में देखना चाहिये ।

चरकसंहितायामपि—

सूक्ष्माणि हि दोष-भेषज-देश-काल-बल-शरीराहार-सात्म्य-सत्त्व-प्रकृति-वय-सामवस्थान्तराणि, यानि खल्वनुचिन्त्यमानानि विमल-विपुलबुद्धेरपि बुद्धिमाकुलीकुर्युः, किं पुनरल्पबुद्धेः। —च० सू० १५।५

चिकित्साविधावप्यस्य सूत्रस्यानुसरेणं विधेयमेव।

सामान्येन नाड्याम्—

दोषाः प्रवृद्धाः स्वं लिङ्गं दर्शयन्ति यथाबलम्।
क्षीणा जहति स्वं लिङ्गं समाः स्वं कर्म कुर्वते॥
—च० सू०, १७।६१

विरुद्धैरपि न त्वेतैर्गुणैर्घ्नन्ति परस्परम्।
दोषाः सहजसात्म्यत्वाद् घोरं विषमहेरिव॥ च० सू० १७।६२

अस्य टीकायां चक्रपाणिः—

"प्रकृतिश्च जन्मतः प्रवृद्धो वातादिरुच्यते। 'दोषानुशयिता ह्येषां देहप्रकृतिरुच्यते' इति वचनं जतूकर्णः। दोषाणां धातूनामोजो मूत्रशकृत्-इन्द्रियमलायानानामष्टादशक्षयास्ते लक्ष्याः स्वगुणक्रियानाशात्।"

चरक संहिता में भी इसी विषय का निर्देश किया गया है-"भेषज, देश, काल, बल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्त्व, प्रकृति और आयु इनके भेद और प्रभेद इतने सूक्ष्म है कि जिनको भलीभांति समझे बिना बड़े-बड़े बुद्धिमान् वैद्य भी विमुग्ध हो जाते हैं, तो मन्द बुद्धि वालों का कहना ही क्या?"

इस उपर्युक्त सूत्र का प्रयोग वैद्यों को निदान और चिकित्सा करते समय अवश्य करना चाहिये।

सामान्य रूप से नाडी में दोषों की अभिव्यक्तिः—

जो दोष जितना अधिक बलवान् या न्यून बली होता है उसके चिह्न (मन्दता, वक्रता, चञ्चलता आदि) उसी अनुपात से होते हैं। क्षीण दोषों के चिह्न क्षीण होते हैं और सम दोषों के सम।

त्रिदोष, परस्पर विरुद्धधर्म वाले होने पर भी परस्पर मारक नहीं होते, क्योंकि यह इनका प्राकृतिक-स्वभाव है। जैसे सांप का विष सांप को नहीं मारता, क्योंकि वह सर्वदा सर्प के साथ रहने से उसे सात्म्य हो जाता है।

इसकी टीका करते हुये प्राणाचार्य चक्रपाणि ने लिखा है—

"प्रकृति (जन्म) से बढा हुआ वात, पित्त, कफ या द्वन्द्वज प्रकृति ही कहा जाता है। देह की प्रकृति वही है जो दोष देह के साथ मिल जाता है।

जतूकर्ण ने भी कहा है—कि दोषों धातुओं, ओज, मूत्र, पुरीष तथा इन्द्रिय-मलों के अट्ठारह प्रकार के क्षय, अपनी क्रिया तथा गुण के नाश से जानने चाहिये।

दोष, अपने अनुकूल प्रकृति को पाकर बढता है और बलवान् हो जाता है। जैसे-वात प्रकृति मनुष्य का वात ज्वर अधिक बली होता है। पित्त प्रकृति वाले की पैत्तिक-व्याधि अधिक बलवान् होगी। अपने से भिन्न प्रकृति वाले रोगी पर दोष अधिक बलवान् नहीं होता। इसी प्रकार सभी स्थानों पर कल्पना कर लेनी चाहिए।

समानां हि प्रकृतिं प्राप्य दोषः प्रवृद्धबलो भवति। असमानान्तु प्राप्य तथा बलवान् न स्यात्। न समानया प्रकृत्या हन्यते। च० सू०, १७।६-,

रसान् द्रव्याणि दोषांश्च विकारांश्च प्रभावतः।
वेद यो देश-कालौ च शरीरञ्च स नो भिषक्॥
केवलं विदितं शरीरं सर्वभावतः।
शारीराः सर्वरोगाश्च स कर्मसु न मुह्यति॥
च० वि०, ५।३६

त्रयस्तु खलु पुरुषा भवन्त्यातुराः। ते त्वनातुरास्तन्त्रान्तरीयाणां भिषजाम्। तद् यथा-वातलः, पित्तलः, श्लेष्मलश्चेति। तेषामिदं विशेषविज्ञानम्—वातलस्य वातनिमित्ताः, पित्तलस्य पित्तनिमित्ताः, श्लेष्मलस्य श्लेष्मनिमित्ता व्याधयः प्रायेण बलवन्तश्च भवन्ति। —च० वि०, ६।१४

यथा हि शब्दे वक्तुराकारो निहितो भवति, तथैव स्वं स्वं पञ्चमहाभूतोत्थं गुणं नाडी स्वस्यां धारयत्येव। यो हि द्रष्टा भवति, स साध्वश्वारोह इव नाडीं विविधविज्ञानाय प्रयुङ्क्ते।

"मा प्र गाम पथो वयम्" अथर्व० १३।१।५९

नाड़ी में इसकी सङ्गति इस प्रकार करनी चाहिये—

वात प्रकृति वाले रोगी की नाडी वातदोष से दूषित होने पर वातदोष के अधिकाधिक लक्षणों को लेकर चलेगी। इसी प्रकार अन्य नाडियों के सम्बन्ध में जानना चाहिये। दूतनाडी विज्ञान में भी यह दोष इसी प्रकार देखा जायेगा।

भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कहा है—"रस विज्ञान, द्रव्य विज्ञान, विकार, प्रभाव, देश, काल तथा सर्वविध-विज्ञान से जो शरीर को जानता है वह हम सब में वैद्य है। जिसको केवल शरीर तथा शरीर के रोगों का सोपपत्तिक विज्ञान है, वह किसी कर्म में मोह को प्राप्त नहीं होता।"

तीन प्रकार के पुरुष बीमार होते हैं। किसी-किसी आचार्य के मत से तो वे निरोग हैं। जैसे:- वातल, पित्तल और श्लेष्मल। उनके जानने के विशेष लक्षण ये हैं। वायु प्रकृति वाले को वायु के लक्षण अधिक होते हैं, पित्त प्रकृति वाले को पित्त के और कफ प्रकृति वाले को श्लेष्मजन्य व्याधियां अधिक हुआ करती हैं।

जिस प्रकार शब्द में वक्ता का आकार निहित रहता है, उसी प्रकार अपने-अपने पञ्चभूतों के गुणों को अपनी-अपनी नाडी धारण करती है। जो इस विज्ञान को सूक्ष्मता से जानता है उत्तम अश्वारोही के समान नाडी की विविध गतियों को जानकर धर्म, अर्थ और यश का भागी होता है।

अभ्यास के विना नाडी से पञ्चभूतों के गुणों का सूक्ष्म ज्ञान नहीं हो सकता। अनभ्यासी व्यक्ति को यह नाडीज्ञान डूबते हूये पुरुष की भांति डुबा देता है।

"हे ईश्वर हम सन्मार्ग से भ्रष्ट न हों, ऐसी सत्प्रेरणा करते रहो"

भवन्ति चात्र—

अन्योऽन्यानुप्रविष्टानां भूतानां गुणयोगतः ।
त्रित्वमापन्नदोषेषु नाड्यां पार्थक्य-कल्पना ॥१॥

सामा दोषा हि निर्दिष्टा प्रवृत्तिश्चापि लौकिकी ।
नाडीज्ञानारुरुक्षूणां सुखबोधाय वर्णिता ॥२॥

नाड्यां शब्दादिपञ्चानामुक्तो ज्ञानक्रमस्त्विह ।
स-सङ्क्षेपो ह्यशेषस्तु विस्तरस्याप्रमाणतः ॥३॥

षड्रसानां जनिः पूर्वं तेषां दोष-शमाशमौ ।
उक्त्वा संक्षेपतो नाड्यां ज्ञानोपायश्च वर्णितः ॥४॥

पञ्चभूतात्मकः कायो भूतानि त्रित्वतो वपुः ।
धारयन्ति क्षपन्ति वा ऋचा वाय्वादिनेरितम् ॥५॥

त्रिदोषस्य हि माहात्म्यं नानारूपमुपागतम् ।
शास्त्रतो लोकतो वापि वेत्ति यो वेद नाटिकाम् ॥६॥

विकृतानां हि दोषाणां यद्रूपं व्याधिकर्मणि ।
विकारहेतवश्चापि मिथ्या मिथ्यात्वबन्धनम् ॥७॥

सामान्येनैकदृष्टिश्च नाड्यां संक्षेपसंस्तवः ॥

इस अध्याय का सङ्क्षेप

परस्पर-सम्मिलित पञ्चमहाभूतों के गुणों का वर्णन और वात, पित्त, कफ रूप में उन्हें दिखलाकर पुनः त्रिदोष में परिणत-पञ्चभूतों को नाडी द्वारा पृथक्-पृथक् जानने के उपाय कहे गये हैं ॥१॥

नाडी-ज्ञान के जिज्ञासुओं के सौकर्य के लिये दोषों की साम और निराम अवस्था का वर्णन किया गया । साम तथा निराम के लक्षणों को लौकिक उदाहरणों द्वारा घटित किया गया है ॥२॥

नाडी से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के ज्ञान का उपाय भी संक्षेप में कहा है ॥३॥

षड्रसों की उत्पत्ति, जिस रस से जो दोष शान्त तथा प्रवृद्ध होता है उसका वर्णन करते हुए रसों के द्विविधवीर्य तथा त्रिविध विपाक भी संक्षेप में कहे गये हैं ॥४॥

वेद में शरीर को पञ्चभूतात्मक बताने वाले मन्त्र का निर्देश करते हुए यह कहा गया कि जो वैद्य शास्त्र से या लौकिक उदाहरणों से त्रिदोष की विश्वव्यापकता विस्तार से समझता है वह नाडी की गति को भली भांति जान सकता है ॥५–६॥

विकृत त्रिदोष के लक्षणों का संग्रह, एवं मिथ्याप्रवृत्ति तथा सम्यक्प्रवृत्ति का वर्णन किया गया है ॥७॥

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाज्ञानमानसो वापि प्रज्ञानेनाप्नुयाद्धराम् ।।८।।

नूनं सूक्ष्मतरा नाड्यां गतिर्भूतगुणात्मिका ।
अभ्यासमन्तरा वैद्यं निमज्जन्निव मज्जति ।।९।।

पञ्चभूतस्य त्रित्वीयं काश्मीरे भ्रमता मया ।
नाडीज्ञानस्य तत्त्वार्थः शिष्येभ्योऽदायि यत्नतः ।।१०।।

वेद-शून्याभ्र-नेत्राब्दस्याषाढे वैक्रमे सिते ।
पुनः शोधनमाश्रित्य स्थानेऽमृतसरोऽभिधे ।।११।।

।। इति नाडीतत्त्वदर्शने पंचमहाभूत-त्रित्वज्ञापकस्तृतीयोऽध्यायः ।।

दुराचारी, अशान्त, व्यग्रचित्त और निर्गुण व्यक्ति केवल बुद्धि-वैशारद्यमात्र से नाडी विज्ञान को नहीं जान सकते ।।८।।

अभ्यास के विना नाडी से पंच महाभूतों के गुणों का ज्ञान नहीं होता, अनभ्यासी पुरुष को यह नाडी ज्ञान डूवते हुये पुरुष की भांति डुबा देता है ।।९।।

इस "पञ्च महाभूत त्रित्वीय" अध्याय का बन्धन शिष्यों के अनुरोध से काश्मीर के जम्मू प्रान्तस्थ रामपुर राजौरी में विद्याप्रिय ला० विष्णुदास सेठी के घर पर रहकर किया ।।१०।।

विक्रम सं० २००४ के आषाढ मास के शुक्ल पक्ष में अमृतसर में इस अध्याय को परिमार्जित करके लिखा ।।११।।

।। पञ्चमहाभूत का त्रित्वज्ञापक तृतीय अध्याय समाप्त ।।

* अथ त्रिदोष-समक्षेपीयश्चतुर्थोऽध्यायः *

अथातो जगतः पदार्थानां त्रिदोषेण समानः क्षेपोऽस्मिन्नध्याये व्याख्यास्यते—

पञ्चभूतैर्यथा व्याप्तं जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
त्रिदोषैस्तन्मयैर्व्याप्तं भूतोत्थैः सचराचरम् ।।१।।
तस्मान्नाड्यां समाक्षेप्तुं त्रिदोषस्य सुविस्तरम् ।
वच्मि लाघवमालक्ष्य वैद्यानां कीर्तिवृद्धये ।।२।।
वात-पित्त-कफानां हि यः स्वरूपं यथार्थतः ।
वेत्ति वक्तुं तथा शक्तो रोगं प्रत्यक्षवद्यथा ।।३।।
त्रिदोषे यत्नमातिष्ठेच्छास्त्रतो लोकतोऽपि वा ।
नायुर्वेदस्य ज्ञानं स्याद् दोषज्ञानादृते यतः ।।४।।

ग्रन्थकर्तुः

त्रयो दोषा धातवश्च पुरीषं मूत्रमेव च ।
देहं संधारयन्त्येते ह्यव्यापन्ना रसैर्हितैः ।

सु० उ० ६।६

इस अध्याय में जगत् के पदार्थों को वात, पित्त और कफ, इन तीन दोषों में समाक्षिप्त करके त्रिदोष के परिज्ञान से उसके जानने का उपाय बताया गया है।

यह चराचर जगत् जैसे पञ्च महाभूतों से व्याप्त है वैसे ही पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न त्रिदोष से भी व्याप्त है ।।१।।

इसलिये इस अति विस्तृत-विषय को संक्षेप से नाडी द्वारा जानने के लिये इस अध्याय का आरम्भ किया गया है ताकि इसके ज्ञान द्वारा वैद्यगण सफल और कीर्तिमान् हो सके ।।२।।

जो वैद्य वात, पित्त और कफ के यथार्थ रूप को जानते हैं, वे रोग को प्रत्यक्ष की भांति जान सकते और कह सकते हैं ।।३।।

इसलिये शास्त्रीय तथा लौकिक-दोनों दृष्टियों से त्रिदोष के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिये यत्न करना चाहिये, क्योंकि त्रिदोष-ज्ञान के विना आयुर्वेद का वास्तविक ज्ञान हो ही नहीं सकता ।।४।।

सुश्रुत ने लिखा है—"तीन दोष, सात धातु और उनके मल—ये प्रकृतिस्थ रहकर उचित आहार विहार करने वाले प्राणी के शरीर को धारण करते हैं।"

लोके सर्वाणि द्रव्याणि शक्ताशक्तभेदेन द्विधा विभज्यन्ते । तद्यथा—शक्तिर्द्रव्यम्, शक्तिहीनो द्रव्यांशः । उदाहरणम्—यष्टिर्हि द्रव्यम्, यष्टौ दृढता भारसहिमा नाम शक्तिः । यष्टया घुणितो निःसारतां वा प्राप्तः शक्तिहीनो मलरूपो भागः सैवावस्था शरीरे—शक्तिरूपा वातादयो दोषाः, द्रव्याणि रसाद्याः सप्त धातवः शक्तिहीनो द्रव्यांशः किट्टम्, मलमिति । क्रियाकराः शक्तिरूपा वातादयो दोषाः रसाद्या द्रव्यरूपेणाकृतिं धारयन्ति, मलाश्चोपस्तम्भयन्ति ।

उक्तं हि चरके—**"मलायत्तं बलं पुंसा" मिति ।**

तथा च सुश्रुते—**"दोष-धातु-मल-मूलं हि शरीरम् ।"**　　सु० सू० १५,३

शक्तिर्हि द्विधा—सूक्ष्मा दृश्या च । द्रव्यञ्चापि द्विविधम्—सूक्ष्मं दृश्यञ्च । शरीरमपि द्विविधमुच्यते—देह-कर्म करं सूक्ष्म-शरीरम्, आकृतिमत् स्थूलशरीरमिति । कारणशरीरस्यापञ्चभौतिकत्वान्नात्र विचारः । शब्दे ह्यदृश्ये तु शरीरस्य प्रत्यक्षवद्भानं भवति । कुतः ? संस्कारोद्बोधकत्वाच्छब्दस्य । श्रोता च श्रुतशब्दं श्रुत्वा झटिति ब्रवीति 'समागता मे गुरव' इति । 'समागता मे माते' ति । 'समातिष्ठति द्वारि मम मित्रं देवदत्तनामा' इति च । स्थूलशरीरं स्थूलेन्द्रियैरुपलभ्यते । सूक्ष्मं च तच्चेतस्यवतिष्ठत एव । अतश्च शरीरस्योभयविधतां प्रत्यक्षमनुभवामः ।

लोक में प्रत्येक द्रव्य, शक्त और अशक्त भेद से दो भागों में विभक्त हैं जैसे-शक्ति द्रव्य हैं और शक्तिहीन द्रव्यांश है । लाठी एक द्रव्य है और उस में भार सहन करने की योग्यता शक्तिरूप है । लाठी का घुना हुवा अंश शक्तिहीन भाग है, उसे मल कहते हैं । शरीर में भी यही बात है । शरीर में वात आदि दोष शक्तिरूप हैं, रस आदि सात धातु द्रव्यरूप हैं और पसीना, मल मूत्र आदि मलसंज्ञक द्रव्यांश शक्ति-हीन है ।

समन्वय-क्रिया करने वाले वात आदि दोष है, रस आदि धातु द्रव्यरूप से शरीर का आकार बनाते हैं और पुरीष, मूत्र, आदि मल, शरीर को स्तम्भ की भांति सम्भाले हुए हैं ।

चरक ने कहा है:—'पुरुषों का बल मल के सहारे है ।'

सुश्रुत ने भी कहा है कि 'शरीर का मूल-दोष धातु और मल हैं ।'

शक्ति भी दो प्रकार की होती है-सूक्ष्म और दृश्य । इसी प्रकार द्रव्य भी दो प्रकार के होते हैं-सूक्ष्म और दृश्य । सूक्ष्म और दृश्य भेद से शरीर भी दो प्रकार का होता है । सूक्ष्म शरीर इस स्थूल देह को कर्म कराने का सामर्थ्य रखता है और दूसरा आकारवाला स्थूलशरीर । स्थूलशरीर पांच भूतों से बनता है और सूक्ष्म—कारण-शरीर पांचभौतिक नहीं है । आयुर्वेदशास्त्र में पञ्चभूतों की चर्चा और चिकित्सा है इसलिये सूक्ष्मशरीर हमारी चर्चा का विषय नहीं है ।

अदृश्य-सूक्ष्म शरीर में वक्ता का प्रत्यक्षवत् भान होता है, क्योंकि शब्द संस्कार का उद्बोधक है । देखा जाता है कि श्रोता शब्द को सुनकर कहता है कि 'मेरे गुरु जी आगये, 'मेरी माता आगयी है' 'मेरा मित्र देवदत्त द्वार पर खड़ा है ।' सूक्ष्म शरीर केवल चित्त में रहता है और ज्ञान-गम्य है और स्थूलशरीर इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध होता है । इस प्रकार हमें सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के शरीरों का अनुभव होता है ।

सूक्ष्मद्रव्याश्रिता शक्तिर्भवति, अदृश्य-स्वरूपत्वाच्छक्तेः। यथा हि सूक्ष्मायां विद्युति महत्यदृश्या शक्तिरिति। द्रव्यञ्चापि द्विधा भवति—स्वल्पशक्तिमद् द्रव्यम्, महच्छक्तिमच्च। तच्च पुनर्द्विधा सामर्थ्ययुक्तं सामर्थ्यहीनं चेति। तत्र सामर्थ्ययुक्तं यथा रसादयः सप्तधातवः। सामर्थ्यहीनञ्च रसादीनां सप्तमला इति। शक्ति-ह्युत्पत्तिः। शक्तियुक्तं हि स्थिरं जीवितं ब्रुवन्ति। शक्तिहीनस्य प्रलयो मृतिरिति नाम। संगतिस्तु–वातेनोत्पत्तिः, पित्तेन स्थितिः, कफेन मृतिरिति।

किट्टं नाम—पूर्वस्माद्रसादेर्धातोरन्यो रक्तादिर्यदा धातुरूपो जायते तदा सत्त्व-हीनः पूर्वधातोरंशः किट्टमिति कथ्यते। उक्तञ्च शार्ङ्गधरे—

कफः पित्तं मलः खेषु प्रस्वेदो नख–रोम च।
स्नेहोऽक्षित्वग्विशामोजो धातूनां क्रमशो मलाः॥

चरकेऽपि— **किट्टमन्नस्य विण्मूत्रं रसस्य तु कफोऽसृजः।**
पित्तं मांसस्य खमलो मलः स्वेदस्तु मेदसः॥
स्यात् किट्टं केशलोमास्थ्नो मज्ज्ञः स्नेहोऽक्षिविट्त्वचाम्।
प्रसाद—किट्टे धातूनां पाकादेवं द्विधर्च्छतः॥

—च० चि० १५।१७-१८॥

यथा हि चन्द्रमसः शुक्ल-कृष्ण-पक्षयोरिदं जगत्, अथवा सूर्यस्योत्तरदक्षिणयो-रयनयोरिति। तथैव वस्तुनो वृद्धिः, शुक्लपक्षावस्था उत्तरायणं वा। वस्तुनः क्षयः

शक्ति, स्वयं अदृश्य होने के कारण सूक्ष्म द्रव्य के सहारे रहती है। जैसे महती विद्युत् शक्ति सूक्ष्म द्रव्यों के सहारे रहती है और अदृश्य है।

द्रव्य भी दो प्रकार के होते हैं। एक स्वल्पशक्ति-सम्पन्न और दूसरे अधिक शक्ति-सम्पन्न। फिर वे दो प्रकार के होते हैं १—सामर्थ्ययुक्त और २—सामर्थ्यहीन। सामर्थ्ययुक्त द्रव्य, जैसे रस आदि सात धातु। सामर्थ्यहीन द्रव्य, जैसे सात धातुओं के सात मल। शक्ति का नाम उत्पत्ति है, शक्तिशाली को ही स्थिर और जीवित कहा जाता है, एवं शक्तिहीन को प्रलय, मृत्यु आदि कहते हैं। सारांश यह कि वायु से उत्पत्ति, पित्त से स्थिति और कफ से संहार रूप समझना चाहिये।

पहली धातु से दूसरी धातु के बनने के समय जो सारहीन अंश बच जाता है उसे किट्ट या मल कहते हैं। शार्ङ्गधर संहिता में कहा है:—

रस का मल कफ, रक्त का पित्त, मांस का कर्णमल, मेद का स्वेद, अस्थिका नख और लोम, मज्जा का चक्षुमल और शुक्र का मल ओज है। ये सात धातुओं के सात मल हैं।

चरक संहिता में अन्न का मल पुरीष और मूत्र तथा अस्थियों का मल केश और रोम कहे गये हैं। प्रसाद को धातु और किट्ट को मल कहा जाता है। शार्ङ्गधर और चरक में इतना भेद है।

लोक में जिस प्रकार चन्द्रमा से शुक्ल और कृष्ण पक्ष तथा सूर्य से दक्षिणायन और उत्तरायण बनते हैं उसी प्रकार वस्तु की बढती हुई अवस्था का नाम शुक्लपक्ष या उत्तरायण है और क्षीयमाण (घटती हुई) अवस्था का नाम कृष्णपक्ष और दक्षिणायन है।

कृष्णपक्षावस्था दक्षिणायनं वा ह्रसीयमानत्वादह्न इव । एवं हि शरीरे 'क्रान्तिरूपा' उत्पद्यमाना धातवः । क्षीयमाणा धातवो मलरूपा इति ।

उक्तं हि निरुक्ते (१।२)—

"षड्भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः ।
जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति ।"

पातञ्जल-महाभाष्येऽपि-'**भूवादयो धातवः**' (१।३।१) इति सूत्रे तथैव व्यक्तीकृतम् ।

यस्मादवस्थान्तरं क्रमते तस्मात् क्रान्तिः । अतश्चोच्यते—शरीरे सर्वकालं धातूनामुत्पत्तिः क्षयश्च भवत्येव । ते हि धातवो यदा क्रान्तिरूपावस्थामधितिष्ठन्ति तदा स्वास्थ्यं सुखाय कल्पयन्ति । यदा ते रसादयो वातादिभिर्विकृताः क्रान्तिरूपावस्थां विजहति तदा पुरुषं रोगाय दुःखाय वा कल्पयन्ति । उक्तञ्च चरके—

आरोग्यं सुखसंज्ञं तु विकारो दुःखमेव च ।

एवमुपपद्यते वातः सामर्थ्यरूपः प्राणश्च शरीरे, यतस्तेनेव विसर्गादाने भवतः । शक्तिसंयुतमिव 'पित्त' शरीरे । यतः पित्ततेजसा हि भुक्तं द्रव्यं रसो भवति । हीनशक्तिरूपात्मकः 'कफः' शरीरे । यथा हि हीनशक्ति द्रव्यं न कार्यक्षमं भवति; तथैव श्लेष्मा पृथिवीतत्त्व-वहुलो गत्या हीनो हीनद्रव्यमिव गुरुत्वमासादयन्नुपरुणद्धि स्रोतांसि-इति कृत्वा पोषकांशवहुलः श्लेष्मेति । तत्र पोषकांशक-द्रव्य-संग्रहो वा श्लेष्मा।

उक्तञ्च चरके—'**प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते**' इति ।

ऐसे ही शरीर में धातुओं की क्रान्तिरूप अवस्था शुक्लपक्ष तथा उत्तरायण के समान है और क्षीयमाण (मलरूप) अथवा कृष्णपक्ष या दक्षिणायन के समान है ।

निरुक्त में यास्क मुनि ने वार्ष्यायणि मुनि के मतानुसार विकारों के ६ रूप प्रदर्शित किये हैं:—१ उत्पन्न होना, २ सत्तावान् होना, ३ विपरिणाम (परिवर्तन) होना, ४ बढना, ५ अपक्षीण, (कम) होना और ६ नाश होना (प्रकृति में मिल कर अदृश्य हो जाना) । महर्षि पतञ्जलि ने भी 'भूवादयो धातवः' इस सूत्र की व्याख्या में यही कहा है ।

क्रान्ति का अर्थ अवस्थान्तर अर्थात् दूसरी अवस्था में संक्रमण होना है । इस प्रकार शरीर में सर्वदा उत्पत्ति और क्षय होता रहता है । जव रस आदि सात धातु प्रमादरूप में संक्रमित होते हैं तव शरीर को स्वस्थ एवं सुखी बना देते हैं और जब वे सातों धातु वात आदि दोषों से विकृत होकर उत्क्रान्ति-प्रवस्था को छोड़ देते हैं, तब शरीर को रोगी–दुःखित बना देते हैं।

इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर में वायु सामर्थ्यरूप और प्राणरूप है । क्योंकि वायु से ही आदान ओर विसर्ग होता है । शरीर में पित्त शक्तिमान् की भांति है । क्योंकि पित्तरूप तेज से ही खाये हुए द्रव्य, रसभाव को प्राप्त होते हैं । कफ, शरीर में हीन शक्तिमान् है और उसमें पार्थिवतत्त्व की अधिकता है । अतः कफ, हीनगतिवाले द्रव्य की भांति गुरुता को प्राप्त होकर स्रोतों को अवरुद्ध कर देता है उपचय, पृथिवी का गुण है, इसलिये कफ में पोषक अंश अधिक है । यह भी कहा जा सकता है कि जिस द्रव्य में शरीर को पुष्ट करने की शक्ति है, उसका नाम श्लेष्मा या कफ है ।

चरक में भी कहा है कि अधिकृत श्लेष्मा वल है, वही विकृत श्लेष्मा मल कहाता है ।

धातवश्च द्विधा भिद्यन्ते तरलाः, घनाश्च । तत्र घनाः पृथिवी-तत्त्वबहुलाः, तरलास्तावज्जल-तत्त्व-प्रधानाः । घनेष्वपि पुनर्द्वैविध्य भवति-मृदुसंघात-समूहो मांसमिति, कठिनसंघात-समूहोऽस्थीनीति । तरलश्चापि द्वैधमापद्यते-रसो रक्तमिति जल-प्रधानौ, मेदो मज्जा शुक्रमिति तरलघना इति ।

अत्रायमभिसन्धिः—यदि पित्तं प्रधानं तदा ज्ञातव्यं संघात-धातूनां मांसादीनां क्षयः । कुतः ? अग्निर्हि द्रावयति लोह-सुवर्णादीनिति । तत्र यदि दोषो दैर्घ्यकालिकस्तदा मज्जनि शुक्रे वा तारल्यमुपपद्यते । एवमेव यदि वातेन साकं पित्तकोपस्तदा तारल्येन सह शुक्रादीनां च्युतिरपि ज्ञातव्या भवति । यदि नाडी स्निग्धा तदा बलं स्थिरता चास्तीति ज्ञातव्यं भवति । शेषेष्वप्येवमूह्य ज्ञातव्यम् । अत्रेदमवधार्य्यम्—नाडी-ज्ञाने सविशदे लिखितेऽपि नाडीज्ञस्य वैद्य-विशेषस्योपासनमवश्यमेव कर्त्तव्यं तद्विशेष-विज्ञानाय ।

मलेष्वपि त्रैविध्यं भवति—तद् यथा वाष्परूपः स्वेदः, स च वातस्थानीयः । क्लेदरूपात्मकं मूत्रं तावत् पित्तस्थानीयम् । पुरीषाख्यो मलः कफस्थानीयः । सामान्यतो दोषा वातस्थानीयाः । धातवः पित्तस्थानीयाः । मलाः [स्वेद-मूत्र-पुरीषादयः] कफ-स्थानीयाः । तत्र यदि मलानां भेदविशेषे प्रकृतिविकृतिभावोऽवगन्तव्यः स्यात्; तदोक्त-

---

धातुयें भी तरल और घन भेद से दो प्रकार की होती हैं । उनमें घन धातुयें पृथिवीतत्त्व-बहुल हैं और तरल धातुओं में जलतत्त्व की प्रधानता होती है । घन धातुओं के भी दो भेद होते हैं । १ मृदुसंघात और २ कठिनसंघात । मृदुसंघात जैसे—मांस और कठिनसंघात,जैसे—अस्थियां । तरलधातु भी दो प्रकार के हैं जैसेः—जलतत्त्व प्रधान रस और रक्त तरल हैं । मेद, मज्जा और शुक्र तरल—घन हैं ।

इस निर्देश का नाडी में संगति करण—यदि नाडी पित्तप्रधान है तो संघात-धातु अर्थात् मांस आदि का क्षय समझना चाहिये । लोक में देखा जाता है कि अग्नि, लोहा, सोना आदि घन धातुओं को द्रवित कर देती है । यदि चिरकालीन रोग हो तो मज्जा या शुक्र में तरलता समझनी चाहिये । इसी प्रकार यदि वात के साथ पित्त दोष हो तो तरलता के साथ शुक्र आदि का च्यवन (पतन) भी होना चाहिये । यदि नाडी स्निग्ध आदि श्लेष्म-गुणों से युक्त हो तो बल और स्थिरता समझनी चाहिये । इसी प्रकार शेष दोषों में भी मुख्य और गौण कल्पना करनी चाहिये ।

यह भी स्मरण रखने की बात है कि नाडीविज्ञान कितने ही विशदरूप से लिखा जाये तो भी नाडी के विशेषज्ञान के लिये विशेषज्ञ वैद्यों की उपासना अवश्य ही करनी चाहिये ।

मल सामान्यरूप से एक होते हुये भी तीन प्रकार का होता है । १ वाष्परूप स्वेद वात-स्थानीय, २ क्लेदरूपात्मक मूत्र पित्तस्थानीय और ३ पुरीष नामक मल कफस्थानीय है । सामान्यरूप में दोष वातस्थानीय, धातु पित्तस्थानीय और मल(स्वेद-मूत्र-पुरीष)कफस्थानीय हैं ।

प्रकारेण त्रिदोषस्य न्यासो नाड्यां विधेयः।

आहारस्य विलयन-क्रमोऽपि संक्षेपतो निरूप्यते, विस्तरस्य तत्तद्ग्रन्थेषु सद्भावात्।

पञ्चभूतानि चेतना च मिलित्वा षड्भावमयं शरीरम्। शक्त्युत्कर्षो हि चेतनाश्रितः। चेतनो हि जीवः सर्वेषु देहेषु समानः। परन्तु शरीरादीनां लघु-गुरुभेदात् शक्तावपि भेदो दृश्यते। तद्यथा पिपीलिका-कुञ्जरयोरिति। आहारश्चापि सर्वेषां भिन्न एव। तत्र सर्वेष्वेव हि जीवितप्राणिषु त्रिदोष-सद्भावाद् विलयन-क्रम आहारस्य समान एव। तत्र पुरुषस्याहार-विलयनमेवात्र प्रदर्शयामः।

भोक्ता चतुर्विधं--लेह्यम्-चूष्यम्-खाद्यम्-पेयमिति-आहारमभ्यवहरति। तत्र सर्वविधानां शरीर-पोषक-द्रव्याणां सद्भावः। तत्र पार्थिवांशानामधिकमाकृष्टत्वादाहारे स्थूलतारूपः पार्थिवो गुणः। तारल्यमम्भसो भवति। तेजोरूपद्रव्ये औष्ण्यं तैक्ष्ण्यं लघुत्वादिकं च भवति। वाताधिक्यात् खरत्वं सौक्ष्म्यं लघुत्वञ्च भवति। सुषिरत्वं विरलत्वं चाकाशगुणः। पृथिवी स्थूल-द्रव्यरूपा, सा चाधारभूता। तेजोवायू सूक्ष्मौ। तेजसोऽपि वायुः सूक्ष्मतरः। वायुरदृश्यः, स्पर्शगम्यः। स वायुर्हि गतेरधिष्ठानम्। तस्माच्छरीरे उत्क्षेपणापक्षेपणप्रसाराकुञ्चनेत्यादि गतयश्च वायुना क्रियन्ते आकाशं

जब मलों के भेदों में मल विशेष का प्रकृति-विकृतिभाव जानना हो तो पूर्वोक्त प्रकार से (वात-स्वेद, पित्त-मूत्र, कफ-पुरीष) नाडी में न्यास करना चाहिये।

ज्ञान की दृढता के लिये अब संक्षेप से आहार के विलयन क्रम पर विवेचन किया जाता है, विस्तार संहिता ग्रन्थों में देखना चाहिये।

पांच महाभूत (पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश) तथा एक चेतना-धातु मिलकर यह शरीर षड्भावमय है शक्ति का उत्कर्ष चेतना के आश्रय है और चेतना-जीव है तथा जीव सब शरीरों में समान है। शरीरों के गुरु-लघु भेद से शक्ति में भेद होता है। जैसे चींटी और हाथी में।

सब प्राणियों में जातिभेद से आहार की भी भिन्नता देखी जाती है। प्राणिमात्र में त्रिदोष की सत्ता है। आहार का परिपाक-क्रम भी सब का समान ही है। परन्तु यहां पुरुष के आहार विलयन--क्रम की चर्चा की जाएगी।

भोक्ता चार प्रकार के (खाद्य, पेय, लेह्य और चोष्य) आहार को खाता है। उस आहार में शरीर-पोषक सर्वविध द्रव्यांशों की सत्ता न्यून-अधिक भाव से रहती है। उसमें पार्थिवांशों का आधिक्य होने से आहार में स्थूलतारूप-गुण-प्रधान द्रव्य, उष्ण, तीक्ष्ण और लघु होते हैं। वात-प्रधान आहार में खरखरापन, सूक्ष्मता और लघुता होती है और आकाशप्रधान द्रव्य में पोलापन एवं विरलता होती है।

शरीर में स्थूलगुणवाली पृथिवी आधार भूत है। अग्नि और वायु सूक्ष्म हैं। वायु अग्नि से भी सूक्ष्म है। वायु अदृश्य होते हुये भी स्पर्श गम्य है। वायु ही गति का अधिष्ठान है अथवा गति ही वायु है। वायु के कारण ही शरीर में-ऊपर या नीचे गिरना, फैलना या सिकुड़ना आदि

हि कारणरूपेण शक्तिमत् सदवकाशं प्रददाति शेषेभ्यो भूतचतुष्टयेभ्य इति ।

स्थिराः पार्थिवाः परमाणवः । चलाः कर्मस्वरूपाश्च वातस्य परमाणवः । मूर्त्तभावमापन्नानां परमाणूनां यदाणवः, पित्तसहायेन वायुनापकर्षात्मकं चलनं प्राप्नुवन्ति; तदा विनाशोऽदृश्यता च भवति । यथा मूर्त्तिमत्काष्ठमग्निना वायुसहायेन च दग्धमदृश्यतां याति । विपरीतं चास्मादम्भसः पृथिव्याश्च सहायेनोत्कर्षात्मिकां गतिं वायुर्भजन्नुपचिनोति । स संग्रहः 'कफ' इति शरीरे । **'तेजोऽप्पित्तमपां पित्तम्'** वैजयन्तीकोषे लोकपालाध्याये श्लोकः १९ । पित्ततेजसाम्भस्थ-मूर्त्तभावो परिणत्या रसीभावमापद्यते । तत्र स्थूलभागः पृथग्भवति । रसे परस्पराकर्षणेन संघातमापन्नाः परमाणव. 'श्लेष्मे'ति नाम्नाच्यन्ते । रसो हि स्वयमात्मानं विपरिणमन् रागगुणाधिक्यादर्थात्—परस्पर-मिलनगुणाधिक्याद् 'रक्तम्' इति संज्ञां लभते । न रञ्जनमात्रादेव रक्तमिति । तत्र संयोग आकर्षणं पृथ्वीजलानिलयोगात् । वियोगोऽग्निवायुभ्याम् । दृश्यते च बब्बूलादिनिर्यासेषु श्लेष्मगुणः । आतश्चोपपद्यत उपर्युक्तम् । स्पर्शवत्त्वं कर्म चलनात्मकं वायोर्भवति । उष्णस्पर्शवत्त्वं तैजसं कर्म विभजनात्मकं भवति ।

अपां स्पर्शवत्त्वं कर्म संयोगसंज्ञं भवति । तेषां परमाणूनां संयोगे विभागे च

क्रियायें होती हैं । आकाश कारण रूप से शक्ति का आधार होता हुआ भी शेष चार भूतों को अवकाश प्रदान करता है ।

पृथिवी के परमाणु स्थिर हैं । वायु के परमाणु गतिशील या क्रियाशील है । संघातरूप परमाणु पित्त की गति से जब अपकर्षात्मक रूप [पृथक्-पृथक्] को प्राप्त होते हैं, तब द्रव्य का नाश (अदृश्यता) हो जाता है । जैसे—काष्ठ, अग्नि और वायु के योग से जलकर अदृश्य हो जाता है ।

इसके विपरीत पृथिवी और जल वायु के योग से उत्कर्ष (बढना) की गति को प्राप्त करते हैं । जैसे—सूखा हुआ पदार्थ जल में रखने से कालान्तर में स्थूल हो जाता है उस संग्रह का नाम शरीर में कफ है तेज और जल का नाम पित्त है । पित्त की सहायता से अन्न का मूर्त भाग परिणत (पक्व) होकर रसरूप बन जाता है । उसमें से स्थूलता पृथक् हो जाती है । उस रस में परस्पर आकर्षण से एकत्रित हुये परमाणु श्लेष्मा कहे जाते हैं । वह रस, रागगुण की अधिकता से एवं परस्पर मिलन तथा रञ्जन की अधिकता से रक्त कहा जाता है । केवल रञ्जन से ही रस को रक्त नहीं कहा जा सकता है ।

पृथिवी, जल और वायु के परस्पर आकर्षण का नाम संयोग है । जैसे बबूल आदि का निर्यास-गोंद-श्लेष्मल होता है । अग्नि और वायु का द्रव्य के साथ परस्पर आकर्पण वियोग कहा जाता है । जैसे—काठ का अग्नि और वायु से संयोग, वियोगरूप में (भस्म) परिणत होता है ।

इससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि पृथिवी, जल तथा वायु के आकर्षण अर्थात् अत्यन्त सन्निकर्ष का काम या गुण श्लेष्मा है । श्लेष्मा का वास्तविक अर्थ भी चिपकना है ।

स्पर्शरूप चलन कर्म वायु का है । उष्णस्पर्शरूप विभजनकर्म अग्नि का है । जल का

कारणं वायुः, वायुह्य ुभयचारी संयोगे च विभागे च । उपपद्यते चातः—

पित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः ।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत् ।।

वायुर्ह्यत्र शरीरारम्भक-दोषविशेषरूपो गृह्यते; न तु भौतिकः स्थूलवायुविशेषः, कुतः ? दोषारम्भकवायोर्भौतिकस्थूलवायोश्च भिन्नत्वात् । संयोगकर्मणा सप्त रसादयो धातव उत्पद्यन्ते विवर्धन्ते च । पित्ततेजसा विभजनमापद्यन्ते वायुसहायेन संयोगविभागेष्वनपेक्षं कर्मेति स च वायुः ।

तत्र **वा गतिगन्धनयोरिति** धातुः, **तप सन्तापे, श्लिष आलिङ्गने,** एतेषां कृद्विहितैः प्रत्ययैर्वातः पित्तं श्लेष्मेति च रूपाणि भवन्ति ।

गतिगन्धोपादानार्थस्य 'वा' धातोः '**हसिमृग्रिण्वा**' (उ० ३।८६) इत्यादिसूत्रोत्पन्ने तन्-प्रत्यये 'वात' इति रूपम् ।

संतापार्थस्य तपधातोरचि प्रत्ययेऽकारस्येत्वे, वर्णविपर्यये,तकारस्य च द्वित्वे कृते 'पित्त'मिति रूपम् ।

आलिगनार्थस्य श्लिष्धातोर्मनिन्प्रत्यये गुणे च कृते 'श्लेष्मे'ति रूपम् ।

अथवा—मायुः=पित्तम् । मिनोति=मलस्रंसनं करोतीति मायुः । पतति=स्रंसति इति पित्तम् इति क्षीरस्वामी । मिनोति वायुवन्मायुः । अपि ददातीति पित्तम् । अपिपूर्वकात् 'डुदाञ् दाने' धातोः '**आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च**' (अष्टा० ३।४।७१) इत्यनेन कर्त्तरि क्तः । '**अच उपसर्गात्तः**' इत्यनेन धातोर्दस्य तत्वम् । '**वष्टि भागुरिरल्लोप**'-मिति अपेरल्लोपः ।

स्पर्शकर्म संयोग तथा अग्नि का स्पर्शकर्म—वियोग होता है । वायु, अवश्यभावीरूप शीत तथा उष्ण स्पर्श में कारण होता है । कहा भी है: —

पित्त और कफ स्वयं पङ्गु—गतिहीन हैं, वे वायु की गति के अनुसार इधर उधर ले जाए जाते हैं । जैसे वायु, बादलों को अपनी गति के अनुसार उड़ाता है ।

इस शरीरस्थ नाडी विज्ञान में वायु का अर्थ, शरीर में सञ्चरण करने वाले और दोषों को आरम्भ करने वाले सूक्ष्म वायु से है; भौतिक स्थूल वायु से नहीं । दोषारम्भक शरीरस्थ वायु और जगत्सञ्चारी भौतिक वायु में भेद है । संयोगकर्म से रस आदि सात धातु उत्पन्न होते हैं और बढते हैं । पित्त और वायु की सहायता से विभाग (रस-रक्त-मांसादि पृथक्-पृथक्) को प्राप्त होते हैं । संयोग और वियोग में वायु अवश्य ही कारणरूप होती है ।

व्याकरण दृष्टि से दोषों का विवेचन—'वा' 'तप' और 'श्लिष' धातुओं से कृदन्त प्रत्ययों के करने पर वात, पित्त और श्लेष्म या श्लेष्मा रूप सिद्ध होते हैं । गत्यर्थक 'वा' धातु से 'तन्' प्रत्यय करने पर 'वात' सिद्ध होता है । सन्तापार्थक तप धातु से 'अच्' प्रत्यय तथा धातु के अकार को इकार तथा वर्ण का विपर्यय करने एवं साथ ही तकार को द्वित्व करने से पित्त शब्द बनता है पित्त का अर्थ है—सन्तापक । गत्यर्थक 'पत्लृ' धातु से 'क्त' प्रत्यय और इत्व करने पर भी पित्त सिद्ध होता है । अपि उपसर्ग पूर्व लगाकर दानार्थक 'डुदाञ्' धातु से 'क्त' प्रत्यय करके अपि के अकार का लोप हो जाने पर भी 'पित्त' शब्द सिद्ध होता है ।

कफः=श्लेष्मा। कात् जलात् फलति इति कफः। श्लिष्यति इति श्लेष्मा इति क्षीरस्वामी केन=जलेन, स्फातिर्वृद्धिर्यस्य स कफः। पृषोदरादिः। 'श्लिष आलिङ्गने' धातोर्मनिन्प्रत्यये श्लेष्मा सिद्ध्यति।

संसर्जने कर्त्ता त्रीणि कर्माणि कुरुते—किञ्चिदुत्सृजति, किञ्चिद् दूरे क्षिपति, किञ्चिद् विभजति। यथा मूर्तौ हस्त-पादौ। यत्र कर्त्ता मार्दवस्य न्यूनतामनुभवति, तत्रोपश्लिष्यति। यत्र चोपचयं पश्यति ततोऽपकर्षति। सैवावस्था शरीरे। यथा वायुः किट्टस्योत्सर्जनं करोति। पित्तं सार-किट्टे विभजति। श्लेष्मा च बृंहयति, मार्दवमाधापयति। यथा हि कुम्भकारो घटनिर्माणे मार्दवाय जलं योजयति; तथैवेह श्लेष्मेति।

धातुषु घनत्वं तरलत्वं कथं केन हेतुना वा भवतीति प्रदर्श्यते—

अग्निर्हि जीवनम्। सोऽग्निरेव–आयुः, बलं, वर्णं, स्वास्थ्यम्, उत्साहः, उपचयः ओजः, तेजः, अग्नयः प्राणाश्च। शान्ते ह्यग्नौ म्रियते पुरुषः। समाग्नौ चिरं जीवत्यनामयः, विकृते हि रोगी भवति। तस्माद् वह्नेः संरक्षणंमेव स्वास्थ्यमूलम्। कुतः? अग्निना सम्यक्परिपक्व आहार-रस ओजसो बलस्य वर्णस्य च पोषको भवति।

अपक्व-रसो ओजसादीन् निस्तेजयति। आदानकर्मा प्राणो वायुरन्नं कोष्ठं[1] प्रत्याकर्षति। तत्र द्रवैरसैर्बाह्येनाग्निना मृदुतां गतो भिन्नसंघातमन्नं काले युक्ति-युक्तं

कफ का नाम श्लेष्मा है। क=पानी से जो विकसित होता है, पानी से जो बढता है, फूलता है उसे 'कफ' कहते हैं। कफ शब्द "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" इस पाणिनीय सूत्र से सिद्ध होता है। विस्तृत विवरण आगे किया गया है।

संसार में निर्माता या शिल्पी किसी वस्तु के निर्माण करने के समय मुख्यतः तीन प्रकार की क्रियाएं करता है। जैसे–कुम्हार घट को मूर्तरूप देते हुए कहीं अधिक मिट्टी को हटाता है और कहीं अधिक लगी हुई मिट्टी को कम करता है। उसी प्रकार शरीर में–वायु, मलों को बाहर फेंकता है, पित्त, सार और किट्ट भागों को अलग करता है। श्लेष्मा बढाता है और मृदुता लाता है। जैसे कुम्भकार घड़ा खिलौना आदि बनाते समय मृदुता के लिये बार बार जल का प्रयोग करता है।

धातुओं में तरलता और घनत्व के कारण –

अग्नि ही जीवन है। आयु, वर्ण, बल, स्वास्थ्य, उत्साह, उपचय, ओज, तेज तथा प्राण ये सब जठराग्नि के आश्रय में हैं। अग्नि के शान्त होने पर प्राणी मर जाता है। सम-अग्निवाला प्राणी चिरजीवी तथा निरोग रहता है जठराग्नि में विकार होने से प्राणी रोगी होता है। इसलिये अग्नि की समुचित रक्षा करना ही स्वास्थ्य है। क्योंकि अग्नि से भली भांति परिपक्व आहर-रस ही ओज एवं बल–वर्णों का पोषक होता है। अपक्व-रस, ओज उत्साह आदि को मन्द तथा प्राणी को निस्तेज कर देता है।

आदान-क्रिया करनेवाला वायु, अन्न को कोष्ठाशय की ओर ले जाता है। बाह्य अग्नि से परिपक्व सुस्वादु आहार को जठराग्नि, समान वायु की सहायता से भलीभांति पकाकर आयु को

१–नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय इति स्मृतः। अशितं पीतं लीढं चात्र विपच्यते॥
समानोऽग्निसमिपस्थः कोष्ठे चरति सर्वतः। अन्नं गृह्णाति पचति, विवेचयति मुञ्चति॥
—चरकः

सम्यक्-पक्वं रुचिकरं चोदर्योऽग्निः समानेन पवनेन विधूयमानः पाचयत्यायुषो विवृद्धये । तत्र पाचने लौकिक एव क्रमः । यथा पचन-पात्र्यां =स्थाल्यामोदनपाचनायाम्बु-तण्डुलयोः सह परिपाको भवति । उक्तं चापि चरके—

"पचत्यग्निर्यथा स्थाल्यामोदनायाम्बुतण्डुलम्" च० चि० १५ । ८ ॥

अन्नं हि भुक्तं पाकात् षड्रसत्वमेति । मधुररसो हि कफं जनयति । तस्मात् पूर्वं भुक्तं[1] फेनीभूतमुदीर्यते । तदनन्तरं पच्यमानस्याशयाच्च्यवमानस्याम्लभावादच्छ पित्तमुदीर्यते[2] । पक्वाशयं प्राप्तस्य वह्निना शोष्यमाणस्य परिपिण्डितभावमुपागतस्य कटुभावतो वायुरुत्पद्यते । तेन तच्छोषमुपयाति ।

अत्रेदमवधार्यम्--यदि कस्यचित् स्वभावतः कफो दुष्टोऽस्ति,तदा मधुररसप्रधानं लक्षणं ज्ञातव्यम् । यदि पित्तं दुष्टमस्ति तदाम्लरसप्रधानलक्षणानां ज्ञानं कर्तव्यम् । यदि वायुः प्रधानस्तदा कटुना रसेन तल्लक्षणानामनुमानं कर्त्तव्यम् । तद्यथा—पैत्तिके चक्षुषोरुरसि च दाहः, अम्लोद्गिरणमस्थिरता, शिरोवेदना च क्वाचित्कीति । अनयैव रीत्या शेषयोरप्यूह्यम् ।

अथ यदि वस्तेरेव प्रकृतिविकृतिभावोऽवगन्तव्यः स्यात्, तदा यदि वातेन साकं पित्तमस्ति तदा ज्ञातव्यमपानस्योत्सर्गो विशेषेण भवति । कुतः ? सरणधर्मत्वात्

बढाती है । उदर में अन्न के परिपाक का क्रम बाहर के पाक के समान ही है । जैसे—पाककर्त्ता बटलोही में चावल और पानी एक साथ ही डाल देता है, वह चावल और पानी इकट्ठे ही पकते हैं । उसी प्रकार उदर में भी अन्न तथा जल के समान द्रव एवं घन-द्रवों का परिपाक समान होता है ।

खाये हुए द्रव्यों का छ. रसों में परिपाक होता हैं । मधुररस कफ को उत्पन्न करता है इसलिये सब से प्रथम अन्न में फेन उत्पन्न होता है । पुनः आमाशय में रुकते हुए अन्न में पित्त का मिश्रण हो जाने पर अम्ल रस उत्पन्न होकर पित्त बढता है । तदनन्तर पक्वाशय (बृहदन्त्र) में प्राप्त होकर कटु हो जाता है । अतः वायु उत्पन्न होता है । इस कारण मल पिण्डरूप में बंध जाता है ।

यदि किसी का कफ स्वभाव से ही दुष्ट है तो मधुररस प्रधान लक्षणों को नाडी द्वारा समझना चाहिये । यदि पित्त दुष्ट है तो अम्ल रस के लक्षण और वायु की प्रधानता है तो कटु-रसों की उत्पत्ति और लक्षण समझने चाहियें । जैसे पित्तविकृति में आंख और देह में जलन, खट्टे डकार, अस्थिरता, कभी कभी सिर में पीडा—ये लक्षण होते हैं । इसी प्रकार अन्य दोषों की विकृति में उन-उनके लक्षणों की ऊहा करनी चाहिये ।

यदि केवल वस्ति का ही प्रकृति-विकृति-भाव जानना हो तो वायु के साथ पित्त का होना समझना चाहिये । ऐसी स्थिति में अपानवायु का निःसरण अधिक मात्रा में होता है । क्योंकि पित्त

१—यात्यामाशयमाहारः पूर्वं प्राणानिलेरितः । माधुर्यं फेनभावञ्च षड्रसोऽपि लभेत सः ॥

२—नाभि-हृदयमध्ये च रसस्त्वम्लो व्यवस्थितः । स्वभावेन मनुष्याणां ततः पित्तं विवर्धते ॥

—चक्रपाणिः

पित्तस्य। तत्र यदि वायुः श्लेष्मणा सहानुशेते तदा ज्ञातव्यो विबन्धः। तत्र यदि वायुना वायुरेव प्राधान्येन सहानुशेते तदानुमेयं यत् पुरीषं ग्रन्थिलं भवतीति। अनेनैव विधिना यस्य स्थानस्याशयस्य वा भेदो ज्ञातव्यः स्यात्; तत्रैव त्रित्वं प्रकल्प्य बोद्धव्यम्। अमुनैव विधिना गन्धश्चापि ह्यन्नेनोपकृतो गन्धादीन् प्रीणाति प्राणानिन्द्रियाणि च।

पञ्चमहाभूतसमवायत्वादन्नस्य[1] तत्परिपाकगते रसेऽपि तेषां सद्भावः स्यादेव। तत्र स्वं स्वमंशं देहस्थं पोषयन्ति, यथा पार्थिवाः पार्थिवांशबहुलां पृथिवीं पोषयन्ति। एवं हि शेषाः शेषान्।

एवं शरीरे सप्तधातवोऽपि स्वेनाग्निना किट्टप्रसादवत् पाकं यान्ति। यथा ह्यन्नाद् रसो मलञ्च। एवं हि धातवस्तेषां मलञ्चोत्तरोत्तरमुत्पद्यते। तद्यथा—

रसाद्रक्तम्, रक्तान्मांसम्, मांसान्मेदः, मेदसोऽस्थि, अस्थ्नो मज्जा, मज्ज्ञः शुक्रम्, शुक्रात् प्रसादजो गर्भः, रसात् स्त्रियो रक्तमुत्पद्यते 'रज' इति। मलाश्चैतेषां पूर्वमुक्ताः।

रसः पित्तोष्मणा रागेण रक्तत्वमृच्छति, शोणितं हि स्वाग्निना पक्वं वायुना च घनीकृतं'मांसे'ति संज्ञां लभते। तदेव रक्तं वाय्वम्बुतेजसा स्वोष्मणा च युक्तं स्थिरतां

का धर्म सरण (सरकना) है। यदि कफानुबन्ध हो तो मल का विबन्ध समझना चाहिये। यदि वायु ही वायु के साथ प्रकुपित हो तो मल में गांठे-सुद्दे पड़ते हैं।

इस प्रकार जिस आशय का प्रकृतिविकृतिभाव जानना हो उस आशय में रहने वाले दोष को प्रधान मानकर एवं शेष दोषों की गौणभाव से अंशांशकल्पना करके वैद्य, अभीष्ट आशय का वास्तविक कथन कर सकते हैं। इसी प्रकार गन्ध भी अन्न से उपकृत होकर प्राण तथा इन्द्रियों को प्रसादरूप से पुष्ट करता है।

अन्न भी पाञ्चभौतिक है। अतः उसके पाञ्चभौतिक अंश भी अपने-अपने अंशों से देह को परिपुष्ट करते हैं। जैसे—आहार में रहनेवाला पार्थिव-अंश शारीरिक पार्थिव अंशों को पुष्ट करता है, जलांश जलांश को।

इसी प्रकार शरीर के धातु भी किट्ट तथा प्रसाद इन दो भेदों से परिपाक को प्राप्त होते हैं। अन्न से सार और किट्ट दो पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार धातु और उनके मल उत्तरोत्तर उत्पन्न होते रहते हैं।

जैसे—रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेदस्, मेदस् से अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से शुक्र और शुक्र से प्रसादरूप गर्भ उत्पन्न होता है। इसी प्रकार स्त्रियों में भी गर्भ का पोषक प्रसादरूप रज है।

धातु-मलों का निर्देश पहले किया जा चुका है। रस, सामान्यतः पित्त की ऊष्मा तथा रञ्जक पित्त से रंगा जाकर रक्त का रूप धारण करता है। रस या शोणित,अपनी ऊष्मा से तथा वायु के योग से घन होकर मांस का रूप धारण कर लेता है। मांस, अपनी ऊष्मा से परिपक्व

१—पञ्चभूतात्मके देहे ह्याहारः पाञ्चभौतिकः। विपक्वः पञ्चधा सम्यक् स्वान् गुणानभिवर्धयेत्॥
—सु० सू० ४६।५२६॥

प्राप्नोति। तदेव मांसं पुनः स्वोष्मणा पक्वं स्वतेजोऽम्बुगुणस्निग्धोद्रिक्तं मेदःसंज्ञां प्राप्नोति। पृथिव्यग्न्यनलादीनां संघातो हि श्लेष्मावृतः खरत्वं करोति तेनास्थिसंज्ञां लभते।

तत्र वायुराकाशगुणसाहय्यादस्थ्नां मध्ये सुषिरत्वं करोति। तान्यस्थीनि स्वाग्निना परिपाकमाप्तानि कुण्डलिकानामिव मेदसा पूर्यन्ते, तस्मान्निमज्जनात् तस्य स्नेहस्य मज्जेति संज्ञा भवति। तस्मान्मज्ज्ञः पुनर्यः स्नेहो वाय्वाकाशादिभिर्भावैः सौषिर्यं प्राप्तेभ्योऽस्थिभ्यः स्रवते; स शुक्र-संज्ञां लभते[1]।

उदाहरणं—यथा हि नवो घटो जले निधाप्यते। सोऽभित एव सूक्ष्मस्यन्दनैरास्यन्दमानः परिपूर्णो भवतीति। तदेव पुनः शुक्रं मनोभवेन हर्षेणोदीरितं घृतवद् द्रवतां प्राप्तं निम्नस्थलमिवोदकस्य च्युत्वा वृषणौ प्राप्यं शुक्रवाहिभिः स्रोतोभिर्बहिर्नि-

---

होकर जलतत्त्व और तेजस्तत्त्व की अधिकता से स्निग्धता तथा तेजोगुण को लिये हुए मेद बनता है। वही मेद, पृथिवी, अग्नि, वायु आदि के संघात-श्लेष्मा से खरखरा होकर अस्थि बनता है। वायु और आकाश की सहायता से अस्थियों में पोल पैदा होता है। ये अस्थियां अपनी ही अग्नि से परिपक्व होकर जलेबी की भांति मेद से भर जाती हैं। वही अस्थियों के अन्दर रहनेवाला घना स्नेह, मज्जा कहा जाता है। इस मज्जा का जो सारभूत स्नेह, आकाश वायु आदि के योग से सौषिर्ययुक्त [पोली] अस्थियों से स्रुत होता है, उसे शुक्र कहते हैं।

जैसे, नये घड़े को पानी में रखदें या उसमें पानी भरदें तो उसके सभी सूक्ष्म स्रोत पानी से भर जाते हैं। अथवा मिट्टी के बर्तन में रखा हुआ घी बर्तन के सूक्ष्म-छिद्रों या स्रोतों से बाहर निकल आता है; उसे घृत-पङ्क कहा जाता है। उसी घृत-पङ्क की भांति जो स्रुत होता है उसे शुक्र कहा जाता है। वह शुक्र, हर्ष से प्रेरित होकर अण्डकोष में एकत्रित होता है और शुक्रवाही स्रोतों द्वारा बाहर निकल जाता है।

शुक्र से किसी अन्य मल की उत्पत्ति नहीं होती। किसी के मत में शुक्र से ओज की उत्पत्ति होती है। किसी किसी के मत से ओज को मल न कहकर 'अष्टम परिपाक' कहा जाता है। स्त्री के

---

१. तेषां रसादीनां मल-स्थूलाणुभागविशेषेण त्रिविधः परिणामो भवति। तद्यथा—अन्नात् पच्यमानाद् विण्मूत्रं मलः, सारो रसः, रसादग्निपक्वान्मलः कफः, स्थूलो भागो रसः, अणुभागो रक्तम्। रक्तादग्निपक्वान्मलः पित्तम्, स्थूलभागः शोणितम्, अणुभागस्तु मांसमिति। ततोऽप्यात्मपाकपच्यमानान्मलः श्रोत्र-नासा-कर्णाक्षि-प्रजननादिस्रोतोमलः, स्थूलभागो मांसं सूक्ष्मो भागो मेदः। ततोऽपि निजवह्निपच्यमानान्मलः स्वेदः,स्थूलांशो मेद एव,सूक्ष्मभागोऽस्थीनि। ततोऽपि पच्यमानान्मलः केश-लोम-श्मश्रूणि, स्थूलोऽस्थि, सूक्ष्मस्तु मज्जा। ततोऽपि मज्ज्ञः पावकपच्यमानान्मलो नयन-पुरीष-त्वचां स्नेहः, स्थूलो भागो मज्जा, सूक्ष्मः शुक्रम्। ततः पुनः पच्यमानादुपमलो नोत्पद्यते सहस्रधाध्मातसुवर्णवत्। स्थूलो भागः शुक्रमेव, सूक्ष्मतेजोभूतमोजः।

भवतश्चात्र—

स्थूलाण्वंशमलैः सर्वे भिद्यन्ते धातवस्त्रिधा। स्वस्थूलोंऽशः परं सूक्ष्मस्तन्मलं याति तन्मलः॥
स्वाग्निभिः पच्यमानेषु मलः षट्सु रसादिषु। न शुक्रे पच्यमानेऽपि हेमनीवाक्षये मलः॥

सु० सू० १४।१०

र्याति। स्त्रियो हि रज इति। एषोऽपि हि क्रमो वैद्येन बुद्धौ समवस्थाप्य एव।

अपरे त्वन्यथा व्याचक्षते-जठराद्यकृतमिति यावत् तावद्रसधातोः स्थानमिति। रसे जलतत्त्व-प्रधाने सत्यपि दुग्धमिव परिपोषकाणां सप्तधातूनां परमाणूनां सद्भावात् स रसः स्वयमेव प्रकृत्या परस्परानुरागित्वं परमाणूनां स्वोष्मणा वायोश्च साहाय्येन रक्ततां भजते। तत् पृथिवीतत्त्ववहुलत्वाद् घनतां प्राप्तं वायुना शोषितं स्वाग्निना पक्वं मांसं भवति। मांसे तु घनता तरलता च भवति। अस्थिधातुं जिजनिषुर्मांसं पुनः पित्तसाहाय्येन द्रवतां याति, तस्य मेद इति नाम। तद्धि मेदः स्वाग्निना पाचितं वायुना शोषितमस्थिभावमापद्यते। अस्थ्नां पुर्नविलयनेन 'मज्जा' उत्पद्यते। "मज्जा" इति कस्मात्? गर्भबीजान्यस्मिन् मज्जितानि भवन्तीति। तस्य मज्ज्ञः पुनः स्वाग्निना पाकमापन्नः शुद्धतरो 'रसः' शुक्रमुच्यते। शुक्लत्वात् स्वच्छत्वाद्वा शुक्रम्। अथ यदा पीतभावं दुर्गन्धत्वं वा प्राप्नोति तदा तद् दुष्टं शुक्रमित्युच्यते।

एवं हि व्यक्तानां धातूनां द्वे रूपे भवतः—किञ्चिद्घनं घनञ्चेति। द्वे एव रूपे तरलानां धातूनां भवतः—ईषद्द्रवम्, द्रवञ्चेति। **'अग्निषोमीयं जग'**दिति कृत्वा मांसं संयोगो रक्तस्य। वसा वियोगो मांसस्य। अस्थिसंयोगो मेदसः। मज्जा वियोगोऽस्थ्नः। यस्य यस्य धातोरंश आधिक्येन भवति तस्य तस्य पुष्टिः। हीनसत्त्वञ्च **'मल'** संज्ञं भवति। सा हि तदंशस्य क्षीयमाणावस्था।

रज की भी यही व्यवस्था है। इस धातु-क्रान्ति के क्रम को भी वैद्य को ध्यान में रखना चाहिये।

प्रकारान्तर से-उदर से यकृत् तक रस धातु का स्थान है। रस में जलतत्त्व की प्रधानता होने पर भी दूध की भांति रस धातु में सात धातुओं के पोषक-परमाणुओं की सत्ता होने से तथा परस्परानुराग धर्मवाले परमाणुओं के कारण एवं अपनी ऊष्मा तथा वायु की सहायता से रस का नाम रक्त हो जाता है वही रक्त, पृथिवीतत्त्व की अधिकता से तथा अपनी ऊष्मा से पक कर एवं वायु द्वारा सूख कर मांस कहा जाता है। मांस में घनता और तरलता होती है। अस्थि धातु का उत्पन्न करनेवाला मांस, पित्त के कारण द्रव होकर मेद बनता है। मेद अपनी ऊष्मा से परिपक्व होकर एवं वायु से सूखकर अस्थि बनता है। अस्थियों के विलयन से मज्जा उत्पन्न होती है। इस में गर्भ के बीज मज्जित रहते हैं—इसलिये इसे 'मज्जा' कहा गया है। मज्जा का अपनी अग्नि से परिपाक होने पर निकला हुआ शुद्धतर-रस शुक्र कहा जाता है। यह शुद्धतर, रस, शुक्ल एवं स्वच्छ होने के कारण शुक्र कहा जाता है। पित के दूषित होने से शुक्र में पीलापन या दुर्गन्धि होती है। ऐसा शुक्र दूषित शुक्र है।

इस प्रकार व्यक्त धातुओं के दो रूप होते हैं-१ घन एवं स्पल्पघन, २ तरल एवं स्वल्प-तरल। यह सारा जगत् अग्निसोमात्मक है। इस कारण मांस रक्त का संयोग है, वसा मांस का वियोग है। अस्थि मेदस् का संयोग है, मज्जा अस्थि का वियोग है। इस में जिस-जिस धातु की विशेषता होती है, वह रस उस-उस धातु का पोषक होता है। धातुओं का सारहीन अंश मल है। धातु की क्षीयमाण अवस्था का नाम मल है।

एवमुपपत्तव्यं यत् श्लेष्मा संयोगः, पित्तं वियोगः, वायुरुभयचारीति । तत्र यदि नाड्यां पित्तं प्रधानं तच्चापि स्वकोपनैरात्मनि भृशं कुपितं स्यात् तदा ज्ञातव्यं संघात-धातूनां ह्रास इति । सत्यपि संघातधातूनां ह्रासे यदि सारल्यं सूक्ष्मत्वं च नाड्यामस्ति; तदा तेन सहैतदपि ज्ञातव्यमयं पुरुषः, इयं स्त्री वास्तिक्यं भावमनुपालयति । तद्यथा—सत्ये रुचिमाधत्ते । धार्मिककर्मसु प्रीतिमभितिष्ठति । संविभज्योपभोक्तुमिच्छतीत्यादि ।

सत्त्वहीनानां मलानामपि पृथक्कर्त्ता पित्तम् । शोषयति च वायुः । यदि कश्चिद् ब्रवीति 'भो भिषक् ! नोष्णकालेऽपि मम स्वेद आयाति' इति तदा मन्तव्यं वैद्येन यन्मेदसि धातौ वातावेशत्वात् स्वेदस्योपशोषणं भवति । उपशुष्कं हि मलं मलत्वाच्छ्लेष्मभावमापन्नं स्रोतांस्युपरुणद्धीति । अत एव त्वचि कण्ड्वादयो श्लेष्मजा रोगा जायन्ते, वायुना रौक्ष्यञ्च । एवमपरस्मिन्नपि धातौ ज्ञेयम् । तद्यथा मज्ज्ञो मलं चाक्षुषं मलमिति तत्र यदि पित्तप्रकोपो मज्जनि; तदाभिष्यन्देन साकं विशेषतश्चक्षुषी मलोक्ते भविष्यतः । कुतः ? स्रवणधर्मत्वात् पित्तस्येति ।

स्पष्टज्ञानाय चक्रम्—

रसः	रक्तं	मांसं	मेदः	अस्थि	मज्जा	शुक्रम्
वातः	वातः	वातः	वातः	वातः	वातः	वातः
पित्तम्	पित्तम्	पित्तम्	पित्तम्	पित्तम्	पित्तम्	पित्तम्
कफः	कफः	कफः	कफः	कफः	कफः	कफः
द्वन्द्व	द्वं०	द्वं०	द्वं०	द्वं०	द्वं०	द्वं०
सन्निपात	सं०	सं०	सं०	सं०	सं०	सं०

एवं हि विन्यासो बुद्धावास्थाप्यः । तत्र यस्मिन् धातुमले यथाविधः परिशोषत्वादि दुर्गन्धादि, पिच्छिलत्वादि, पृथक् पृथक्, दुर्गन्धपिच्छिलत्वादि वा

सारांश यह कि श्लेष्मा संयोग है, पित्त वियोग है और वायु में दोनों धर्म हैं यदि नाडी में पित्त की प्रधानता है और पित्त अपने ही पैत्तिक हेतुओं से कुपित है तो संघात-धातुओं का ह्रास समझना चाहिये । इसके साथ यदि नाडी में सूक्ष्मता एवं सरलता है तो यह समझना चाहिये कि यह स्त्री या पुरुष आस्तिक है, सत्यप्रिय एवं धर्म कर्म से प्रेम रखता है, मिलजुल कर खाने-पीने और कार्य करने में सुख का अनुभव करता है । इस भाव को पञ्चमहाभूत—त्रित्वीय अध्याय में सप्रमाण कहा गया है ।

सत्त्वहीन मलों को पृथक् करनेवाला अग्निरूप पित्त है। सुखानेवाला वायु है । यदि किसी रोगी को गर्मी के दिनों में पसीना न आवे तो वैद्य महाशय को समझना चाहिये कि मेदोधातु में वात का आवेश होने से स्वेद का उपशोषण होता है । वह स्वेद सूख कर घन होता है और श्लेष्मा वनकर स्रोतों को रोक देता है । इसी प्रकार दूसरी धातु के मल के अतिस्राव में कफ-वात को कारण समझना चाहिये । जैसे—विदूषिका—आंखों का मल; मज्जा धातु का मल है । यदि मज्जा धातु में, पित्त का प्रकोप है तो अभिष्यन्द के साथ साथ विदूषिका अधिक होगी । क्योंकि पित्त का धर्म सरण है । इसका स्पष्टीकरण चक्र में देखें ।

इस प्रकार धातुओं को त्रिदोष के अन्तर्गत करना चाहिये । जिस धातु के मल में परिशोष एवं पिच्छिलता अलग-अलग या दुर्गन्ध पिच्छिलता आदि-आदि द्वन्द्वज या सन्निपातज

द्वन्द्वजो भावः स्यात् सन्निपातजो वा, तत्र तं तं लक्षणं दृष्ट्वा ज्ञातव्यमस्मिन् धातावस्यायं व्याधिरिति । मलानामपि देहधारकत्वात्, मला व्यर्था नैव भवन्ति । ते हि वहिरागच्छन्तोऽदृश्यमन्तःस्थं कलादिभिः परिच्छन्नं त्वचा च वेष्टितं विकृतं धातुं सर्वभावेन प्रकृतिस्थं विकृतिस्थं वा प्रकटयन्ति । एतद्भावप्रकाशनं चरके स्पष्टम् । यथा—

द्वे अधः सप्त शिरसि खानि स्वेदमुखानि च ।
मलायनानि बाध्यन्ते दुष्टैर्मात्राधिकैर्मलैः ॥४१॥
मलवृद्धिं गुरुत्वेन लाघवान्मल-संक्षयम् ।
मलायनानां बुद्ध्येत संगोत्सर्गादतीव च ॥४२॥
तान् दोषलिङ्गैरादिश्य व्याधीन् साध्यानुपाचरेत्॥४३॥—च०सू०अ०७

वयं त्वेवं निश्चिनुमः । नायं लेखविषयः प्रत्यक्षानुभवगम्यत्वात् ।

वायुर्हि विगुणो विगुणयति मलमार्गान् पूर्वमेवाध्यायारम्भे उक्तम् । यथा—

त्रयो दोषा धातवश्च पुरीषं मूत्रमेव च ।
देहं सन्धारयन्त्येते ह्यव्यापन्ना रसैर्हितैः ॥

सु० उ० ६।६।

हों तो उसी धातु में व्याधि की सत्ता का कथन करना चाहिये । क्योंकि मल भी तो देह धारक हैं । वे व्यर्थ तो हैं ही नहीं । इस त्वचा आदि से ढके हुए शरीर के प्रकृति विकृतिभाव को स्वयं प्रकाश करते हुए बाहर आते हैं । यह आशय चरक के निम्नलिखित श्लोकों द्वारा व्यक्त होता है—

"गुदा और शिश्न—ये दो नीचे के मल-मार्ग हैं । सात मल-मार्ग ऊपर-सिर में हैं । इनके अतिरिक्त स्वेद (पसीना) के द्वारा जब ये मात्राधिक दुष्ट-मलों से रोके जाते हैं तब शरीर में गुरुता से मल-वृद्धि होती है । लघुता से मल-क्षय समझना चाहिये । दोषानुसार मलों के अतिसंग और अति उत्सर्ग को समझकर साध्य व्याधि का उपचार करे । अर्थात् मलायन से ही धातु का तथा साध्यासाध्य का निर्णय करे ।"

(हमने चरक के उक्त मतानुसार अनेक बार रोगियों की परीक्षा की है और इस ऋषि-वचन को सर्वथा सत्य पाया । इसके द्वारा तुरन्त निर्णय होता है । इससे अच्छा दूसरा मार्ग नहीं है ।

नाडी में भी गुरुता, तीक्ष्णता एवं लघुता आदि उसी प्रकार प्रतीत होते हैं । इसे लेख द्वारा बताना असम्भव हैं । प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा ही यह जाना जा सकता है । अतः वैद्यों को इसका प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहिये । इसके द्वारा वे सफल और यशस्वी हो सकते हैं ।)

वास्तव में वायु, मल-मार्गों को विगुण या विकृत कर देता है । सुश्रुत ने लिखा है कि—'तीनों दोष, सातों धातु, पुरीष और मूत्र—ये हित आहार खाने वाले व्यक्ति के शरीर को विना विकृत किये हुए धारण करते हैं' अर्थात् विकृत होने पर विनाश कर देते हैं ।

स्थिरता पृथिव्याम् । पृथिवीरूपो धातुरस्थि शरीरे । स्थिरता=धैर्यम् । पित्तं हि संघातं विलापयति । तस्मादनुभूयते क्रोधातुरे भवति कम्प इति । क्रोधो हि पित्तम् । एवं मांसावयवसंघातः परस्परं विभक्तः 'पेशी'ति कथ्यते । तत्र यदि पित्त-प्रकोपस्तदा शुष्का भवति तनुरिति । कुतः ? पित्तस्य वियोजन-धर्मत्वात् तदुपचित-संघातं वियोजयति । ततः शुष्यति मर्त्यः । अथ यदि समचारी कफस्तदा शरीरे पेशीनां पुष्टता सुदृढता रुचिरता सौम्यता च भवति । यदि वायुर्विषमचारी यं यं दोषमनुशेते; तदा तत्तद् दोषविकारमुपजनयति शोषयति च ।

अथ पुरुष-स्त्री-नपुंसकेष्वपि वात-पित्त-कफाः—इत्यनुक्रमः ।

स्त्री-देहेऽन्यदेहजनकः शुक्रधातुर्न विद्यते । स्त्री-शरीरमपि सप्तधातुकमेव भवति । शुक्रमुत्पादकं वीजमिति यावत् । उक्तं च चरके **प्रकृतिभूत-वातकर्मसु—'बीजाभिसंस्कारे'** इति । **'कर्त्ता गर्भाकृतीनां'**मिति च । वीजं न हि क्षेत्रमन्तरा प्ररोहति । कुतः ? क्षेत्रस्याधारत्वात् । एवं हि स्त्री क्षेत्रम् । क्षेत्रं हि वीजस्य धारणे, अवरोहणे, पोषणे च क्षमं भवति न चात्मन एव कश्चिदपरं प्रसूते । तथैवेयं स्त्री, स्व-रजसा पोषयति, वर्धयति, धारयति गर्भम् । न च स्वयं गर्भमाधापयितुं समर्थेति । यथा हि क्षेत्रं, सस्यं वातातपयोगेन पचति । स पाको पित्तमन्तरा नैव भवति । तथा च क्षेत्रं, वीजानुगुणं क्षुपं पर्णशाखादिभिर्युक्तं विकासयति । स एष विभाजन-गुणोऽपि

स्थिरता पृथिवी का गुण है । अस्थियों में पृथिवी का अंश अधिक है । स्थिरता का दूसरा नाम धैर्य भी है। पित्त,संघात (कठिन) को पिघलाता है । इसलिये क्रोध में कम्प उत्पन्न होता है। क्रोध पित्त है। अतः वह स्थिरता या धैर्य का नाश करके कम्प और चञ्चलता उत्पन्न करता है ।

मांस के अवयव स्वरूप परस्पर विभक्त संघात 'पेशी' कहे जाते हैं । यदि मांसपेशियों में पित्त का प्रकोप हो तो प्राणी का शरीर सूख जाता है । क्योंकि पित्त का धर्म विभाग करना है । इसलिये पित्त, मांससंघातों-पेशियों को पृथक् करके सुखा देता है । यदि शरीर में कफ, प्रकृतिस्थ होकर कार्य कर रहा हो तो मांस-पेशियों में सुदृढता और पुष्टि देखी जाती है । इसके साथ-साथ सौम्यता और रुचिरता भी बढ़ जाती है । यदि वायु विषमचारी हो तो वह जिस दोष के अनुबल होता है, उसे; या जो दोष इसके अनुबल हो उसे, बढ़ाकर विकार उत्पन्न कर देता है और स्वयं शोषक या रूक्ष होने के कारण शोषण करता रहता है ।

पुरुष,स्त्री और नपुंसक–इन तीनों में भी वात,पित्त और कफ का न्यास करना चाहिये।

स्त्री के शरीर में दूसरे शरीर को प्रजनन करने वाला शुक्र धातु नहीं है । स्त्री का शरीर भी सप्त धातुवाला ही होता है । शुक्र, उत्पादक या बीज है । चरक में कहा भी गया है कि 'वायु बीजाभिसंस्कार करने वाला है, गर्भ तथा गर्भ के आकार को बढ़ाता है' । क्षेत्र के बिना बीज की उत्पत्ति असम्भव है । क्योंकि क्षेत्र ही आधार है । स्त्री, क्षेत्र है । क्षेत्र बीज को धारण करने, बढ़ाने, पालन और पोषण करने में समर्थ होता है । स्वयं अपने में से किसी को उत्पन्न नहीं करता । उसी प्रकार स्त्री भी रज से गर्भ को धारण करती है, बढ़ाती है पालती है, परन्तु गर्भाधान करने में समर्थ नहीं है । जैसे क्षेत्र, वायु और आतप के योग से पकाता है । वह पाक विना पित्त के नहीं होता । क्षेत्र, बीज के अनुरूप हो वृक्ष को पत्र, पुष्प और फलों से युक्त करता है–यह विभाग-गुण पित्त का ही है । इसलिये स्त्री पित्त स्थानीय है। कहा भी है कि स्त्री अग्नि-

पित्तस्य। तस्मात् पित्तस्थाना स्त्री। यथोक्तञ्च—

'सौम्यं शुक्रमार्तवमाग्नेयम्।'—सु० शा ३·३

"आर्तवं शोणितं त्वाग्नेयम्, अग्नीषोमीयत्वाद्गर्भस्य।"—सु०सू० १४।७।

"कफवर्गे भवेच्छुक्रं पित्तवर्गे च शोणितम्।" —हरिवंश-पर्व १।४०।५२।

तथा च—**"अग्निकुम्भसमा नारी घृतकुम्भसमः पुमानिति।"** स्त्र्यपि पुंसो वीजं स्त्री-पुं-नपुंसकेन विभजति। **"नानारूपाः पशवो जायमानाः"** श्रुतिलिङ्गञ्च। **"तत्र शुक्र-बाहुल्यात् पुमान्, आर्तवबाहुल्यात् स्त्री, साम्यादुभयोर्नपुंसकमिति।"**—सु०शा०३।१।

तथा च गर्भोपनिषदि—**पितू रेतोऽतिरेकात् पुरुषो मातू रेतोऽतिरेकात् स्त्री, उभयोर्बीजतुल्यत्वान्नपुंसको भवति।**

एवं शार्ङ्गधरेऽपि—

आधिक्ये रजसः कन्या, पुत्रः शुक्राधिके भवेत्।
नपुंसकं समत्वेन, यथेच्छा परमेश्वरी॥

तथा च वाग्भटः—

योषितोऽपि स्रवन्त्येव शुक्रं पुंसा समागमे।
गर्भस्य तन्न किञ्चित्तु करोतीति न चिन्त्यते॥

अत्र नाड्यां यथाक्रमं पुं-स्त्री-नपुंसका मन्तव्याः। अथवैमनुमन्तव्यम्—यथा शक्तिरूपा दोषास्तथैव शक्तिरूपः पुमानिति। यथा द्रव्यरूपाः सप्तधातवस्तथैव वीजाधार-द्रव्यरूपा स्त्री, यथा शक्तिहीनाः पुरीषादयो मलास्तथैव पुरुष-स्त्री-गुण-हीनो नपुंसक इति।

अत्रैवमभिसन्धिः—यदि वातप्रधाना पित्तनाडी पुरुष-स्वभावमनुशेते; तेनानु-

---

कुम्भ के समान है और पुरुष घृत-कुम्भ के समान है।

शुक्र और रज की सम-अवस्था से नपुंसक होता है इसलिये वह श्लेष्मस्थानीय है।

स्त्री, अपने रज के अंश की अधिकता से कन्या को उत्पन्न करती है। सुश्रुत में कहा है कि "जैसे शीतकाल में जमा हुआ घी का पिण्ड, अग्नि से पिघल जाता है, उसी प्रकार पुरुष के संयोग से नारी का आर्तव फैल जाता है।"

मैथुन में यदि पुरुष का शुक्र पहले गिरे तो वीर पुरुष-सन्तान उत्पन्न होती है, यदि स्त्री का रज प्रथम च्युत हो तो सुन्दर सुरूप स्त्री उत्पन्न होती है।

"शुक्र, सौम्य (सोमगुण वाला) है और रज, आग्नेय (अग्निगुणवाला) है। गर्भ, अग्निषोमीय है अर्थात् दोनों गुणों वाला है।"-हरिवंश में भी "शुक्र को कफवर्गीय और रज को पित्तवर्गीय कहा गया है।" वाग्भट ने लिखा है कि 'पुरुष के साथ समागम होने पर स्त्री का रज भी निकलता है, इसलिये वह रज गर्भ में सहायक नहीं है' ऐसा नहीं कहा जा सकता।

अतः नाडी ज्ञान में भी वात, पित्त और कफ की अधिकता या कारण से पुरुष, स्त्री और नपुंसक जानना चाहिये। इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि—जैसे दोष शक्तिरूप है वैसे ही पुरुष भी शक्तिरूप है। जैसे—द्रव्यरूप सात धातुएं हैं उसी प्रकार बीज का आधाररूप स्त्री है। जैसे—शक्तिहीन पुरीष आदि मल हैं वैसे ही स्त्री पुरुष दोनों गुणों से हीन नपुंसक है।

नाडी-ज्ञान में इस प्रकार संगति करनी चाहिये कि यदि पित्त की नाडी वात-प्रधान है तो

मातव्यम्-पुरुषार्थत्वमक्षमत्वं परविषहत्वमस्मिन् विशेषेणानुशेते; **'परं विषहते यस्मात् तस्मात्पुरुष उच्यते'** इति महाभारतोक्तनिरुक्त्या । अमुनैव विधिना पित्तप्राधान्ये स्त्रैणप्रकृतिं साम्प्रतमनुशेते । अन्यभावेनोभयम् । युक्तिरियं विशेषतो दूत-नाडी-विज्ञाने प्रयुक्ता वैद्ये यशसा योजयति । बहुधा चास्माभिः परीक्षिता । दूत-नाडी-विज्ञानीये दूत-नाडी-युक्तिं वक्ष्यामः ।

स्त्री, स्त्रिया सहानुश्लेषं यन्ती, मांस-पिण्ड-जननमात्रे समर्था भवति, शुक्र-जन्यास्थ्याद्यभावात् । न तु जीवेन युक्तम् ।

एवं हि वयस्यपि त्रिदोष-व्यवस्थावगन्तव्या । तत्र यथा—प्रभाते श्लेष्मकाल-स्तथैव बाल्ये श्लेष्मणः प्राधान्यं भवति । ततोऽनुपित्तम् । ततश्च वातः । आषोड-शात् पञ्चविंशदिति यावत् कफ-पित्तकालः, वातस्यानुरेकः । पञ्चविंशतिमारभ्य पञ्चत्रिंशदिति यावत् पित्तस्य कालः । पित्तं ह्यग्निः । सो हि भुक्तांशं जारयति,द्रावयति धातुसंघातान्,पचत्यामम् । स परिपक्व-सप्तधातुकः प्रजोत्पादनेच्छुः क्षेत्रमासादयति ।

उक्तं च सुश्रुते—

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोडशे ।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक् ॥ इति

वह स्त्री पुरुष-स्वभाव वाली होती है । पुरुषार्थता, अक्षमता, तथा पर-प्रधर्षण-क्षमता उस स्त्री में होती है । महाभारत में-'जो दूसरों को प्रधर्षित कर सके वही पुरुष है' इस प्रकार पुरुष का लक्षण लिखा है । इसी प्रकार पुरुष की नाडी में पित्त की प्रधानता होने से पुरुष स्त्रैण होता है, अर्थात् उसका स्वभाव स्त्रियों का सा होता है । वात और पित्त दोनों की प्रधानता से नपुंसक होता है ।

यह युक्ति, दूत-नाडी-विज्ञान में विशेष लाभ-प्रद होगी । (क्योंकि रोगी प्रत्यक्ष तो उप-स्थित होता नहीं है; अतः दूरस्थ रोगी स्त्री, पुरुष या नपुंसक है, उसे आग्नेय-गुणप्रधान या सौम्य-गुण प्रधान औषधि दी जाय—यह निर्णय इसी युक्ति के आधार पर हो सकता है । दूतनाडी-विज्ञान की युक्ति अगले अध्याय में कहेंगे ।)

स्त्री स्वयं स्त्री के साथ मैथुन करती है तो अस्थि रहित मांस-पिण्ड उत्पन्न होता है । उस पिण्ड में शुक्र के कारण उत्पन्न होने वाली अस्थियां नहीं होतीं । जीव भी नहीं होता, क्योंकि जीव का आधार बीज है; रज नहीं ।

इसी प्रकार आयु में भी त्रिदोष अवस्था समझनी चाहिये । जैसे-प्रातःकाल श्लेष्मा या कफ का है, उसी प्रकार प्राणी का बाल्यकाल कफप्रधान होता है । इस के अनन्तर पित्त का और उसके अनन्तर वायु का काल है । सोलह से पच्चीस की आयु तक कफ-पित्त का समय है । वायु का अनुश्लेष होता है । पच्चीस वर्ष से पैंतीस वर्ष तक पित्त का समय है । पित्त ही अग्नि है । पित्त भोजन किये हुए द्रव्यों को पचाता है; धातुसंघातों को द्रुत करता है, आम को पचाता है और परिपक्व शुक्र वाले युवा पुरुष को प्रजनन के लिये क्षेत्र (स्त्री) का अवलम्बन कराता है । सुश्रुत में कहा है:—

"पच्चीस वर्ष का पुरुष और सोलह वर्ष की स्त्री वीर्यवान् होकर प्रजा के उत्पादन में समर्थ होते हैं ऐसा कुशल वैद्य जानें ।"

'युवा सुवासाः परिवीत आगादिति' च श्रुतिः । 'युवानं विन्दते पतिमिति' च स्त्रीपक्षे श्रुतिः । दृश्यते च लोके-उष्ण-देशेषु शीघ्रतरमेव धातूनां पाकः परिणयाच्च सन्ततिरिति । अतश्च ब्रूमो यौवनं पित्तस्थानीयम् । पञ्चत्रिंशतः पञ्चचत्वारिंशदिति यावत् पित्त-वात-कालः । एवं हि पञ्चचत्वारिंशत आरभ्य पञ्चपञ्चाशदिति यावद् वातः, पित्तोत्तरं कफमनुशेते । पञ्चपञ्चाशत आपञ्चषष्टीति यावद् वातः, पित्तस्य मन्दीभावात् कफं पित्तोत्तरमनुशेते । पञ्चषष्टित आरभ्य आपञ्चसप्ततिं यावत् पित्तस्य सुतरां मन्दीभावाद् वातसाहाय्यात् श्लेष्मा कासश्वासादीन् व्याधीन् कृत्वाधितिष्ठति । ततश्चोत्तर आयुषि वातो जरातिशयाद् वृद्धिमभ्येत्य हत्वेन्द्रियाणि जीवयति मानवमिति वातस्यैव प्राधान्यं जरायुषि ।

युक्तिरेषा दूत-नाडी-विज्ञाने-वैद्य-यशस्करो भवति । चिकित्साविधौ च यशसा युनक्ति । कौतूहलयति च जनान् ।

द्रव्य-गुण-कर्मस्वप्येवं त्रिधा सृष्टिः—तत्र द्रव्यमधिष्ठानम् । द्रव्यस्थितं यच्चैतन्यं स गुणः । यस्य सद्भावाद् द्रव्यमात्मानं द्रव्यान्तराद् विभिनत्ति स गुणः । यथा—मरिचे कटुभावः । लवणे स्वादुभावः । अभयायां कषायभावः । अग्नौ दहन-स्वभावो गुण इत्यादि । यथा हि निर्गतचैतन्यं मृतशरीरं मन्यन्ते । तस्माद्युक्तियुक्तमेवैतत्—द्रव्यस्थितं यच्चैतन्यं स गुण इति । अथवा कार्यानुमेयगुणो वीर्यसंज्ञां लभते ।

वेद में भी समावर्तन संस्कार के समय वीर्यवान् युवक का वर्णन किया गया है कि विद्यादि गुणों से युक्त उत्तम वस्त्रों से अलंकृत युवा आता हुआ शोभा को प्राप्त होता है । स्त्री के लिये भी कहा गया है कि 'युवती युवा पुरुष को प्राप्त करती है ।' हम लोक में भी देखते हैं कि उष्ण देशों में शीघ्र ही धातुओं का परिपाक हो जाता है, जिससे सन्तानोत्पत्ति शीघ्र होती है । इसलिये यह निश्चित है कि यौवन पित्त-प्रधान होता है ।

पैंतीस वर्ष से पैंतालीस वर्ष तक का समय पित्तोत्तर-वातकाल है । पैंतालीस से पचपन तक वातोत्तर-पित्तकाल है । पचपन से पैंसठ तक वातकाल है । क्योंकि पित्त मन्द होकर कफानुगामी हो जाता है । पैंसठ से पिचहत्तर तक पित्त अति दुर्बल हो जाता है और कफ एवं वायु की सहायता से कास, श्वास आदि रोगों को उत्पन्न करता है । इसके अनन्तर जरावस्था में वायु ही प्रधान हो जाता है और वायु इन्द्रियों को शिथिल करके भी मनुष्य को जीवित रखता है ।

यह युक्ति,दूतनाडी-विज्ञान में प्रयुक्त करने पर वैद्य को यशस्वी बनाती है और चिकित्सा में प्रयोग करने पर जनता को आश्चर्य चकित करती है ।

द्रव्य, गुण और कर्म में भी त्रिदोषों की संगति करना आवश्यक है । द्रव्य अधिष्ठान है । उस में जो कर्तृत्व-शक्ति है, वह गुण है, जिसकी सत्ता से वह अपने को दूसरे द्रव्यों से भिन्न करता है । जैसे—मिरच में कड़ुआपन, नमक में खारापन और हरीतकी में कसैलापन एवं अग्नि में दाहकता ये स्वाभाविक गुण हैं जैसे निर्गत चेतना होने पर शरीर को मर गया कहते हैं इसी प्रकार यह भी स्पष्ट है कि द्रव्य में जो उसका विशेष भाव है वह पुरुष में चेतना की भांति गुण है । अथवा कार्य से जिसका ज्ञान हो; वह गुण है । अथवा जिस के सहारे नित्य

कार्य्यानुमेयः सामर्थ्यभेदो वा गुणः। नित्याश्रितं यत्सामर्थ्यं तद्वीर्यं वा गुणः। गुणो हि कर्म साधयति। यथाभया भुक्ता विरेचयति। तुत्थं भुक्तमुभयतो रेचयतीत्यादि।

अथ संगतिः—कर्म हि क्रिया। क्रिया हि वायुमन्तरा न भवति। तस्मात् कर्म-गुण-द्रव्याणि यथान्यासं वात-पित्त-कफस्थानीयानि। प्रयोगस्तु-किमत्र साम्प्रतं रोगार्ते वृद्धं क्षीणं वा ज्ञातुं नाड्यां यादृशी त्रिदोषव्यवस्था स्यात् तादृशमेव कर्म-गुण द्रव्य-रूपात्मकं बुद्ध्वा वृद्धिः क्षयो वा विवेचनीयः। युक्तिरियं दूतनाड्यामपि भिषजं यशसा योजयति।

अथ म्रियमाणोऽयं मृत्युशय्यामध्यासीनो रोगार्तः कमपरं जन्मान्तरीयं देहमनुजीवयिष्यतीति ज्ञातव्ये—शरीरं हि कर्तुः कर्मच्छायामयम्। यथा शब्दे वक्तुराकारो निहित आस्ते, एवं हि शरीरे सर्वकर्म-पुञ्जानां प्रतिभानं भवति। तत्र बुद्धिमता वैद्येनारिष्टभेदो विवेचनीयः। उक्तं हि चरके—

'मरणं चैव तन्नास्ति यन्नारिष्टपुरःसरम्'।

—इन्द्रियस्थानम् २।४।

अरिष्टनिरुक्तिस्तु तत्रैव—

क्रियापथमतिक्रान्ताः केवलं देहमाप्लुताः।
चिह्नं कुर्वन्ति यद्दोषास्तदरिष्टं निरुच्यते॥

—इन्द्रियस्थानम् १०।२८॥

सामर्थ्य रहे, उस के सामर्थ्य या उसके वीर्य का नाम गुण है। गुण के द्वारा ही क्रिया निष्पन्न होती है। हरीतकी खाने पर रेचन होता है। तूतिया खाने पर वमन और विरेचन होते हैं और दोनों ओर से दोष सञ्चालित होते हैं। ये क्रियाएं उन द्रव्यों के गुणों द्वारा होती हैं।

नाडी-विज्ञान में इसकी संगति इस प्रकार करनी चाहिये—कर्म क्रिया है। वायु के विना क्रिया नहीं हो सकती। इसलिये कर्म गुण और द्रव्य इनका यथाक्रम से वात-पित्त-कफ में न्यास करना चाहिये और पुनः रोगी में जिस भाव की वृद्धि या क्षय जानना हो; उस की नाडी में त्रिदोष की मुख्य और गौण कल्पना करके उसी प्रकार कर्म, गुण और द्रव्य की भी वृद्धि एवं क्षय जानना चाहिये। यह युक्ति भी दूत-नाडी ज्ञान में वैद्यों को सफलता प्रदान करती है।

मरने वाला रोगी मरने के अनन्तर अगले जन्म में किस योनि को धारण करेगा। इस पर विचारविमर्श किया जाता है।

यह शरीर कर्ता के कर्मों की छाया रूप है जिस प्रकार शब्द में वक्ता का आकार निहित है वैसे ही शरीर में कर्ता के कर्मों का आभास होता है। वैद्य को अरिष्टभेद का विवेचन करना चाहिये।

चरक में कहा भी है:—'अरिष्ट लक्षणों के विना मरण नहीं होता' अतः अरिष्ट की परिभाषा मुनि आत्रेय इस प्रकार करते हैं। 'दोष, अपने कार्य-पथ को छोड़कर शरीर पर आभासित होने वाले जिस विशेष चिह्न को उत्पन्न कर जाते हैं—उस का नाम अरिष्ट है।'

अथ प्रश्नः—नाडी-प्रक्रियां विहायारिष्टसाहाय्यं कुतोऽन्वाक्षिप्तम् ? समाहितिस्त्वेवम्—त्रयो दोषा अन्तःशरीर-क्रियां विकृत्य बहिस्त्वच्यात्मानं प्रकाशयन्ति। तस्मान् नाडी त्रिदोषं याथार्थ्येन नानुशेते। तस्माद्युक्तमेव तदरिष्टविज्ञानसाहाय्यापादनमिति। अरिष्टोपपत्तिमन्यत्र विवेचयिष्यामः। उक्तं च चरके—

भवन्ति ये त्वाकृति-बुद्धि-भेदा रजस्तमस्तत्र च कर्महेतुः।

—च० शा०, अ० २।३५

एवं हि कृतकर्माभ्यासहेतुकृत एवारिष्टो भिन्नो भिन्नः प्रकाशते। तथा च—

भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात् ॥३०॥
भूतानि चत्वारि तु कर्मजानि यान्यात्मलीनानि विशन्ति गर्भम्।
स बीजधर्मा ह्यपरापराणि देहान्तराण्यात्मनि याति याति ॥३४॥

—च० शा०, अ० २

अत्र चक्रपाणिः—

"कर्म धर्माधर्मरूपं यत्रैनं भोगार्थं नयति, तदेव देहमयं यातीत्युक्तं भवति"

अन्यच्च—

कर्मणा चोदितो येन तदाप्नोति पुनर्भवे।
अभ्यस्ताः पूर्वदेहे ये तानेव भजते गुणान् ॥—सुश्रुते शा०,२।६०

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि नाडी को छोड़कर अरिष्ट की सहायता क्यों ली जाए ? इसका समाधान यह है कि नाडी द्वारा तो अन्दर के दोषों का ही विवेचन किया जा सकता है। परन्तु जब तीनों दोष, शरीर की आन्तरिक क्रिया को विकृत करके बाहर की त्वचा पर विशेष चिह्न द्वारा प्रकाशित होने लगते हैं; तब नाडी उनका यथार्थ ज्ञान कराने में असमर्थ सी रहती है। इसलिये अरिष्ट का आधार लेना पड़ता है। चरक संहिता में लिखा है:—

"प्राणियों में जो बुद्धि और आकृति का भेद दीखता है इस में सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों से विशिष्ट कर्म ही कारण हैं।"

इसी प्रकार कृत-कर्माभ्यासवश ही शरीर में अरिष्ट भी भिन्न-भिन्न रूप से प्रकाशित होते हैं। चरक में कहा भी है:—'अत्यन्त सूक्ष्म चारों भूतों (रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-तन्मात्राओं) के साथ मन की क्रिया से क्रियावान् आत्मा, कर्मवश एक शरीर से दूसरे शरीर में संक्रमण करता है।' सूक्ष्मभूतों के साथ रहने का तात्पर्य लिङ्ग शरीर या कारण शरीर से है।

"जो कर्मज (आत्मकर्मज, पूर्वजन्मकृत, शुभाशुभकर्मज) चार भूत हैं, वे आत्मा से नित्ययुक्त रह कर ही गर्भ में प्रवेश करते हैं। वे बीजधर्मा लिङ्गशरीर, आत्मा के दूसरे देह में प्रवेश करने पर उसके साथ ही देहान्तरों में प्रवेश करते हैं।" जिस प्रकार सूक्ष्म बीज स्थूल वृक्ष को उत्पन्न करता है उसी प्रकार सूक्ष्म-भूतात्मा स्थूल शरीर को उत्पन्न करता है।

सुश्रुत में कहा है—"जिस कर्म के कारण जीव, पुनर्जन्म में प्रेरित होता है उसी के अनुसार उस जन्म में सब कुछ प्राप्त करता है और पूर्वजन्म में अभ्यस्त सभी गुण उस जन्म में भी प्राप्त होते हैं।"

तथा चापरम्—

जन्म जन्म यदभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः ।
तेनैवाभ्यासयोगेन तदेवाभ्यस्यते पुनः ।।—मूलं मृग्यमस्य

अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत । —छान्दो० उप० ३।१४

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।। —गीता ६।४४
यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भाव-भावितः ।। —गीता ८।६
जीवो यद्वासनाबद्धस्तदेवान्तः प्रपश्यति ।
शुभाशुभाभ्यां कर्मभ्यां प्रेरणान्मनसो गतेः ।
देहाद्देहान्तरं याति क्रिमिवच्छाश्वतोऽव्ययः ।।—योगवाशिष्ठे ६।१७।२६

द्रव्ये वीर्यं चापि द्विधा भवति । शीतमुष्णञ्च । तत्र शीतेऽनुरागित्वादाह्लादो भवति, स च कफस्थानीयः । उष्णेऽपकर्षता-वियोजनं भवति, तस्मादुष्णवीर्यं पित्तस्थानीयम् । रागः=कफः । द्वेषः=पित्तम् । वायुर्हि तत्र राग-द्वेषौ विषमयति । उक्ता अग्नि-सोम-वायवः पित्त-कफ-वातानां पर्यायरूपेण सुश्रुते ।

कहा है—"जन्म जन्मान्तरों में जो दान, तप या अध्ययन किया गया है, अत्यन्त अभ्यास के कारण जीव, दूसरे जन्म में भी उन्हीं के अनुरूप वृत्तियों को प्राप्त होता है।"

छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है—"यज्ञ करनेवाला पुरुष, जिस प्रकार इस लोक में यज्ञ करता है, उसी प्रकार इस लोक से चले जाने पर भी यज्ञ करनेवाला होता है।"

गीता में भी कहा है:—"मनुष्य, जिस-जिस भाव को स्मरण करता हुआ अन्त में शरीर का त्याग करता है, हे अर्जुन ! दूसरे जन्मों में भी उसी भावना से भावित होने के कारण उस-उस भाव को प्राप्त करता है।"

योगवाशिष्ठ में भी कहा गया है कि "जीव, मरण के समय जिस भावना से बद्ध रहता है जन्मान्तर में भी उसी को प्राप्त करता है। शुभ और अशुभ की प्रेरणा और मन की गति से शाश्वत और अव्यय जीव, क्रमि की भांति एक देह से दूसरी देह में जाता है।"

शीत और उष्ण भेद से द्रव्य के वीर्य दो प्रकार के होते हैं। शीत वीर्य में अनुराग होने से आह्लाद होता है अतः शीतवीर्य कफस्थानीय है। अपकर्षतारूप विभजनात्मक गुण उष्णता का है अतः उष्णवीर्य पित्तस्थानीय है। अथवा राग कफ है। द्वेष पित्त है। वायु, राग और द्वेष को विषम करती है। सुश्रुत में—पित्त, कफ और वात को अग्नि सोम और वायु का पर्याय लिखा है।

भवन्ति चात्रास्माकम्—

य एवं त्रिविधे व्याप्तं जगद् बुद्धयावबुध्यते ।
वात-पित्त-कफान् सो हि मुह्यन्नपि न मुह्यति ॥
वात-पित्त-कफं वाजिमारोहो वहते यथा ।
तथा तथा स लोकस्य सूक्ष्मासूक्ष्मौ विजानते ॥
नातः परतरं लोके संक्षेपो विस्तरस्य हि ।
विस्तरश्चापि दुर्बुद्धिं वैद्यं गर्ह्यं सन्नयेत् ॥
अप्रमत्तो हि सद्वैद्यो वाजि दोषत्रयात्मकम् ।
आरुह्य स्वर्गमभ्येति प्रमत्तः क्षिप्यते त्वधः ॥
त्यक्त्वा त्रिदोष-सन्मार्गं प्रमत्तो गर्भ-संवृतः ।
आजीवनं श्रमं कुर्वन् पङ्के गौरिव सीदति ॥

अथ शरीरे दोषाणां स्थानानि—

वातः———	शिरसि	वस्तौ	ऊर्वोः	हस्तयोश्च ।
पित्तम् ———	चक्षुषोः	यकृति	पिण्डलिकयोः	प्रकोष्ठे च ।
कफः———	मुखे	उरसि	पादयोः	प्रगण्डे च ।

लोके त्वेष क्रमः—**"ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययमिति ॥"** गीता १५।१

भूमौ जलाश्रयत्वात् शिरसि श्लेष्मा, मध्ये पित्तम्, चक्षषोरालोचकं यथा मुखे वायुरिति । वातेन शूलं प्राधान्येन । शूलस्वरूपं त्विदम्—

इस संबन्ध में हमारा संक्षेपतः कथन यह है:—

जो वैद्य जगत् को वात,पित्त और कफ के त्रित्व में व्याप्त समझता है वह मोह को प्राप्त नहीं होता ।

जो अश्वारोही वैद्य, वात, पित्त और कफ रूपी अश्वों पर चढ़कर चलता है वह संसार के सूक्ष्म और स्थूल भावों को समझ सकता है ।

इस महान् विश्व को अति संक्षेप में करने का एकमात्र उपाय त्रिदोष है । इसलिये विस्तार और संक्षेप को न जाननेवाला वैद्य निन्दनीय समझा जाता है ।

सावधान और सुयोग्य वैद्य, त्रिदोष रूपी अश्व पर चढ़कर ऊंचे से ऊंचे स्वर्ग तक पहुंच सकता है और असावधान; घोड़े से गिर कर गड्डे में पड़ता है ।

त्रिदोष के राज मार्ग को छोड़कर जो असावधान लोग इधर उधर भटकते हैं, वे सारे जीवन श्रम करके भी कीचड़ में फंसी हुई गौ के समान कष्ट उठाते हैं ।

सामान्यरूप से वात, पित्त और कफ के स्थानों का वर्णन किया जाता है, जो परस्पर सम्बद्ध हैं—

वायु – सिर, वस्ति ऊरू (जंघा) और हाथ
पित्त—आंख, यकृत्, पिण्डली और कलाई
कफ—मुख, छाती, पैर और प्रगण्ड

लोक में'ऊर्ध्वमूलमधःशाखं'इस गीता के कथनानुसार सिर में श्लेष्मा मध्य में=आंखों में पित्त और मुख में वायु है । वात दोष में शूल प्राधान्य से होता है । शूल का लक्षण यह है:—

क्रुद्धेन वायुना स्रोतःपेशीनां यत्प्रपीडनम् ।
क्रियतेऽनेकरूपं तत् शूलमित्यभिधीयते ॥

पित्तेन दाहः प्राधान्येन । दाहस्वरूपन्त्वेवम्—

व्रणोत्पत्तिकरः पाकः पेशीनां स्रोतसामपि ।
वैदग्ध्यमुपदाहश्च स दाहः परिकीर्त्तितः ॥

श्लेष्मणा शोथः प्राधान्येन । शाथलक्षणं त्वेवम्—

उत्सर्जनस्य हीनत्वात् संग्रहस्यातियोगतः ।
जायते संचयः शोथः स एव परिकीर्त्यते ॥

शूलं हि द्विधा विभज्यते—जानुश्रोण्यादिभेदः शूलमुच्यते । नखदन्तौष्ठपादानां भेदो विदारणमुच्यते । संकोचलक्षणो वात-विकारः शूल-रहितो भवति । स्तम्भरूपाश्च वात-विकाराः शूल-युक्ता भवन्ति ।

दाहः—रक्तोष्मणा विवृद्धेनाहारेण दाहः सर्वदेहगो भवति । रक्तं हि कट्वम्ल-तीक्ष्णोष्णैराहरैः परिदुष्यति । पित्तविकारा अपि त्रिधा भवन्ति—दाहक्लेदकोथा-त्मका इति ।

श्लेष्मविकारेषु—

शीतत्वं सञ्चयाधिक्यमग्निमान्द्यमिति त्रयम् ।
श्लेष्मोद्भवेषु सर्वेषु विकारेष्वनुवर्त्तते ॥

—शरीरतत्त्वदर्शनम् ५।७१

वायु की विकृति में प्रधानतः शूल होता है । शूल का स्वरूप इस तरह कहा गया है कि वायु के कुपित होने पर जब पेशियों और स्रोतों पर दबाव पड़ता है; तब शूल उत्पन्न होता है । वह स्थान भेद से दोषांश भेद से अनेक प्रकार का होता है ।

पित्त के विकार में प्रधान रूप से दाह उत्पन्न होता है । दाह का स्वरूपः—

दाह व्रण की उत्पत्ति करता है । पेशियों और स्रोतों का पाक करता है । अन्न आदि को पचाता तथा जलनादि का कर्त्ता है । वह दाह, त्रिदोष की अंशांश कल्पना-भेद से तथा स्थान-भेद से न्यून या अधिक मात्रा में होता है ।

श्लेष्मा या कफ के विकृत होने पर प्रधान रूप से शोथ (सूजन) उत्पन्न होता है; विकृत अंश का व्यय कम हो और उपचय अधिक हो तो वह उपचय शोथ कहा जाता है ।

शूल दो प्रकार का होता है—जानु, कमर आदि में होने वाला–भेद शूल कहा जाता है । नख, दांत, पैर आदि में 'विदारण' शूल होता है । सङ्कोचलक्षणवाला वात-विकार शूल-रहित होता है और स्तम्भरूप वात-विकार शूलयुक्त होते हैं ।

उष्णता-प्रधान पदार्थों के सेवन से रक्त में उष्णता बढ़ जाती है और सम्पूर्ण शरीर में दाह होता है । मिरच खटाई आदि उष्णवीर्य प्रधान आहार के सेवन से रक्त दूषित हो जाता है और उससे दाह उत्पन्न होता है । पित्त-विकार तीन प्रकार के होते हैं—दाह, क्लेद तथा कोथ ।

श्लेष्मा के विकारों में शीतता, संचय की अधिकता (मोटापन) और अग्नि की मन्दता

गति-पक्ति-श्लेषणमेताः स्वाभाविक्यः शरीरे क्रिया भवन्ति। शूल-दाह-शोथाश्चैतेषां त्रय एव विकाराः।

शोषः, क्लेदः, कोथ इति क्षयकारणं त्रिविधम्। कालेनोपेक्षिताः सर्वे कोथत्वमुपयान्ति। वात-वृद्धया शोषः। पित्त-प्रदूषणात् कोथः। श्लेष्म-वृद्धया क्लेदः।

अनुसन्धातव्यं यथालक्षणमेकजे द्वन्द्वजे सन्निपातजे वा। तथा हि—

गतिवैषम्यजा वातविकाराः शूललक्षणाः ॥
पित्तजाः पक्तिवैषम्यजनिता दाहलक्षणाः।
जाताः संग्रहवैषम्यात् श्लेष्मजाः शोथलक्षणाः ॥
पोषणं पाचनं चेति कर्मणी विषमे यदा।
स श्लेष्म-पित्त-संसर्गः शोथ-दाहकरो भवेत् ॥
पोषणं गतिरित्येतौ कर्मणी विषमे यदा।
स श्लेष्म-वात-संसर्गः शोथशूलकरो भवेत् ॥
चलनं पचनं कर्म द्वितयं विषमं यदा।
स वात-पित्त-संसर्गः शूल-दाहकरो भवेत् ॥

होती है।

शरीर में गति, पक्ति और श्लेषण—ये तीन स्वाभाविक क्रियायें होती रहती हैं। इन स्वाभाविक तीनों क्रियाओं के क्रमशः तीन विकार हैं—१. शूल २. दाह और ३. शोथ। गति वायुजन्य, पक्ति पित्तजन्य और श्लेषण कफजन्य है। इन में से किसी की भी विकृति होने से क्रियाओं में निरोध उत्पन्न होता है, जिससे शूल, दाह और शोथ उत्पन्न होते हैं।

शोष,क्लेद, और कोथ—ये तीन क्षय के कारण हैं। उपेक्षा—लापरवाही से ये तीनों ही कोथ रूप हो जाते हैं। वायु की वृद्धि से शोष,पित्त के दूषण से कोथ और कफ की वृद्धि से क्लेद होता है। इनकी एक दोषज, द्वि-दोषज और सन्निपात आदि में सङ्गति कर लेनी चाहिये।

शरीरतत्त्वदर्शन में लिखा है:—"गति-वैषम्य के कारण होने वाले वात-विकारों में शूल, प्रधान लक्षण रहता है।

पित्त-विकारों में दाह प्रधान लक्षण रहता है।

संग्रह वैषम्य के कारण उत्पन्न होने वाले कफ विकारों में "शोथ" प्रधान लक्षण होता है। जब पोषण और पाचन—ये दो क्रियायें विकृत होती हैं तब उसे कफ-पित्त-संसर्ग कहते हैं। उससे शोथ-दाहात्मक विकार उत्पन्न होते हैं।

पोषण और गति इन दोनों क्रियाओं के विकृत होने पर उसे कफ-वात-संसर्ग कहते हैं। उसमें शोथ शूलात्मक होता है।

चलन और पाचन क्रिया इन दो क्रियाओं के विकृत होने पर उसे वात-पित्त-संसर्ग कहते हैं—उसमें शूल दाहात्मक उत्पन्न होते हैं।

कर्मत्रयं च विषमं पोषणं पचनं गतिः ।
सन्निपातः शोथ-दाह-शूलोत्पत्तिकरो भवेत् ।।
शोथो दाहश्च शूलश्च विकारे सन्निपातजे ।
सर्वलिङ्गानि जायन्ते वैषम्यात् सर्वकर्म्मणाम् ।।
दोषाणां कर्मणां साम्यं सर्वेषां वृद्धिकारणम् ।
वैषम्यञ्च तथा तेषां सर्वेषां क्षयकारणम् ।।
उत्पादनं वर्धनं च शरीरे न भवेद्यदा ।
ह्रासो विनाशश्च भवेद् विकृतिः सान्निपातिकी ।।

इति शरीरतत्त्वदर्शन उत्तरार्धे ७।२३-३२

साध्यासाध्यपरिज्ञानाय—

एकदोषोत्थिताः साध्याः कृच्छ्रसाध्या द्विदोषजाः ।
असाध्याः सन्निपातोत्था व्याधयः समुदाहृताः ।।
सर्वरोगेषु सामान्यं कर्मवैषम्य—लक्षणम् ।
शूलो दाहश्च शोथश्च दोषवृद्धि-समुद्भवम् ।।

इस प्रकार संसर्ग भी तीन होते हैं—१. कफ-पित्त-संसर्ग, २. कफ-वात-ससर्ग और ३. वात-पित्त-संसर्ग । "जब पोषण, पचन एवं गति—इन तीनों क्रियाओं में एक साथ विषमता उत्पन्न होती है तो उसे सन्निपात कहते हैं ।

उसमें शोथ दाह और शूल तीनों उत्पन्न होते हैं । सारी क्रियाओं की विषमता से शोथ, दाह और शूल से युक्त अनेक रोग उत्पन्न हो सकते हैं ।

"दोषों की क्रियायें जब सम अवस्था में रहती हैं उस (दोष-कर्म-सामर्थ्य) से सभी शरीरस्थ धातुओं की वृद्धि होती है । जब इन क्रियाओं में वैषम्य उत्पन्न होता है तो शारीरिक धातुओं का क्षय होता है ।"

"क्रिया—साम्य से शारीरिक अवयवों के सूक्ष्म-घटकों एवं नवीन-घटकों का उत्पादन एवं पोषण होता रहता है किन्तु जिस क्रिया—वैषम्य से इन सूक्ष्म-घटकों का उत्पादन और पोषण कम होने लगता है अथवा सर्वथा बन्द हो जाता है तो उनसे बनने वाले नवीन घटकों तथा उनसे घटित धातुओं का विनाश होने लगता है। इस प्रकार धातुओं का विनाश जिस विकृति के कारण होता है उसको सन्निपात की विकृति कहते हैं ।"

("जीवन का सञ्चालन उक्त तीन क्रियाओं से होता है । इन तीनों में यदि विकृति उत्पन्न होगी तो यह स्वाभाविक है कि शरीर की धातुओं का संवर्द्धन रुक जायेगा और उनका क्षय (विनाश) होने लगेगा । अतः सन्निपातज विकार विनाशकारी होते हैं।")

साध्य और असाध्य का परिज्ञान—

एक दोष की विकृति से उत्पन्न व्याधियां साध्य, द्वि-दोषज कृच्छ्रसाध्य और सन्निपातज व्याधियां असाध्य होती हैं । सारांश यह कि रोगों की साध्यता दोषों की एक दो अथवा तीन क्रियाओं की समता और विषमता पर निर्भर होती है ।

सब व्याधियो में वात, पित्त और कफ की वृद्धिरूप विषमता से शूल, दाह और शोथ—ये लक्षण जानने चाहियें ।

शरीर-विभागोऽपि सामान्यतो वात-पित्त-कफैर्ज्ञेयः—वायु-रस्थिन । रुधिरे पित्तम् । रस-मांस-मेदो-मज्जा-शुक्रेषु श्लेष्मा । स्वेदे पित्तम् । श्लेष्मा मूत्रे पुरीषे च ।

वायोर्मुख्यानि स्थानानि	पित्तस्य मुख्यस्थानानि	श्लेष्मणो मुख्यस्थानानि
करौ-पदौ	ग्रहणीकला	मस्तकम्
कटिः	क्षुद्रान्त्रम्	कण्ठः
पक्वाशयः	यकृत्	उरःप्रदेशः
त्वक्	नेत्रम्	क्लोम
श्रवणेन्द्रियम्	हृदयम्	जिह्वा
अपानम्	स्पर्शनेन्द्रियम्	अस्थिसन्धिः
क्षुद्रान्त्रम्		आमाशयः
हृदयम्		घ्राणेन्द्रियम्
उरःप्रदेशः		
मस्तकम्		

प्रकृति-विकृतिभावेन यथा—

प्रकृतिस्थो वायुर्मस्तके, विकृतो वायुः पक्वाधाने ।
प्रकृतिस्थं पित्तं ग्रहण्याम्, विकृतिस्थं पित्तं-क्षुद्रान्त्रे ।
प्रकृतिस्थः श्लेष्मा हृदये, विकृत आमाशये ।

वायुः पञ्चधा—प्राणः[१], उदानः[२], व्यानः[३], समानः[४], अपानः[५] । स्थानानि क्रमशः—शिरसि, उरसि, हृदये, आमाशये, गुदायाम् ।

पित्तं पञ्चधा—पाचकम्[१], रञ्जकम्[२], साधकम्[३], आलोचकम्[४], भ्राजकम्[५] । स्थानानि—ग्रहण्याम्, यकृति, हृदये, चक्षुषोः, त्वचि ।

इस शरीर को भी वात पित्त और कफ में विभक्त समझना चाहिए । अस्थियों में वायु, रुधिर में पित्त, रस, मांस, मेदा, मज्जा और शुक्र में श्लेष्मा है । स्वेद में पित्त और मूत्र तथा पुरीष में श्लेष्मा है ।

वायु के मुख्य स्थान—हाथ, पांव, कमर, पक्वाशय, त्वचा, कान, अपान, क्षुद्रान्त्र, उरःप्रदेश (छाती) और मस्तक हैं।

पित्त के मुख्य स्थान—ग्रहणीकला, क्षुद्रान्त्र, यकृत्, नेत्र, हृदय और त्वचा हैं ।

कफ के मुख्य स्थान—मस्तक, कण्ठ, उरःप्रदेश (छाती), क्लोम, जिह्वा, अस्थिसन्धि, आमाशय और नासिका हैं ।

प्रकृतिस्थ वायु मस्तक और विकृत-वायु पक्वाशय में रहता है । प्रकृतिस्थ पित्त ग्रहणी में और विकृत पित्त क्षुद्रान्त्र में एवं प्रकृतिस्थ कफ हृदय में तथा विकृत कफ आमाशय में रहता है ।

वायु पांच प्रकार का है । उसके नाम और स्थान ये हैं—१-प्राण सिर में, २-उदान छाती में, ३-व्यान हृदय में, ४-समान आमाशय में और ५-अपान पक्वाशय में ।

इसी प्रकार पित्त भी पांच हैं । उनके नाम और स्थान—१-पाचक ग्रहणी में, २-रञ्जक यकृत् में, ३-साधक हृदय में, ५-आलोचक आंखों में और ५-भ्राजक त्वचा में रहता है ।

श्लेष्मा पञ्चधा—अवलम्बकः[1], बोधकः[2], क्लेदकः[3], तर्पकः[4], श्लेषकः[5]। स्थानानि—हृदये, रसनायाम्, आमाशये, शिरसि, अस्थिसन्धिषु।

प्रकृतिस्थः सर्वदेहगो वायुः, प्रेरणात्मकं कर्म विदधाति। प्रकृतिस्थं तैजसं पित्तम, पाचनात्मकं सर्वदेहगतं कर्म करोति। प्रकृतिस्थः श्लेष्मा, सर्वदेह-श्लेषणात्मकं कम निर्वर्तयति।

अथ विवृतिः। तत्र वातस्य—

१. **प्राणः**—मस्तकस्थः सन् संज्ञावहनं सर्वावयवेषु करोति। उद्गार-कास-निःश्वास-ष्ठीवनान्नप्रवेशन-रूपादिकाञ्च गतिं संज्ञासंवहनत एव करोति। कुतः? स प्राणो वायुर्हि-उदानादिषु विभागपञ्चकं लभते इति यतः।

२. **उदानः**—सर्वेषां कर्मेन्द्रियाणामुत्साहहेतुर्वाण्याश्च प्रवर्त्तकः।

३. **व्यानः**—आक्षेपणोत्क्षेपण-निमेषोन्मेषादीनि शरीरे कर्माणि करोति। वि-उपसर्गो वैविध्ये, आङ् अभितोभावे, विविधं-आसमन्तान्नयतीति व्यानः।

४. **समानः**—क्षुद्रान्त्रस्याकुञ्चनप्रसारणादाहार-पचनं करोति। **'समानो नाभिदेशस्थः'** इत्यागमम्।

५. **अपानः**—शुक्रार्त्तवशकृन्मूत्र-गर्भ-निष्क्रमण-प्रभृतीनां संप्रवृत्त्यै अधःस्रोतसां गतिमाधत्ते। अप=दूरीभावे, आङभितोभावे-अप दूर आसमन्तान्नयतीति अपानः।

पित्तस्य—

१. **पाचकम्**—नाम पित्तं विशेषेणाहारपचनं करोति। उक्तञ्च—

अन्नस्य पक्ता पित्तं तु पाचकाख्यं पुरेरितम्।
दोष-धातु-मलादीनामूष्मेत्यात्रेय-शासनम्॥

श्लेष्मा पांच प्रकार का है। उसके नाम और स्थान—१-अवलम्बक हृदय में, २-बोधक रसना में, ४-क्लेदक आमाशय में, ४-तर्पक सिर में और ५-श्लेषक अस्थिसन्धियों में रहता है।

अविकारी वायु समस्त शरीर में प्रेरणात्मक कर्म करता है। प्रकृतिस्थ पित्त समूचे शरीर में पचनात्मक कर्म करता है और प्रकृतिस्थ कफ या श्लेष्मा सारे शरीर में श्लेषणात्मक कर्म करता है।

वात का विवरण—

१-प्राणवायु मस्तक में रहकर शरीर के सभी अवयवों में संज्ञा (चेतना) वहन करता है। धह एक ही प्राणवायु पांच प्रकारों में व्याप्त होकर संज्ञा-वहन द्वारा उद्‌गार कास (खांसी) निष्ठीवन (थूकना), अन्न-प्रवेश आदि गतियों को करता है।

२-उदानवायु कर्मेन्द्रियों को प्रोत्साहित करता है तथा वाणी का प्रवर्त्तक है।

३-व्यानवायु शरीर में आक्षेप उत्क्षेप, निमेष और उन्मेष (आंखें खोलना और बन्द करना) आदि क्रियाएं करता है।

४-समानवायु क्षुद्रान्त्रों के आकुञ्चन तथा प्रसारण द्वारा आहार को पचाता है।

५-अपानवायु शुक्र, आर्तव पुरीष मूत्र और गर्भ आदि को नीचे की ओर प्रेरित करता है और उनके निकलने में सहायता देता है।

पित्त का विवरण—

१-पाचक पित्त-विशेषतः आहार को पचाता है

तदधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद्ग्रहणी मता।
सैव धन्वन्तरिमते कला पित्तधराह्वया ॥
—अ० हृ० शा, ३।४९-५०

२. रञ्जकम्—आहाररसरञ्जनं विदधाति। रक्तेऽपि हि रागाद् रक्तं रञ्जकपित्तेनाख्यायते।

३. साधकम्—विशेषेण संज्ञां प्रबोधयति।

४. आलोचकम्—रूपावलोकन विशेषेण करोति।

५. भ्राजकम्—प्रभां वर्णं च त्वचि विशेषेण सम्पादयति।

श्लेष्मणः—

१. अवलम्बकः—श्लेष्मा हृदयस्थो रसेन सह सर्वशरीरे गच्छन् स्वस्निग्धत्वादिगुणैः श्लेष्मस्थानेषु श्लेष्माणमुपबृंहयति।

२. क्लेदकः—भुक्तान्नसंघातं क्लेदयति=आर्द्रीकरोति। क्लिदू आर्द्रीभावे इति धातुः।

३. बोधकः—भोज्ये पदार्थे मधुर-लवण-प्रभृतिरसानां व्यक्ति-कारकः '

४. तर्पकः—जलप्रधानत्वाच्छ्लेष्मणः। जलं हि प्रकृत्या शीतं तस्माच्छीतगुणविशिष्टः श्लेष्मा इन्द्रियाणां तर्पणं=तृप्ति समावस्थितत्वं विदधाति।

५. श्लेषकः—सन्धिषु विशेषतश्चास्थिसन्धिषु श्लेषणत्वं स्थिरत्वं विदधाति।

अयमत्राभिसन्धिः—कश्चित् श्रुतं विस्मरति। वहुधा स्मृतमपि विस्मरति। तत्र वैद्येन समाहितेन नाडी वीक्ष्या। तत्र यदि वातं पित्तेन सहानुभूयेत; तदा वक्तव्यमुदरे

२-रञ्जक पित्त–आहार-रस को रंगता है। रक्त के निर्माण में रञ्जक पित्त ही कारण है।

३-साधक पित्त–विशेषतः संज्ञा को जागृत करता है।

४-आलोचक पित्त–आंखों का देखने में सहायक होता है।

५-भ्राजक पित्त—त्वचा में प्रभा और वर्ण उत्पन्न करता है।

श्लेष्मा का विवरण—

१-अवलम्बक कफ—हृदय में रहता है। रक्त के साथ समस्त शरीर में भ्रमण करता है और श्लेष्मा के स्थानों पर श्लेष्मा का सञ्चय करता रहता है।

२-क्लेदक श्लेष्मा—खाए हुए अन्न-संघात को पाचन के लिए गीला करता है।

३-बोधक श्लेष्मा—भोज्य पदार्थों में रहनेवाले मधुर, अम्ल, कटु आदि रसों को व्यक्त करता है।

४-तर्पक श्लेष्मा—इन्द्रियों को तृप्त करता हुआ उन्हें सम-अवस्था में रखता है।

५-श्लेषक कफ—स्नायु सन्धियों में विशेषतः अस्थि सन्धियों में चिकनाहट उत्पन्न करता है और स्थिरता एवं दृढ़ता लाता है।

उपर्युक्त कथन की नाडी में सङ्गति इस प्रकार है:—यदि किसी रोगी को सुना हुआ या खूब याद किया हुआ भी भूल जाता है अर्थात् मेधा दुर्बल है तो वैद्य को एकाग्र चित्त

तस्य विकृतिरस्ति, येन हेतुना विस्मरति । उक्तं हि विकृतिमापन्नस्य पित्तस्य स्थानं क्षुद्रान्त्रमिति यतः ।

अथ रोगार्त्तस्य मुखास्वाद-विवक्षा स्यात्तत्र यदि श्लेष्मणा सह पित्तं नाडी प्रकाशेत; तदा बोधको रसो विलयनमापन्नः पित्तेन, तस्मान्नायमभिकाङ्क्षते कमपि रसविशेषमिति । तत्र यदि श्लेष्मा प्राधान्येन पित्तमनुशेते; तदा ज्ञातव्यं यत् सर्वविधे रसेऽभिरुचिरस्ति, परन्तु परिपाको न सम्यग् भवतीति । एवं हि प्रोक्तेषु त्रिदोष—पाञ्चविध्येषु परस्परं गौण-प्रधान-कल्पना नाड्यां विधाय विवक्षाधीनं वक्तव्यं भवति ।

पञ्चमहाभूतानामपि सर्वत्रांशांशकल्पना नाडीं पश्यता बुद्धावास्थाप्या । कुतः? भिन्नो हि कर्मानुषङ्गो लोकस्य । न हि सर्वस्यैकसमा नाडी । तत्र कश्चित् स्तेय-कर्मणि रुचिमाधत्ते कश्चिच्चापरं जिघांसति, कश्चित् परमीर्ष्यति, कश्चिन्नष्टं शोचति, कश्चिदन्यभावविशेषमिति यतः ।

अथ खलु त्रय उपस्तम्भाः,[1] त्रिविधं बलम्,[2] त्रीण्यायतनानि,[3] त्रिविधा रोगाः,[4] त्रयो रोगमार्गाः,[5] त्रिविधा भिषजः,[6] त्रिविधमौषधमिति[7] चरकोक्तं वात-पित्त-कफेन समं संतोल्यते; येन सद्य एव वातादिदोषेषु प्रक्षिप्य चिकित्सा-सौकर्यं निदान-सौकर्यं च स्यात् ।

से नाडी देखनी चाहिए । नाडी में यदि वायु, पित्तानुसारी होकर व्यक्त हो रहा हो तो उदर-विकार से विस्मरण होता है । क्योंकि ऊपर कहा गया है कि विकृत पित्त का स्थान क्षुद्रान्त्र है ।

रोगी के मुख का स्वाद जानने की इच्छा हो तो नाडी में श्लेष्मा के साथ पित्त को व्यक्त देखकर कहना चाहिए कि इसका बोधक-रस पित्त के योग से विलयन (पिघलना) को प्राप्त हो गया है अतः इसे किसी रस के आस्वाद की प्रतीति नहीं होती ।

यदि कफ-प्रधान नाडी पित्त का अनुरेक करके चलती है तो समझना चाहिए कि इसकी सब प्रकार के रसों में अभिरुचि है, परन्तु पाचन ठीक नहीं होता । क्योंकि पाचन, पित्त का कर्म है और वह (पित्त) श्लेष्मा की अधिकता से मन्द पड़ गया है । इस प्रकार उपर्युक्त त्रिदोष के पांच भेदों में मुख्य और गौण की कल्पना करनी चाहिए ।

नाडी को देखते हुए नाडी में पञ्चभूतों की भी अशांश-कल्पना करनी चाहिए । क्योंकि एक ही रोग में भिन्न भिन्न रोगिओं की नाडियां भी भिन्न भिन्न होती है । संसार में प्रत्येक मनुष्य के कर्म भिन्न होते हैं । कोई क्रोधी, कोई लोभी, कोई कपटी, कोई ईर्ष्यालु तथा कोई कामी होता है । प्रत्येक व्यक्ति की मनोवृत्ति के भेद से नाडी में भी भेद होना स्वाभाविक ही है।

शरीर के तीन स्तम्भ हैं—१-ब्रह्मचर्य, २- आहार और ३-स्वप्न । बल तीन प्रकार का है—१ युक्तिकृत, २ कालकृत और ३ सहज । काल के तीन योग हैं—१ मिथ्यायोग २ अयोग और ३ अतियोग । रोग तीन प्रकार के हैं—१ आन्तरिक कारणों से उत्पन्न, २ आगन्तुक-बाहरी-कारणों से उत्पन्न और ३ मानसिक । रोग-मार्ग भी तीन हैं—१ कोष्ठ २ शाखा-(रसादिधातु) और ३ मर्म अस्थि-सन्धियां । वैद्य भी तीन प्रकार के होते हैं—१. सिद्धसाधित, २ सद्वैद्य और ३ छली । औषधियां तीन प्रकार की होती हैं—१ दैवव्यपाश्रय, २ युक्तिव्यपाश्रय और ३ सत्त्वावजय ।

तद्यथा—	वातः	पित्तम्	कफः
१-त्रय उपस्तम्भाः	ब्रह्मचर्य्यम्	आहारः	स्वप्नम्
२-त्रिविधं बलम्	युक्तिकृतम्	कालजम्	सहजम्
३-त्रीण्यायतनान्यर्थानाम्-कर्म्मणः कालस्य च	मिथ्यायोगः	अयोगः	अतियोगः
४-त्रयो रोगाः	निजाः	आगन्तुकाः	मानसाः
५-त्रयो रोगमार्गाः	कोष्ठः	शाखाः (रसादिः)	मर्मास्थिसन्धयः
६-त्रिविधा भिषजः	सिद्धसाधितः	सच्छद्मवैद्यः	सद्वैद्यः,
७-त्रिविधमौषधम्	दैवव्यपाश्रयम्	युक्तिव्यपाश्रयम्,	सत्त्वावजयः

विस्तरस्तु तत्रैव (चरके, सूत्रस्थाने ११ अध्याये) द्रष्टव्यः।

अत्राभिसन्धिस्त्वेवम्--क्षीणब्रह्मचर्य्यस्य वातः प्रकोपमापद्यते। शक्तिमच्च ब्रह्मचर्य्यम्। शक्तिर्हि वायौ। **'विष्णुर्मे बलमादधातु' 'इन्द्रो मे वीर्यमादधातु' 'इन्द्रो बलं बलपतिः'**। शतपथ ११।४।३।१२। **मरणं बिन्दुपातेन** इत्युपनिषदि। **'इन्द्रो ह ब्रह्मचर्य्येण देवेभ्यः स्वराभरत्'** इत्यथर्वणि। ब्रह्मचर्य्यस्य स्नेहमयत्वात् समीरं समानयति--विषमीभावात् संरक्षति। क्षीणब्रह्मचर्य्यकस्य च वातवैषम्यं भवति। विषमवातस्य च क्षीणब्रह्मचर्यत्वं भवति, तद्वातं प्रकुपितमस्येति दृष्ट्वानुमीयते क्षीणं ब्रह्मचर्य्यमस्येति। तस्माद्युक्तमेवैतद् ब्रह्मचर्य्यं वातस्थानीयमिति।

आहारं विना न क्षुधात्मकस्य वह्नेः प्रशान्तिः। अन्नं हि ज्वलयति काष्ठमिवोदर्यमग्निम्। तस्मादाहारः पित्तस्थानीयः।

स्वप्नं कफस्थानीयमिति, रात्रो जागरितस्य पित्तप्रकोपं वा दृष्ट्वानुमीयते; स्वप्नं कफस्थानीयमिति।

युक्त्या यानादिना यन्त्रैर्बलं वातस्थानीयम्, चेष्टामयत्वाद्वातस्य। पैत्तं बलं कालकृतम्। यथा पर्युषितं दुग्धं पर्युषितो वा सूपोऽम्लतां भजते। तच्च

इन की विस्तृत व्याख्या चरक (सूत्रस्थान, अध्याय-११) में देखनी चाहिये।

इनकी वात, पित्त और कफ में सङ्गति इस प्रकार है—ब्रह्मचर्य वात-स्थानीय है। ब्रह्मचर्य रूप स्नेह के क्षीण होने से वायु कुपित होता है। विलोमदृष्टि से भी देखिये, वात-वेगी व्यक्ति का ब्रह्मचर्य क्षीण होता है। अतः वायु के प्रकोप से क्षीण-ब्रह्मचर्य का अनुमान होता है। ब्रह्मचर्य, सूक्ष्म रूप से सभी स्रोतों द्वारा स्रुत होता है। पुरुष का जननेन्द्रिय प्रधान मार्ग है। इससे स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य वात-स्थानीय है।

आहार के विना क्षुधा-वह्नि की शान्ति नहीं होती। अन्न, काष्ठ की भांति उदरस्थ अग्नि को प्रदीप्त करता है। अतः पित्त-स्थानीय है।

स्वप्न या शयन कफ-स्थानीय है। क्योंकि रात्रि-जागरण से पित्त प्रकुपित होता है। विलोमविधि से पित्त-प्रकोप से रात्रि-जागरण का अनुमान किया जाता है।

युक्तिकृत-बल वातस्थानीय है; क्योंकि वायु चेष्टामय है। कालकृत-बल पित्तस्थानीय है। क्योंकि दूध, दाल आदि पाक होने पर अम्ल हो जाते हैं। यह अम्लता काल से उत्पन्न

कालाश्रितम् । तस्मात् कालजं बलं पित्तस्थानीयम्., अम्लत्वाच्च पित्तस्य । सहजस्तु मन्दत्वात् कफस्थानीयः । कुतः ? परिष्कारस्याभावात् ।

अतियोगस्तावद्भवति यावदुपचित-धातु-संघातो भवति । अतियोगेन विश्लेषगते (विश्लेषः पित्तेन) धातुबले विषयेनायुक्तो भवति, तस्मात् स पित्तस्थानीयः । सर्वथैवायोगोऽपि धातूनामुपचये हेतुः । स चोपचयः स्वोष्मणा परितापयति तद्यथा—मल्ल-शरीरम्, यतीनां शरीरम् । मिथ्यायोगो विषमयति शरीरकर्माणि । विषमगतिर्हि वातस्य गुणः ।

मानसाः कफस्थानीयाः—अब्यानित्वाच्चन्द्रमसः, प्रत्यक्षं च पश्यामः, स्नानेन नद्यास्तट उपवेशनेन वा मनसि प्रह्लादोत्पत्तिर्भवति । **"चन्द्रमा मनसो जातः"** इति श्रुतिः । शीघ्रगतिमत्त्वाच्चन्द्रमसो, मनोऽपि शीघ्रगतिमत् । गतिश्च वायोस्तस्माज्जल-प्राधान्यमनुलक्ष्य कफे प्रक्षेपः । जले चापि वायोः सद्भावात् ।

'वातो वा मनो वा गन्धर्वाः सप्तविंशतिः ।
तेऽअग्रेऽश्वमयुञ्जँस्तेऽअस्मिन् जवमादधुः ॥ —यजु० ९।७

कोष्ठानामाकाशयुक्तत्वाद् वातस्थानीयाः कोष्टाश्रया व्याधय इति । रसादयो धातवः स्वोष्माधिष्ठितत्वात् पित्तस्थानीयाः । शाखाः रक्तादयो धातवः, त्वक् चेति चरकोक्तिः । मर्मास्थिसन्धिषु श्लेष्माधिष्ठितत्वात् कफे प्रक्षेपः ।

युक्तिव्यापाश्रयः पित्तस्थानीयः । युक्त्यां हि रजोगुणसंयोगः । यथा क्वाथादि-

---

होती है । सहज या स्वाभाविक बल, परिष्कार अर्थात् बौद्धिक युक्तियों से रहित होने के कारण कफस्थानीय है ।

अतियोग पित्तस्थानीय है । क्योंकि अतियोग तभी तक होता है जब तक कि सञ्चय होता रहता है । वह उपचित संघात, जब अतियोग से क्षीण हो जाता है तब विषय से पृथक् हो जाता है । इससे सिद्ध है कि अतियोग पित्त स्थानीय है । अयोग श्लेषमस्थानीय और मिथ्यायोग वातस्थानीय है । क्योंकि मिथ्यायोग शरीर की क्रियाओं को विषम कर देता है और विषम—गति वायु की होती है ।

मानसिक रोग कफस्थानीय हैं । क्योंकि मन का सम्बन्ध चन्द्रमा से है । चन्द्रमा जलतत्त्व प्रधान है । नदी, समुद्र आदि देखने या स्नान आदि करने से मन प्रसन्न होता है । चन्द्रमा शीघ्र-गामी है अतः मन भी शीघ्रगामी है । यहां चन्द्र की जल-प्रधानता का आश्रय करके मानसिक रोगों को कफस्थानीय कहा जाता है ।

कोष्ठों के आकाश युक्त (पोला) होने से कोष्ठाश्रय-व्याधियां वातस्थानीय हैं । रस आदि धातु, परिपाक के लिये अपनी ऊष्मा धारण करते हैं अतः रक्त आदि शाखाओं में होने वाली व्याधियां पित्तस्थानीय हैं । आयुर्वेदशास्त्र में रक्त आदि धातुओं तथा त्वचा को शाखा कहा गया है । मर्म और अस्थि-सन्धियों में श्लेष्मा के रहने से उन स्थानों की व्याधियां कफ-स्थानीय हैं ।

युक्तिव्यपाश्रय-चिकित्सा, पित्तस्थानीय है; क्योंकि युक्ति में रजोगुण का योग है । जैसे—

निष्पादनेऽग्नियोगः कर्त्तव्यो भवति । तत्र श्रमः । श्रमेण हि पित्तोद्रेकः । तस्मादिदमुच्यते ।

सत्त्वावजयः कफस्थानीयः । सत्त्वं हि सोम-गुण-वहुलैरुपदेशैः शाम्यति ।

दैवव्यपाश्रयो वातस्थानीयः । वातं ह्याकाशतत्त्वयुतं भवति । शौचादयश्चाकाशगुणाः । तस्मादिदमुच्यते ।

एवं हि त्रिविध-वैद्यविधावप्यूह्यम् ।

अत्रास्माभिरुपपत्तेः क्रमज्ञानविधौ बुद्धेर्वैशद्यसंपादनायोदाहरणपुरःसरमयमभिसन्धीति लिखित्वा व्यक्तीकृतम् । सर्वस्य नाडीविज्ञानस्य बीजमुक्तमेकीकरणप्रकारश्च । विस्तरस्तु गुरोः सकाशादवगन्तव्यः कायाङ्गभूतस्य धरा-प्रवन्धस्य ।

भवन्ति चात्रास्माकम्—

दोष-धातु मलानाञ्च स्वरूपं सोपपत्तिकम् ।
स्थूल-सूक्ष्म-विभागेन द्वैविध्यं विविधं च यत् ॥१॥
आहार-परिपाकस्य क्रमो धातु-क्रमस्तथा ।
पुं-स्त्री-नपुंसकानाञ्च वात-पित्त-कफे नयः ॥२॥
धातूनां मल-मार्गेषु वातादीनां विशेषणात् ।
उत्तरोत्तरधाते हि विकृतेर्ज्ञप्तिसाधनम् ॥३॥
वाल–तारुण्य–वार्धक्ये त्रिदोषस्य समन्वयः ।

क्वाथ आदि के पकाने में द्रव्यों का अग्नि के साथ संयोग होता है । क्वाथादि पाक में श्रम होता है । श्रम से पित्तोद्रेक होता है । सत्त्वावजयचिकित्सा कफस्थानीय है । मन, सोम–(शन्ति-शीत शब्द प्रधान) गुण वहुल उपदेशों से शान्त होता है अतः वह कफप्रधान है ।

दैवव्यपाश्रय—चिकित्सा वातस्थानीय है । वायु में आकाशतत्त्व अधिक है । शौच पवित्रता आदि आकाश के गुण हैं ।

इसी प्रकार तीन प्रकार के वैद्यों की संगति करनी चाहिये ।

यहां पर उदाहरण के लिये कुछ विस्तार के साथ इस विषय का विवेचन कर दिया है ताकि बुद्धि में तैलविन्दु की भांति वैद्यों को विस्तार का अवसर मिल सके । बीजरूप से नाडीज्ञान का दिग्दर्शन करा दिया गया है । इसका विशद विवेचन या एकवाक्यता किसी नाडीविशेषज्ञ से समझनी चाहिये । यह क्रियात्मक-प्रयोग लेख द्वारा नहीं समझाया जा सकता यह धरा-ज्ञान 'कायाङ्ग' का उपाङ्ग है ।

इस अध्याय में वर्णित विषयों का संक्षेप इस प्रकार है:—

दोष, धातु और मल का युक्तियुक्त स्वरूप तथा स्थूल और सूक्ष्म भेद से नाना प्रकार की द्विविधता का वर्णन किया गया है ॥१॥

आहार के परिपाक का क्रम, धातुओं की उत्पत्ति का क्रम; वात; पित्त, कफ में पुरुष, स्त्री और नपुंसक का निक्षेप है ॥२॥

धातुओं में रहनेवाले मलों के त्रिदोषों के द्वारा दूषित होने पर व्याधि का धातु का तथा अन्य धातुओं का निर्णय किया गया है ॥३॥

वाल, वृद्ध और युवा तीनों अवस्थाओं का त्रिदोष में समक्षेप, द्रव्य, गुण कर्म का तथा

द्रव्य-कर्म-गुणानाञ्च त्रिदोषे सृष्टि-साधनम् ॥४॥
स्थित्युत्पत्तिलयानाञ्च त्रिदोषेण समानता ।
बहुधा गात्रिगात्राणां कल्पनं दोषज्ञप्तये ॥५॥
म्रियमाणो गतिं कां वै याति युक्तिरुदाहृता ।
दोष-त्रैध्य-स्वरूपञ्च विकृताविकृतं पृथक् ॥६॥
त्रिदोष-पञ्च-भेदानां सामान्यं कर्म-दर्शनम् ।
दूतनाड्यां विशेषेण वैद्यकीर्तिविवर्धनम् ॥७॥
त्रिकं हि सप्तधा भिन्नं क्षिप्तं दोषत्रयात्मके ।
निदाने लाघवं यस्मात् स्यात्तथैव चिकित्सिते ॥८॥
समक्षेपे त्रिदोषस्य बीजमात्रं निदर्शितम् ।
य एवं विविधे व्याप्तं जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥९॥
वेत्ति क्षेप्तुं धरायां हि नालभ्यं तस्य विद्यते ।
स वैद्यः कीर्तिमभ्येति देवैरपि सुदुर्लभाम् ॥१०॥
युक्तिः सर्वात्मना ह्युक्ता विस्तरस्य प्रसाधिका ।
सेठीपदाह्वयुक्तश्री— विष्णुदासाश्रमे वसन् ॥११॥
राजत्यम्बुवहोर्मध्ये राजौरी—पत्तनाह्वये ।
वेदशून्याभ्रनेत्राब्दस्याषाढे वैक्रमे सिते ॥१२॥

॥ इति नाडीतत्त्वदर्शने त्रिदोष-समक्षेपीयश्चतुर्थोऽध्यायः ॥

स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय का त्रिदोष में विभाजन किया गया है । शरीर के अवयवों को भी वात आदि में विभक्त करके त्रिदोषज्ञान की सुविधा की गई है ॥४॥५॥

मरनेवाला प्राणी अगले जन्म में किस योनि में जायेगा—इसके ज्ञान का उपाय बतलाया गया है । त्रिदोष के शुद्ध (प्राकृत) स्थानों और विकृत स्थानों का पृथक् पृथक् निर्देश किया गया है ॥६॥

त्रिदोष के पांच भेदों के नाम, स्थान तथा उनके कर्म बताये गए हैं । दूतधरा में उनका निवेश करके इसे वैद्यों की कीर्तिवर्धन का कारण बताया गया है ॥७॥

निदान तथा चिकित्सा की सुगमता के लिए सात प्रकार से विभाग किए त्रिक को त्रिदोष में प्रक्षिप्त किया गया है ॥८॥

इस प्रकार इस त्रिदोष समक्षेपीय अध्याय में बीजमात्र प्रदर्शित किया गया है। जो वैद्य विश्व को त्रिदोष में समक्षिप्त करना और उसे विस्तृत करना जानता है उसके लिए कुछ भी अलभ्य नहीं है वह वैद्य शुभ्र कीर्ति को प्राप्त होता है ॥९॥१०॥

इस अध्याय में विस्तार को संक्षिप्त करने की युक्ति भी सम्पूर्ण रूप से बता दी गई है । इस अध्याय का संकलन गो-ब्राह्मण प्रतिपालक, जम्मू प्रान्तस्थ रामपुरा राजौरी निवासी श्री विष्णुदास सेठी के घर पर विक्रम संवत् २००४ के आषाढ मास में पूर्ण किया ॥११॥१२॥

॥ त्रिदोष-समक्षेपीय चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥

* दूतनाडी-विज्ञानीयः पञ्चमोऽध्यायः *

अथातो दूतस्य नाड्या रोग-परीक्षा-विधिविशेषं वक्ष्यामः ।

दूतशब्दप्रयोगो वेदे—

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः ।
त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे ॥ अथर्व० ४।१३।३

व्याख्यानमस्य प्रथमाध्याये चतुर्थपृष्ठे द्रष्टव्यम् ।

'स्यात् सन्देशहरो दूतः' अमरकोषे २।८।१६

'दुतनिभ्यां दीर्घश्च' (दशपाद्युणादि० ६।१०) (पञ्चपाद्युणादि० ३।८६) दुनोतीति दूतः=सन्धानकृत् ।

चिकित्सायाः खलु चत्वारः पादा भवन्तीति वृद्धैरनुगीयते । तद् यथा—

चिकित्सिते त्रयः पादा यस्माद् वैद्यव्यपाश्रयाः ।
तस्मात् प्रयत्नमातिष्ठेद् भिषक् स्वगुणसम्पदि ॥

—च० सू०, अ० ९।२४॥

उपस्थातुश्चापि चत्वारो गुणाः । यथा तत्रैव—

उपचारज्ञता दाक्ष्यमनुरागश्च भर्तरि ।
शौचं चेति चतुष्कोऽयं गुणः परिचरं जने ॥

—च० सू० ९।७॥

तथा च—**"परीक्ष्यकारिणो हि कुशला भवन्ती"**ति (च० सू० १०।४ चरकोक्तिः । तस्माद् वैद्येन रोगिणो रुजं वक्तुमागतस्य दूतस्यैव तावत् पूर्वं नाडी-परीक्षा विधेया, येन दूतनाड्यैव रोगिणो दोषाणां गुरु-लाघवं ज्ञातुं शक्येत, ततश्च दोषानुगतमौषधं कल्पनीयम् । भवति चात्रास्माकम्—

इस अध्याय में दूत की नाडी द्वारा रोगी की रोग-परीक्षा का प्रकार कहा जायेगा ।

प्राचीन वैद्यशास्त्र के आचार्यों द्वारा चिकित्सा के चार पाद (भाग) बताये गये है । जिनमें तीन पाद वैद्य के आधीन हैं । इसलिये वैद्य को पूरे प्रयत्न से अपने गुणों के सम्पादन में क्रियाशील रहना चाहिये ।

उपचारक (रोगी की सेवा करने वाले) के भी चार गुण हैं १. बुद्धिमत्ता २. रोगी के साथ प्रगाढ-प्रेम, ३, पवित्रता और ४. उपचारविधि को भलीभांति जानना ।

चरक में कहा है—'कुशल वैद्य वे होते हैं; जो परीक्षा करके कार्य करने वाले होते है।' इसलिये वैद्य को चाहिये कि रोगी का समाचार लेकर आनेवाले दूत की पहले सावधानी से परीक्षा करे ताकि दूत की नाडी से ही रोगी के दोषों का गौरव-लाघव-भाव जानकर रोग के साध्य या असाध्य होने का निर्णय कर सके । इसमें हमारा संक्षेपार्थ पद्य यह है—

दूताद् व्याधिमतो ज्ञाने यतितं त्विह सर्वकैः ।
गणितेनाथ प्रश्नेन बाह्यचिह्नेन वा पुनः ॥

कुत एतत् ? जगतः सर्ववस्तूनां द्वे अवस्थे भवतः यथा—वृद्धि-क्षयौ, शुक्ल-कृष्णौ, प्रत्यक्ष-परोक्षावित्येवमादयः । तत्र यो हि रोगी स्वयं प्रत्यक्षतो वैद्यं नाडीं प्रदर्शयति, सा हि प्रत्यक्षावस्था रोगिणो रोगस्य शुक्लपक्षमिव । अनुपस्थितो रोगिणो यो रुजां वक्ति, सा रोगिणो रोगस्य परोक्षावस्था कृष्णपक्षतुल्या । स च दूतः ।

लोकेऽपि च पश्यामः । शरीरच्छाया शरीरिणं सहस्रौघान्निर्धारयति—अयमस्याश्छायायाः स्वामीति । इत्थमेव छायामयो दूतः । यथा हि ज्योतिःस्तम्भाधो गच्छतः पुरुषस्य छाया दीर्घा, मध्यमा, लघ्वी च सन्त्यपि यातुः स्वरूपं न जहाति., तथैवायं दूतोऽपि बाल-युव-वृद्धादिरूपेष्वायन्नपि रोगिणो रोगज्ञापकतां न जहाति ।[1] तस्मात् संगच्छत एव दूतेन सुखदुःखयोर्ज्ञानमिति । अतश्च वक्तुं पार्यते यत् सर्वोऽयं प्रबन्धः साकल्येन प्रत्यक्षमिव परोक्षरूपात्मके दूतेऽपि युज्यते ।

भवति चात्रास्माकम्—

दूत के द्वारा रोगी के रोग को जानने का प्रयत्न अनेक विद्वानों एवं आचार्यों ने किया है । किसी ने गणित के द्वारा, किसी ने प्रश्न द्वारा तो किसी ने दूत के बाहरी चिह्नों द्वारा ।

इसका कारण यह है कि जगत् की सभी वस्तुएं दो रूपों में है । जैसे—वृद्धि और क्षय प्रत्यक्ष और परोक्ष एवं शुक्ल या कृष्ण । जो रोगी स्वयं उपस्थित होकर वैद्य को नाडी दिखाता है वह प्रत्यक्ष-अवस्था-शुक्ल-पक्ष के समान है । रोगी की अनुपस्थिति में जो रोगी का कथन करना है; वह उसकी अप्रत्यक्ष या परोक्ष अवस्था कृष्णपक्ष के समान है ।

लोक में देखा जाता है कि शरीर की छाया-चित्र या फोटो भी-उस मनुष्य को सहस्र मनुष्यों के समूह से पृथक् कर देती है कि चित्रवाला वास्तविक पुरुष यह है । उसी प्रकार रोगी का दूत उसकी छाया के समान है । इसी प्रकार दीप या प्रकाश के नीचे से जाने वाले पुरुष की छाया कभी छोटी कभी लम्बी कभी खडी दीखती है; लेकिन उस पुरुष से पृथक् नहीं होती उसी प्रकार दूत, बालक वृद्ध या युवा कोई भी क्यों न हो; रोग ज्ञापकत्व धर्म को नहीं छोड़ता । अत एव दूत से रोगी का सुख दुःख जानना सुसंगत होता है ।

अतः यह कहना युक्तियुक्त है कि यह समूचा प्रबन्ध-रावणनाडी जिस प्रकार प्रत्यक्षरोगी के रोगज्ञान में उपयोगी है, उसी प्रकार परोक्ष-रोगीदूत के लिये भी उपयुक्त और प्रयुक्त हो सकती है । इसमें हमारा संक्षेपार्थ पद्य यह है—

---

१. 'सर्व एव विकारा निजा नान्यत्र वातपित्तकफेभ्यो निर्वर्त्तन्ते । यथा शकुनिः सर्वं दिवसमपि परिपतन् स्वां छायां नातिवर्तते, तथा स्वधातुवैषम्यनिमित्ताः सर्वे विकारा वातपित्तकफान्नातिवर्त्तन्ते । वातपित्तश्लेष्मणां पुनः स्थान-संस्थान-प्रकृतिविशेषानभिसमीक्ष्य तदात्मकानपि च सर्वविकारांस्तानेवोपदिशन्ति बुद्धिमन्तः इति ।" च० सू० १९।५

न जहाति यथा छाया छायिनं सर्वभावतः ।
तथैव नो जहात्येव दूतो व्याधिमतो रुजाम् ॥

अस्मन्मते दूतलक्षणन्त्वेवम्—

रुजार्त्तस्यासमर्थस्य गन्तुं वैद्यस्य सन्निधौ ।
उपेत्य यः कांच ब्रूते रुजो दूतः स उच्यते ॥

तद् यदस्माभिः पूर्वं नारदविज्ञानमुक्तं तत्तथैव सर्वं दूतनाड्यां समाश्रयणीयम् । अर्थात् स एव हि क्रमो दूतनाड्या रोगिणो रोगविज्ञाने व्यवहर्त्तव्यः । अत्रेदमवधार्यम्—यथा प्रच्छन्नोऽपि वक्ता वाचाहूयमानं सुहृदादिकं प्रति प्रत्यक्षमिवावभासयत्यात्मानं तथैवेह दूतविधावपि प्रकृतेतरव्याहत-नियमः क्रियापथमध्यारोहति । दूतः स एवायाति यस्य नाड्यां रोगिणो रोगं ज्ञापयितुमर्हस्य वातादि—दोषस्य रोगिणो दोषसाम्यं भवति । तस्माद् बुद्धिमता भिषजा स दूत एव रोगित्वेन प्रकृतिविकृतिभावाय द्रष्टव्यः । विकृत्या विकृतिमापन्नानां तत्तद्दोषस्थानानां रोगिणो लक्षणानि वक्तव्यानि । दोषाणां विकृताविकृतानां स्थानान्युक्तानि त्रिदोषसमक्षेपीये अध्याये । अमुनैव विधिविशेषेण वयं प्रत्यहं ब्रूमः ।

विज्ञानेनानेन कुड्य-कटान्तरितादारभ्य यथेष्टव्यवधानमिति यावत्तावद् दूर-

---

"जैसे छाया छायी को नहीं छोड़ती, उसी प्रकार दूत रोगी को रोग-ज्ञापक-शक्ति को नहीं छोड़ता।"

इस प्रबन्ध में आये हुए दूत का लक्षण इस प्रकार है—'जो रोगी किसी भी कारण से वैद्य के पास आने में असमर्थ है, उसकी अवस्था (हालत) बताने के लिये जो वैद्य के पास जाता है, वह दूत है।

हमारे इस निबन्ध में जो कुछ कहा गया है, उसका प्रयोग इसी प्रकार के दूत की नाडी में करना चाहिये और प्रत्यक्ष रोगी की भांति दूत की नाडी से ही सभी ज्ञातव्य बातों को भलीभांति समझना और उसकी चिकित्सा करनी चाहिये।

जिस प्रकार कोई भी व्यक्ति, स्वयं उपस्थित न होकर सन्देशवाहक दूत के द्वारा अपने शब्दों में किसी मित्र आदि के सन्मुख उपस्थित होता है और उसके शब्द उसका साम्य या प्रतिनिधित्व उपस्थित करते हैं, उसी प्रकार दूतनाडीविज्ञान में भी रोगी, अपने वात आदि दोषों के साथ दूत द्वारा वैद्य के सामने उपस्थित होता है।

दूत वही आता है जिसकी नाडी में रोगी के रोग को जताने वाले वातादि दोषों का रोगी के दोष के साथ साम्य होता है अतः बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि दूत की नाडी को ही रोगी की नाडी समझकर रोगी का प्रकृतिविकृति भाव देखे। दूत की नाडी में ही त्रिदोष की मुख्य-गौण-कल्पना, अंशांश-कल्पना करके रोगी के आशयों के प्रकृतिविकृतिभावों से होनेवाले लक्षणों को कहे। विकृत एवं अधिकृत दोषों का स्थान-निर्देश त्रिदोष-समक्षेपीय अध्याय में कहा जा चुका है। हम स्वयं प्रतिदिन इसी प्रकार दूत-नाडी का वर्णन करते हैं।

इस विज्ञान द्वारा रोगी दीवार या चटाई की ओट से लेकर मीलों की दूरी तक परोक्ष में रहे किसी प्रकार का व्यवधान बाधक नहीं होता; प्रत्युत रोगी प्रत्यक्ष की भांति परीक्षित

स्थितोऽपि रोगी प्रत्यक्षमिव परीक्षामुपयाति।

प्रयोजनं त्वस्य निःसंशयेन दूताय रोगिणः कृते दोषाणामंशांशकल्पनपुरःसरं मात्रानुगतं भेषज-प्रदानम्।

भवति चात्रास्माकम्—

विनेहांशांशचिन्ताभिर्भिषज्यन् पापमृच्छति।
मनः स्पृशदतो दूतज्ञानं स्यात् सप्रयोजनम्॥

विषमपरिस्थितिषु तिष्ठतो रुजार्तस्य वैद्यनिकटमुपस्थातुमशक्यत्वात्; निर्धनत्वात्, आतुरस्यासहायत्वात् पर्वतबहुलान्तरितस्थानस्थितत्वाद्वा रुजामतः। एतादृगवस्थासु व्यवहृतोऽयं प्रकारो यशसे कल्पते, कौतुहलाय प्रयुक्तः पापाय।

भवति चात्रास्माकम्—

बालो वाप्यथ बाला वा वृद्धो वृद्धा युवापि वा।
पत्युर्माता पिता चापि यो वा को वात्र युज्यते॥

अत्रेदमवधार्यम्—यो यो यदा यदा यस्मिन् यस्मिन् काल आयाति,स दूतस्तदा तदा तस्मिन् तस्मिन् काले रोगिदोषवहां धमनीमाधत्त इति बहुधा निर्णीतं ब्रूमः।

भवतश्चात्रास्माकम्—

दूतो हि यो यदाभ्येति वक्तुं व्याधिमतो रुजाम्।
तदा दधद्धरामेति रोगिणो रोगसूचिकाम्॥
अनेकेष्विह तिष्ठत्सु तथैवोपचरत्स्वपि।
स एवैति रुजं वक्तुं यः स्याद्दोषगतौ समः॥

तद् यथा निजवृत्तं ब्रूमः—वेदशून्याश्नेत्राब्दस्य(२००४)श्रावणे मासि काश्मीरपर्वतेषु नन्दनसरो गच्छद्भिरस्माभिः 'थन्नामण्डी' स्थाने चिकित्सानिमित्तमुषितम्।

होता है। इसका प्रयोजन यह है कि दूत द्वारा रोगी के दोषों की अंशांश-कल्पना के अनुरूप रोगी के लिये मात्रा युक्त औषधिप्रयोग भी किया जा सकता है।

दूत की नाडी द्वारा इस रोग-कथन की विधि में—बालक, बालिका, युवती, वृद्ध, वृद्धा, माता-पिता, सास-ससुर, या भाई-बहिन—सभी कार्य-साधक होते हैं।

यहां यह जानना आवश्यक है कि जो-जो जब-जब और जिस-जिस समय आता है, वह-वह तब-तब और उसी-उसी समय रोगी के दोष के समान दोषों को वहन करने वाली नाडी को धारण करता है। यह अनेक वर्षों तक अनेक बार परीक्षा करके निर्णय किया गया है।

उक्त विषय को हमने अपने श्लोकों द्वारा संक्षिप्त किया है। जैसे—

"रोगी का रोग बताने के लिये जब जो आता है, तब वह रोगी की रोगसूचक नाडी को लिये हुए आता है। रोगी के अनेक मित्रों, सम्बन्धियों या सेवकों में से वही व्यक्ति, वैद्य के पास सन्देश लेकर जाता है जिसकी नाडी रोगी की नाडी के दोषों से समता रखती होगी।"

यहां प्रसङ्ग से हम कुछ अपने अनुभूत प्रयोग लिखते है। एक बार २००४ विक्रमाब्द के श्रावण मास में नन्दनसरकी यात्रा के लिये जाते हुए 'थन्ना मण्डी' में किसी की चिकित्सा के लिये ठहरे। किसी अन्य वैद्य की चिकित्सा कराते हुए भी एक रोगी का निदान कराने

तत्रान्यस्य कस्यापि वैद्यस्य प्रचलति चिकित्साप्रवन्धे क्षीणवलस्य निदानं कारयितु-महमाहूतः सशिष्यः । तत्र 'खन्ना' निवासिनायुर्वेदाचार्य-पद-प्रतिष्ठितेन पण्डित-देवीदयालुना तथा च 'रामपुर-रजौरी'निवासिना योगराजसेठिनाधीयमानायुर्वेदेनाहमुक्तो, यदस्य दूतपरीक्षाविधिना परीक्षां विधाय वक्तव्यं यदयं रोगी जीविष्यति, मरिष्यति वेति ।

तस्मिन्त्समये द्वौ युवानौ दूतरूपिणावुपस्थितावास्ताम् । पृष्टं मया युवाभ्यां मध्ये रोगिणो यौनसम्वन्धं कतरोऽधितिष्ठति ? कतरोऽपि नेत्युत्तरम् । तत्र पुनः पृष्टं युवयोः को ज्यायान्? लब्धोत्तरेण मया ज्येष्ठस्य नाडी दृष्टा । दृष्ट्वा चोक्तम्—नाहं युवाभ्यां सह रोगिगृहं यास्यामि । यतः स दूतो मद्यप आसीत् । पीतमद्यस्य वलं क्षीयमाणं भवतीति कृत्वावगतं क्षीयमाणं जीवनमार्त्तस्येति । तथा हि प्रातः सूर्योदयात् प्रागेव पञ्चतामुपगतो रोगीति समाकर्णितम् ।

अतो ज्ञातव्यमिदं यद् दूतः प्रकृत्या स्वभावत एव पीतमद्य आसीत् । स यदि पीतमद्यो नाभविष्यत्तदा रोगार्तस्य मरण-कथनं नाभविष्यत् । अतो वक्तव्यमिदं यद् दूतो हि रोगिदोष-समदोषज्ञापिकामेव नाडीं दधदायातीति ।

अथास्य विज्ञानं ब्रूमः—जगदिदं त्रिविधविकल्पं सदपि द्विविधविकल्पं प्राधान्येनानुशेते । यथा—अहोरात्रे, स्त्रीपुंसौ, सूर्याचन्द्रमसौ, अग्नीषोमौ चेति । एवं स्त्री

के लिए मुझे बुलाया गया । उस समय खन्ना-निवासी देवीदयालु जी आयुर्वेदाचार्य और रामपुर-रजौरी निवासी योगराज सेठी ने कहा कि 'आप दूतनाडी-परीक्षा विधि से परीक्षा करके वतलाइये कि रोगी जीएगा या मरेगा ।' इस समय दूत रूप में दो युवक बुलाने के लिये आये थे । मैंने उनसे पूछा कि तुम दोनों में रोगी का सम्बन्धी कौन है ? उत्तर मिला—'कोई भी नहीं ।' पुनः प्रश्न किया कि 'तुम दोनों में कौन बड़ा है कौन छोटा है । उत्तर मिलने पर मैंने बड़े की नाडी देखकर कहा कि मैं तुम्हारे साथ नहीं जाऊंगा । कारण यह है कि दूत ने शराब पी रखी थी । शराबी का बल क्षीयमाण होता है—इसी से समझ लिया कि रोगी का जीवन समाप्त हो रहा है । अन्ततः वह रोगी उसी रात में सूर्योदय के पूर्व ही मर गया ।

यहां जानने वाली बात यह है कि दूत (बड़ा) स्वभावसिद्ध ही सुरा पीया हुआ था, यदि दूत शराब न पिया होता तो रोगी का मरण नहीं कहा जा सकता था—इसलिये यह मानना आवश्यक है कि दूत, रोगी की अवस्था को व्यक्त करने वाली नाडी लिये हुए ही आता है—चाहे किसी भी कारण से हो ।

दूतविज्ञान के सम्बन्ध में कुछ विवेचन किया जाता है—

यह जगत् तीन भागों में विभक्त होकर भी प्रधानरूपेण दो भागों में विभक्त हैं जैसे:—दिन-रात, स्त्री-पुरुष, सूर्य-चन्द्र, अग्नि-सोम इत्यादि । इसी प्रकार पुरुष स्त्री से विवाह करता है और स्त्री पुरुष से । पुरुष के वामपक्ष में स्त्री का और स्त्री के दक्षिणपक्ष में पुरुष का

पुरुषं परिणीते, पुरुषश्च स्त्रियम् । तस्मात् पुरुषस्य वामे स्त्री, स्त्रियो दक्षिणे पुरुष. उक्तञ्च शतपथब्राह्मणे (१०।५।२।६)—

"स एष एव इन्द्रो योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषोऽथेयमिन्द्राणी योऽयं सव्येऽक्षन् पुरुषः ।" इति । तथा च—

"पुरुषश्चाक्षुषो योऽयं दक्षिणेऽक्षिण्यवस्थितः ।
इन्द्रोऽयमस्य जायेयं सव्ये चाक्षिण्यवस्थिता ।।" मैत्र्युपनिषद्७।११

अन्यच्च शतपथब्राह्मणे (५।२।१।१०)—

'पुरुषसम्मितो यूपो भवति । चतुरस्रो यूपो भवति । अर्धो ह वा एष आत्मानो यज्जाया तस्माद् यावज्जायां न विन्दते, नैव तावत् प्रजायते, असर्वो हि तावद् भवति, अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते, तर्हि हि सर्वो भवति ।'

पुरुषस्य पूर्णता स्त्रीपुरुषयोः परस्परमाभिमुख्यसम्मिलनेनैव भवति । तस्यामवस्थायां पुरुषस्यावस्था चतुरस्रा भवति । एवं सति पुरुष-दक्षिणभागेन स्त्रियो वामभागस्य सम्मेलनं भवति । अतश्चतुरस्रयूपस्य दक्षिणभागे या शक्तिर्भविष्यति, सा मध्यतो विभाजिते सति स्वभावत एव स्त्रियो वामभागिनी भविष्यति । अतो नाडीपरीक्षा पुरुषस्य दक्षिणभागेन स्त्रियो वामभागेन क्रियते । व्यवस्थैषा शकुनविचारे तिलादिलक्षणेषु चापि संगच्छते ।

तथा च—अग्निसोमीयं जगदिति सिद्धान्तः । अग्निसोमौ च धनर्णात्मकौ विद्युतौ । तयोर्हि परस्परमाकर्षण-विकर्षणे भवतः । उत्पद्यते च ताभ्यां जगद्विस्मयकारिणी शक्तिः । तथैवात्र स्त्री क्षेत्रात्मिका शक्तिः पुमान् बीजात्मिका शक्तिः,एतयो-

---

स्थान स्वभावसिद्ध है । शतपथ में कहा है कि पुरुष की दाहिनी आंख में पुंशक्ति और बांयी आंख में इन्द्राणी शक्ति है । मैत्र्युपनिषद् में भी इसी को स्पष्ट किया गया है । शतपथ में इसे और भी स्पष्ट किया है—

"पुरुष एक चौड़े खम्भे (यूप) के समान है । यूप चतुष्कोण होता है । स्त्री, पुरुष के अपने भाग का आधा है इसलिये जब तक पुरुष स्त्री को प्राप्त नहीं करता तब तक अपने रूप (सन्तान) को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता । स्त्री के विना पुरुष आधा है । जब स्त्री को प्राप्त करता है और उसमें उत्पन्न होता है तव पूर्ण होता है ।"

सारांश यह है कि पुरुष की पूर्णता स्त्री पुरुष के सम्मुख मिलने से ही होती है । मिलने पर पुरुष की चतुष्कोण अवस्था होती है । ऐसा होने पर पुरुष के दक्षिण भाग से स्त्री के वाम भाग का सम्मेलन होता है । इसलिये चतुरस्र यूप के दक्षिण भाग में जो शक्ति होती है वह मध्य से विभक्त होकर स्वभाव से ही स्त्री की वामपक्षभागिनी होगी । इसलिये पुरुष के दक्षिण भाग और स्त्री के वाम भाग से नाडी परीक्षा करनी चाहिये । यही व्यवस्था शकुन विचार तथा तिल आदि लक्षणों में भी देखनी चाहिये ।

यह समूचा जगत् अग्निसोमीय है । अग्नि तथा सोम धन और ऋण रूप विद्युत् हैं । उनका परस्पर आकर्षण और विकर्षण होता है । उससे जगत् को विस्मय करनेवाली शक्ति उत्पन्न होती है । इसी प्रकार स्त्री क्षेत्रात्मिका शक्ति है और पुरुष बीजात्मक शक्तिरूप है ।

रपि परस्परमाकर्षणविकर्षणे भवत एव । दृश्यते च लोके क्षेत्रे ह्यु प्तं वीजमात्मानं क्षेत्रीकरोति, क्षेत्रं चात्मानं व्रीजीकरोति । कुतः ? विपरीत आकर्षण-सद्भावात् । एव हि स्त्री स्वदक्षिणेन पुरुषमाचष्टे, पुरुषश्च स्ववामेन स्त्रियमाचष्ट इति ।

यथा च वसवराजः—

स्त्रीणामूर्ध्वमुखः कूर्मः पुंसां पुनरधोमुखः ।
अतः कूर्मव्यतिक्रान्तात् सर्वत्रैव व्यतिक्रमः ॥
लक्ष्यते दक्षिणे पुंसां या च नाडी विचक्षणैः ।
कूर्मभेदेन वामानां वामे चैवावलोक्यते ॥

रोगिणो यकृत्-प्लीह्नोर्भेदज्ञानाय दूतस्यापि धमनीद्वयमेव द्रष्टव्यं भवति । तद् यथा न्यासः—

स्त्रियः श्वसुरादयःपुरुषास्तस्मात् पौंस्नाः । पुरुषस्य श्वसुरादयः स्त्री-प्रधानास्तस्मात् स्त्रैणाः । पौंस्नभक्तिमती स्त्री । स्त्रैणभक्तिमान् पुरुषः ।

उपपद्यते चात्रैष प्रश्नः—पुंपक्षेऽपि स्त्रीजातिविशिष्टानां श्वश्र्वादीनां भावो भवति, स्त्रीपक्षेऽपि च पुरुषजातिविशिष्टानां श्वसुरादीनां भावो भवत्येव । तत्राव्यवस्था दोष उत्पद्यते । नैवम् । चक्रकव्यवस्थयानुसंधेयम् । कुतः ? सर्वासां श्वश्रूणां परस्परं जामातृत्वस्नुषात्वसद्भावात् । सारत एवमवमन्तव्यम्—स्त्रीपक्षात् समागतः श्यालोऽपि दूतनाडी परीक्षाविधौ वामपक्षमेवालङ्करोति । पितुर्नाड्याः पुत्रस्य पुत्र्या-

---

उनका भी आकर्षण तथा विकर्षण होता ही है । प्रायः देखा जाता है कि खेत में डाला हुआ बीज अपने को खेत के रूप में परिणत कर देता है और खेत बीजरूप में परिणत हो जाता है । आकर्षण विपरीत (आमने-सामने) का होता है या विकार का विकारी के प्रति (देखो—पञ्चमहाभूतत्रित्वीय अध्याय) । वसवराज ने अपने नाडी प्रकरण में लिखा है—

स्त्री का कूर्म ऊर्ध्वमुख और पुरुष का अधोमुख होता है । अतः कूर्म के व्यतिक्रम से स्त्री-पुरुष में व्यतिक्रम समझना चाहिये । अतः जो नाडी स्त्री के बांए हाथ में देखी जाती है वही कूर्म भेद के कारण पुरुष के दाहिने हाथ में देखी जाती है ।

यदि रोगी के यकृत् या प्लीहा का भेद जानना हो तो दूत की दोनों नाडियां देखनी चाहियें । स्त्री के श्वसुरादि पुरुष होते हैं अतः स्त्री पुरुषाभिरुचिमती है । पुरुष के सास आदि स्त्री होते हैं अतः पुरुष स्त्री-अभिरुचिमान् है । इस नियम से स्त्री अपने दक्षिण भाग से पुरुष ज्ञापित करती है और पुरुष अपने वाम भाग से स्त्री को प्रकाशित करता है ।

यहां यह प्रश्न उठता है कि पुरुष पक्ष में भी स्त्री के सास-ससुर होते हैं और स्त्री पक्ष में भी । ऐसी स्थिति में अव्यवस्था होती है । इसका समाधान चक्रक-व्यवस्था से करना चाहिये । क्योंकि किसी रोगी के सास-ससुर स्वयं भी किसी के जामाता और स्नुषा रह चुके हैं । अतः स्त्री सम्बन्ध से आया हुआ साला भी दूत नाडी परीक्षा विधि में पुरुषरूप दूत की बांई नाडी से

श्च रोगज्ञानं तद् दक्षिणकरादेव । श्वसुरनाड्याः स्नुषाया रोगज्ञानं तद्दक्षिणकरादेव। शेषमत्र सुधीभिः स्वयमुन्नेयम् ।

तद् यथा—आचार्यस्य वामकरात् शिष्यस्य रोगज्ञानम्। शिष्यस्य दक्षिणकरादाचार्यस्य रोगज्ञानं कर्तव्यम् । **"सर्वो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः शत्रुश्चाबुद्धिमताम्"** इति चरकमतमनुसरता वैद्येन सूक्ष्मेक्षिकया गौणमुख्यभावोऽवधारणीयः । युक्तिमात्रस्य दर्शनाभीष्टत्वात् । यावन्नाम वैद्यः प्रक्षेप्यप्रक्षेपकभावं वेत्स्यति तावन्नामासौ दुर्गाणि तरिष्यति । भवति चात्रास्माकम्–

सर्वसम्बन्धमात्राणामन्योऽन्यानुप्रवेशनम् ।
नामग्राहं तु नोद्दिष्टं सम्बन्धस्याप्रमाणतः ।।

अनन्तो हि परस्परानुस्यूतो योनिसम्बन्ध इति । उपर्युक्तं प्रक्षेप्य-प्रक्षेपकभावमनुसरद्भिस्तावदस्माभिः श्वसुरस्य नाड्याः स्नुषाया अदृष्टपूर्वाया रोगवर्णनमकारि । कृतञ्चास्माभिर्बहुधा परीक्षणम्। जीवन्ति च ते साम्प्रतं विक्रमाब्दे वेदखाभ्रपक्षमिते (२००४) रोगविमुक्ता रोगिणो ये किल दूतधरयैव परीक्षिता चिकित्सिताश्च। अत्र तेषां विवृत्या नास्मत् प्रयोजनमिति कृत्वा नेहोच्यन्ते ।

अपरं किञ्चिदनुसन्दध्मः । शास्त्रोक्तिरियम् - **"रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तर-**

ही लिया जाएगा । पिता की नाडी से पुत्र तथा पुत्री का रोग ज्ञान दाहिने हाथ की नाडी से ही करना चाहिये । शेष विद्वानों द्वारा स्वयं ऊहा करनी चाहिये ।

इसी प्रकार शिष्य का रोग ज्ञान गुरु की वामनाडी से और गुरु का रोग-ज्ञान शिष्य की दाहिनी नाडी से करना चाहिये, क्योंकि स्वभाव से शिष्य गुरु के वाम पक्ष में रहता है ।

चरक ने लिखा है कि 'बुद्धिमानों के लिये सारा संसार गुरु है' इस उक्ति के अनुसार वैद्य को चाहिये कि संसार में सूक्ष्म विचार के साथ स्वयं ही प्रधान और गौण की कल्पना करले । हमने एक युक्तिमात्र का प्रदर्शन कर दिया है । वैद्य को प्रक्षेपक भाव का गम्भीर ज्ञान करना चाहिये तभी वह विषम परिस्थितियों में समाधान कर सकेगा ।

यहां हमारा संक्षेपार्थ संग्राहक पद्य है—हमने सब सम्बन्धों का एक दूसरे में अनुप्रवेश क्रम, नाम लेकर नहीं कहा, क्योंकि सम्बन्ध अनन्त हैं ।

उपर्युक्त प्रक्षेप्य–प्रक्षेपक–भाव अनुसरण करते हुए हमने श्वसुर की नाडी से स्नुषा के रोग का निदान किया जिसे पहले कभी देखा न था । इस प्रकार के अनेक परीक्षण किये हैं । सम्वत् २००४ में दूतधराविज्ञान द्वारा अनेक रोगियों की चिकित्सा की गयी । अंशांश कल्पना द्वारा औषधि प्रदान की गई; वे अब स्वस्थ हैं । इसी बीच में दूत भी स्वयं रोगी हो गये थे, फिर भी उनकी नाडी द्वारा रोगी का रोगज्ञान भलीभांति किया गया । हम उनका अधिक विवरण देना नहीं चाहते ।

और भी देखिये—आयुर्वेद के प्रवक्ता ऋषियों का कथन है कि पहले रोग की परीक्षा

मौषधम् ।" (च० सू०, २०।१८) औषधञ्चापि मात्राहीनं न रोगशान्त्यै कल्पते ।

"मात्रा कालबलापेक्षी" इति चरकः। च० सू० १६।२५।

अन्यच्च—

मात्राया नास्त्यवस्थानं दोषमग्निं बलं वयः।
व्याधिं द्रव्यञ्च कोष्ठञ्च वीक्ष्य मात्रां प्रकल्पयेत् ॥

—च० सू०, १६।१६६

विस्तरस्त्वस्य चक्रपाणिटीकायां द्रष्टव्यः। पुनश्च मात्रां द्रढयन्नाह भगवान् पुनर्वसुरात्रेयः—

मात्राकालाश्रया युक्तिः सिद्धिर्युक्तौ प्रतिष्ठिता।
तिष्ठत्युपरि युक्तिज्ञो द्रव्यज्ञानवतां सदा ॥

—च० सू०, २।१६

यद्यपि धरास्पर्शपरीक्षणमन्तरान्या अपि पञ्चविधाः परीक्षाः सन्ति । यथा—

१. शब्दपरीक्षा—

दूतवाचैव केवलं रोगिवृत्तं समाकर्ण्य भेषजकल्पनम् ।

२. स्वेदपरीक्षा—

स्वेदाद् गन्धमालक्ष्य वा । अनुपस्पृष्टं नवं वस्त्रं रोगिणं रात्रौ परिधाप्य स्वापयन्ति प्रभाते च तद् वस्त्रं वैद्यसविधे नयन्त्युपचारकाः । वैद्यो हि वस्त्रमातपे प्रतिलोमं विशाय्य व्याधिं ब्रूते इतीदमस्मत्तातपादैर्दृष्टं श्रुतञ्च ।

करे और उसके बाद औषध का प्रयोग करे। मात्राहीन औषधि रोग शान्ति में समर्थ नहीं होती। मात्रा की कल्पनाः—रोगी के बल तथा काल की अपेक्षा से होती है।

और भी कहा है:—"किसी द्रव्य की मात्रा सीमित नहीं है । क्योंकि मात्रा, रोगी के दोप, अग्नि, बल, आयु, व्याधि, द्रव्यका गुरु-लघु भाव, कोष्ठकी मृदुता या कठिनता आदि जानकर स्थिर की जासकती है।" इसका विस्तृत व्याख्यान चरक की चक्रदत्त टीका में देखना चाहिये ।

मात्रा का माहात्म्य पुनर्वसु आत्रेय ने लिखा है—'काल के अनुसार मात्रा की कल्पना करना ही युक्ति है और युक्ति में ही सिद्धि है। द्रव्य के गुण, कर्म, विपाक आदि के जानकारों में युक्ति को जाननेवाला अधिक यशस्वी होता है।'

यद्यपि नाडी परीक्षा के अतिरिक्त और भी पांच प्रकार की परीक्षायें है। जैसे—

१. शब्दपरीक्षा—दूत की वाणी से रोगी का समाचार सुनकर औषधि विधान करना।

२. स्वेदपरीक्षा:—पसीने की गन्ध से रोग का ज्ञान करना। स्वेद (पसीने) से रोग की परीक्षा करनेवाले रात के समय नया वस्त्र पहनाकर सुला देते हैं, और प्रातःकाल उस वस्त्र को वैद्य के पास ले जाते हैं। वैद्य, उस वस्त्र को उलटाकर धूप में डालते है और उससे रोग का वर्णन करते हैं। मेरे पिताजी ने इस क्रिया को प्रत्यक्ष देखा था।

३. मूत्रपरीक्षा—

वैद्या मूत्रपरीक्षयापि रुग्णस्य रोगमामूलचूलमुपवर्णयन्ति।

४. नेत्रपरीक्षा—

५. आकृतिपरीक्षा, छायापरीक्षा वा।

तत्र दूतकथन द्वारा परीक्षा न प्रामाणिकी भवति। दूतो हि रुजार्त्तस्यावस्था-वर्णने न्यूनाधिक्यं कर्त्तुं शक्नोति। यस्मिन् रुजार्त्ते दूतस्य स्नेहातिशयो भवति तस्य स्वल्पमपि दुःखं वाहुल्येन प्रकाशयति। यस्मिन्नातुरे दूतस्य वैराग्यं विद्वेषो वा भवति तत्रान्यमनस्को दूतो वहुतरं दुखं स्वल्पमिव वक्ति। कदाचिन्मूर्खो दूतो व्यवस्थामन्यथा ब्रूते किमपि विपरीतं वा वदति। एवं हि श्रुतमात्रेण प्रदत्ते भेषजे मात्राया नैयून्य-माधिक्यं वा सम्भाव्यते। परन्तु दूतनाडी-विज्ञान-विचक्षणस्य वैद्यस्य निर्भ्रान्तमिव ज्ञानं भवति भविष्यति च। ततोऽसौ यशसा युज्यते। तस्मादिदं दूतधराविज्ञानं सर्वथा पर्यन्वेष्टुमर्हमिति निर्विवादम्। भवति चात्रास्माकम्—

विविधासु परीक्षासु रोगज्ञानक्षमास्वपि।
वक्तुर्वाच्यन्यथाभावाद् दूतनाडी विशिष्यते॥

अध्येतॄणामध्यापकानाञ्च मनोरञ्जनायास्य विज्ञानस्याविष्करणमूलं निरूपया-मः गुरुजनानां विशिष्टकारुण्येन त्रिदोषस्वरूपस्यानेकविधविकल्पनेन ज्ञापित-

---

३. मूत्रपरीक्षा द्वारा रोग का ज्ञान किया जाता है।

४. नेत्रपरीक्षा। ५. आकृतिपरीक्षा या छायापरीक्षा।

इन सब परीक्षाओं में दूत का सन्देश सर्वथा प्रामाणिक नहीं हो सकता। क्योंकि दूत रोगी के रोग की अवस्था को कम या अधिक कह सकता है। जिस रोगी में दूत का प्रेम अधिक होता है उसके थोड़े से दुःख को वढ़ा-चढ़ाकर वताता है। जिस रोगी में दूत का वैर वा उपेक्षा वुद्धि होती है, तो दूत रोगी के वास्तविक रूप में अधिक होते हुये दुःख को भी थोड़े दुःख के रूप में प्रकाशित करता है। कभी मूर्ख दूत ठीक ठीक रोग का वर्णन ही नहीं कर पाता है तो कोई दूत अनाप-शनाप वातें वता देता है।

रोगी का वृत्त सुनकर औषध देने में मात्रा का न्यून या अधिक होना सम्भव है। परन्तु दूत-नाडी ज्ञानी वैद्य का ज्ञान प्रत्यक्ष के समान भ्रान्ति रहित होता है जिससे निदान ज्ञान और औषधि कल्पना समुचित रूप से होने से वैद्य यश का भागी होता है। इसलिये यह विज्ञान अवश्य ज्ञातव्य है।

यहां हमारा संक्षेपार्थक पद्य यह है—रोग-निर्णायक विविध परीक्षाओं के होने पर भी समाचार ले जाने वाले दूत की वाणी में कुछ गड़वड़ी भी हो सकती है अतः दूत नाडी-विज्ञान ही सर्वोत्तम है।

आयुर्वेद के अध्ययन और अध्यापन करने वाले वैद्यों के मनोविनोद के लिये इस विज्ञान के आविष्कार का मूल वताया जाता है—

१. मेरे गुरुजनों ने विशेष कृपा करके आयुर्वेद के आधारभूत त्रिदोष विज्ञान को विविध-

त्वात्, ज्योतिःशास्त्रविदाञ्च सृष्टेः सम्वन्धस्यानुश्लेषस्य सम्यग् वोधितत्वात्, सुश्रुतस्योत्तरतन्त्रे च दोषाणां विश्वरूपत्वेनोक्तत्वाच्च । तथा च सुश्रुते—

क्रमोपयोगाद्दोषाणां क्षणिकत्वात्तथैव च ।
आगमाद् वैश्वरूपाच्च स तु निर्वर्ण्यते बुधैः ।।

वैश्वरूपाच्चेति वातपित्तश्लेष्मणां सर्वत्र सद्भावादिति । तथान्यत्रापि—

'सर्वेषाञ्च व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एव मूलम्, तल्लिङ्गत्वाद्, दृष्टफलत्वादागमाच्च । यथा हि कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितं सत्त्वरजस्तमांसि न व्यतिरिच्यन्ते, तथैव कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितमव्यतिरिच्य वातपित्तश्लेष्माणो वर्तन्ते ।" सुश्रुत० सू० २४।८

प्रत्यहञ्च दूरादुच्चार्यमाणा वाग् विद्युच्छक्त्या समीपस्थेव श्रूयते । ते हि विद्युत्साहाय्येन प्रथम तावच्छब्दं जगति व्यापयन्ति,पुनश्च प्रसृतं तन्निमपरेण यन्त्रेणाददते । तथैवात्र जगति त्रिदोषस्य सर्वत्र सद्भावस्तु विद्यत एव । तत्र व्यक्तिभावः केन कारणेन स्यादिति चिन्तायां स्मृतिपदमारूढमिदं पद्यम्—**"अवश्यगोचरे मर्त्यः सर्वः समुपनीयते"** इति ।

ज्योतिर्विदश्चैनमनुपालयन्तः प्रश्नकथनं कुर्वन्ति । प्रष्टा तस्मिन्नेव काले दैवज्ञमुपतिष्ठते यदा तद्भवितव्यता-ज्ञापिका स्थितिर्लग्नादिषु ग्रहाणां तथाविधत्वं

रूपों से मुझे समझाया जिस कारण मैं इसे लिखने में समर्थ हो सका ।

२. ज्योतिःशास्त्र के विज्ञ गुरुजनों ने मुझे सृष्टि का परस्पर सम्वन्ध अत्यन्त सूक्ष्म रूप से समझाया ।

३. सुश्रुत के उत्तरतन्त्र में 'क्रमोपयोगाद् दोषाणाम्' इत्यादि में 'वैश्वरूपाच्च' अर्थात् वात, पित्त और कफ की सर्वव्यापकता का कथन करने से ।

४. और भी सुश्रुत में कहा है—वात, पित्त, कफ,जनित लक्षणों के व्याधियों में देखे जाने से, त्रिदोष लक्षण चिकित्सा से शान्तिरूप प्रत्यक्ष फल देखे जाने से, श्रुति में ऐसा ही विधान होने से । 'सब व्याधियों के मूल वात, पित्त और कफ हैं । क्योंकि इन्हीं के विकृत होने से व्याधियां उत्पन्न होती हैं । जैसे विश्व के विकार सत्त्व, रज और तम–इन तीनों गुणों को नहीं छोड़ते इसी प्रकार शारीरिक और मानसिक व्याधियां भी वात, पित्त, और कफ से पृथक् नहीं हो सकती हैं ।

५. लोक में भी देखा जाता है कि सहस्रों मीलों की दूरी से बोला हुआ शब्द विद्युत् की सहायता से पास में खड़े हुए वक्ता की भांति सुन पड़ता है ये वैज्ञानिक पहले विद्युत् यन्त्र के सहारे शब्द को सारे विश्व में व्याप्त करते हैं फिर उस फैली हुई ध्वनि को आदान यन्त्र द्वारा पकड़ते हैं । इसी प्रकार त्रिदोष की सत्ता तो सर्वत्र व्याप्त ही है । अब प्रश्न यह है कि इस व्यापक त्रिदोष को अपने अभीष्ट के अनुसार कैसे पकड़ा जाय ?

इस अवस्था में ज्योतिष शास्त्र का यह नियम लागू करना चाहिये कि प्रश्न कर्ता ज्योतिषी के पास उसी ग्रहगोचर में आता है जैसी उसकी भवितव्यता होती है । ज्योतिषी

प्राप्ता भवति । ज्योतिर्विदश्चैतन्निरपवादं मन्यन्ते । तत्रेदृशा अन्तरायास्तूक्तं द्रढयन्ति यत् कदाचित् प्रष्टुरागमनकालः सुतरां साधीयान् भवति परन्तु ज्योतिर्विदः स्थानान्तरे गतत्वात् प्रष्टा प्रश्नोत्तरं न लभते,ज्योतिर्विद् हि निकृष्टकाले समायाति; प्रष्टा चासीन आत्मनः प्रश्नोत्तरं वाञ्छति । ज्योतिर्वित्तं तात्कालिकलग्नगणनया शुभाशुभं वक्ति । एवंविधो ह्यन्तरायोऽवश्यभाविन्या भवितव्यताया आनुकूल्यं प्राप्तुमेव भवति, प्रष्टुः सिद्धे काले समागतत्वात् ।

प्रश्नविज्ञानस्य सुतरामभ्यस्तत्वादस्मत्कृते निर्भ्रान्तमिवेदमासीत् । अत एवास्माभिः सिद्धान्तस्यास्य प्रामाणिकस्य स्वीये नाडीविज्ञाने प्रयोगः कृतः, स च दूते ।

दूतो हि प्रश्नकर्तृस्थानीयः । तत्र च विस्मयकरं साफल्यमासादितम् । तत्र विविधरूपात्मकेषु निदर्शनेषु सत्स्वेकं निदर्शयामः—

नेत्रशून्याभ्रपक्षाब्दे (२००२) वैक्रमेऽस्मदभिजन—माहिलगहिलाख्ये ग्रामे मम स्वर्गतपितुरनन्तराम–वासिष्ठस्याभिन्नहृदयस्य मथुरादासार्य्यमित्रस्य 'देहरादून' नगरात् पत्रमागतं यद् भवदीया स्नुषा व्याधिनानेन रुग्णास्ति । स हि चिन्ताक्रान्त आसीत् । कालान्तरेणाहमपि तत्रोपातिष्ठम् । मदागमनमवगत्य तेनोक्तं 'यन्मदीया स्नुषा रुजार्त्तास्तीति महती मे चिन्ता समुपस्थिता' । मया च हास्यमादौ विदधता प्रोक्तं यत् 'श्वः स्वकीयां नाडीं दर्शयतु भवा'निति । साध्विति स प्रत्यवोचत् ।

अग्रिमे दिवसे च श्वसुरनाडीमवलोक्य तत्स्नुषाया देहरादून–नगर–स्थिताया व्याधिर्निरूपितः । स चैतन्नाडीविज्ञानसौक्ष्म्यमालक्ष्याश्चर्यशिखरमध्यारोहत् प्रत्युक्त-

---

लोग इस नियम को विना सन्देह मानते हैं ।

हम देखते है कि प्रश्नकर्ता अच्छा समय देखकर ज्योतिषी के पास जाता है, परन्तु उस समय ज्योतिषी नहीं मिलते । वे आने पर उसी समय के अनुसार फल वतलाते हैं ऐसी विषम घटना प्रश्नकर्ता के भविष्य के कारण ही घटती है ।

प्रश्न विज्ञान का पूर्ण अभ्यास होने और अनेक वार ऐसे अनुभव होने के कारण हमने इस सत्य-सिद्धान्त का अपने आयुर्वेदीय नाडी विज्ञान में विनियोग किया और वह है दूतधरा ।

दूत, प्रश्नकर्ता के स्थान पर है । अतः इसी सिद्धान्त को लेकर हमें आश्चर्य जनक सफलता प्राप्त हुई । मैंने इसके अनेक परीक्षण किये हैं । उनमें से एक उदाहरण के लिये लिखा जाता है ।

विक्रम सम्मत् २००२ में मैं अपने जन्मस्थान 'माहिगहिला' (जालन्धर जिला, पंजाव) नामक ग्राम में गया । ग्राम में मेरे पिता श्री अनन्तराम वासिष्ठ के अभिन्न मित्र श्रीमथुरादासजी आर्य रहते थे । उन्हें देहरादून से उसी दिन पत्र मिला कि उनकी स्नुषा (पुत्रवधू)…बीमारी से वीमार है वे चिन्ता कर रहे थे कि कुछ समय वाद मैं भी वहां पहुंच गया । श्री मथुरादास जी ने मुझ से कहा कि मेरी स्नुषा वीमार है. इससे मैं चिन्तित हूं । मैंने हंसते हुए कहा कि 'वावूजी ! मैं कल आपकी नाडी देखूंगा कि उसे क्या वीमारी है ?' उन्होंने कहा कि 'अवश्य' ।

दूसरे दिन प्रातःकाल मैंने श्वसुर की नाडी से स्नुषा का निदान किया,जैसा पत्र में लिखा था, वे अत्यन्त चकित हुए और वोले कि पत्र में भी ऐसा ही लिखा है । उन्होंने मेरी उपस्थिति

वांश्च यत् 'पत्रेऽपि किलेत्थमेव लिखितमस्ति'—इति । श्रावितञ्च तत्पत्रं तत्रस्थेभ्यः सर्वेभ्यो मत्समक्षमेव ।

एवं वहुविधं विज्ञानमस्ति निहितं दूतनाडी-विज्ञाने । अत्र दूतनाडी-विज्ञाने योनिजसम्वन्ध आवश्यकतया न समपेक्षितो भवति । अनेकेषु दूतेषु समागतेषु व्यवस्थाक्रमो निरूप्यते ।

यद्येकस्य रोगिणो रुजं वक्तुं वहवो दूताः समागच्छेयुस्तदा सर्वप्रथमं तद्यौन-सम्वन्धिनो नाडी द्रष्टव्या । यदा कश्चन यौनसम्वन्धी न स्यात्तदा सर्वेष्वपि ज्येष्ठस्य नाडी द्रष्टव्या । उदाहरणं यथा—

वेदखाभ्रनेत्रमिते (२००४) वैक्रमाब्दे जम्मू-नगरान्तर्गत-रामपुर—राजौरी—नगरे पित्तरुजा व्यथितस्य कस्यापि रुजार्तस्य निदानं तत्पुत्रधरया कृतं लिखित्वा प्रहितञ्च । तद् यथाशब्दं सत्यमासीत् । पुत्रेण च पिता मासाधिकेभ्यो दिवसेभ्यो न दृष्ट आसीत् । प्रत्यक्षमिलनानन्तरं तस्य जम्मू-नगरस्थ-पण्डितस्य बहुविधप्रेरणया लेखनाय प्रेरितोऽहमस्य दूतनाडी-विज्ञानस्य निश्छलस्य निवन्धने ।

भवन्ति चात्रास्माकम्—

यथा विद्युत्सहायेन शब्दः प्रस्तार्यतेऽम्बरे ।
प्रस्तार्य पुनराकृष्य यन्ता शब्दान् प्रपद्यते ॥
त्रिदोषस्य तथा विश्वे सद्भावोऽस्ति स्वभावतः ।
दूतस्तद्व्यञ्जको ह्यत्र यथेष्टार्थ—प्रकाशने ॥

में ही स्थित सज्जनों को पत्र पढ़कर सुनाया ।

इस प्रकार दूतधरा में वहुत बड़ा विज्ञान छिपा है जो अनुसन्धान के द्वारा प्रकट किया जा सकता है । इस विज्ञान के ज्ञान में योनिज सम्बन्ध आवश्यक नहीं है ।

यदि रोगी का समाचार लेकर अनेक दूत उपस्थित हों तो उस समय यह व्यवस्था करनी चाहिये उनमें से रोगी के निकट सम्बन्धी की नाडी का प्रथम अवलोकन किया जाये । यदि उनमें रोगी का निकट सम्बन्धी न हो तो उनमें से जिसकी सब से अधिक अवस्था हो, उसकी नाडी देखनी चाहिये ।

दूसरा उदाहरण—विक्रम सम्वत् २००४ में दूसरा परीक्षण रामपुर राजौरी में किया गया । यह उपनगर जम्मू नगर से ११० मील की दूरी पर है । जम्मू नगर में बीमार पड़े हुए पिता का निदान रामपुर स्थित उसके पुत्र की नाडी से लिखकर दिया । यह सर्वथा ठीक था । पुत्र ने पिता को लगभग दो महीनों से नहीं देखा था । कुछ समय बाद जम्मू में जव उनसे साक्षात्कार हुआ तो उक्त रोगी पण्डितजी ने आश्चर्यान्वित होकर इस विज्ञान को छात्रों को बताने तथा लेखबद्ध करने का आग्रह किया । उनके द्वारा मुझे लिखने की प्रेरणा प्राप्त हुई ।

उपर्युक्त बातों का सारांश हमने श्लोकों में प्रदर्शित किया है—

जैसे विद्युत् की सहायता से शब्द आकाश में फैलाया जाता है और फिर उसे दूसरे विद्युत् यन्त्र की सहायता से पकड़ा जाता है । उसी प्रकार त्रिदोष जो विश्व में व्यापक है, दूत की नाडी द्वारा जाना जा सकता है ।

यथा ज्योतिर्विदः प्रष्टा स्वाभीष्टार्थस्य ज्ञप्तये ।
तादृक्ष–ग्रह–लग्नेषु समायातीष्टसिद्धये ॥
दूतोऽत्र पृच्छक–स्थाने वैद्यो ज्योतिर्विदः समः ।
कालोऽनुवर्तते तादृक् स्याद्येनाभीष्टशंसनम् ॥
यत्र कुत्र स्थितो वैद्यो यत्र कुत्र स्थितां रुजम् ।
यस्मात् कस्माच्च शक्नोति ज्ञातुं प्रत्यक्षवद् यथा ॥
प्राकृतैरथ मान्यैश्च वैद्यैश्छात्रैस्तथापरैः ।
साग्रहं विनियुक्तोऽहं लिखामि ज्ञानवृद्धये ॥

अथेदानीं दूतनाड्याः रोगकथनक्रमो लिख्यते—

संवीक्ष्य तावद् दूतधरामुभयोर्हस्तयोः पादयोश्च निगदितव्यं भवति यद् रोगार्त्तः पुमान् स्त्री वा । अथवा पृष्ट्वा निश्चेयं यत् स्त्रीजातीयः पुंजातीयो वा ।

तत्र यथान्यासं नाड्या दोषगतिर्विवेचनीया । तत्र कर्गजमादाय लेखनं कार्यम् । सर्वप्रथमं कालस्य लेखनं—प्रातर्वा, मध्याह्नं वा सायं वा रात्रिर्वेति यस्मिन् समये दूतो नाडीपरीक्षास्थो भवति । ततश्च रुग्णस्य प्रकृतिर्लेख्या - वातला, पित्तला, श्लेष्मला, द्वन्द्वजा, सान्निपातिकी वेति । तत्र वातपित्तप्रकृतिमधिकृत्य, तत्र पुनर्निश्चेतव्यं भवति । पित्तेन वातानुशयत्वं, पित्ताधिक्यं ज्ञापयति । वातेन पित्तानुशयत्वं वाताधिक्यं ज्ञापयति । तत्र पुनः स्वभावादेः, आशयानां, दृष्ट्याः, आयुषश्च, रोगारम्भकालश्च । यकृत्प्लीह्नोश्च विकारभेदः । तत्र पुनर्यस्य यस्य

जिस प्रकार प्रश्नकर्ता ज्योतिषी के पास उसी समय आता है, जबकि उसके भविष्य के अनुसार ग्रहगोचर एवं लग्न आदि की स्थिति होती है ।

दूत यहां प्रष्टा के स्थान पर है, वैद्य ज्योतिषी के समान है दूत ऐसे-ही समय पर आता है जब कि वह अपने अभीष्ट सिद्ध करने में समर्थ होता है ।

इस विज्ञान का लाभ यह है कि वैद्य कहीं हो और रोगी कहीं हो, फिर भी दूत की धरा से प्रत्यक्ष की भांति रोग का ज्ञान किया जाता है। इस आधार पर औषधि और पथ्य का विधान किया जा सकता है ।

इस दूतधरा-विज्ञान के लिखने में प्राकृत पुरुषों, छात्रों तथा सम्मानार्ह वैद्यों की प्रेरणा ही कारण है, किसी प्रकार अहङ्कारवुद्धि से यह नहीं लिखा है ।

अब हम दूत की नाडी से रोग देखने का क्रम लिखते हैं—

सब से प्रथम दूत के हाथ तथा पांव की नाडी देखकर यह निर्णय करना चाहिये कि रोगी स्त्री है या पुरुष ? दूत से पूछकर भी यह निर्णय किया जा सकता है ।

इसके वाद नाडी द्वारा दोष गति का विवेचन करना चाहिये । दूत की नाडी देखते हुए कागज पर समय लिख लेना चाहिये । जैसे–प्रातः मध्याह्न सायं रात्रि इत्यादि । इसके बाद रोगी की प्रकृति देखनी चाहिये कि वातल, पित्तल या कफल, या द्वन्द्वज या सन्निपातज है । तदनन्तर निर्णय की हुई प्रकृति में दोषों के मुख्य और गौण भाव की कल्पना करनी चाहिये । इसके वाद स्वभाव, आशय, दृष्टि, आयु, रोगारम्भ समय एवं यकृत्–प्लीहा आदि के विकार का

भावविशेषस्य विवक्षा स्यात् तं तमेव शास्त्रागमयुक्तिभिर्ब्रूयात् । तद् यथा मदुक्तमुदाहरणम्—

कालः मध्याह्ने सपादैकादशवादनसमयः ।

स्थानम्—जम्मू-प्रान्तान्तर्गतं 'रामपुर-राजौरी' इत्याख्यम् ।

दूतस्त्रियो वर्णनम् ।

प्रकृतिः—वातपित्तला ।

रोगः—ग्रहणी ।

आयुः—पञ्चत्रिंशत् ।

लक्षणानि—गच्छन्त्यश्नन्ती च रुजावती । क्वचित् क्वचित् शिरःशूलम् । कटिश्च शूलयति । मन्दता । मनसश्च सादः । क्वचिदतिसारः । कदाचित् कदाचिद् हस्तपादयोर्दाहः । क्वचित् कासः श्वासश्च । क्रुध्यति । विषमस्वभावा । आत्मनोऽभिलषितमेव कुरुते । पिण्डलिकयोरुद्वेष्टनम् । दक्षिणपार्श्वे आनाहः । यकृति दाहातिशयत्वम् । दौर्बल्यं विशेषेण । क्षुद्रान्त्रेषु क्रियाक्षमत्वम् । भ्रमः । हृद्द्रवः । विस्मरणशीलता । शास्त्रश्रवणे धर्मकथासु च श्रद्धालुता इत्यादि भावा यथाकामं वक्तुं शक्याः ।

अयं हि दूतोऽस्मद्-विज्ञानस्य परीक्षणार्थं समागत आसीत् । अश्चर्यमद्भुत-

---

विचार करना चाहिये । इतना निर्णय कर लेने पर जिस जिस भाव–विशेष का वर्णन करना है उसे शास्त्रगत युक्तियों से कथन करना चाहिये । इसके उदाहरण–स्वरूप मैं अपने एक परीक्षण का वर्णन करता हूं ।

स्थान —रामपुर राजौरी (जम्मू प्रान्त) ।

समय —दिन सवा ग्यारह वजे मध्याह्न ।

दूत की स्त्री का वर्णन ।

प्रकृति-वातपित्तला ।

रोग—ग्रहणी ।

आयु—३५ साल ।

उपर्युक्त वातों की पुष्टि में लक्षणों का वर्णन—खाती-पीती, चलती-फिरती भी रोगी है । कभी-कभी सिर-दर्द होता है । कमर में भी दर्द होता है । अग्नि मन्द है । मन में चिन्ता और मुंह पर मुर्दनीसी छाई रहती है । हाथ-पैरों में जलन और कभी कभी खांसी और श्वास फूलता है । क्रोध करती है । स्वभाव विषम है । अपने मनकी ही करती है । पिण्डलियों में उद्वेष्टन और दाहिने पार्श्व में अफारा होता है । यकृत् में गरमी का विशेष अनुभव होता है । दुर्वलता अधिक है । क्षुद्रान्त्र अन्न का पाचन समुचितरूप में नहीं कर पाते । चक्कर है । धड़कन साधारण से अधिक है । धार्मिक कथा वार्ता में श्रद्धा अधिक है इत्यादि ।

इसी प्रकार रोगानुकूल स्थितिका वर्णन किया जासकता है । यह दूत मुसलमान था और हमारी परीक्षा लेने आया था । यद्यपि आयुर्वेद में उसकी श्रद्धा भी थी । मेरी प्रशंसा

मिति ब्रुवन् प्रसन्नचेतसा श्रद्धया च दक्षिणां प्रदाय स्वगृहं गतः ।

कथन कालः—आषाढार्कप्रवेशः १६, २००४ विक्रमाब्दः ।

भिषजा दूतधरा–विज्ञान–जिज्ञासुना सूत्रमेतत् स्मर्तव्यमस्मदीयम्—

स्मृतिमान् हेतुयुक्तिज्ञो जितात्मा प्रतिपत्तिमान् ।
भिषग् धमनीसंस्पर्शाद् यथार्थं वक्तुमर्हति ॥

अस्य विवरणं रावणीय-नाडोपरीक्षा-विवृतौ वक्ष्यते । भवति चात्र—

कालं वयः स्वभावञ्च दोषप्राधान्यमेव च ।
विकारान् साधुभावांश्च त्रिदोषस्य समुन्नयेत् ॥

वहव आयुर्वेदाचार्या आयुर्वेदश्रद्धालवश्चास्माभिर्विज्ञानेनानेन समलङ्कृताः । एतद्धि दूतनाडी-विज्ञानं न हि निवन्धपाठमात्रेण समायाति । यथा हि न गानं शिक्षकमन्तरा केवलं पुस्तक-पठनमात्रेणेति तत्र प्रयत्नो विधेयः ।

इदानीमार्षसंहिताभ्यो दूतविज्ञानं प्रदर्श्यते निदर्शनमात्रम्, विस्तरस्तु चरकस्य इन्द्रियविमानस्थे गोमय--चूर्णीयाध्याये द्रष्टव्यः । तत्र दूतस्य प्रशस्तलक्षणेषु—

.......................असन्ध्यास्वग्रहेषु च ।
अदारुणेषु नक्षत्रेष्वनुग्रेषु ध्रुवेषु च ॥६७॥
विना चतुर्थीं नवमीं विना रिक्तां चतुर्दशीम् ।
मध्याह्नमर्धरात्रञ्च भू-कम्पं राहुदर्शनम् ॥६८॥

सुन कर दूर से आया था । मेरी बातों पर उसे आश्चर्य, प्रसन्नता और श्रद्धा हुई और प्रमाण पत्र लिखकर एवं धन देकर चला गया ।

यह कथन १६ आसाढ संवत् २००४ विक्रमी को किया गया ।

वैद्य को यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि—

जिसे शास्त्र उपस्थित है और जिसने उसे भलीभांति समझा है जो रोग के उत्पन्न होने की युक्ति को भली भांति जानता है, जो जितात्मा और प्रत्युत्पन्नमति (सूझवाला) है वही वैद्य, नाडी देखकर यथार्थ वर्णन कर सकता है अन्यथा आयुर्वेद, वैद्य-समाज और स्वयं अपने को अपमानित करता है ।

आगे रावण नाडी परीक्षा विवृति नामक ८ वें अध्याय में स्मृतिमान् इत्यादि की व्याख्या करेंगे । यहां यह हमारा संक्षेपार्थ सहायक पद्य है—

वैद्य को चाहिये कि रोगी की ओर से आये हुये दूत की नाडी से त्रिदोषक उल्लेख करते समय काल, आयु, स्वभाव, दोषों की अंशांश–कल्पना, प्रधान रोग शुद्ध तथा अशुद्ध आशय तथा उपद्रवरूप लक्षणों का शास्त्रीय रीति से कथन करे ।

हमने अनेक आयुर्वेदाचार्यों, छात्रों और आयुर्वेद-श्रद्धालुओं को दूतनाडी–विज्ञान की प्रत्यक्ष शिक्षा दी है क्योंकि यह दूतनाडी विज्ञान केवल निवन्धपाठमात्र से नहीं आता, जैसे संगीत शिक्षक के विना केवल पुस्तक मात्र से नहीं आता ।

अब हम आयुर्वेदीय-आर्ष संहिताओं से दूत विज्ञान का दिग्दर्शन कराते हैं । इसका विशेष व्याख्यान चरक-संहिता के इन्द्रिय-विमान के गोमय-चूर्णीय अध्याय में देखना चाहिये ।

विना देशमशस्तञ्च शस्तौत्पातिकलक्षणम् ।
दूतं प्रशस्तमव्यग्रं निर्दिशेदागतं भिषक् ॥६९॥

च०, इन्द्रियस्थानम्, अ० १२

अत्र चरकटीकाकारश्चक्रपाणिः—

"अग्रहेष्विति–अप्रशस्त-स्थानस्थित-क्रूरग्रहानधिष्ठितेषु कालेष्वित्यर्थः । अदारुणेषु नक्षत्रेष्वनुग्रेषु ध्रुवेषु चेति । दारुणानि तीक्ष्णानि, यदुवाच वराहः—'मूल-शिव-शक्र-भुजगाधिपानि तीक्ष्णानि' (बृ० सं०अ०९८) इति । शिव आर्द्रा, शक्रो ज्येष्ठा, भुजगाधिप आश्लेषा । उग्राणि च वराहोक्तानि यथा—'उग्राणि पूर्वभरणीपित्र्याणि ।' (बृ० सं० ९८) इति । अत्र पूर्वशब्देन पूर्वाफाल्गुनी पूर्वाषाढा पूर्वाभाद्रपदा च, पित्र्यं मघा । वराहोक्तानि दारुणानि नक्षत्राणि वर्जयित्वान्येषु नक्षत्रेषु दूता आगताः शुभा भवन्ति । रिक्तामिति चतुर्थ्यादिविशेषणम् । चतुर्थी नवमी-चतुर्दशी च रिक्तोच्यते । तथा च रिक्तेति विशेषणेन चतुर्थ्यादीनां निष्फलत्वसूचनेन कर्मारम्भकं प्रति अनुपादेयतोपदिश्यते । शस्तमौत्पातिकमाकस्मिकं लक्षणं यस्य तच्छस्तौत्पातिकलक्षणम् ।"

अत्रेदमधार्यम्—दूतो हि रोगि-रोगप्रेरितो वैद्यनिकटमायाति । स हि ग्रहान् नक्षत्रान् तिथींश्च विचार्य नायाति; किन्तु स्वभावत एवायाति । अत एव दूतागमनाद् व्याधितस्य शुभाशुभं लक्षितुं शक्यं भवति । यदि दूतो ग्रह-नक्षत्र-तिथ्यादीन् ज्योतिर्विदः पृष्ट्वा समायायात् तदा कालनिर्देशोऽपि निष्फल एव स्यात् । कुतः ? न हि कश्चिदात्मनोऽहितं वाञ्छतीति हेतोः । अतश्चापर्युक्तस्वारस्यात् सुसंगतमेतत् सूत्रम्—**'दूतो हि यो यदाभ्येति'** इत्यादि ।

तथा चापरम्—

उक्त अध्याय में चरक ने प्रशस्त दूत के लक्षण लिखे हैं जिनकी व्याख्या उसके टीकाकार चक्रपाणि ने इस प्रकार की है—

"अदारुण और अनुग्र नक्षत्रों में आया हुआ दूत अच्छा होता है । आर्द्रा, ज्येष्ठा, आश्लेषा ये दारुण नक्षत्र हैं । पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढा, पूर्वाभाद्रपदा और मघा नक्षत्र उग्र हैं । इन दोनों प्रकार के नक्षत्रों के अतिरिक्त सभी नक्षत्र शुभ हैं । चतुर्थी, नवमी और चतुर्दशी तिथि रिक्ता कही जाती हैं इनसे भिन्न तिथियां शुभ हैं—उनमें आया हुआ दूत प्रशस्त है । मध्याह्न, आधी रात, भूकम्प एवं ग्रहण काल अशुभ हैं—इनसे भिन्न काल में आया हुआ दूत शुभ है । इसी प्रकार श्मशानादि स्थान अशुभ हैं । इससे विपरीत स्थानों में प्राप्त दूत शुभ है । घबराया हुआ और अस्त-व्यस्त परिस्थितियों में आया हुआ दूत अशुभ है । इसके विपरीत स्थिरता और प्रसन्नता से आया हुआ शुभ है ।"

यहां यह समझना चाहिये कि दूत, रोगी के रोग से प्रेरित होकर वैद्य के पास आता है, ग्रह, नक्षत्र तिथि और लग्न का विचार करके नहीं । यह स्वभावतः आता है । यदि दूत शुभ मुहूर्त देखकर ही आवे तो काल निर्देश भी व्यर्थ हो जाता है । क्योंकि कोई भी दूत अपने रोगी का अशुभ नहीं चाहता । उक्त कथन से 'दूतो हि यो यदाभ्येति' यह हमारा सूत्र सर्वथा सङ्गत हो जाता है ।

विकारसामान्यगुणे देशे कालेऽथवा भिषक् ।
दूतमभ्यागतं दृष्ट्वा नातुरं तमुपाचरेत् ॥

—च० इ०, १२।१४

अत्र चक्रपाणिः—'**विकारसमान्यगुणो देशो यथा—रक्तपित्ते ज्वलनसन्निहितो देशः । विकारसामान्यगुणः कालो यथा—रक्तपित्ते मध्याह्ने इत्यादि ज्ञेयम् ।**'

अत्रेदमवगन्तव्यं भवति यद् दूतो न हि जानन् विकारसामान्यगुणे देशे काले वा समायाति; किन्तु स्वभावत एवैति । दूतस्य स्वभावत एव गमनं रोगिणो दैवं वक्ति । उक्तं हि नाडीपदविज्ञानीयेऽध्याये यद् वैद्यो ह्यनेकशास्त्रज्ञः स्यादिति । तथैव त्रिदोषसमक्षेपीयेऽध्यायेऽनेकविधविकल्पना लिखिताः सन्ति; तथैवात्र दूतनाडीपरीक्षा-विधावपि गतिमत्त्वाद् दोषाणां—आयुषि च भेदेन चलनाद् दूतस्यागमने कालभेदाद् धरायां गतिभेद उपपद्यत एव । तथा च आयुषो भेदेऽपि त्रिदोषप्राधान्यं भवति । दिन-कृद् गतिविशेषेण च ।

तद् यथा—यदि युवा पञ्चविंशतिवर्षीयो मध्याह्ने समायाति, तदा स आयन् ज्ञापयति पित्तस्यैवात्र प्रकोपोऽस्ति, समानञ्च भवति चरकेण—'**विकारसामान्यगुण**' इत्यादि । युवा आयुष्मान् पित्तप्रधानः, मध्याह्नञ्च पित्तप्रधानमिति । तस्मादुपपद्यते

और भी देखिये—'विकारसामान्यगुणे' इस चरक के श्लोक की व्याख्या करते हुए चक्रपाणि ने लिखा है कि जैसे-रक्त पित्त की बीमारी का समाचार लेकर आया हुआ दूत वैद्य के पास उस समय आवे जब कि वैद्य अग्नि के पास बैठा हुआ हो । यह विकार सामान्य देश कहा जाता है । इसी प्रकार रक्त पित्त का व्याख्यान करने वाला दूत यदि मध्याह्न में आवे तो उसे विकार-सामान्य काल कहते हैं ।

यहां यह समझना चाहिये कि दूत जान-बूझ कर विकार-सामान्य देश या काल में नहीं आता । वह तो स्वभावतः यथाभावित काल में ही आता है । इस प्रकार दूत का स्वाभाविक आना ही रोगी के दैव को बतलाता है ।

इसलिये नाडी पद-विज्ञानीय अध्याय में कहा गया है कि वैद्य को अनेक शास्त्रों का ज्ञाता होना चाहिये । त्रिदोष-समक्षेपीय अध्याय में भी अनेकविध विकल्पनाएं लिखी गयी हैं, उन्हें दूत नाडी परीक्षा में लागू करना चाहिये । क्योंकि दोष गतिमान् हैं । आयु के भेद से गति में भी भेद होने के कारण दूत के आने के समय तात्कालिक दोषों का गतिभेद भी दूत नाडी में विद्यमान होगा ही ।

इसी प्रकार आयु-जनित भेद के कारण त्रिदोष में भी भेद होता है ।

सूर्य की प्रातः मध्याह्न और सायंकालीन गति विशेष के कारण त्रिदोष की दैनिक गति से भी भेद होता है । जैसे-यदि २५ वर्ष का युवा पुरुष मध्याह्न में दूत रूप से आता है तो समझना चाहिये कि रोगी को पित्त का प्रकोप है । क्योंकि युवा पुरुष आयु से पित्त प्रधान है और मध्याह्न का समय सूर्य के ताप के कारण भी पित्त प्रधान है । इससे यह सिद्ध होता है

एव दूतधरा-विनियोगे—'दूतो हि यो यदाभ्येति' इति 'अनेकेष्विह तिष्ठत्सु' इति च ।

शुभं शुभेषु दूतादिष्वशुभं ह्यशुभेषु च ।
आतुरस्य ध्रुवं तत् स्याद् दूतादींल्लक्षयेत् भिषक् ।

—सु० सू० २९।५०

स्पष्टार्थमिदं पद्यम् । यथैवायं दूतो बाह्याभ्यन्तरैः 'शुक्लवासाः शुचिर्गौरः' इत्यादिलक्षणैर्बाह्यैः, 'स्मृतिमान् विधिकालज्ञः स्वतन्त्रः प्रतिपत्तिमान्' इत्यादिभिराभ्यन्तरगुणैरुं जार्त्तस्य शुभाशुभज्ञापने समर्थो भवति, तथैवासौ दूतो स्वाभ्यन्तरस्थदोषनाडीगत्या रोगिणो दोषाणामशांशविकल्पज्ञापने समर्थो भवति । एतत् प्रत्यक्षीकृत्य व्याख्यातम् ।

निम्नकालेष्वायन् दूतो विगर्हितः—

मध्याह्ने चार्धरात्रे वा सन्ध्ययोः कृत्तिकासु च ।
आर्द्रा-श्लेषा-मघा-मूल-पूर्वासु भरणीषु च ॥
चतुर्थ्यां वा नवम्यां वा षष्ठ्यां सन्धिदिनेषु च ।
वैद्यं य उपसर्पन्ति दूतास्ते चापि गर्हिताः ॥

—सु० सू०, २९।१६-१७

विस्तरस्त्वत्राध्याय एव द्रष्टव्यः ।

दूताद् रोगिज्ञानं ब्रुवन् रावणः—अर्कप्रकाशे—

कि जो-जो दूत जब-जब आता है, तब-तब रोगी के दोष के समान दोषों को बतलाने वाली नाडी लिये ही आता है ।

यह भी विचारणीय है कि रोगी के अनेक उपचारकों या हितैषियों में से वैद्य को रोगी का समाचार देने वही जाता है जो रोगी के रोग को बताने वाली नाडी वाला होता है ।

सुश्रुत में भी लिखा है—"यदि दूत, शुभलक्षणों से युक्त होता है तो रोगी का शुभ और यदि; अशुभ लक्षणों से युक्त होता है तो रोगी का अशुभ होता है ऐसा समझकर दूत से ही वैद्य को रोगी का शुभाशुभ जान लेना चाहिये ।"

दूत, सुन्दर वस्त्रों वाला, सुवासित, प्रसन्नवदन, स्मरणशक्तिवाला, बुद्धिमान्, प्रतिभासम्पन्न, शिष्टाचारज्ञ और स्वतन्त्र विचार वाला हो तो शुभ और इसके विपरीत अशुभ होता है । उसी प्रकार दूत की नाडी द्वारा भी रोगी के दोषों की अंशांशकल्पना करके निदान किया जा सकता है, जिसके प्रत्यक्ष अनुभव और प्रयोग हम ऊपर लिख चुके हैं ।

निम्नलिखित समयों में या नक्षत्रों में आने वाले दूत निन्दनीय होते हैं:—

मध्याह्न, आधी रात, दोनों सन्ध्या, कृत्तिका-आर्द्रा-आश्लेषा-मघा-मूल-पूर्वाफाल्गुनी पूर्वाषाढ़ा, पूर्वाभाद्रपदा और भरणी—ये नक्षत्र,चतुर्थी-नवमी-षष्ठी-अमावस्या-मासान्त आदि तिथियां । इसका विस्तृत विचार सुश्रुत सूत्र स्थान के २९ वें अध्याय में देखिये ।

रावण ने अपने अर्क प्रकाश में दूत के द्वारा रोगी के ज्ञान के लिये गणित क्रम लिखा है उसे पाठकों के कौतूहल के लिये हम यहां उद्धृत करते हैं ।

वर्णस्वराणां प्रमितिं दूतोक्तानां हि कारयेत् ।
एकयुक्तां त्रिगुणितां त्रिभिर्भागं समाहरेत् ।।
एकशेषे गुणः शीघ्रं द्विशेषे वर्द्धते गदः ।
त्रिशेषे मरणं वाच्यं स्वार्थं याचयतेऽथवा ।।
अर्कं तदेतद् विज्ञाय दद्याद् योग्यं न चान्यथा ।
गदिना तु यदा दूतः प्रेषितस्तद् विचारयेत् ।।

उदाहरणम् यथा—दूतोक्तिः 'अर्कं देहि' अत्र अ+र्+क+म्+दे+हि= प्रमितिः षट् (६), एकयुक्ते ६+१=७ सप्त, त्रिभिर्हृते--३) ७ (२ शिष्टस्त्वेकः। तस्मा-
६
—
देकशेषे 'गुणः शीघ्रम्' इति ब्रूयात् । १

रोगिणो दूते समागते चिन्त्यम्

नपुंसकान्त्यैरूनास्तु स्वरा एकादश प्रिये ।
वर्णास्तत्संख्यका लेख्याः क-च-टाद्यास्तु तत्स्थले ।।
एकादशसु कोष्ठेषु क्रमादङ्कांश्च विन्यसेत् ।
रसास्त्रयं द्वयं वेदाः पर्वता ऋतवः कृताः ।।
वह्नयः पृथिवी शून्यं चन्द्रश्चैतद्व्यतिक्रमात् ।
विहाय जीवदूतस्य नामाक्षरसुयोजनम् ।।
एकमेवाक्षरे युक्ता द्वयोरष्टावशेषिताः ।।
कृत्वाङ्कयोगो गदिनोऽधिकशेषे शुभं वदेत् ।।
समशेषे दीर्घरोगो न्यूनशेषे तदा मृतिम् ।
एतद् विचार्य दातव्यमन्यदप्यौषधं बुधैः ।।
चक्रद्वयं तु योऽज्ञात्वा दद्यादर्कं विमोहितः ।
जायते तद्ध्रं पयशस्तत्र चापि मृते सति ।।

वैद्य, दूत के मुख से निकले हुए वर्णों का सङ्कलन करे । उनमें एक और मिलाकर तीन से भाग दे । यदि एक शेष रहे तो अर्क शीघ्र गुण करता है, दो शेष रहें तो रोग बढ़ता है और और तीन शेष रहें तो रोगी का मरण होता है या दूत रोगी का बहाना करके अपने लिये अर्क मांगता है ।

जब रोगी का भेजा हुआ दूत अर्क लेने आवे तब वैद्य, इस गणित से रोगी के रोग की साध्यता, सुखसाध्यता या असाध्यता जानकर अर्क दे । उदाहरण—जैसे दूत ने कहा-'अर्कं देहि' यहां अ+र्+क+म्+दे+हि=कुल मिलाकर छः हुए । ६ में एक मिलाकर ७ हुए और सात में ३ का भाग देने पर एक शेष रहा । इसका फल रोगीकी शीघ्र आरोग्यता है ।

आतुरोद्धारकमेवादशसु कोष्ठेषु—

स्थानाङ्काः—	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११
	अ	इ	उ	ऋ	लृ	ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः
	क	च	ट	त	प	य	श	क्ष	त्र	ज्ञ	१०
	ख	छ	ठ	थ	फ	र	ष	०	०	०	०
	ग	ज	ड	द	ब	ल	स	०	०	०	०
	घ	झ	ढ	ध	भ	व	ह	०	०	०	०
	ङ	ञ	ण	न	म	०	०	०	०	०	०
अक्षराङ्काः—	६	३	२	४	८	६	४	३	१	०	०

अस्य न्यासो यथा—दूतो धर्मदेव-नामा। तत्र ध+र्+म+दे+व=योगश्चैषा-

४+६+८+४+६=२८+१=२९

मष्टाविंशतिः २८। एकस्य प्रक्षेपे २९। तत्र ८)२९(३ अष्टावशेषे इति

२४

५ शिष्टाङ्काः ५ इति दूताङ्काः

रोगिणो नाम 'सत्यदेव' इति। तत्र—स+त्+य+दे+व=२४ अत्र योग-

४+४+६+४+६=२४+१=२५

श्चतुर्विशतिः। तत्रैकप्रक्षेपे-२५ पञ्चविंशतिः, पुनरष्टावशेषिते—

८)२५(३
२४
१ शेषाङ्क

एवं दूतरोगिणो यस्याङ्कस्य नैयूनं भवति स तं पराभवति। अत्रोदाहरणे दूताङ्काः पञ्च, रोग्यङ्क एक इति कृत्वा रोगी मरिष्यति इति भावः। तद् यथा—

दूतापेक्षया गदिनोऽधिकाङ्कशेषे शुभम्। समशेषे रोगः। न्यूनशेषे मृतिः।

रोगी का भेजा हुआ दूत जब आवे तब तब ऊपर संस्कृत में लिखे कोष्ठ के अनुसार दूत के नामाक्षर की समान संख्या में एक जोड़ कर आठ का भाग दे। जसे—दूत का नाम धर्मदेव है तो ध+र्+म+दे+व। (जोड़)२८ हुआ। २८ में एक ज़ोड़कर २९ हुआ

४+६+८+४+६=२८

और ८) २९ (३
२४
५ पांच शेष, दूताङ्क

रोगी का नाम सत्यदेव है—स+त्+य+दे+व है। रोगी के नामाक्षरों का योग २४

४+४+६+४+६=२४+१=२५

हुआ। २४ में एक मिलाकर २५ हुए और ८ का भाग देकर एक शेष रहा।

८)२५(३ दूत और रोगी के नामाङ्कों में जिस के अङ्क अधिक होते है, वह न्यून अङ्कवाले को
२४
१ रोगी का शेषाङ्क

दबा देता है। यहां दूत के अङ्क अधिक हैं। यदि रोगी के अङ्क न्यून हों तो रोगी का मरण जानना। अर्थात् यदि रोगी के अङ्क अधिक हों तो वैद्य को दूत शुभ समझना चाहिये। सम(दूत रोगी के)अंक शेष हों तो अभी रोग रहेगा ऐसा जाने यदि रोगी के अंक शेष न्यून हों तो रोगी मर जायेगा। वैद्य यह सब समझकर अर्क देवे तो यशस्वी होता है।

स्मरणसुखाय दूत-लक्षण-सङ्ग्रहश्लोका लिख्यन्ते—

अशुभः—

दूतो रक्त-कषाय-कृष्ण-वसनो दण्डी जटी मुण्डितः,
तैलाभ्यक्त-वपुर्भयंकरवचो दीनोऽश्रुपूर्णेक्षणः।
भस्माङ्गार-कपाल-पाश-मुसली सूर्येऽस्तगे व्याकुलो,
यः शून्य-स्वर-संस्थितो गदवतो दूतस्तु कालानलः॥

शुभः—

स्वज्ञातिः श्वेतवस्त्रो द्रविणयुतकरः क्षत्रियो ब्राह्मणो वा,
ताम्बूलास्यः सुशीलः शुभवचनप्रदः स्यात् प्रशस्तोऽत्र दूतः।
सन्ध्याकाले तथा रात्रौ स्नानभोजनसंगमे।
विपरीतेषु कालेषु न गच्छेत्तत्र बुद्धिमान्॥

—योगरत्नाकरः

तस्मात् पूर्वोक्तमस्मत्पद्यं संगच्छत एव। यथा—

दूताद् रोगपरिज्ञाने यतितं त्विह सर्वकैः।
प्रश्नेन गणितेनापि बाह्यचिह्नेन वा पुनः॥

तद् यथा प्रश्नकालेन दूतपरीक्षाविधायकं कस्यचित् पद्यम्—

दूतस्य प्रश्नाक्षरयोगसंख्या निघ्नाष्टभाज्या प्रवदन्ति शेषे।
समे च मृत्युर्विषमे च नैव विलोक्य वैद्याः खलु प्रश्नकाले॥

अब प्रसङ्ग से अशुभ–दूत के लक्षण संक्षेप में दिखाये जाते है–लाल, गेरुआ या काले वस्त्रों वाला, दण्डी, जटाधारी, सिर मुंडाया हुआ, तेल लगाया हुआ, भयङ्कर वाणी बोलनेवाला, दीनतायुक्त, आंसू गिराता हुआ, भस्म लगाया हुआ खप्पर लिये हुआ, जाल लिये हुआ, मुसल लिये हुआ, सूर्यास्त के समय आया हुआ, व्याकुल और बोलते बोलते बीच बीच में रुक जानेवाला दूत अशुभ कालानल होता है।

शुभलक्षण युक्त दूत–निजी सम्बन्धी, श्वेत स्वच्छ वस्त्रधारी, हाथ में कुछ धन लिये हुआ, क्षत्रिय, ब्राह्मण या अन्य शुद्धवर्णवाला ताम्बूल युक्त, सुशील, और शुभ सुन्दर वचन बोलने वाला दूत शुभ होता है।

बुद्धिमान् मनुष्य को चहिये कि सन्ध्या या आधीरात के समय, स्नान-भोजन के समय तथा; ग्रहण आदि समय में वैद्य के यहां न जाय। आत्ययिक रोगी (भयानक बीमारियों) में ये नियम लागू नहीं होते हैं।

प्रश्न के द्वारा दूत की परीक्षा करके रोगी के शुभ और अशुभ जानने का प्रकार योगरत्नाकर में लिखा है कि दूत के प्रश्नाक्षरों का योग करे और फिर उसे ३ से भाग दे, सम अंक शेष रहे तो मृत्यु और विषम शेष रहे तो जीवन होता है।

ऊपर कहे हुए उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि दूत द्वारा रोगीका ज्ञान करने की चेष्टा प्राचीन काल से चली आरही है और अनेक विद्वानों ने इस पर यत्न किये हैं किसी ने गणित से किसी ने प्रश्न से और किसी ने दूत के बाहरी चिह्नों से। हमने इसी यत्न को आगे बढ़ाया है और दूतनाडी द्वारा समझने का सफल प्रयत्न किया है।

अथेदानीं वेदाद् विश्वरूपतास्य प्रदर्श्यते—

'वास्तोष्पति'—शब्दं व्याकुर्वन् यास्को वदति–**'यद् यद् रूपं कामयते तत्तद्देवता भवति'** (निरुक्त, दै० का०अ० १० ख० १७) इतीमं द्रढयितुं मन्त्रमिममुपन्यस्यति—**'रूपं रूपं मघवा बोभवीति'** (ऋ० ३।५३।८) इत्यपि निगमो भवति।

अत्र निरुक्त-व्याख्याता स्कन्दस्वामी—

विश्वरूपावेशप्रतिपादनार्थाह=यद् यद् रूपं कामयते तत्तद् देवतैश्वर्यवशाद् तथा च मन्त्रान्तरम्–रूपं रूपं मघवेति।

'रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परिस्वाम्।
त्रिर्यद्दिवः परिमुहूर्त्तमागात् स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा॥' (ऋ० ३।५३।८)

विश्वामित्रस्यार्षम्। यावन्ति कानिचिद् रूपाणि "मघवा" इन्द्रो (इन्द्रशब्दो हि इदि परमैश्वर्यवाचिना 'स्फायितञ्ची' त्यादिनौणादिकेन रकि प्रत्यये सिद्ध्यति) भवितु-मिच्छति तानि सर्वाणि–अप्रतिबन्धेन बोभवीति=पुनः पुनर्भवतीति।

त्रिगुणात्मकेभ्यः पञ्चमहाभूतेभ्य उत्पद्यमाना वात-पित्त-कफाः परमैश्वर्यवन्तः सन्ति, यत एतेषां सर्वत्रैवानेकरूपेणैश्वर्येषु सद्भावोऽस्ति।

उक्तञ्चापि काश्यपसंहितायां शिष्योपक्रमणीयविमानाध्याये—

"ते च (वात-पित्त-कफाः) द्वे द्वे देवते श्रिताः तद् यथा-आकाश-मारुताभ्याँ वातः श्रितः। अग्निमादित्यञ्च पित्तम्। सोमं वरुणञ्च कफः। तास्तेषां देवताः" इति।

तस्मादायुर्वेदे **मघवा**=त्रिदोषः। **रूपं रूपं बोभवीति** कथम्? **मायाः कृण्वानः**= अन्यैर्दुर्ज्ञेयं कर्म कुर्वन्। **तन्वं परिस्वाम्**=परि-उपसर्गः प्रति-समानार्थः अर्थात् स्वां

अब हम वेद से त्रिदोष की विश्वव्यापकता दिखाते हुए दूतधरा-विज्ञान में प्रयुक्त नियम का दिग्दर्शन करावेंगे।

निरुक्तकार यास्क 'वास्तोष्पति' शब्दका अर्थ करते हुए लिखते हैं कि 'इन्द्र' जिस रूप को चाहता है; उसी रूप को धारण कर लेता है।, इसकी पुष्टि में उन्हों ने **'रूपं रूपं मघवा बोभवीति'**–इस मन्त्र को उद्धृत करके उसकी व्याख्या की है। हम त्रिदोष को इन्द्र या मघवा मानते हुए उसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं।

मघवा—इन्द्र, जो जो रूप चाहता है; उसे विना किसी रुकावट के धारण करता है। इन्द्र शब्द का अर्थ है—परम ऐश्वर्य-सम्पन्न। त्रिगुणात्मक-पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न होने वाले त्रिदोष–वात पित्त कफ भी परम–ऐश्वर्य-सम्पन्न हैं। रूप–रूपान्तर से त्रिदोष की सत्ता सर्वत्र है। त्रिदोष-वेदमूलीय-अध्याय में यह कहा जा चुका है कि वात, पित्त और कफ इन में से एक-एक दो-दो देवताओं के आश्रित हैं। इस लिये आयुर्वेदशास्त्र में मघवा त्रिदोष है जो विना रुकावट अनेक रूपों को धारण करता है।

मायाः कृण्वानः–अर्थात् वह इन्द्र या त्रिदोष ऐसे कर्म करता है; जिन्हें दूसरे समझ न सकें।

तन्वं परिस्वाम्—यहां 'परि' उपसर्ग 'प्रति' के अर्थ में आया है। अर्थात् अपने रूप को एक एक शरीर के प्रति अनेक रूपों में विकृत करता हुआ। सारांश यह कि त्रिदोष,

तनुमाकारं शरीरं प्रत्यनेकविधं विकुर्वाणः। स हि कालविशेषेणाधिष्ठितेषु भिन्न-भिन्न-शरीरेषु विविधविकल्पनयात्मानं द्योतयति। यद् व्यत्ययेन नपुंसकं—यः **दिवः**=द्युलोकात्, वाय्वर्कसोमदेवतात्मकत्वात् त्रिदोषस्य तेषां द्युलोक एव भ्रमणशीलत्वाद् दिव इति संगच्छते। तथा च चरके—

लोके वाय्वर्कसोमानां दुर्विज्ञेया यथा गतिः।
तथा शरीरे वातस्य पित्तस्य च कफस्य च ॥

—चि० स्था, २८।२४७

परिमुहूर्त्तम्=प्रत्येकेन मुहूर्तेन **त्रिः**=त्रिःकृत्वा दोष-धातु-मलरूपेषु भवत्, **आगात्**=आगच्छति। **स्वैः मन्त्रैः**=त्रिदोषज्ञाननियमेनाचर्यमाणः,आहूयमान इति वा। **अनृतुपाः**=कालनियमं व्यभिचरति अर्थात् सर्वस्मिन्नेव समये बाल-युवक-वृद्धरूपात्मकेषु दूतेषु गतिविशेषेण यजमानस्याभीष्टं साधयति। स एव अनृतुपा सन्नपि; **ऋतावा**=सत्यज्ञानेन योजयितास्ति।

उक्तञ्चापि—'**इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपमीयते**।'

मायाशब्दस्य लक्षणं निरुक्तिश्च—

माश्च मोहार्थवचनो याश्च प्रापणवाचकः।
तं प्रापयति या नित्यं सा माया परिकीर्तिता ॥

—ब्रह्मवैवर्ते पुराणे, कृष्णजन्मखण्डे, अ० २७

विचित्रकार्यकरणा अचिन्तितफलप्रदा।
स्वप्नेन्द्रजालवल्लोके माया तेन प्रकीर्तिता ॥

—देवीभागवते अ० ४५.

काल, देश और शरीर के भेद से अनेक प्रकारकी अंशांश-कल्पना में परिणत होकर अपने को अनेक रूपों में प्रकाशित करता है।

यद् दिवः—जो द्युलोक से वाय्वर्कसोम देवतात्मक त्रिदोष के होने से त्रिदोष द्युलोक से सुसंगत हो जाता है क्योंकि सूर्यादिक का भ्रमण द्युलोक में होने से। इस में चरक का प्रमाणः—

जैसे—सूर्य,चन्द्र तथा वायु की गति दुर्विज्ञेय है उसी प्रकार शरीर में वात-पित्त कफ की गति दुर्विज्ञेय है।

परिमुहूर्त्तम्—प्रत्येक मुहूर्त में अर्थात्—तुरन्त। यहां मुहूर्त शब्द का अर्थ तुरन्त है, काल संज्ञा नहीं। त्रिः-तीन-तीन दोष—मल—रूपों में होता हुआ। आगात् आता है। स्वैः मन्त्रैः—त्रिदोषज्ञान के नियमों द्वारा बुलाया या प्रयोग में लाया गया। अनृतुपाः—प्रत्येक समय में बाल-बाला, युवा-युवति, वृद्ध-वृद्धा रूपात्मक दूतों में गतिविशेष से यजमान (वैद्य तथा रोगी) का अभीष्ट सिद्ध करता है। वह त्रिदोष किसी विशेष समय के बन्धन से रहित होता हुआ भी **ऋतावा**—सत्यज्ञान से युक्त है।

कहा भी है कि इन्द्र अपनी माया से अनेक रूपों को धारण करता है।

माया नाम मोह का है। अर्थात् कर्म तो होता हुआ दीखता है परन्तु उसका कारण मालूम नहीं होता। विचित्रकार्यकरणा इत्यादि से माया नाम प्रकृति का भी है।

तथा च—

अध्यात्मलोको वाताद्यैर्लोको वातरवीन्दुभिः ।
पीड्यते धार्य्यते चैव विकृताविकृतैस्तथा ॥
विसर्गादान-विक्षेपैः सोम-सूर्य्यानिला यथा ।
धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा ॥

विशेषचमत्कृतये युक्ति ब्रूमः ।

'सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत्' (अथर्व १०।८।३७) ब्रह्मण इदं ब्राह्मणम् । ब्रह्मज्ञानमित्यर्थः । ब्रह्म=बृहत् । बृहत्त्वाद् ब्रह्मेति व्युत्पत्तिः । बृहतो ज्ञानमिति वा ।

'चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः'तै०सं०३।४।५।१।**'अथो नक्षत्राणामुपस्थे सोम आहितः।** (अथर्व; १४।१।२)नक्षत्राणि न क्षतं यान्ति तस्मात् । रुचिरं रोचयन्ति द्योतयन्ति वा।

नक्षत्रं रूपं तस्माच्चन्द्रमा वै रूपाणामधिपतिरभवत् । सोमो वाव इन्दुः । सोमो हि प्राकृतः श्लेष्मा शरीरे । वृत्रो वै सोम आसीत्(शत०३।४।३।१३,३।६।५।२,४।२।५।१५)

जैसे इस समस्त विश्व को वायु, सूर्य और सोम, पीडित एवं धारण करते हैं उसी प्रकार यह शरीर भी विकृत (बिगड़े हुये) वात, पित्त तथा कफ के द्वारा पीडित और अविकृत वात; पित्त और कफ के द्वारा धारण किया जाता है । जैसे– दक्षिणायन एवं उत्तरायण अयनों द्वारा सूर्य, शुक्ल एवं कृष्णपक्ष द्वारा चन्द्रमा तथा सभी अवस्थाओं में वायु इस जगत् को धारण करते हैं उसी प्रकार वात, पित्त और कफ शरीर को धारण करते हैं ।

अब हम इस आर्षसिद्धान्त को त्रिदोष में संघटित करने का क्रम निर्देश करते हैं । क्योंकि आयुर्वेदवेत्ताओं का यह सिद्धान्त है 'कि जो ब्रह्माण्ड में है, वह देह में है' 'पुरुष लोक के समान है ।' अतः आयुर्वेद से इतर वेद–व्याख्यानों,शाखाओं ब्राह्मणों तथा वेद-व्याख्यानों के अन्यान्य उपकरण-(सहायक) वैदिक वाङ्मय में जितनी महिमा कही गयी है, उस सबकी त्रिदोष में योजना कर के एवं नाडी द्वारा दोषों की अशांश कल्पना कर के प्रत्यक्ष रूप से तथा प्रत्यक्ष अवस्था बतानेवाली नाडी द्वारा जानकर भली भांति समझ लेना चाहिये । उस के कुछ उदाहरण यहां प्रदर्शित करते हैं–

अथर्ववेद में कहा गया है कि जो सूत्र के सूत्र को जानता है वह इस महान् विराट् रूप-विश्व को जानता है।

'चन्द्रमा नक्षत्रों का स्वामी है'—इस आशय को अथर्ववेद में रूपान्तर से कहा है कि 'चन्द्रमा नक्षत्रों के मध्य में रहता हैं' । नक्षत्र उन्हें कहते हैं जो क्षीण न हों, विकृत न हों । जो चमचमाते हुए प्रिय लगते हैं, वे नक्षत्र हैं ।

चन्द्रमा को रूपों का अधिपति भी कहा गया है क्योंकि नक्षत्र ही रूप हैं और चन्द्रमा उनका राजा होने के कारण रूपों का स्वामी है। सोम नाम चन्द्रमा का है और आयुर्वेद में विशुद्ध रूप में वर्तमान कफ का नाम भी सोम है। आयुर्वेदज्ञों को यह भी ध्यान रखना चाहिये कि शीतप्रकृति औषधियां भी सोम सौम्य कही जाती हैं ।क्यों कि वे व्याधिनिवर्तक होने के कारण शान्ति प्रदान करती हैं। इसी प्रकार उष्णवीर्य

अथैष एव वृत्रश्चन्द्रमाः (शत० १।६।४।१२) **पाप्मा वै वृत्रः** (१ ।४।१।१३) वृत्रो हि मेघनामसु पठितो निघण्टौ विकृतः श्लेष्मा वृत्रस्थानीयः। यत आयुर्वेदे विकृतः श्लेष्मा पाप्मेत्युच्यते। उक्तं हि चरके—

गतिश्च द्विविधा दृष्टा प्राकृती वैकृती तथा।
प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मलमुच्यते।
स चैवोजः स्मृतः काये स च पाप्मोपदिश्यते॥

—च० सूत्रस्थाने

यतो हि बुधः, विकृतः श्लेष्मा शरीरे ज्ञातव्यः **'सौम्यायनो बुधः'**। (ताण्डच, २४।१८।६) उक्तञ्च **'सोमो वरुणश्च कफ'** इति। एवं हि आर्षानुसन्धानेन-सन्तत्या ज्ञायते—यदि दूतनाडयां श्लेष्मा विकृतोऽस्ति; तदा वक्तव्यं भवति यद् रोगिणः साम्प्रतं मलिनं रूपमस्ति। न तत्स्थानं शुद्धम्। न च तद्विचारवृत्तिः शुद्धा। न चाधीतं साम्प्रतं स्मृतमस्ति। यतो **"मन्युमन्तं सरस्वत्याजगाम'** इत्यागमात्।

एवं चन्द्रमसा ये भावा लोके प्रकृतिविकृतिभावमापद्यन्ते, तथैव श्लेष्माणं तथाविधं मत्वा शरीरे वैद्येन दूतनाडचा दूरस्थितस्यापि रोगिणोऽवस्था वक्तव्या **'यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे'** इति न्यायात्। ब्रह्माण्डं ग्रहाधिष्ठितं शरीरञ्चापि ग्रहदैवतमेव।

औषधियां भी सोम कही जाती हैं क्योंकि वे शरीर की व्याधियों को अपने उष्ण-धर्म से शान्त कर देती हैं। 'सोम औषधियों का राजा है'-इस वैदिक वाक्य से यह भाव स्पष्ट प्रतीत होता हैं। सभी औषधियां अग्निषोमीय है। वृत्र को भी सोम कहा गया है। वृत्र चन्द्रमा का नाम है। पाप्मा वृत्र है। निघण्टु में वृत्र नाम मेघ का है। हमारे शरीर में वृत्र नाम विकृत (सोम) श्लेष्मा का है।

शरीर में दोषों की दो प्रकार की नाडियां हैं। एक प्राकृत-गति वाली और दूसरी विकृत-गति वाली। प्राकृत बल श्लेष्मा है और विकृत श्लेष्मा मल कहा जाता है। वही प्राकृत श्लेष्मा बलदायक होने से 'ओज' कहा जाता है उसी के विकृत रूप को 'पाप्मा' कहते हैं।

शरीर में विकृत श्लेष्मा 'बुध' कहा जाता है। ताण्ड्य ब्राह्मण में बुध को सौम्यायन कहा गया है। जल का रूपान्तर मेघ (बादल) है। आयुर्वेदज्ञों का सिद्धान्त है कि जल और पृथिवी तत्व के संयोग से श्लेष्मा की उत्पत्ति होती है। इसी वस्तु को काश्यपसहिता में कहा है कि कफ सोम और वरुणदेवतात्मक है।

उपर्युक्त बातों की सङ्गति इस प्रकार है-यदि दूत की प्रणाली में विकृत श्लेष्मा सञ्चारित हो रहा हो तो समझना चाहिए कि रोगी मलिन रूप में है रोगी की मनोवृत्ति शुद्ध नहीं है, स्थान भी शुद्ध नहीं है। उसकी स्मृति नष्ट है। पढ़ा-लिखा भूल गया है क्यों कि शास्त्र में लिखा है कि 'सरस्वती मन्युवाले को प्राप्त होती है'। मन्यु नाम पित्त का है। इसी लिए पीतवर्णवाला गाय का दूध पित्त-प्रधान और बुद्धि-वर्द्धक है और भैंस का दूध या घृत श्लेष्म-प्रधान होने से तथोक्त गुण वाला नहीं है।

सारांश यह कि संसार में चन्द्रमा से जो-जो विकृत या प्राकृत रूप उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार शरीर में श्लेष्मा को मानकर दूर बैठे हुये रोगी की अवस्था का दूत की नाडी द्वारा वर्णन किया जा सकता है। क्यों कि जो शरीर में है वही ब्रह्माण्ड में है।

संक्षेप में यह अर्थ-पूर्ण सिद्धान्त है ब्रह्माण्ड नवग्रहात्मक है। उसी प्रकार शरीर भी नवग्र-

यथा च सुश्रुते—'**मनसश्चन्द्रमा देवता । चक्षुषोः सूर्य्यो हस्तयोरिन्द्र**' इत्यादि सूर्य्यादीनां देवतानां प्रकृतिविकृतिभावौ ज्योतिःशास्त्रादवगन्तव्यौ ।

ज्योतिःशास्त्रेऽपि च सृष्ट्युत्पत्तिवर्णने निहितश्चतुर्विधविल्पनाक्रमः; स सर्वथा सरलस्तथ्यश्चास्ति । स चार्षक्रमोऽस्माभिः शिलाङ्गपर्वतस्थ—योगिराजाद् 'गुरोः परम्परया पुस्तकमन्तरा प्राप्तः । तदुपयोगश्चात्र विज्ञाने विहितः ।

'**वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति**' (निरुक्ते १ १६) इति वचनाद् यदि कश्चन त्रिदोषविद्यायां न श्रमेत् तदा सा पुरुषगर्हा; न त्रिदोषगर्हा सा । त्रिदोष विज्ञानवेत्ता दूरस्थितस्यापि वृत्तमवगाह्य ब्रूत एवेति निःसंशयम् ।

अत्र केचित् सन्दिहन्ते-यदि दूतधरास्थत्रिदोषेण रोगिणो व्याधिज्ञानं सुविज्ञेयं भवति, तर्हि तद्दोषगतिमता दूतस्यापि तेनैव विधिना भवितव्यमिति । नेति सत्यदेवो वासिष्ठः । कुतः ? एकमेव दुग्धं पीतं कञ्चिदतिसारयति, कञ्चिच्च ज्वरयति,

---

हात्मक है । सुश्रुत में कहा है कि मन का देवता चन्द्रमा, आंखों का देवता सूर्य और हाथों का देवता इन्द्र है । ज्योतिषशास्त्र में शरीरस्थ धातुओं के ग्रहरूप देवता कहे हैं । जैसे स्नायु मज्जा, सत्त्व, गुल्म और सुख के स्वामी चन्द्र और सूर्य है । रुधिर का स्वामी मंगल, शुक्र का शुक्र, चेतना का स्वामी बुध, जीव का वृहस्पति और मनका स्वामी चन्द्रमा है ।

सूर्य आदि देवताओं का प्रकृति-विकृतिभाव ज्योतिष-शास्त्र से जानना चाहिये । यद्यपि यह विषय प्रासङ्गिक नहीं है, तथापि उदाहरण रूप से दिखा दिया गया है । इस विषय को स्वतन्त्र निवन्ध के रूप में लिखा जायेगा ।

ज्योतिःशास्त्र में भी चार प्रकार से (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) विभक्त क्रम ही लाघव से ज्ञान को उत्पन्न कराने में समर्थ हैं । यजुर्वेद में 'यत्पुरुषं व्यदधु' ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्, इत्यादि द्वारा स्पष्ट कहा गया है । यहां पुरुष शब्द 'पुरि शेते इति पुरुषः' इस अर्थ के अनुसार समस्त दृश्यमान चराचर जगत का बोधक है ।

हमने इस परम्परागत सत्य एवं सरल प्रकार को शिलाङ्ग पर्वतपर रहनेवाले योगिराज से प्राप्त किया था । ऐसे ही ज्ञान का संकेत भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने भी किया है ।

शास्त्रों में कहा है कि विद्वानों में अनेक विद्याओं को जाननेवाला प्रशंसनीय होता है । यदि कोई व्यक्ति त्रिदोषज्ञान में श्रम नहीं करता तो वह पुरुष निन्दनीय है, त्रिदोष नहीं । क्यों कि इसी त्रिदोषज्ञान के आधार पर दूर बैठे हुए पुरुष का ठीक ठीक वर्णन किया जा सकता है ।

यह युक्ति त्रिदोष को ऊहित करने की विविध रूप में दिखाई गई है । सुख दुःख का वर्णन त्रिदोष को अंशांश-कल्पना से करना चाहिये । यदि ज्योतिष के ग्रहगोचर के सहारे किया जायेगा तो उस में भारी अव्यवस्था उत्पन्न होगी; क्योंकि वह त्रिदोष की अंशांश-कल्पना से भी क्लिष्टतम है ।

अब यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि दूत के त्रिदोष से रोगी का रोग कथन किया जाता है तो वह त्रिदोष, उस दूत को भी उसी व्याधि से पीडित क्यों नहीं करता है ?

ऐसा नहीं होता । एक ही दूध,एक ही समय में पिया जाकर किसी पीने वाले को अतिसार उत्पन्न करता है किसी को ज्वर और किसी को बल उत्पन्न करता है क्योंकि संसार में मनुष्यों

कञ्चिद्रूर्जयति । भिन्नो भिन्नः कर्मविपाको लोकस्य । तथैव दूतस्य त्रिदोषांशांशकल्पना दूतमन्यथा रुजयति रोगिणं पुनरन्यादृशमेव रुजयति, क्वचिच्च भवति व्यभिचारः । तत्र प्रतिविधेयं दोषेषु ।

नाडीज्ञानमुपासते हि बहवो नाड्यास्तु सारं परम्,
ज्ञात्वैवं गुरुशासनाद् गुरुकुलक्लिष्टेन लुप्तं त्विदम् ।
दूराद्दार्त्तिमतो निदानकथनं 'सत्येन' युक्त्यागमात्,
प्रत्यक्षेण परीक्ष्य चापि बहुधा लोकाग्रतः स्थाप्यते ।।

एतद्धि विज्ञानं महता परिश्रमेण कष्टेन च मया समुपलब्धम् । मम हि—

कालो व्यतीतः स हि यौवनस्य, यस्मिन् विकारान् समुपैति चेतः ।
सम्मार्ज्जमानस्य च पाकपात्रान्, संवाह्यमानस्य गुरोः पदाब्जान् ।।

अत्र ज्ञाने रोगोपपत्तेर्ज्ञानमावश्यकमित्युच्यते—

रोगोपपत्तिं गुरुशासनाद् यो, वेत्त्येव धीरः स हि वक्तुमर्हः ।
यथा त्रिराशिं गणितं विलोमाद् मूलं धनं ज्ञापयितुं समर्थः ।।
यः केवलं पुस्तकमात्रपाठाद् निदानमात्रस्य च कण्ठपाठात् ।
परीक्षितुं मार्गमिमं प्रयाति शपन् स मां हीनफलो विरौति ।।

अतोऽत्र विषये सद्भिषजां प्रति—

वैद्याः ! यशोऽर्थवितताभिह दूतयुक्तिमाम्नाय-यत्ननिरताः सुखमेव वित्त ।

का कर्मविपाक भिन्न भिन्न है । इसी प्रकार दूत में स्थित त्रिदोष की अंशांश कल्पना दूत को अन्य प्रकार का कष्ट देती है और रोगी को अन्य प्रकार का । कभी कभी समानता भी देखने में आती है परन्तु ऐसे अवसर अत्यल्प होते हैं । यदि इसमें किसी प्रकार का दोष दीख पड़े तो उस का मार्जन वैद्य को स्वयं अपनी बुद्धि से कर लेना चाहिये । पातञ्जल महाभाष्य में लिखा है कि 'दोषों का प्रतिविधान करना चाहिये ।'

नाडीतत्त्व-दर्शन के लिये मैंने कठोर तपस्या के समान गुरुजनों की सेवा, उनके उपदेशों का श्रवण एवं मनन किया । उनकी कृपा से इस प्रक्रिया को जानकर लुप्तप्रायः विज्ञान को प्रत्यक्ष कर के एवं युक्ति और इस सम्वन्ध में प्राचीन आचार्यों के मतों की भलीभांति समीक्षा करते हुए आधुनिक वैद्य-समाज के सम्मुख उपस्थित किया है ।

यह नाडी-विज्ञान मैंने महान् प्रयत्न व कष्ट से प्राप्त किया है । जिस के लिये मेरा—

जिस यौवन में मन विकारों को प्राप्त करता है, वह यौवन, विद्या-प्राप्ति, गुरु-सेवा एवं भोजन-प्रवन्ध तथा पाकपात्रों के मार्जन में व्यतीत हो गया ।

जो वैद्य, गुरु-कृपा से त्रिदोष की उपपत्ति को जानता है-वही इस दूतधरा-विज्ञान के जानने में समर्थ हो सकता है—जैसे—व्यस्त विधि से विलोम त्रैराशिक, मूल और धनराशि को वताने में समर्थ होता है ।

जो केवल पुस्तकें पढ़कर या निदान को रटकर दूतनाडी-परीक्षा में सफलता प्राप्त करना चाहेंगे वे मुझे कोसते हुए असफल ही रह जायेंगे । इसीलिये हमने अपना अधिक समय अनेक विद्याओं के उपार्जन में व्यतीत किया है ।

वैद्यगण ! यश और अर्थ से युक्त इस दूत विज्ञान का यत्न से अभ्यास करके सुख का

अत्युग्रपुण्य-परिपूतधियो हि धन्या अन्तर्निमज्ज्य कलयन्ति महार्घमुक्ताम् ।१।
त्रित्वं विशोध्य गुरु-गौरव-दीपितेऽग्नौ शारीरतन्त्र-विर्तातं जगतस्ततिञ्च ।
ज्ञात्वात्र दूतधरया विनियोग उक्तः स्वात्मार्थमाप्तुमपरत्र न लोकतुष्ट्यै ।२।

स्वात्मनोऽर्थः = दूतधराविज्ञानं तज्जन्मान्तरे पुनराप्तुं = प्राप्तुं लेखेन विन्यस्तम्, लेखाभावे सति-अश्विनीभ्यामपि दुरूहत्वात् । लोकानां मनुष्याणां सन्तोषनिमित्तमधिकृत्य तु नाङ्कितोऽयं विषयः । एवं सन्नपि लेखोऽयं गौणीवृत्त्याऽश्विनोस्तोषं ज्ञानं यशश्च विधास्यत्येवेति मे द्रढीयान् विश्वासः ।

दूतस्थ-बाह्यविकृतिं परिलक्ष्य धीरा दूरस्थितस्य रुजया परिपीडितस्य ।
जानन्ति भूत-भवने पुनरायतिञ्च नान्तर्विकारमिह दूतधराभिराः ! किम् ।३।
मार्गोऽयमुत्क्रम्य मतिं तनोति दूतस्थ-सन्दोहनमत्र प्राचाम् ।
मां येऽङ्कयन्तः कवयो यतन्ते तेऽदः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्तु ।४।
नो मे दुरारोहपथेऽस्ति प्रीतिर्नो मे मतिः पुण्यवचांसि लब्धुम् ।
यत्सत्यमाप्तं विदुषां प्रसादाद् तद्बीजमत्रं त्विह साग्रमुक्तम् ।५।
अप्रकाशनमेतस्य मन्ये चौर्यं धराविधेः ।
अपवादं समुत्सृज्य न्यस्तो दूतक्रमस्त्विह ।६।

सुतरां प्राचीनो वराहमिहिरकृतं होराशास्त्रं विवृण्वानो रुद्रो ज्ञानह्रासक्रमे हेतूनाचष्टे—

अनुभव करो और जनता को सुखी करो । इस विज्ञान की मन में उद्भासना पूर्व पुण्यों के प्रभाव से ही होती है ।१।

मैंने आत्मा, मन और शरीर को विशुद्ध करके गुरुजनों की सेवा द्वारा शरीर-शास्त्र का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन करके तथा ज्योतिष विज्ञान से जगत् के आकर्षण-विकर्षण को जानकर इस दूतधरा विज्ञान को समझकर लिखा है जिससे इस विद्या को जन्मान्तर में प्राप्त कर सकूं । लिखे विना यह जन्मान्तर में जानी नहीं जा सकती थी । मैंने लोगों को प्रसन्न करने के लिये नहीं लिखा । हां, गौणी वृत्ति से यह लेख सबको सुख देगा ही ॥२॥

जबकि विद्वान् वैद्य दूत के बाहरी लक्षणों से दूर स्थित रोगी का भूत, वर्तमान और भविष्य बताते हैं तो दूत की अन्तर्दोषानुवर्तिनी नाडी द्वारा रोगी के रोग का परिचय कर सकें तो इसमें क्या आश्चर्य है ॥३॥

जो लोग यह कहते हैं कि 'दूत से रोग के त्रिदोष की अंशांश–कल्पना करने का प्रकार प्राचीन आचार्यों ने नहीं कहा, यह मेरी अपनी कल्पना मात्र है' वे इसकी भलीभांति परीक्षा और समीक्षा करके समुचित मार्ग का अवलम्बन करें ।।४।।

मुझे इस कठिन दूतविज्ञान–प्रक्रिया में किसी प्रकार का हठ नहीं है और न आत्मप्रशंसा की ही इच्छा है । परन्तु गुरुजनों की कृपा से मैंने जिस सत्य को जाना उसे बीजरूप से उपस्थित कर दिया है कि भावी गवेषणाप्रिय विद्वान् इसे आगे बढावें । इसका प्रकाशन न करना इस विज्ञान की चोरी करना है ।५।६।

वराहमिहिरकृत-होराशास्त्र की विवृति करते हुए रुद्रदत्त ने लिखा है कि 'शिष्य-बुद्धि की

शिष्यस्य बुद्धिमान्द्यादाचार्यस्योपदेश-संवरणात् ।
परिमुषितसम्प्रदायादिह परे दूषयन्ति शास्त्राणि ॥
(होराशास्त्रे रुद्रकृतविवरणटीकायाम् अ० ७ श्लो० ८)

अत एवैतद् वहुविधं समीक्ष्य महता प्रयत्नेन महोपकारतामुररीकुर्वता वैद्य-बन्धूनां पथ-प्रदर्शनपरं समुपस्थापितमिदं यथाविद्य यथाबुद्धिवैभवं यथानुभूतं दूत-विज्ञानं येनाग्रेतना वैद्याः प्रयतेरन्नत्र विज्ञान विस्तृत्यै । अनन्तो हि विज्ञानमहाम्बुधिः।

सङ्क्षेपस्त्वयम्—

यः क्रमो नाडीविज्ञाने पौर्वापर्येण भाषितः ।
तं तथा दूतनाड्यां हि समाक्षिप्य रुजं जयेत् ॥१॥
यावतीं वेत्ति यो विद्यां जगतः स्थितिरूपिणीम् ।
कालस्यापि गतिं दुर्गां स दूतात्कीर्तिमाहरेत् ॥२॥
विना हि दूतस्य धरापरीक्षणं चिकित्सकः केवल-प्रश्नपञ्चकात् ।
रुजावते दित्सति नीरुजीकरं क्षमो न दोषांश-विधान-कल्पने ॥३॥
[1]चातुर्वर्ण्यस्थ-वेदोत्थं ज्ञानं यत्तु नभःसदाम् ।
तन्मूलं दूत-विज्ञानं लोके प्राकाश्यमागतम् ॥४॥
अनेकविधविद्येन नतेन हितबुद्धिना ।
दूतनाड्या रुजाख्यानं सत्यं वक्तुं हि शक्यते ॥५॥
अनन्तकर्तुः कर्मापि नालमन्ताय कर्हिचित् ।
तस्माद्धि बीजमात्रेण न्यस्तं बुद्धिविवृद्धये ॥६॥

मन्दता के कारण, आचार्य का शिष्य को समुचित और सत्य उपदेश न देने के कारण तथा सम्प्रदायवाद के कारण विज्ञान लुप्त हो गये'।

इसलिये मैंने अतिशय प्रयत्न से इस दूतधरा विज्ञान की उपकारिता का अनुभव करते हुए अपनी, बुद्धि एवं प्रत्यक्ष अनुभूति के आधार पर वैद्यों के पथ-प्रदर्शन के लिये इसे प्रकाशित किया है जिससे कि भावी वैद्य इस परिष्कृत-विज्ञान में प्रयत्न करके उसे विस्तृत करने में समर्थ हो सक ।

रावण कृत नाडी-विज्ञान, जो अष्टमाध्याय के रूप में लिखा गया है, उसका प्रयोग और पूर्व लिखे सातों अध्यायों का उपयोग दूत नाडी-विज्ञान में करना चाहिये ।१।

जो व्यक्ति, जितना अधिक विद्या-सम्पन्न है, जगत् के पारस्परिक सम्बन्ध एवं काल की गति को जानता है—वह दूतनाडी विज्ञान द्वारा उतनी अधिक कीर्त्ति प्राप्त करता है।२।

दूतनाडी की परीक्षा के विना केवल प्रश्न आदि से ही रोगी की परीक्षा करके औषधि देना भ्रमजनक होता है क्योंकि इसमें त्रिदोष की अंशांश—कल्पना नहीं हो सकती है और उसके विना औषधि की मात्रा का निर्द्धारित करना कठिन होता है ।३।

अनन्तशक्ति-सम्पन्न भगवान् के अनन्तशक्तिमय कार्य का अन्त नहीं प्राप्त हो सकता, इसलिये इस अनन्त विज्ञान का बीजमात्र प्रदर्शित किया गया है ताकि अन्वेषकों के बुद्धि विकास में सहायता मिल सके ।६।

---

१ इसकी व्याख्या ७ वें अध्याय में दिखलाई जायेगी।

इदानीं गुरुजनस्मरणात्मकं मङ्गलमाचरन्नुपसहरति—

श्रीनाथुरामो भिषजां वरेण्यो मौद्गल्यगोत्रो महनीयकीर्तिः ।
श्रीरामपूर्वस्तिलको महात्मा विरक्त-चूडामणिरार्त्तबन्धुः ।
शिलाङ्ग-गोत्रस्थ-तपोमहिष्ठादालब्ध-विद्योऽत्र हरस्य भक्तः ।
श्रीसत्यदेवेन कृते प्रबन्धे नाडी-विधाने यशसा जुषन्ताम् ॥

भवन्ति चात्र—

दूताध्याये स्व सिद्धान्त—सूत्रस्यात्र प्रकाशनम् ।
समाधानञ्च शङ्काया नाड्यामन्योऽन्यवन्धनम् ॥१॥
दूतोऽत्र पृच्छकस्थाने वैद्यो ज्योतिर्विदः समः ।
कालोऽनुवर्तते तादृक् स्याद्येनाभीष्टदोहनम् ॥२॥
सुश्रुताच्चरकाच्चापि दूताधारस्य पाषणम् ।
रावणप्रमुखादीनां गणितस्य प्रदर्शनम् ॥३।
आगमाच्च त्रिदोषस्य व्यापकत्वमुदाहृतम् ।
क्रमश्चार्षानुसन्धाने वक्तव्यं चात्मनस्तु यत् ॥४॥
रूपरेखा-स्वरूपेण राजौर्य्यां श्रेष्ठिनो गृहे ।
ग्रथितः शोधनैः शुद्धः पूर्तिमागाद् गुरोर्दिने ॥ ॥
भूत-शून्याभ्र-नेत्राब्दे पूर्णेन्दौ सिंहगे रवौ ।
मनोज्ञे सुतरां रम्ये स्थानेऽमृतसरोऽभिधे ॥६॥

इति दूतनाडीविज्ञानीयः पञ्चमोऽध्यायः ।

इस दूतधरा—विज्ञान के लिखने में जिन गुरुजनों की अपार कृपा रही उनमें अनेक विद्या निष्णात एवं आयुर्वेद के प्रसिद्ध एवं गम्भीर विद्वान् आचाय नाथुरामजी मौद्गल्य तथा वैद्याधिराज विरक्त-शिरोमणि श्री तिलकरामजी ब्रह्मचारी विशेष यश और श्रेय के भागी हैं। शिलाङ्ग के योगीराज से परम्परा-प्राप्त ज्योतिष विद्या के मर्मज्ञ-विद्वान् लाला हरभज जी भी इस आविष्कार में अमरकीर्ति के भागी हैं; जिनकी कृपा से यह विद्या प्राप्त हो सकी।

इस अध्याय में दूतविज्ञान का सूत्र,शङ्का-समाधान तथा एक दूसरे को दूसरे की नाडी में अनुस्यूत करना लिखा गया है ॥१॥

दूत, वैद्य के पास उसी समय उपस्थित होता है जैसा कि रोगी का शुभाशुभ होनेवाला होता है इसमें उदाहरण ज्योतिषी और प्रश्नकर्ता को समझना चाहिये। दूत प्रश्नकर्ता के समान है और वैद्य ज्योतिषी स्थानीय है ॥२॥

चरक और सुश्रुत संहिताओं के आधार का पोषण किया गया और रावण आदि द्वारा आविष्कृत गणित-पद्धति का प्रदर्शन किया गया है ॥३॥

वेदों से त्रिदोष की विश्वव्यापकता प्रदर्शित की गयी है। आर्ष—ग्रन्थों के अनुसन्धान का क्रम तथा नाडी में उनका प्रयोग क्रम दिखाया गया है ॥४॥

इस अध्याय की रूपरेखा रामपुर-राजौरी में लाला बिसनदास सेठी के घर पर रहकर लिखी गयी, जिसको सम्वत् २००५ के भाद्रपद मास में पूर्णिमा के दिन अमृतसर में पूर्ण किया। ५॥

इसका भाषानुवाद सम्वत् २००६ वैशाख मास शनिवार को अमृतसर में पूर्ण हुआ ॥६॥

दूतनाडीविज्ञानीय पञ्चम अध्याय समाप्त हुआ।

* रोगगणनात्मकः षष्ठोऽध्यायः *

अथातो रोगगणनाध्यायं व्याख्यास्यामः ।

नाडीद्वारेण स्पर्श-परिज्ञान-प्रयोजनं रोगनिर्णयार्थं, रोगनिर्णयो हि रोगिणो आयुषः स्थापनाय चिकित्सा-सौकर्याय च, चिकित्सासौकर्यञ्च चिकित्सापादचतुष्टय-सुखाय यशोलाभाय च । उक्तञ्चापि—

"सुखजीवितदानं हि सर्वधर्मस्याधिकं ब्रुवते । सुखजीवितदान-तुष्टाश्च देहिनः कृतज्ञाय संविभजन्ति पुरः स्तुवन्ति च । तदस्य धर्मार्थकामनिर्वर्तकं भवतीति ।"

काश्यपसंहिता, विमानस्थानम्, शिष्योपकरणीयाध्यायः

चिकित्सापादचतुष्टये काश्यपसंहितायां प्राधान्यं सद्भिषज एव । यथा—

अस्य पादचतुष्कस्य मन्यन्ते श्रेष्ठमातुरम ।
तदर्थं गुणवन्तो हि त्रयः पादा इहेप्सिताः । ८ ।
नेति प्रजापतिः प्राह भिषङ्मूलं चिकित्सितम् ।
भिषग्वरो त्रिवर्गो हि सिद्धिश्च भिषजि स्थिता । ९ ।
स युनक्ति, प्रयुङ्क्ते च शास्ति च ज्ञानचक्षुषा ।
तस्माज्ज्ञाने सविज्ञाने युक्तः श्रेष्ठतमो भिषक् । १० ।
यदा चतुर्णां पादानां सम्पद् भवति जीवक ! ।
तदा धर्मार्थयशसां वैद्यो भवति भाजनम् । ११ ।

इति हि स्माह भगवान् काश्यपः ।

काश्यपसंहिता अ० २६

अब रोगगणना नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं ।

हाथों से नाडी ज्ञान करने का प्रयोजन रोग का निर्णय करना है, रोग का निर्णय, रोगी की आयु, रक्षा तथा चिकित्सा की सुगमता के लिये है और चिकित्सा की सुविधा, चिकित्सा के अङ्गभूत-चार पादों की सुविधा के लिये है ।

काश्यप संहिता (वृद्धजीवक-तन्त्र) के चिकित्सा-सम्पदीय-अध्याय में भगवान् काश्यप ने कहा है कि संसार के सभी सत्यकर्मों में सुख तथा आरोग्यता प्रदान करना सर्वोत्तम सत्यकर्म है । आरोग्य लाभ से संतुष्ट व्यक्ति आरोग्य दाता वैद्य का अत्यन्त कृतज्ञ बना रहता है, वैद्य को धन, सम्मान आदि देता है और चारों ओर उसका कीर्तिगान करता है । अतः यह आरोग्य प्रदान वैद्य के लिये धर्म, अर्थ और काम का देने वाला है ।

वैद्य,औषधि परिचारक और रोगी—चिकित्सा के ये चार पाद (पैर) हैं । इन चारों में वैद्य ही प्रधान है । इस सम्बन्ध में काश्यप संहिता ने भी वैद्य को ही प्रधान माना है । वे लिखते हैं— 'कुछ लोग चिकित्सा के चार स्तम्भों में रोगी को प्रधान मानते हैं क्योंकि अन्य तीन पाद उसी के लिये हैं इसलिये रोगी प्रधान है । प्रजापति का मत है कि रोगी प्रधान स्तम्भ नहीं; वरन् वैद्य ही प्रधान है । क्योंकि शेष तीन पाद वैद्य के आधार पर उसकी आज्ञानुसार चलते हैं और सिद्धि

तस्मादत्र सङ्क्षेपमविकृत्य काश्यपसंहितातो यथातथं रोगगणनाध्याय उपन्यस्यते, अध्येतॄणां सुखस्मरणाय—आर्षानुगानाञ्चात्मनोऽनृणत्वलाभाय रोग-संज्ञणनाय च ।

'एको रोगो रुजाकरणसामन्या'दिति भार्गवः प्रमतिः ।
'द्वौ रोगौ निजश्चागन्तु'श्चेति वायोर्विदः ।
'त्रयो रोगाः साध्य-याप्यासाध्या' इति काङ्कायनः ।
'चत्वारो रोगा आगन्तु-वात-पित्त-कफजा' इति कृष्णो भारद्वाजः ।
'पञ्च रोगा आगन्तु-वात-पित्त-कफ-त्रिदोषजा' इति दारुवाहो राजर्षिः ।
षड्रोगाः षड्रसत्वादन्नपानस्य' इति ऋषिषद्भ्यः ।
'सप्त रोगा वाताद्येकैकद्वित्रिदोषजा' इति हिरण्याक्षः ।
'अष्टौ रोगा वाताद्येकैक-द्वित्रिदोषागन्तुनिमित्ता' इति वैदेहो निमिः ।
'अपरिसंख्येयाः समहीनाधिकदोषभेदात्' इति वृद्धजीवकः ।
एवमनवस्थानमुपलभ्याह भगवान् कश्यपो द्वावेव खलु रोगौ निजश्चागन्तुजश्च,

---

वैद्य के ही हाथ में है । वैद्य ज्ञानचक्षु से उन तीनों का विधान और उचित अनुशासन करता है इसलिये ज्ञान विज्ञान युक्त वैद्य ही सर्वश्रेष्ठ है । हे जीवक! जब चिकित्सा के चारों पाद सम्पत्तिशाली होते हैं, तब वैद्य, धर्म, अर्थ और यश का भागी बनता है ।

अब हम वैद्य विद्या-स्नातकों की सुविधा तथा ऋषि ऋण से मुक्त होने के लिये काश्यप संहिता के 'रोगगणनाध्याय' को ही सम्पूर्णरूप से उद्धृत करते हैं ।

"प्रमति भार्गव नामक आचार्य कहते हैं कि रोग एक है—क्योंकि सब रोगों का सामान्य धर्म दुःख समान है । अर्थात् ऐसा कोई रोग नहीं जिससे दुःख न हो ।

वायु के तत्त्ववेत्ता, वायुर्विदका मत है—कि रोग दो हैं—एक तो निज (वात पित्त आदि के अन्तर्दूषित होने के कारण) और दूसरे आगन्तुज । अर्थात् बाहरी कारणों—चोट, गिरना मारखाना, अभिचार आदि से होते हैं ।

काङ्कायन—आचार्य का मत है कि रोग तीन हैं १ साध्य, २ याप्य और ३ असाध्य ।

कृष्ण भारद्वाज के मत से रोग चार हैं—१ वातज, २ पित्तज, ३ कफज, ४ आगन्तुज ।

राजर्षि दारुवाह कहते हैं कि रोग पांच हैं—१ वातज, २ पित्तज, ३ कफज, ४ सन्निपातज और ५ आगन्तुज ।

ऋषि षद्भ्य के मत में रोग छः हैं—क्योंकि चार प्रकार के खाद्य (भोज्य, चोष्य, लेह्य, पेय) षड्रसात्मक हैं ।

आचार्य हिरण्याक्ष कहते हैं कि रोग सात हैं—तीन दोषज,तीन द्वन्द्वज और एक त्रिदोषज (सान्निपातिक) ।

विदेह के राजा निमि (वैदेह) कहते हैं कि रोग आठ हैं—तीन पृथक् वातादि से तीन, द्वन्द्वज, एक सन्निपातज और एक आगन्तुज ।

वृद्धजीवक का मत है कि दोषों के सम,हीन और अधिक आदि भेदों से रोग असंख्य हैं ।

वृद्धजीवक से रोगों की असंख्यता सुन कर भगवान् कश्यप ने कहा—वास्तव में रोग दो ही हैं १ निज और २ आगन्तुज । उनके ही अनेक रूप-रूपान्तर हैं ।।३।।

तावनेकविस्ताराविति ।।३।।

"हेतुप्रकृत्यधिष्ठान————विकल्पायतनार्थतः ।
ज्ञेया रोगा असंख्येयाश्चिकित्सानाञ्च विस्तरात् ।४।
अधिष्ठानद्वयं तेषां शरीरं मन एव च ।
मानसानाञ्च रोगाणां कुर्याच्छारीरवत् क्रियाम् ।५।
धातुस्थूणात्मवैषम्यं तद्दुःखं व्याधिसंज्ञकम् ।
धातुस्थूणात्मसाम्ये तु तत् सुखं प्रकृतिश्च सा ।६।
अव्याहतशरीरायुरभिवर्धेत वा कथम् ।
इत्यर्थं भेषजं प्रोक्तं विकाराणाञ्च शान्तये ।७।
निजागन्तुनिमित्ता च द्विविधा प्रकृतिः रुजाम् ।
नखदन्ताग्निपानीयवधबन्धाधि———देवताः ।८।
शापाभिचारादागन्तुर्निजा वातादिहेतवः ।
वातपित्तकफानां तु देहे स्थानानि मे शृणु ।९।
सर्वगानामपि सतां प्रायः स्थानञ्व कर्म च ।
अधो नाभ्यस्थिमज्जानौ वातस्थानं प्रचक्षते ।१०।
पित्तस्यामाशयः स्वेदो रक्तं सह लसोकया ।
मेदःशिर उरो ग्रीवा सन्धिर्बाहुः कफाश्रयः ।११।
हृदयं तु विशेषेण श्लेष्मणः स्थानमुच्यते ।
आमपक्वाशयौ स्थानं विशेषाद् वातपित्तयोः ।१२।

हेतु, प्रकृति, अधिष्ठान विकल्प और अवयव इनके भेद से तथा उनकी चिकित्सा के विस्तृत होने से रोग असङ्ख्य हैं ।।४।।

इन असङ्ख्य रोगों के अधिष्ठान (आश्रय) शरीर और मन हैं । मानस रोगों की चिकित्सा शरीरज रोगों की भांति करनी चाहिये ।।५।।

दोष, धातु और मलों की विकृतावस्था एवं विषमता का नाम दुःख या व्याधि है तथा इनका समुचित अवस्था में रहना ही स्वास्थ्य–सुख कहा जाता है और आयु की सुखपूर्वक वृद्धि किस प्रकार हो–इसलिये विकारों की शान्ति के लिये किये गये यत्न का नाम औषधि है ।।६।।७।।

निज तथा आगन्तुज भेद से रोगों की प्रकृतियां दो प्रकार की हैं । उनमें से नख, दन्त, अग्नि, जल, वध, बन्ध आधिदैविक कारण तथा अभिचार से आगन्तुज रोग उत्पन्न होते हैं ।।८।।

निज रोग शरीरस्थ वात, पित्त और कफ आदि के विकृत होने से उत्पन्न होते हैं । समस्त शरीर में सञ्चरण करनेवाले वात, पित्त और कफ के प्रधान स्थानों को सुनो ।।९।।

नाभि के नीचे अस्थि तथा मज्जा वायु का, आमाशय एवं स्वेद, रक्त और लसीका पित्तका और मेद, छाती, शिर, गर्दन सन्धियां तथा बाहु—ये कफ के स्थान हैं ।।१०।।११।।

विशेषरूपेण श्लेष्मा का स्थान हृदय, वात का आमाशय और पित्त का पक्वाशय है।।१२।।

आगन्तुर्बाधते पूर्वं पश्चाद् दोषान् प्रपद्यते ।
निजस्तु चीयते पूर्वं पश्चाद् वृद्धः प्रबाधते ।१३।
तस्मादागन्तुरोगाणामिष्यते निजवत् क्रिया ।
निजानां पूर्वरूपाणि दृष्ट्वा संशोधनं हितम् ।१४।
हृदि श्लेष्मानुपश्लिष्टमाश्यावं रक्तपीतकम् ।
तदोजो, वर्धते जन्तुस्तद्वृद्धौ, क्षीयते क्षयः ।१५।
मधुरस्निग्धशीतानि लघूनि च हितानि च ।
ओजसो वर्धनान्याहुस्तस्माद् बालांस्तथाशयेत् ।१६।
वृद्धि—वर्णबलौजोऽग्निमेधायुः सुखकारणम् ।
वातादिसाम्यं, वैषम्यं विकारायोपकल्पते ।१७।
तेषामपरिमेयानां विचाराणां स्वलक्षणैः ।
आविष्कृततमान् व्याधीन् यथास्थूलान् प्रचक्ष्महे ।१८।
अशीतिर्वातिका रोगाश्चत्वारिंशत्तु पैत्तिकाः ।
विंशतिः कफजा प्रोक्ताः वातरोगान्निबोध मे ।१९।
पादभ्रंशः पादशूलं नखभेदो विपादिका ।
पादसुप्तिर्वातखुड्डो वातगुल्फोऽनिलग्रहः ।२०।

आगन्तुज रोग पहले अभिघात (चोट) आदि से उत्पन्न होते हैं और फिर वायु आदि निजी दोषों से युक्त हो जाते हैं। निज रोगों में वात आदि दोष, पहले सञ्चित होते हैं और फिर प्रवृद्ध बली होकर रोगों को उत्पन्न करते हैं ।।१३।।

अतः आगन्तुज रोगों की चिकित्सा निज रोगों की भांति करनी चाहिये। निज रोगों की पूर्वरूप अवस्था में शोधन देना चाहिये ।।१४।।

हृदय में भूरे-लाल-पीतवर्ण का जो कुछ पदार्थ है, वह ओज कहाता है। ओज की वृद्धि से मनुष्य बढ़ता है और घटने पर घटता है ।।१५।।

इसलिये बच्चों और निर्बलों को ओज वृद्धि करनेवाले मधुर शीत स्निग्ध और लघु पदार्थ सेवन कराने चाहियें ।।१६।।

ये पदार्थ बल, वर्ण, ओज, अग्नि, मेधा तथा आयु के बढ़ाने वाले हैं। वातादि दोषों की समता सुख और विषमता दुःख है ।।१७।।

उन असंख्य व्याधियों में से वायु, पित्त और कफ इनमें से एक-एक की प्रधानता से होने वाले रोगों का स्थूल रूप से निर्देश करते हैं ।।१८।।

वायु के आविष्कृततम ८० रोग, पित्त के ४० और कफप्रधान २० रोग हैं। अब वायु के रोगों को सुनो ।।१९।।

१. पादभ्रंश—चलने के समय एक या दोनों पैरों का उचित स्थान पर न पड़ना। २. पादशूल—पैरों के तलुओं में वेदना होना। ३. नखभेद—हाथ पैर के नखों का फटना। ४. विपादिका—पैरों या हाथों की त्वचा का फट जाना। ५. पादसुप्ति—पैरों का सोना, चुनचुनाहट के अनुभव के साथ साथ पैरों का अकर्मण्य होना ६. वातखुड्ड—पैरों के तलवों में छेद हो जाना। ७. वातगुल्फ। ८. अनिलग्रह—वायु का रुक जाना ।।२०।।

गृध्रसी-पिण्डिकोद्वेष्टौ जानुविश्लेषभेदकौ ।
ऊरुस्तम्भोरुसादो च पाङ्गुल्यं पादकण्टकः ।२१।
गुदभ्रंशो गुदार्तिश्च वृषणाक्षेपकस्तथा ।
शेफः स्तम्भः श्रोणिभेदो वङ्क्षणानाह-विड्ग्रहौ ।२२।
उदावर्त्तोऽथ कुब्जत्वं वामनत्वं त्रिकग्रहः ।
पृष्ठग्रहः पार्श्वशूलमुदरावेष्टहृद्द्रवौ ।२३।
हृन्मोहो वक्षसस्तोदो वक्षोद्धर्षोपरोधकौ ।
ग्रीवास्तम्भो वाहुशोषः कण्ठोध्वंसो हनुग्रहः ।२४।
दन्तचालौष्ठभेदौ च मूकत्वं वाग्ग्रहस्तथा ।

९. गृध्रसी—कमर से नीचे पैरों तक एक प्रकार का स्तम्भ तथा वेदना का होना । १०. पिण्डिकोद्वेष्ट— पिण्डलियों में ऐंठन होना । ११. जानुविश्लेष—जानुसन्धि की शिथिलता १२. जानुभेद—जानुओं की सन्धि में भेदन होना । १३. ऊरुस्तम्भ—जांघों में स्तम्भ, चलने में असमर्थता । १४. ऊरुसाद-जांघों में शून्यता का अनुभव होना चलने में असमर्थता । १५. पाङ्-गुल्य-पङ्गुता, पैरों का निर्जीव हो जाना, चलने में असमर्थता । १६. पादकण्टक ।।२१।।

१७. गुदभ्रंश-कांच निकलना, गुदाद्वार की पेशियां शिथिल होकर मलोत्सर्जन के समय बाहर निकल आती हैं । १८. गुदार्त्ति—गुदाद्वार में पीडा होना । १९. वृषणाक्षेपक—अण्डकोषों का ऊपर की ओर खिंच आना । २०. शेफःस्तम्भ-जननेन्द्रिय का चेतनाहीन-निर्जीव हो जाना । २१: श्रोणिभेद—कमर में फटने जैसी पीडा होना । २२. वङ्क्षणानाह—कमर और उसकी सन्धियों का वायु से फूल जाना । २३. विड्ग्रह—मलबद्धता ।।२२।।

२४. उदावर्त्त—वायु का ऊपर की ओर होकर भ्रमण करना और नीचे के पदार्थों को ऊपर लाना । २५. कुब्जता —स्नायु सङ्कोच के कारण कुबड़ापन । २६. वामनत्व—स्नायु सङ्कोच के कारण शरीर का छोटा होना । २७. त्रिकग्रह--रीढ़ के नीचे की सन्धि त्रिक का वायु से स्तम्भ होना । २८. पृष्ठग्रह—रीढ़ और पीठ की हड्डियों का स्तम्भ होना । २९. पार्श्वशूल—पसलियों में पीड़ा होना । ३०. उदरावेष्ट—पेट के अन्दर ऐंठन होना । ३१. हृद्द्रव—हृदय की शिथिलता के कारण हृदय गिरता हुआ सा जान पड़ना ।।२३।।

३२. हृन्मोह-हृदय-शक्ति की शिथिलता से उसमें मूर्छा का अनुभव होना । ३३. वक्षस्तोद--छाती में चुभने की सी पीड़ा होना । ३४. वक्षोद्धर्ष—छाती में कम्पन धड़कन होना ३५. वक्षोपरोध—छाती में अवरोध अर्थात् भरा हुआ सा प्रतीत होना । ३६. ग्रीवास्तम्भ— गर्दन की सिराओं का स्तम्भ होना, गर्दन का अकड़जाना, इसको मन्यास्तम्भ भी कहते हैं । ३७. बाहुशोष—भुजाओं का सूखना । ३८. कण्ठध्वंस—कण्ठनालिकाओं का सूखजाना । ३९. हनुग्रह—ठुड्डी का जकड़ जाना ।।२४।।

४०. दन्तचाल—दांतों का हिलना । ४१. ओष्ठभेद—होठों का फटना । ४२. मूकत्व—वाग्वाहिनी शिराओं के स्तम्भ से बोलने में असमर्थता । ४३. वाग्ग्रह—वाणी का अवरुद्ध होना । ४४. कषायास्य—मुंह में कसैलापन होना । ४५. आस्यशोष—मुंह का सूखना । ४६. घ्राणनाश—गन्धवाही शिराओं के संज्ञाशून्य होने के कारण गन्ध न आना । ४७. रसाज्ञता—रस—ज्ञानवाहिनी सिराओं के संज्ञाहीन होने के कारण रस का

कषायास्यास्यशोषौ च घ्राणनाशो रसाज्ञता ।२५।
वाधिर्यमुच्चैःश्रवणं कर्णशूलमशब्दता ।
वर्त्मसंकोच-विष्टम्भौ तिमिरं शूलमक्षिषु ।२६।
व्युदासो भ्रूव्युदासश्च शङ्खभेदः शिरोरुजा ।
स्फुटनं केशभूमेश्च दण्डकाक्षेपकार्ऽदितम् ।२७।
एकाङ्गकः पक्षवधः श्रम-भ्रम-विजृम्भिकाः ।
प्रलापो वेपथुर्ग्लानी रौक्ष्यं निद्रापरिक्षयः ।२८।
श्यावारुणावभाससत्वमनवस्थानमेव च ।
हिक्काश्वासौ विषादश्च बन्ध्यात्वं षाण्ढयमेव च ।२९।
प्रतिश्यायः शरण्यश्च प्राधान्येनानिलात्मकाः ।
तेष्वनुक्तेषु चान्येषु वायोः स्वं रूपमुच्यते ।३०।
शैत्यं रौक्ष्यं लघुत्वञ्च गतिश्चेत्यथ कर्म च ।
विशदारुणपारुष्य—सुप्ति—सङ्कोच—वैरसम् ।३१।

स्वाद न आना ॥ २५ ॥

४८. वाधिर्य—बहिरापन (शब्दज्ञान का सर्वथा अभाव) ४९. उच्चैःश्रवण—ऊंचा सुनना। ५०. कर्णशूल—कानों में चुभने की सी वेदना होना। ५१. अशब्दता—विना किसी शब्द के कानों में शब्द सुन पड़ना। ५२. वर्त्मसंकोच—स्रोतों का सङ्कुचित होना। ५३. विष्टम्भ। ५४. तिमिर—प्रकाश में भी अन्धेरा सा दीखना। ५५. अक्षिशूल—आंखों का गड़ना, उनमें चुभन सी होना ॥ २५ ॥

५६. अक्षिव्युदास—पलक न गिरना, आंखों का बन्द रहना। ५७. भ्रूव्युदास—भौंहों का चढ़ा रहना। ५८. शङ्खभेद—शंखास्थियों-कनपटियों में भेदन जैसी वेदना प्रतीत होना। ५९. शिरोरुजा—सिरदर्द। ६०. केशभूमेःस्फुटनम्—सिर की त्वचा का फटना। ६१. दण्डक—डण्डे के समान स्तब्ध निश्चल हो जाना। ६२. अदित—मुख, ओष्ठ आदि के आधे भाग का टेढ़ा होना ॥२७॥

६३: एकाङ्ग—एक अङ्ग का संज्ञाशून्य (लूला) हो जाना। ६४. पक्षवध—शरीर के आधे हिस्से का संज्ञाहीन या अकर्मण्य हो जाना। ६५. श्रम—विना श्रम किये शरीर में थकान का मालम होना। ६६. भ्रम—चक्कर आना। ६७. विजृम्भा—जम्हाई या उबासी आना। ६८. प्रलाप—व्यर्थ बक-बक करना। ६९. वेपथुः—कँप-कँपी। ७०. ग्लानि—किसी काम में उत्साह न होना, हर्षक्षय। ७१. रौक्ष्य—त्वचा में रूखापन। ७२. निद्रा परिक्षय—नींद न आना ॥२८॥

७३. श्यावारुणावभासत्व—त्वचा पर भूरी और लाल छाया का प्रतीत होना। ७४. अनवस्थान—चलने, बैठने, सोने आदि में स्वस्थ न होना, मन न लगना। ७५. हिक्का—हिचकी। ७६. श्वास—दमफूलना। ७७. विषाद—सुस्ती (शोच सा करते रहना)। ७८. वन्ध्यात्व—बांझपन (यह प्रायः स्त्रियों में ही होता है)। ७९. षण्ढत्व—नपुसकता ॥२९॥

८० प्रतिश्याय—जुकाम, रेसा-ये प्रधानतया वायु के रोग कहे गये हैं। इनमें तथा अनुक्त रोगों में वायु का स्वरूप बताते हैं ॥३०॥

शैत्य, रूखापन, लघुता, गतिकर्म, विशद, अरुण, कठोरता, सुप्ति, सङ्कोच, विरसता ॥३१॥

शूल-तोद-कषायत्व--सौषिर्य--खर-कम्पनम् ।
साद-हर्षौ कार्श्यवर्त्त-व्यास-स्रंसन-भेदनम् ।३२।
उद्वेष्ट-दंश-भङ्गाश्च शोषश्चानिलकर्म तत् ।
मधुराम्लोष्णलवणस्तत्रोपक्रम इष्यते ।३३।

पित्तजन्याश्चत्वारिंशद्विकाराः—

ओषः प्लोषो भ्रमो दाहो वमथुर्धूमकाम्लकौ ।
अन्तर्दाहो ज्वरात्यौष्ण्यमतिस्वेदोऽङ्गदाहकः ।३४।
त्वग्दाहः शोणितक्लेदो मांसक्लेदोऽङ्गशीर्यणम् ।
मांसपाकश्चर्मदलो रक्तविस्फोटमण्डले ।३५।
रक्तपित्तञ्च कोठश्च कक्ष्या हारिद्रनीलके ।
कामला तिक्तवक्त्रत्वं रक्तगन्धास्यता तथा ।३६।

शूल, तोद (चुभन), कषायत्व (कसैलापन), सौषिर्य (पोलापन), खरखरापन, कम्पन, साद (म्लानता) हर्ष, कृशता, व्यावर्त्त (चक्कर), व्यास (फैंकाव), स्रंसन (खिसकन, फिसलना) भेदन--फटना ।।३२।।

उद्वेष्टन (उखड़ना), दंश (काटना), भङ्ग (टूटना) और (सूखना) ये वायु के कार्य हैं। विपरीत विधि से इन में से यथासम्भव लक्षणों को जानकर वायु का कोप अर्थात् उन-उन रूपों में वायु का रूपान्तर समझना चाहिये । इन विकारों की शान्ति के लिए मधुर, अम्ल, उष्ण पदार्थों तथा लवणरस का प्रयोग करना चाहिये ।।३३।।

पित्तजन्य चालीस विकारों के नाम—

१, ओष—आगसे जलके समान जलन होना । २. प्लोष—किसी एक विभाग में सामान्य दाह होना (छाला पड़ना) । ३. भ्रम—चक्कर आना । ४. दाह—जलन । ५. वमथु—वमन । ६. धूमक—गले से धूंआंसा निकलना । ७. अम्लक—खट्टी डकार आना । ८. अन्तर्दाह—कोष्ठ के अन्तर्भाग में दाह होना । ९. ज्वर । १०. अत्यौष्ण्य—शरीर का स्पर्श अधिक उष्ण होना । ११. अतिस्वेद—अधिक पसीना निकलना । १२. अङ्गदाहक—हाथों पैरों में जलन ।।३४।।

१३. त्वग्दाह—केवल त्वचा में दाह होना । १४. शोणितक्लेद, १५. मांसक्लेद—मांस और रक्त में द्रवत्व की वृद्धि होना क्लेद कहा जाता है । १६. अङ्गसमीरण—अंगों का शिथिल होना । १७. मांसपाक । १८. चर्मदल—चम्त्रल । १९. रक्तविस्फोट—लाल रङ्ग के फोड़े । २०. रक्तमण्डल—रक्तकोठों में मण्डल होना ।।३५।।

२१ रक्तपित्त—दूषित रक्त का नाक, नेत्र, गुदा, मेढ़ आदि मार्गों से स्राव होना। पित्तद्वारा दूषित रक्त के स्राव को रक्तपित्त कहते हैं । रक्तविकृति से दूषित होकर पित्त भी रक्त के साथ उसी गन्ध और वर्ण का होकर निकलता है । २२. कोठ—शोथ के गोल चकत्ते । २३ कक्ष्या—कखौरी । बाहुओं, पसलियों और कांख में वेदनायुक्त काला फोड़ा उत्पन्न होता है, जिसका कारण पित्त प्रकोप है । २४. हरिद्रता—शरीर का रङ्ग हलदी के समान पीला हो जाता है । २५. नीलिका—शरीर पर नीले दाग उभड़ आना । २६. कामला—कवलरोग,आंखों का पीलापन । २७. तिक्तवक्त्रत्व—मुंह का सदा तीता बना रहना । २८. रक्तगन्धास्यता – मुंह से रक्त के समान दुर्गन्ध आना ।।३६।।

अतृप्तिपूतिवक्त्रत्वं जीवादानं तमस्तृषा ।
मेढ्रपायुगलाक्ष्यास्य-पाको हारिद्रमूत्रविट् ।३७।
इति प्रधानाः पित्तार्त्यः स्वं रूपं तस्य वक्ष्यते ।
लाघवं तैक्ष्ण्यमौष्ण्यञ्च वर्णाः शुक्लारुणादृते ।३८।
वैगन्ध्यं कटुकाम्लत्वमीषत्स्नेहश्च पित्तजाः ।
दाहोष्णपाकप्रस्वेद-कण्डूकोठ—स्रवादिभिः ।३९।
विद्यात् पित्तविकारार्त्तं कर्मैतत्, तदुपक्रमः ।
कषाय-तिक्त-मधुर-स्नेह-स्रंसन-शोषणाः ।४०।

श्लेष्मोद्भवा विंशतिविकाराः—

स्तैमित्यं गुरुताङ्गस्य निद्रातन्द्रातितृप्तयः ।
मुखमाधुर्य-संस्राव-कफोद्गार—बलक्षयाः ।४१।
हृल्लासोऽथ मलाधिक्यं धमनीकण्ठलेपकौ ।

---

२९. अतृप्ति—अधिकता के कारण पूरा भोजन कर लेने पर तृप्ति न होना । ३०. पूतिवक्त्रत्व—मुंह से दुर्गन्ध आना । ३१. जीवादान—अत्यन्त ग्लानि,कहीं बैठने या ठहरने की प्रवृत्ति न होना। ३२. तमःप्रवेश—ऐसा मालूम होना कि अन्धेरे में प्रवेश कर रहे हैं। ३३. तृषा—प्यास लगना । ३४. मेढ्रपाक—जननेन्द्रिय का पकजाना। ३५. गुदपाक—गुदा का पकना। ३६. गलपाक । ३७. अक्षिपाक । ३८. आस्य पाक । ३९. हारिद्रमूत्र—हल्दी के रंग का पेशाब होना और ४०. हारिद्रविट्—हल्दी के रंग की विष्ठा ।।३७।।

ये प्रधान रूप से पित्त के विकार हैं । पित्त जिन-जिन रूपों में परिवर्तित होता है उसका निर्देश करते हैं— लाघव, उष्णता और तीक्ष्णता, पित्त के गुण हैं । श्वेतवर्ण को छोड़कर सभी वर्ण पित्त के हैं ।।३८।।

विकृतगन्धता, कटुता, अम्लता, कुछ चिकनाई, दाह, उष्णपाक, प्रस्वेद, कण्डू, कोठ और लवण आदि पित्तजन्य विकार हैं ।।३९।।

कषाय, तिक्त और मधुर रसों का सेवन, स्नेहन, वमन, विरेचन, रक्त-मोक्षण और शुष्क पदार्थों का सेवन—उसके प्रतिकार हैं ।।४०।।

श्लेष्मजन्य २० विकारः—

कफ के असंख्य विकारों में प्रधान बीस विकार ये हैं । १ स्तैमित्य—त्वचापर आर्द्रता (गीलापन)का अनुभव होना । २. गुरुगात्रता—शरीर में भारीपन का अनुभव होना । ३. निद्रा । ४. तन्द्रा—ऊंघना,जागृत अवस्था में भी निद्रित मनुष्य के समान दिखाई देना । ५. अतितृप्ति—विना भोजन के ही भोजन किये के समान तृप्ति का अनुभव करना । ६. मुखमाधुर्य=मुंह में मीठापन । ७. मुख-संस्राव—मुंह से पानी निकलना । ८. कफोद्गार—मुंह से बार-बार कफ निकलते रहना । ९, बलक्षय—क्षीणशक्तिता ।।४१।।

१०. हृल्लास—हृदय का कफ से लिप्त रहना । ११. मलाधिक्य—नासा-नेत्रादि में अधिक मल सञ्चय होना। १२. धमनीलेपक—वायु वहन करनेवाली धमनियों का अवरोध । १३. कण्ठलेपक—गले का कफ से जकड़जाना। १४. आमदोष—धातु और मल का

आमश्च गलगण्डश्च वह्निसाद उदर्दकः ।४२।
श्वेतावभासताङ्गानां तथा मूत्रपुरीषयोः ।
कफजानामसंख्यानां प्रधानाः परिकीर्तिताः ४३।
स्नेह-शैत्य-गुरु-श्वेत—माधुर्यं कफलक्षणम् ।
श्लक्ष्णता चामयोत्पत्तौ तस्य कर्माणि चक्षते ।४४।
स्नेहादि—चिरकारित्वं बन्धोपचयसुप्तयः ।
विष्टम्भश्चेति, तन्त्रज्ञः कषायकटुतिक्तकैः ।४५।
रूक्षोष्णौ चाप्युपचरेत् मात्राकालौ विचारयन् ।
स्नेहस्वेदोपचारौ च तेषु कर्माणि पञ्च च ।४६।
वातघ्नानां तु सर्वेषामनुवासनमुत्तमम् ।
पित्तघ्नानां विरेकश्च वमनः श्लेष्मघातिनाम् ।४७।
येषां चिकित्सितस्थानमर्थे तु परिकीर्तितम् ।
तांस्तु रोगान् प्रवक्ष्यामि न ह्यत्रैतत् समाप्यते ।४८।
महागदोऽथ संन्यास ऊरुस्तम्भस्त एकशः ।
ज्वरव्रणामगृध्रस्यः कामला वातशोणितम् ।४६।
अर्शांस्यपि तथायामो द्विविधा व्याधयस्तु ते ।

कच्चापन । १५. गलगण्ड—गले में वाहर की ओर लटकता हुआ मांस पिण्ड । १६. वह्निसाद—अग्नि मन्दता । १७. उदर्दक—त्वचा पर खुजलाने वाले मण्डलों का निर्माण होना, (शीतपित्त, छपाकी) ॥४२॥

१८. श्वेताङ्गवभासता—त्वचा आदि का सफेद प्रतीत होना । १९. श्वेतमूत्रता और २०. श्वेतपुरीषता—ये असंख्येय कफ विकारों में कफ के प्रधान विकार दर्शाये हैं ॥४६॥

स्नेह (चिकनाहट), शैत्य, गुरुता (भारीपन), श्वेतता (सफेदी), मुंह में मिठास, और श्लक्ष्णता आदि कफ के विकार हैं । कफज व्याधियों में प्रायः ये लक्षण होते हैं ॥४४॥

रोग का चिरकाल में हटना, निद्रा न आना, शोथ आदि होना, मल आदि में विष्टम्भ या रुकावट होना । बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिये कि कसैले कड़वे और तीते रसों, रूखे एवं उष्ण पदार्थों का सेवन करे । मात्रा और काल के अनुसार स्नेहन स्वेदन आदि पंच कर्म करे ॥४५,४६॥

वातघ्न योगों में अनुवासनकर्म, पित्तघ्न योगों में विरेचक कर्म और श्लेष्मघ्न रोगों में वमन कर्म सबसे प्रधान और उत्तम हैं ॥४७॥

इसका विस्तृत विवरण भगवान् काश्यप चिकित्सा स्थान में विशेषरूपेण कहेंगे । यहीं समाप्त न समझना चाहिए ॥४८॥

अब रोगों के भेद और उनकी संख्या बताते हैं—

संन्यास और ऊरुस्तम्भ—ये एक एक । ज्वर, व्रण, आम, गृध्रसी, कामला, वातरक्त और अर्श इनके दो दो भेद होते हैं—अन्तः (भीतरी) और बहिः (बाहिरी) । वातासृक्,

वातासृक् श्वित्र-शोथास्तु त्रिविधाः परिकीर्तिताः ।५०।
ग्रहण्यक्षिविकाराश्च कर्णरोगा मुखामयाः ।
अपस्माराः प्रतिश्यायः शोषाणां हेतवो मदाः ।५१।
चतुर्विधास्ते निर्दिष्टा मूर्च्छा–क्लैव्यानि चैव हि ।
तृष्णार्च्छर्दिश्वासकास—गुल्म—प्लीहारुचिव्यथाः ।५२।
हिक्कोन्मादशिरोरोगा हृद्रोगाः पाण्डुसंज्ञकाः ।
एते पञ्चविधाः प्रोक्ताः षड्विधानपि मे शृणु ।५३।
उदावर्ता अतीसाराः सर्वसर्पा अथामयाः ।
मेहिनां पिडिकाः कुष्ठं सप्त सप्तोपलक्षयेत् ।५४।
शुक्रदोषाः पयोदोषाः मूत्राघातोदराणि च ।
अष्टावष्टौ वदन्त्येतान् ग्रहास्तु दश कीर्तिताः ।५५।
योनिव्यापत् क्रिमिमेहान् विंशति विंशति विदुः ।
एते समासतः प्रोक्ताश्चिकित्सास्थानहेतवः ।५६।
पूर्वोद्भवनिमित्तेन योऽपरो जायते गदः ।
तमुपद्रवमित्याहुरतीसारो यथा ज्वरे ।५७।
चिकित्सितं यथोत्पत्ति तेषामेके प्रचक्षते ।
उपद्रवाणामित्येते पूर्वमित्याह काश्यपः ।५८।
उभयत्रैव यद्युक्तं पानभोजनभेषजम् ।
शान्तये तत्प्रयुञ्जीत न वर्धेते तथा ह्युभौ ।५९।

श्वित्र और शोथ—ये तीन प्रकार के होते हैं ।।४९।।५०।।

ग्रहणी, अक्षिविकार, कर्णरोग, मुखरोग, अपस्मार, प्रतिश्याय, शोष के हेतु और मद—ये चार-चार प्रकार के होते हैं । मूर्च्छा और क्लीवता भी चार चार प्रकार की होती हैं । तृष्णा, वमन, श्वास, कास, गुल्म, प्लीहा, अरुचि, हिक्का, उन्माद, शिरोरोग, हृद्रोग तथा पाण्डुरोग—इनके पांच पांच भेद होते हैं ।।५१-५३।।

उदावर्त, अतिसार और विसर्प—ये छः छः भेदों वाले हैं । प्रमेह, पिडिका तथा कुष्ठ के सात-सात भेद होते हैं ।।५४।।

शुक्रदोष, स्तन्य-दोष, मूत्राघात तथा उदर रोगों के आठ-आठ भेद होते हैं । ग्रह दस कहे हैं ।।५५।।

योनिव्यापत्, प्रमेह और क्रिमि ये बीस-बीस प्रकार के हैं । चिकित्सा सौकर्य के लिये संक्षेप से यह कह दिया है, क्योंकि इनकी चिकित्सा वैद्य ने करनी है ।।५६।।

प्रधान व्याधि के कारण से जो दूसरा रोग उत्पन्न होता है उसको उपद्रव कहते हैं । जैसे—ज्वर में अतिसार ।।५७।।

कुछ आचार्य्यों का मत है कि जिस प्रकार के हेतु से उपद्रव उत्पन्न हो उसी प्रकार चिकित्सा करनी चाहिये । किसी किसी का मत है कि पहले उपद्रव की चिकित्सा करनी चाहिये । परन्तु काश्यप भगवान् का मत है कि वैद्य, ऐसा उपक्रम करे कि दोनों की साथ-साथ शान्ति हो, बढ़ने न पावें ।।५८।।५९।।

यं वा तीव्रतरं पश्येद् व्याधिं विद्वान् स्वलक्षणैः ।
तमेवोपक्रमेतादौ सिद्धिकामो भिषग्वरः ।६०।
यो हेतुः पित्तरोगाणां रक्तजानां स एव तु ।
शोणितं कुपितं जन्तुं क्लिश्नाति बहुभिर्मुखैः ।६१।
वैवर्ण्य—सन्ताप—शिरोऽक्षिरोगा दौर्गन्ध्य-दौर्बल्य-तमःप्रवेशाः ।
वैसर्प—विद्रध्युपजिह्व—गुल्मा रक्तप्रमेह—प्रदरातिनिद्राः ।६२।
मन्दाग्निता स्रोतसां पूतिभावः स्वरक्षयः स्वेदमदानिलासृक् ।
तृष्णारुचिः कुष्ठविचर्चिकाश्च कण्डुः सकोठा पिडकाः सकण्डुः ।६३।
अन्ये च रोगा विविधा अनुक्तास्तेष्वादितः स्रंसनमेव पथ्यम् ।
वैसर्पवच्चात्र वदन्ति सिद्धं रक्तावसेकञ्च विशोषणञ्च ।६४।
न त्वेव बालस्य विशोषणं हितं नैवातिसंशोधन—रक्तमोक्षणे ।
स्निग्धैः सुशीतैर्मधुरैरदाहिभिस्तत्रोपचारोऽशनलेपसेचनैः ।६५।

इति ह स्माह भगवान् काश्यपः ।"

यत्त्वत्र षोडशतमे पञ्चषष्टितमे च श्लोके बालशब्दस्य प्रयोगः कृत आस्ते, स उभयथा योजनीयः । बालानां शिशूनामित्येकार्थकल्पना । अपरा तु रोगार्त्तोऽपि हि रोगेणाकृष्टबलत्वाद् बालसम एव भवति नैर्बल्यातिशयात्, तस्माद्युक्तियुक्तं भवति ।

अथवा प्रधान रोग और उसके उपद्रवभूत रोग में, जिसको अधिक कष्टदायक समझे, उसकी चिकित्सा पहले करे ।।६०।।

जिन कारणों से पित्त के रोग उत्पन्न होते हैं, उन्हीं कारणों से रक्तजन्य विकार भी उत्पन्न होते हैं । विकृत रक्त, प्राणी को अनेक प्रकार से कष्ट देता है ।।६१।।

विवर्ण, सन्ताप, शिरोरोग, अक्षिरोग, दौर्बल्य, तमःप्रवेश, विसर्प, विद्रधि, उपजिह्विका गुल्म, रक्त, प्रमेह, प्रदर, अतिनिद्रा, मन्दाग्नि, स्रोतों में दुर्गन्धि, स्वरक्षय, स्वेद, मद, वातरक्त, तृष्णा, कुष्ठ, विचर्चिका, कोठयुक्त कण्डु, कण्डूयुक्त पिडका तथा और जो नाना प्रकार के अनुक्त रोग हैं, उन सब के प्रारम्भ में स्रंसन (वमन-विरेचन आदि) हित हैं । विसर्परोग की भांति रक्त का मोक्षण तथा रूक्ष भेषजों से शोषण करना हितकर है ।।६२-६४।।

बालक के लिये अतिरूक्ष, अतिशोधन, अतिरक्त-मोक्षण आदि का अधिक प्रयोग न करना चाहिये । शीत, मधुर तथा सन्तापहारी खान-पान, लेपन तथा सेचनविधि से रक्त-विकार का शमन करना चाहिये ।।६५।।

इस अध्याय में बाल शब्द का जो प्रयोग किया गया है,उसे अतिनिर्बल रोगी के लिये भी समझना चाहिये; क्योंकि वह अतिनिर्बल हो जाने के कारण बालक के समान ही हो जाता है । उसे भी अतिरूक्ष, अतिशोधन और अतिरक्तमोक्षण आदि का अधिक प्रयोग नहीं करना चाहिये ।

अथ काश्यपसंहितोक्तानां रोगाणां लक्षणानि; भेदाः, उपपत्तयश्च वैद्यबन्धूनां सौकर्याय श्रीपुरुषोत्तमशर्म-हिर्लेकर-कृतात् शारीरतत्त्वदर्शनात् समुद्ध्रियन्ते—

भेदस्तोदश्च शूलश्चोद्धर्ष संवेष्ट एव च ।
अर्तिश्चैवं षड्विकाराः शूलभेदाः प्रकीर्तिताः ।१६।
आवेष्टश्चावमर्दश्चोत्क्षेपः सङ्कोच इत्यपि ।
आकुञ्चनोद्भवाश्चते विकाराः समुदाहृताः ।१७।
शोषस्वरूपा बहवो विकारा रौक्ष्यसम्भवाः ।
स्तम्भो ग्रहरुचोपरोधः सङ्कोचः स्तम्भसंभवाः ।१८।
क्षोभादप्यतियोगाद् वा प्रलापाक्षेपकादयः ।
स्वगुणग्रहणे शक्तिरिन्द्रियाणां वधोऽपि वा ।१९।
सुप्तिश्चैते समाख्याताः संज्ञाविकृतिकारणाः ।
भेदोऽत्र द्विविधः शूलस्वरूपञ्च विदारणम् ।२०।
जानुश्रोण्यादिभेदस्तु शूलरूप उदाहृतः ।
नखदन्तौष्ठपादानां भेदस्तु स्याद् विदारणम् ।२१।

अब उपर्युक्त लक्षणों के भेद तथा उपपत्ति श्री पुरुषोत्तम शर्मा हिर्लेकर के बनाये शारीर तत्त्व दर्शन से प्रकाशित करते हैं—

उक्त वात विकारों का सामान्य रूप दर्शाते ह—शूल के छः भेद बतलाये गये हैं—१.भेद २. तोद ३. शूल ४. उद्धर्ष ५. संवेष्ट और ६ अर्ति । ये अन्यान्य स्थानों में होते हैं । १. भेद, अर्थात् फूटने जैसी वेदना । २. तोद, अर्थात् सूई के चुभोने के समान वेदना । ३. शूल, अर्थात् सामान्य पीडा । ४. उद्धर्ष, अर्थात् जिस पीडा में स्पर्श सहन नहीं हो सकता । ५. संवेष्ट, अर्थात् वेष्टन(लपेटन)के समान पीडा । ६. अर्ति, अर्थात् शूल का एक प्रकार जिसमें न अन्न की इच्छा होती और न ही निद्रा आती है (नान्नं वाञ्छति नो निद्रामुपेत्यर्तिनिपीडितः' सुश्रुतः) ॥१६॥

आवेष्ट (उदरावेष्टादि) अवमर्द (पार्श्वविमर्दादि) उत्क्षेप (वृषणोत्क्षेपादि) संकोच (वर्त्मसंकोचादि) ये विकार पेश्यादि के आकुंचन के कारण होते हैं ॥१७॥

मुखशोषादि शोषरूप के विविध विकार रूक्ष गुण के अभिवर्धन के कारण उत्पन्न होते हैं । स्नायु व पेशियों के स्तम्भन के कारण मन्यास्तम्भादि, त्रिक ग्रहादि-पक्षोपरोधादि तथा वर्त्मसंकोचादि विकार उत्पन्न होते हैं ॥१८॥

वायु की अस्वाभाविक-वेगवती गति के कारण तथा अति प्रवृत्ति के कारण आक्षेपादि विकार उत्पन्न होते हैं । संज्ञावाहिनियों की विकृति के कारण इन्द्रियों में स्वगुण ग्रहण की असमर्थता [जैसे आंख से न दीखना इत्यादि] तथा इन्द्रियों का वध अर्थात् विनाश तथा सुप्ति एवं मान्द्य इतने विकार उत्पन्न होते हैं ॥१९॥

८० वातविकारों में जो भेद नाम का वात विकार बतलाया गया है उसके दो प्रकार होते हैं एक शूलरूप दूसरा विदारण अर्थात् फटने के रूप का जानु-श्रोण्यादि में होने वाला भेद शूलरूप का होता है और नखादि भेद विदारण रूप का होता है ॥२०॥२१॥

स्रोतःस्वयनभूतेषु रुद्धो वायुर्विमार्गगः ।
मर्दयेत् पीडयेद् वेगात् स शूलः परिकथ्यते ।२२।
सञ्चयस्यातियोगाद्वा सङ्कोचाद् रौक्ष्यसंभवात् ।
स्रोतोमार्गेषु रुद्धेषु रुद्धो भवति मारुतः ।२६।
ग्रीवामन्यादिषु स्तम्भः स्नायुशोथ-समुद्भवः ।
पृष्ठत्रिकग्रहाद्याश्च पेश्यन्तःशोथसम्भवाः ।२७।
स्तम्भसङ्कोचरूपाश्च सर्वाङ्गैकाङ्गसम्भवाः ।
भवन्ति शोथात् शोषाद्वा स्नाय्वादीनां यथायथम् ।२८।
भवन्ति गतिवैषम्यादन्ये कम्पभ्रमादयः ।

वातविकारों में शूल का ही प्राधान्य होने के कारण शूल का स्वरूप विशदता से दर्शाते हैं—

अपने अर्थात् मार्गभूत स्रोतों में रुद्ध होने के कारण वायु जब विमार्गगामी हो जाता है तब वह पेशियों में मर्दन करता हुआ जो पीडा करता है उसे शूल कहते हैं। घनरूप व द्रवरूप द्रव्यों तथा सुक्ष्मवायु का भी वहन करनेवाले सभी मार्गों में जिनको स्रोतस् संज्ञा दी गयी है, वायु अवरुद्ध हो सकता है। सुश्रुत ने स्रोतस् की व्याख्या करते हुए कहा है "जितना-जितना भी एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने का मार्ग शरीर में है उस को स्रोतस् ही कहना चाहिये"। इन स्रोतों में किसी कारण से अवरुद्ध होने के कारण वायु अपना स्वाभाविक मार्ग छोड़ कर मार्गान्तर से जाने लगती है और स्रोतों को तथा उनके आश्रयभूत पेशियों को रगड़ती हुई पीडा करती है। इस पीडा का ही नाम शूल है ॥२२॥

वायु के इस अवरोध का कारण निम्न प्रकार का होता है। रस रक्त आदि धातुओं का किसी प्रकार विशिष्ट स्थान में अतिसंचय होने के कारण अथवा रूक्षता के कारण स्रोतों का संकोच होने से स्रोतों के मार्ग में अवरोध (अटकाव) उत्पन्न होता है जिससे वायु भी रुद्ध हो जाता है ॥२६॥

ग्रीवा मन्या आदियों के स्तम्भ रूप का जो वात विकार है (यह और भी कई स्थानों में होता है)। वह स्नायुओं के शोथ के कारण उत्पन्न होता है। पृष्ठ व त्रिक आदि स्थानों में ग्रहरूप का वातविकार पेशियों के अन्तर्मार्ग में होनेवाले शोथ से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार कुब्जत्व में वामनत्व—आदि वातविकारों की उत्पत्ति। इन विकारों में स्नायुओं का संकोच यह मुख्य लक्षण रहता है। स्नायु में शुष्क होने के कारण संकोच होता है। सारांश वातविकारों में जितने भी स्तम्भ व संकोच रूप के विकार हैं वे सब शरीर में अथवा शरीर के किसी एक भाग में दोनों प्रकार से हो सकते हैं और वे या तो स्नायु व पेशियों में शोथ उत्पन्न होने के कारण अथवा उनके शुष्क हो जाने के कारण होते हैं। शोथ व शोष ये दो ही उनके मुख्य कारण होते हैं ॥२७॥२८॥

वायु की गति वैषम्य (चलन विकृति) के कारण—कम्प भ्रम आदि अन्य वातविकारों की उत्पत्ति होती है। धातुओं का क्षय होने से वायु की वृद्धि होती है। और कोप का (मार्गान्तर

वायोर्धातुक्षयाद् वृद्धिः कोपः स्यान्मार्गरोधतः ।२६।
देहे रौक्ष्याभिवृद्धिः स्यादभिवृद्धे समीरणे ।
रौक्ष्याद् भवति मांसादिधातूनामुपशाषणम् ।३०।
तस्मादङ्गेषु पारुष्यं त्वगादीनां विदारणम् ।
ग्राकुञ्चन-स्वरूपाश्च विकाराः सम्भवन्ति हि ।३१।
स्निग्धद्रवस्वरूपाणां द्रव्याणामतिसञ्चयात् ।
स्रोतोरोधो भवेत्तेन मारुतश्चोपरुध्यते ।३२।
रुद्धः सञ्चलनेऽङ्गानामसमर्थश्च जायते ।
स्तम्भः शोथश्च शूलञ्च विकाराः सम्भवन्त्यतः।३४।
शोथस्तम्भात्मकाः प्रायो विकाराः शूलसंयुताः ।
चलने हीनतां याति क्वचित् संज्ञापि हीयते ।३५।

चलन) का कारण उसके स्वाभाविक मार्ग का ग्रवरोध हैं । पहले बताया जा चुका है कि स्रोतो-मार्ग में ग्रतिसञ्चय होने के कारण ग्रथवा उनके शुष्क होने के कारण वायु का ग्रवरोध होता है ।।२६।।

शरीर में वायु वृद्ध होने से रूक्षता वढ़ जाती है जिस कारण मांसादि धातु शुष्क होने लगते हैं । मांसादि धातु शुष्क होने से शरीर के ग्रवयवों में रूक्षता उत्पन्न होती है उनका स्पर्श रूक्ष ग्रर्थात् खरखरा लगता है, त्वचा दांत-ग्रोष्ठ-ग्रादि फटने लगते हैं ग्रौर कुब्जत्व-वामनत्व ग्रादि ग्राकुञ्चन स्वरूप के विकार उत्पन्न होते हैं ।।३०।।३१।।

स्निग्ध व द्रवरूप के द्रव्यों के ग्रर्थात्—रस, रक्त, मेद ग्रादि द्रव स्वरूप धातुग्रों के ग्रति-सञ्चय के कारण स्रोतों का ग्रवरोध होता है । इन धातुग्रों का प्रमाण स्वाभाविक प्रमाण से जव बढ़ जाता है ग्रथवा उनका यथा प्रमाण पचन जव नहीं होता तव उनका किसी विशिष्ट स्थान में संचय होने लगता है ग्रौर स्रोतो मार्ग उनसे परिपूरित हो जाता है—भर जाता है । इस प्रकार उनका ग्रवरोध हो जाता है । स्रोतो मार्गों का इस प्रकार ग्रवरोध होने से वायु भी रुद्ध होता है ।।३२।।

शरीर के स्थूल व सूक्ष्म ग्रङ्गों का सञ्चालन करने में वायु ग्रसमर्थ हो जाता है । जिस के कारण शूल ग्रर्थात् वेदना, शोथ ग्रर्थात् उत्सेक व स्तम्भ ग्रर्थात् स्तब्धता के स्वरूप के विकार उत्पन्न होते हैं ।।३४।।

शोथ व स्तम्भस्वरूप के ऊरुस्तम्भादि विकार प्रायः शूल से युक्त रहते हैं । यद्यपि ऊपर जो ८० वात विकार बताये हैं उनमें शोथ रूप के विकारों का पृथक् निर्देश नहीं है । तथापि इनमें शोथ रहता ही है इसी प्रकार वातरक्तादि विकारों में जिनका निर्देश इन ८० में ग्राया नहीं फिर भी शोथ रहता ही हैं । इन शोथात्मक एवं स्तम्भात्मक विकारों में प्रायः शूल रहता है । प्रायः कहने का कारण इतना ही है कि जिन शोथ स्तम्भात्मक विकारों में संज्ञा हानि रहती है उनमें शूल नहीं होता ।।३५।।

सशोषणात्तथा शोथात् संज्ञाहानिर्भवत्यतः ।
संकोचलक्षणाः केचित् स्तम्भरूपाश्च केचन ।३६।
एवं वातविकाराणां वैविध्यं स्यात् स्वरूपतः ।
सङ्कोचलक्षणाः प्रायो विकाराः शूलवर्जिताः ।३७।
विकाराः स्तम्भरूपाश्च प्रायशः शूलसंयुताः ।
स्रोतोरोधात् प्रकुपितो वायुरङ्गानि पीडयेत् ।३८।
तेषु चासृग्वहिर्याति वाहिनीनां प्रपीडनात् ।

स्नायु पेशी नाडियों के सञ्चालन में अर्थात् आकुञ्चन-प्रसारण में जब स्रोतों के अवरोध के कारण हीनत्व आता है अर्थात् स्नायु पेशियों का आकुञ्चन प्रसारण जब कम हो जाता है तब कभी-कभी तत्रस्थ संज्ञावह स्रोतों का भी अवरोध हो जाने के कारण तथा शोथ के अतिसंचय के कारण संज्ञा हानि भी हो जाती है । सशोषण अर्थात् शुष्कत्व के कारण तथा शोथ अर्थात् अतिसंचय के कारण स्रोतोमार्ग अवरुद्ध होने पर संज्ञा ह नि हो जाती है । संज्ञा हानि हुई है या नहीं यह व्याधिस्थान में यथावत् स्पर्शज्ञान है या नहीं इस से ज ना जा सकता है ।।३६।।

यद्यपि वातव्याधि के अनेक प्रकार बतलाये गये हैं तथापि संक्षेप में उन-उन के स्वरूप भेद से दो ही प्रकार माने गये हैं । १—सङ्कोच रूप, २—स्तम्भरूप । पेशी व स्नायुओं के संकोच के कारण विशिष्ट स्थानों का या अङ्गों का भी संकोच जिनमें होता है उनको संकोचरूप वातविकार कहना चाहिये । और जिनमें विशिष्ट स्थानों का स्तम्भ होता है उनको स्तम्भरूप वातविकार कहना चाहिये । भेद स्वरूप के व सुप्तिस्वरूप के भी वातविकार बतलाये गये हैं किन्तु उनमें भी स्रोतोरोध के कारण वायु कुपित होकर या तो संकोच अथवा स्तम्भ उत्पन्न करता ही है इसलिये वातविकारों का द्वैविध्य ही मानना पड़ता है । जिस स्थान में स्निग्धता कम हो जाती है तथा वह शुष्क हो जाता है वहाँ त्वचा आदि फट जाने के कारण वायु का उन्मार्ग गमन अर्थात् कोप नहीं हुआ करता, मार्गविरोध के कारण वायु कुपित होने से जो विकार उत्पन्न होते हैं उनमें ही अधिक पीड़ा हुआ करती है । इसलिये संकोचात्मक व स्तम्भात्मक दो ही प्रकारों का प्राधान्य से वर्णन किया है । शोथ लक्षण के विकारों का भी स्तम्भात्मक विकारों में ही समावेश होता है । जिन विकारों में संकोच यह प्रमुख लक्षण रहता है उन में प्रायः शूल नहीं हुआ करता । स्रोतोमार्ग शुष्क होने से वायु के संचार को स्थान नहीं रहता इसलिये शूल भी नहीं होता । इस का यह अर्थ नहीं कि किसी भी संकोचात्मक विकार में शूल नहीं होता, कारण सन्धियों के संकोच में शूल हो सकता है ।।३७।।

स्तम्भरूप के विकार सामान्यतया, शूलयुक्त होते हैं । संचय से अवरुद्ध वायु की उन्मार्ग-गामी प्रवृत्ति के कारण स्तम्भरूप विकारों में शूल उत्पन्न होता है किन्तु जिन स्तम्भात्मक विकारों में सुप्ति यह लक्षण रहता है उनमें संवेदना ही अल्प रहने के कारण शूल का अभाव होता है ।।३८।।

वातविकारों में उत्पन्न होनेवाले 'अरुणत्व' नान के लक्षण का अब विवरण करते हैं—पेशीगत-स्रोतों के अवरोध के कारण प्रकुपित अर्थात् विमार्ग प्रवृत्त वायु अङ्गों का अर्थात् पेशियों का बलपूर्वक मर्दन—पीडन करने लगता है, इससे तत्स्थानीय सूक्ष्म रक्त वाहिनियां

प्रपीडिताङ्गेषु ततोऽरुणत्वञ्चावभासते ।३९।
रसधातुर्न विकृतेष्वङ्गेषु प्रतिपद्यते ।
स्रोतोऽधान्न पुष्यन्ति रुगधिष्ठानधातवः ।४०।
मलस्वरूपमायान्ति श्यावत्वमुपजायते ।
श्यावत्वमरुणत्वञ्च वायोरित्यभिभाषितम् ।४१।
वर्णोत्पत्तिकरो वायुर्न रूपरहितः स्वयम् ।

अथेदानीं पित्तविकाराणामुपपत्तिर्लक्षणानि चोच्यन्ते—

औष्ण्यं तैक्ष्ण्यञ्च सर्वेषु विकारेष्वनुवर्तते ।
अन्ने कोष्ठगतेऽम्लत्वमविपाकात् प्रजायते ।४९।
तेनाम्लोद्गारता कण्ठेऽम्लत्वं दाहश्च जायते ।
कोष्ठे विदग्धादाहाराद् दाहः समुपजायते ।
रक्तोष्मणा विवृद्धेन दाह स्यात्सर्वदेहगः ।५१।
रक्तं कट्वम्लतीक्ष्णोष्णैराहारैः परिदुष्यति ।

भी रगड़ी जाती हैं और उनमें से किञ्चित्-किञ्चित् रक्तांश बाहर आ जाता है।

अतः वातपीडित विकार स्थान में अरुणत्व = किञ्चित् रक्तिमा दिखाई देती है शोथ व स्तम्भरूप विकारों में व्याधिस्थान के बाह्य भाग में यह अरुणत्व दिखाई देता है। इसी प्रकार श्यावत्व भी उत्पन्न होता है ॥३९॥

शोषण अथवा अतिसंचय से विकृत अङ्गों अर्थात् व्याधिस्थानों में रसवह स्रोतों के अवरोध के कारण शरीरावयवों का पोषक रस नाम का आद्य धातु नहीं पहुंच सकता। जिस से व्याधिस्थान के रक्त मांस आदि धातुओं का पोषण होना बन्द हो जाता है ॥४०॥

पोषण के अभाव में उनको मलस्वरूप प्राप्त होता है अर्थात् वे सत्त्वहीन हो जाते हैं। इससे व्याधिस्थान की त्वचा पर श्यावत्व आ जाता है। इस प्रकार वात विकारों में वायु कुपित होने के कारण अरुणत्व व श्यावत्व उत्पन्न होते हैं। अन्यथा वायु स्वयं जो रूपरहित है वर्ण अर्थात् रङ्ग की उत्पत्ति नहीं कर सकता ॥४१॥

अब पित्तविकारों की उपपत्ति का वर्णन करते हैं।

इन सभी (४०) विकारों में उष्ण व तीक्ष्ण गुणों की अभिवृद्धि होती है अर्थात् उष्ण व तीक्ष्ण गुण के अभिवृद्धिमूलक ही सब पित्त विकार होते हैं।

अब ४० पितविकारों का सामान्यरीति से स्वरूप निदर्शन करते हैं। अन्न कोष्ठ में जाने के बाद ठीक विपाचित नहीं होता तब उस में अम्लत्व आ जाता है ॥४९॥

जिसके कारण खट्टे डकार आने लगते हैं, कण्ठ में खट्टापन प्रतीत होता है और जलन होने लगती है। इस प्रकार आहार के विदग्ध होने से कोष्ठ में भी दाह होने लगता है। अर्थात् रक्तगत दाह बढ़ जाने से सर्व शरीर में दाह होने लगता है ।।५०।।५१।।

कटु–अम्ल–तीक्ष्ण व उष्ण आहार से रक्त दूषित हो जाता है जब वह विदग्ध अर्थात् अयथावत् पक्व, स्वाभाविक से अधिक अम्ल व तीक्ष्ण होता है तब अधिक दाह करने लगता है। शुद्ध स्वरूप में रस मधुर व लवण रुचिका, सम शीतोष्ण और असंहत अर्थात् पतला रहता

विदग्धमम्लं तीक्ष्णञ्च स्याद्विशेषेण दाहकृत् ।५२।
तस्मादङ्गावदरणं क्लेदनं मांसशोणिते ।
रक्तकोठाश्च रक्तानि मण्डलानि भवन्त्यपि ।५३।
स्रोतोभ्यश्चातितीक्ष्णत्वाद् विभिन्नेभ्यः स्रवत्यसृक् ।
पित्तयुक्तमधोर्ध्वं तद्रक्तपित्तमुदीर्यते ।५४।
तैक्ष्ण्यात् कलानां पाकः स्यात् पाकश्चास्यगुदादिषु ।
वृद्धं रक्तगतं पित्तं विदग्धं विदहत्यसृक् ।५५।
असृग्विदग्धं जनयेत् पीतत्वं च त्वगादिषु ।
हरितत्वञ्च नीलत्वं कोथावस्थां गतेऽसृजि ।५६।
दाहः कोथश्चोष्मवृद्धिर्मुख्यं विकृतिलक्षणम् ।
पित्तरोगेषु सर्वेषु सामान्यमनुवर्तते ।५७।
ऊष्माभिवृद्धो गात्रेषु सन्तापं जनयत्यपि ।

है । तीक्ष्णादि आहार के कारण उसमें अस्वाभाविक तीक्ष्णत्व व अम्लत्व बढ़ता है और वह विशेष दाह करने लगता है ।।५२।।

इस तीक्ष्णत्व के कारण त्वचा फटने लगती है, मांस शोणित में क्लेद होने लगता हैं और रक्तकोठ व रक्त-मण्डल त्वचा पर उठने लगते हैं ।।५३।।

रक्त के अति तीक्ष्णत्व के कारण रक्तवाहिनियां फटकर उसमें से पित्तयुक्त रक्तस्राव होने लगता है । यह पित्त युक्त रक्तस्राव अधोमार्ग से अर्थात् गुद व मूत्रमार्ग से तथा ऊर्ध्वमार्ग से अर्थात् नासा-नेत्र—मुखादि मार्ग से होता है जिसको रक्त पित्त कहते हैं ।।५४।।

रक्त के तीक्ष्णत्व के ही कारण नासा मुखादि गत पेशियों के आवरण रूपिणी कलाओं का (अन्तस्त्वचाका) पाक होता है और मुखपाक गुदपाक आदि विकार होते हैं । रक्तगत पित्त अपने प्रमाण से जब अधिक बढ़ जाता है, तब विदग्ध होकर रक्त को जलाने लगता है ।।५५।।

विदग्ध रक्त ही त्वचा आदि पर पीलापन उत्पन्न करता है । तीक्ष्णत्व के आधिक्य के कारण जब रक्त दूषित होता है तब वह रक्तस्रोतों में व्रण होने से रक्तपित्त उत्पन्न करता है और जब तीक्ष्णत्व की मात्रा कम रहती है तब त्वचा आदि पर पीतत्व आजाता है रक्त का शोथ होता है अर्थात् रक्त जब सड़ जाता है अर्थात् मलरूप हो जाता है तब हरित व नील रङ्ग की उत्पत्ति करता है । सारांश यह है कि सामान्यतया पित रोगों में दाह—कोथ और उष्णता की वृद्धि ये मुख्य लक्षण होते हैं ।।५६।।५७।।

अब पित्त विकारों की दाहात्मकता का वर्णन करते हैं केवल ऊष्मा अर्थात् द्रवहीन पित्त शरीर में बढ़ता है । शरीर में सन्ताप (स्वाभाविक से अधिक उष्णता) उत्पन्न करता है । यहां पर शंका यह होती है कि जब शरीर आर्द्र है तो शरीरगत द्रवद्रव्य के विना पित्त की ऊष्मा स्वरूप से वृद्धि कैसी हो सकती है ? किन्तु इसका उत्तर सरल है यद्यपि पित्त द्रव-द्रव्य में आश्रित रहता है । द्रवत्व में जो जलांश रहता है उसके कम होने के कारण उष्णता का आधिक्य हो जाता है किन्तु उष्ण तीक्ष्णादि गुण भूयिष्ठ द्रव्यों के अति उपयोग

नोत्पादयेद् विदग्धत्वं न वा कोथकरो भवेत् ।५८।
द्रवस्वरूपे विकृते पित्ते तैक्ष्ण्यं विवर्धते ।
तैक्ष्ण्याद्दाहश्च कोथश्च क्लेदः समुपजायते ।५९।
विदाहः क्लेदनं धातु—स्रोतसामवदारणम् ।
कामला रक्तपित्ताद्याः कुष्ठपाण्डुभ्रमादयः ।६०।
विकारा विविधा दाह-क्लेद-कोथात्मका अमी ।
आहारस्य रसादीनां धातूनां पित्तकोपतः ।६१।
प्रदुष्टं पचनं दाह—संज्ञया परिकीर्त्यते ।
दाहस्वरूपा प्रायेण विकाराः पित्तसम्भवाः ।६२।

अथेदानीं श्लेष्मविकाराणामुपपत्तिर्लक्षणानि चोच्यन्ते—

शीतत्वं संञ्चयाधिक्यमग्निमान्द्यमिति त्रयम् ।
श्लेष्मोद्भूतेषु सर्वेषु विकारेष्वनुवर्तते ।७१।

से जब पित्त की वृद्धि हो जाती है तब ऊष्मा के साथ द्रवद्रव्यों की भी वृद्धि होती है। विदग्धत्व द्रवाश्रित रहता है, इसलिए जब केवल (द्रवरहित) ऊष्मा बढ़ता है तब वह विदग्धत्व को उत्पन्न करता है। द्रवाश्रित पित्त अपने स्वाभाविक प्रमाण में सार-किट्ट का विभाजन करता हुआ भी अपनी पचन क्रिया के कारण ही कुछ द्रव्यांशों का परस्पर सन्धान करता है। किन्तु जब पित्त का स्वाभाविक प्रमाण बिगड़ जाता है, तब इस संधान क्रिया में भी हानि हो जाती है और पृथग्भूत सब द्रव्याण अतिदग्ध हो जाते हैं इस अवस्था की ही "विदग्धत्व" संज्ञा है। विदग्धत्व विश्लेषण क्रिया से विनाशक बनता है। द्रवरहित ऊष्मा जब बढ़ता है तब न विदग्धत्व को उत्पन्न करता है और न कोथ उत्पन्न करता है। धातुओं के विदाह के कारण अणुओं में जो विनाशोन्मुखता उत्पन्न होती है उसको कोथ कहते हैं और जब विदग्धता नहीं होती तो कोथ भी उत्पन्न नहीं होता ॥५८॥

द्रवस्वरूप यानी द्रवाश्रित पित्त विकृत होने वा तैक्ष्ण्य अर्थात् ऊष्मा की तीव्रता बढ़ती है और तीक्ष्णता के कारण दाह (विदग्धता), कोथ तथा क्लेद अर्थात् घन द्रव्यों में से द्रव का पृथक् होना उत्पन्न होते हैं ॥५९॥

विदाह-क्लेदन धातु व स्रोतों का विदारण कामला–रक्तपित्त, कुष्ठ–पाण्डु–भ्रम आदि नानाविध विकार दाह, क्लेद व कोथात्मक होते हैं। सारांश—४० पित्त विकारों में से कुछ दाहात्मक, कुछ क्लेदात्मक व कुछ कोथात्मक होते हैं ॥६०।६१॥

आहार के तथा रसादि धातुओं के पित्त प्रकोप से पचन विकृति को ही दाह कहते हैं। प्रायः सभी पित्तज विकार दाहस्वरूप के होते हैं अर्थात् पचन क्रिया की विकृति से ही वे उत्पन्न होते हैं और उन में सामान्यरूप में दाह होता है ॥६२॥

अब श्लेष्मविकारों के लक्षणों की उपपत्ति का वर्णन करते हैं—

शीतत्व अर्थात् शैत्याभिवृद्धि, संचयाधिक्य अर्थात् शारीर द्रव्यों की अधिक वृद्धि होना और अग्निमान्द्य अर्थात् पचन क्रिया का मन्दत्व ये तीन लक्षण अकेले वा सभी एक दम सब श्लेष्मविकारों में रहते हैं ॥७१॥

श्लेष्मावभासता श्वेत—नेत्रमूत्रपुरीषता ।
श्वेतावभासता सामान्यादेकरूपमिदं द्वयम ।७२।
वातादास्ये कषायत्वं रसाज्ञत्वञ्च जायते ।
कटुतिक्तास्यता पित्तात् श्लेष्मणा मधुरास्यता ।७३।
रसावबोधने द्रव्ये रसनायामवस्थिते ।
श्लेष्माभिधे पित्तकफ मिश्रीभूय विवर्धितम् ।७४।
आस्ये कटुत्वं तिक्तत्वं माधुर्यं जनयेत् क्रमात् ।
संभूयमानमाहार—रसे स्वीयं रसानुगम् ।७५।
जिह्वेन्द्रिये तोष्यमाणे वायो रौक्ष्येण वा पुनः ।
क्लेदाभावादन्नरसो न सम्यगवबुध्यते ।७६।
अव्यक्तत्वाद्रसस्यास्ये कषायत्वं प्रजायते ।
घातात् संज्ञावहानाञ्च रसज्ञानं न जायते ।७७।
दोषोद्भवानां संख्याने विकाराणां विनिश्चिते ।

यद्यपि श्वेतावभासता व श्वेत नेत्र पुरीषता ये दो पृथक् विकार बतलाये गये हैं वास्तव में उनका स्वरूप एकसा ही है ।।७२।।

वात के कारण मुख में कषाय रुचि का अनुभव होता है । तथा रस [रुचि] का ज्ञान भी नहीं होता । पित्त के कारण मुख कटु व तिक्त रस का अनुभव करता है और कफ के कारण मधुर रस का ।।७३।।

जिह्वा पर अर्थात् जिह्वापेशीगत स्रोतों में बोधक नाम का कफ रस ज्ञान करानेवाला द्रव्य रहता है । उसमें जब पित्त बढ़कर मिश्रित होता है तब तिक्त व कटु स्वाद होता है और जब कफ बढ़कर मिश्रित होता है तब मधुर स्वाद होता है ।।७४।।७५।।

किन्तु जब वायु की रूक्षता के कारण रसनेन्द्रिय अर्थात् जिह्वा शुष्क होती है तब बोधक श्लेष्मा का स्राव कम होने लगता है । जिसके कारण अन्न के स्वाद का सम्यग् ज्ञान नहीं हो सकता । क्लेदन [द्रावण] के कारण ही उसमें विलीन द्रव्यांशों का रसना के स्रोतों में प्रवेश होकर रुचिज्ञान होता है । रस (स्वाद) की अव्यक्तता के कारण कषायत्व उत्पन्न होता है । पक्व होने पर मधुर स्वाद का देनेवाला आम्रफल जब कच्चा होता है तब वास्तव में उसका कोई स्वाद प्रकट नहीं होता । किन्तु व्यवहार में उसके स्वाद को कषाय संज्ञा से ही जानते हैं । रस का आस्वाद लेने वाली संज्ञा वाहिनियों का नाश होने से रस ज्ञान भी नहीं हो सकता है ।।७६।।७७।।

संहिताओं में जो वातज ८०, पित्तज ४० तथा कफज २०, विकारों की संख्या दी है वह दूष्यस्थानों एवं क्रियाओं की विभिन्नता के अनुसार उत्पन्न होनेवाले विकारों की नहीं है । दूष्यभेद के अनुसार विकार भेद भी हुआ करता है । जैसे बतलाया गया है कि वायु अस्थियों में रहता है, पित्त स्वेद-रक्त में रहता है इत्यादि । अर्थात् वातपित्तादि दोषों द्वारा दूष्य धातुओं का तथा उनके पक्वाशय—कटि सक्थि आदि स्थानों का एवं श्वसन पचनादि क्रियाओं का विचार, विकारोत्पत्ति का विचार करते समय ध्यान में रखना आवश्यक होता है । इन

द्रव्यस्थानक्रियाभेद———युक्तिर्नैवाभिदृश्यते ।७८।
प्राकृतं कर्म दोषाणां देहस्याप्युपकारकम् ।
जायते विपरीतं तन्नाम्ना विकृतिरुच्यते ।७९।
सम्यग् गत्वा हि धातूनां गतिर्देहोपकारिणी ।
विपरीता शूलसंज्ञा नानाविकृतिकारिणी ।८०।
सम्यक्पाकाद्धि धातूनां गतिर्देहोपकारिणी ।
विपरीता दाहसंज्ञा नानाविकृतिकारिणी ।८१।
धातुसंहननात् सम्यक् क्रिया देहोपकारिणी ।
श्लेषणाख्या विरुद्धा सा शोथसंज्ञापकारिणी ।८२।
गतिः पक्तिः श्लेषणञ्च तिस्रः स्वाभाविकाः क्रियाः ।
शूलो दाहश्च तोदश्च तद्विकारास्त्रयो मताः ।८३।

सब वैषम्यों के अनुसार उत्पन्न होनेवाले विकारों की गणना उक्त संख्या में नहीं है । उक्त ८० विकारों को आविष्कृततम अर्थात् विशेष प्रकट कहा गया है । किन्तु वायु के नख दन्तादि भेद जैसे सामान्य विकारों का वर्णन कर देने पर भी वातरक्त आमवात आदि जैसे कष्टकर विकारों का निर्देश भी नहीं है । पित्त विकारों में अंगदाह, दवथु प्लोष आदि सूक्ष्म भेद दर्शाये हैं किन्तु कुष्ठ मसूरिका आदि विशिष्ट रोगों का नाम निर्देश तक भी नहीं । इसी प्रकार श्लेष्मविकारों में अंगगौरव आलस्य आदि विकारों का वर्णन किया है किन्तु यक्ष्मा प्रमेह आदि कष्टसाध्य विकारों का निर्देश नहीं है । वातादि दोषों के विकारों की [८० इत्यादि] संख्या एवं उक्त विकारों का आविष्कृततमत्व [व्यक्तत्व] किस तत्त्व के अनुसार निश्चित किया गया है यह एक अवश्य विचारणीय विषय है ॥७८॥

वातादि दोषों के अनुक्रम से गति, पचन, व पोषण—यह तीन कर्म स्वाभाविक अवस्था में देहोपकारक हैं । किन्तु उनमें वैपरीत्य अर्थात् वैषम्य उत्पन्न होने से शरीर में विकृति उत्पन्न होती है स्वाभाविक 'गति' देहोपकारक होती है, विपरीत होने पर उसको ही शूल कहते हैं । गति वैपरीत्य से अनेक विकार उत्पन्न होते हैं ॥७९॥८०॥

धातुओं का सम्यक् पचन देहोपकारक होता है, विपरीत होने पर उसको दाह कहते हैं । दाह से अनेक रोगों की उत्पत्ति होती है ॥८१॥

श्लेषण क्रिया की स्वाभाविक स्थिति में धातु संहनन [धातु संघटन] यह देहोपकारक क्रिया होती है, विपरीत होने पर उस को शोथ कहते हैं और शरीर में विविध व्याधियां होती हैं । सारांश—शूल-दाह शोथात्मक विविध विकार गति पचन व पोषण क्रियाओं के वैषम्य के कारण ही उत्पन्न होते हैं ॥८२॥८३॥

वातादीनां प्रदुष्टानामामद्रव्यस्य वा पुनः ।
स्थानान्तरानुसारेण विकारान्तरसम्भवः ।८४।

इति शारीरतत्त्वदर्शने उत्तरार्द्धे श्लोकाः ।

भवन्ति चात्र—

अल्पाक्षरप्रयोगत्वात् सारार्थस्यातिसंचयात् ।
वैद्यानां सुखबोधाय निबद्धश्चेष्टकीर्तये ।१।
याथातथ्येन निर्दिष्टा उपपत्तेर्ज्ञप्तिवाञ्छया ।
यश्चोपपत्तिं विन्देत दोषाणां स्थानकर्मतः ।२।
सुखयत्यातुरमाशु यथा सूर्योदयो भुवम् ।
गुरुं सन्तोष्य विद्यायाः सम्प्राप्तिरिति शुश्रुमः ।३।
सुखाज्जातमिहालस्यं विद्याविघ्नकरं यतः ।
तस्मात् प्रयत्नमातिष्ठेद् व्यलसो गुणसम्पदि ।४।

दूषित (बिगड़े) हुए वातादि दोषों के अथवा आम द्रव्य के स्वस्थान को छोड़कर अन्य स्थानों में लाने के कारण नानाविध विकार उत्पन्न होते हैं। कारणों में समानत्व होते हुए भी स्थानादि भेदों से कार्यरूप विकारों का वैविध्य उत्पन्न हो सकता है। चरकादि संहिताओं में कहा है "कुपित दोष स्थानान्तर में जाकर विशिष्ट हेतुओं के कारण अनेक रोगों को उत्पन्न करता है। तथा दोष प्रकुपित होकर प्रकोपण (दोष प्रकोप हेतु) विशेष के तथा दूष्य (धातुमल) विशेष के कारण नानाविध विशिष्ट विकारों को उत्पन्न करते हैं।" सुश्रुत संहिता में भी कहा है "दोष इस प्रकार प्रकुपित होकर निम्न शरीरावयवों में जाकर भिन्न-भिन्न व्याधियों को उत्पन्न करते हैं। वे जब उदर में प्रविष्ट होते हैं— गुल्म-विद्रधि-उदर, अग्निमान्द्य-आनाह–विषूचिका—अतिसार प्रभृति विकार उत्पन्न होते हैं। वे जब मूत्राशय में प्रवेश करते हैं—प्रमेह–अश्मरी–मूत्राघात–मूत्रदोष प्रभृति विकारों को उत्पन्न करते हैं। वृषण में जाने पर दोष—वृषणवृद्धि को उत्पन्न करते हैं। जननेन्द्रिय में जाने पर निरुद्ध प्रकाश (मूत्रद्वार संकोच) उपदंश—शूकदोष आदि विकारों को, तथा गुद में जाने पर भगन्दर–अर्श आदि विकारों का निर्माण करते हैं। ऊर्ध्वजत्रु में ऊर्ध्वगत रोगों को—मेद में जाने पर ग्रन्थि-अपचि-अर्बुद—मलगण्ड–अलजी आदि विकारों को उत्पन्न करते हैं ।।८४।।

लेखक का वक्तव्य ज्ञापक संक्षेप सग्राहक श्लोक—

विकारोपपत्ति का थोड़े से में बहुत सार निर्दिष्ट करने के कारण तथा वैद्यों को सुखपूर्वक ज्ञान कराने की बुद्धि से, तथा शारीर तत्त्व दर्शन—निबन्ध की चिरकीर्ति के लिये हमने जैसे के तैसे पद्य छन्दोदोषरहित करके लिख दिये हैं ।।१।।२।।

जो वैद्य रोगों की उपपत्ति को दोषों के स्थान—कर्म से जानता है वह रोगी को शीघ्र सुखी करता है जैसे सूर्य का उदय भूमि को प्रकाशयुक्त कर देता है ।।३।।

गुरु को संतुष्ट करके विद्या की प्राप्ति होती है ऐसा वृद्धजनों से सुनते हैं। सुख से उत्पन्न होनेवाला आलस्य विद्या का विघातक होता है इसलिये वैद्य को चाहिये कि सुतरां प्रयत्नशील होकर अपने गुणों का संपादन करे ।।४।।

श्रुतिश्चापि—

"योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ।" नि० १।१८॥

अर्थस्तत्त्वपरिज्ञानम्——'ऋगता'वत्र युज्यते ।
तत्त्वरुक् तत्त्वमाप्नोति निस्तत्त्वो दुःखमश्नुते ।५।

तत्त्व रोचते इति तत्त्वरुक् । निस्तत्त्वस्तत्त्वज्ञानरहितो दुःखमश्नुते, वस्तुज्ञान-राहित्यात् ।

उक्त चापि निरुक्ते (१।१८)—अथापि ज्ञानप्रशंसा भवत्यज्ञाननिन्दा च—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते, नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥
यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्दयते ।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तु ज्वलति कर्हिचित् ॥

भवन्ति चात्र –

अध्यायोत्थापिकापूर्वं चिकित्सापादवर्णनम् ।
आविष्कृततमा रोगा यथास्थूलं प्रचक्षिताः १।
आनृण्यमात्मनः ख्यातं यर्थाषिपद्यसंग्रहात् ।
अशीतिर्वातजा रोगाश्चत्वारिंशत्तु पित्तजाः ।२।

इस में श्रुति भी प्रमाण है—"जो तत्त्वज्ञ है वह सकल पुण्यों को प्राप्त करता है और निष्पाप होकर नाक (स्वर्ग) को प्राप्त होता है।"

अर्थ शब्द में गत्यर्थक (ऋ) धातु है, तत्त्व जानने की इच्छावाला तत्त्व को प्राप्त करता है, तत्त्वज्ञानरहित व्यक्ति दुःख को प्राप्त करता है ।५।

निरुक्त में भी ज्ञानप्रशंसा और अज्ञान की निन्दा करते हुए कहा है—

वह पुरुष स्थूणा (खम्भे) की भांति भार का वहन करता है जो वेद को पढ़कर अर्थ को नहीं जानता, जो अर्थ को समझता है वह निष्पाप होकर स्वर्ग को प्राप्त होता है।

जो केवल शब्द-मात्र से स्मरण किये हुए है उसका ज्ञान विना अग्नि के योग के शुष्क काष्ठों के समान प्रदीप्त नहीं होता। अर्थात् काष्ठों में अग्नि को प्रज्वलित करने का धर्म तो है परन्तु विना अग्नि संस्पर्श के अग्नि प्रकट नहीं होती है। सारांश यह है कि ज्ञान को विज्ञान से परिमार्जित करना चाहिये।

इस अध्याय के संक्षेपार्थ संग्राहक ये श्लोक हैं—

इस रोगगणनाध्याय में अध्याय की उत्थापिका, चिकित्सा के चारों पादों का वर्णन, आविष्कृततम रोगों का स्थूलरूपेण नाम निर्देश एवं ऋषि वाक्यों का संग्रह अर्थात् भिन्न-भिन्न ऋषियों के विचार प्रदर्शित किये गये हैं। काश्यप संहिता के वचनों को अविकल उद्धृत करके

विंशतिः कफजाः प्रोक्ताः काश्यपस्य पदैरिह ।
रोगारम्भकरं ज्ञानं रोगभेदोऽथ संख्यया ३।
ऊह्यास्त्वनुक्तरोगा हि सामान्येनात्र निग्रहः ।
असंख्येयविकाराणां त्रिदोषे सन्निवेशनम् ।४।
स्थानेऽमृतसरःप्रख्ये फाल्गुनस्यासिते दले ।
दर्शे तिथौ बुधे वारे वेदशून्याभ्रनेत्रके ।५।
लक्षणानां सविस्तृत्या वर्णनं सोपपत्तिकम् ।
आत्मनो गदनीयं यत् तच्छ्लोकैरत्र कीर्तितम् ।६।

इति रोगगणनात्मकः षष्ठोऽध्यायः ।

वायु के अस्सी रोग, पित्त के चालीस और कफ के बीस रोगों का निर्देश किया गया है। रोगारम्भ के कारण रोगों की भेद संख्या, अनुक्त रोगों में ऊहापोह करने का उपाय, असंख्य विकारों का त्रिदोष में निक्षेप करने का उपाय और उपपत्ति के साथ रोगों के लक्षण वर्णन किये गये हैं ॥१-४॥

सम्वत् २००४ फाल्गुन मास के कृष्णपक्ष की अमावस्या बुधवार के दिन अमृतसर में इस अध्याय को पूर्ण किया गया ॥५॥

इस निबन्ध का मुख्य उद्देश्य, निश्छल बुद्धि से दूतधरा विज्ञान को प्रकाश में लाना है। पाण्डित्य प्रदर्शन नहीं ॥६॥

रोगगणनात्मक षष्ठ अध्याय समाप्त हुआ ।

* त्रिदोष-संगणनीयः सप्तमोऽध्यायः *

अथातस्त्रिदोषस्य गणितमधिकृत्य समास-व्यासाभ्यां नानाविधत्वं व्याख्यास्यामः ।

पाञ्चभौतिकः कायोऽयं दोष-धातु-मलैरेव स्थितिमाधत्त इति सुज्ञ-भिषजां न तिरोहितम् । तच्चास्माभिस्त्रिदोष-समक्षेपीयेऽध्याये सुस्पष्टतां नीतम् । तत्र ज्ञानातिशयमिच्छद्भिः श्रीमतां पुरुषोत्तम-शर्म्म-हिर्लेकराणां 'शारीरतत्त्वदर्शन'नामा प्रवन्धोऽध्येतव्यः । नाडीज्ञानाय पथप्रदर्शनमात्रमस्माकमभिमतम् ।

गणितमेव हि बहुविध-विकल्पेषु सत्सु सत्यानृते विविनक्ति । तथा च त्रिविध-शिष्यावबोधाय सद्भिषजां प्रीतये च साम्प्रतिकं त्रिदोषविधायकं विदेशीय-शासनतो विस्तीर्यमाणस्य तमसः समुद्धूननाय च प्रक्रमामहे त्रिदोषसंगणनीयमध्यायम् ।

गणितप्रकाराणामप्यनन्तत्वमेव स्वीकृतं श्रीमता भास्कराचार्येण स्वसिद्धान्त-शिरोमणेः पाटीगणिताध्याये लीलावतीसंज्ञके । यथा—**'सङ्क्षिप्तमुक्तं पृथुताभयेन नान्तोऽस्ति पारं गणितार्णवस्य'** इति । तस्मान्न हि सकलात्मना त्रिदोष-धातु-मलानां भेद-प्रभेदा लेखन्या विन्यस्तुं शक्याः, तथापि पथप्रदर्शनमेवास्माकमभीष्टमिति विबुधा निभालयन्तु । यत उक्तं चरके—

रोगगणनाध्याय के अनन्तर अब संक्षेप और विस्तार—दोनों प्रकार से गणित द्वारा त्रिदोष की व्याख्या की जायेगी ।

यह पञ्चभूतात्मक शरीर, दोष, धातु और मल—इन तीनों द्वारा स्थित है । यह सिद्धान्त विज्ञ वैद्यों को विदित ही है । इस विषय को त्रिदोष समक्षेपीय अध्याय में स्पष्ट और विस्तृत रूप से कहा गया है । इस सम्बन्ध में और भी विस्तृत जानकारी के लिये श्रीपुरुषोत्तमशर्मा हिर्लेकर का शारीरतत्त्व दर्शन देखना चाहिये । हमारा मुख्य विषय नाडी ज्ञान के लिये पथ-प्रदर्शन मात्र करना है ।

संशयास्पद विषयों का वास्तविक निर्णय करने में गणित ही सर्वोत्कृष्ट और निर्भ्रान्त निर्णायक है । अतः विदेशी शासन के कारण त्रिदोष के सम्बन्ध मे फैले हुये भ्रम को दूर करने एवं सद्वैद्यों की प्रसन्नता के लिये हम त्रिदोष-संगणनीय अध्याय का प्रारम्भ करते हैं ।

प्रसिद्ध गणितज्ञ भास्कराचार्य ने सिद्धान्त-शिरोमणि के पाटीगणिताध्याय (लीलावती) में गणित के अनन्त प्रकारों का होना स्वीकार किया है । 'इस पाटीगणिताध्याय में संक्षेप से गणित का निर्देश किया गया है; क्योंकि गणित अनन्त है, इसका अन्त नहीं ।' इस कारण त्रिदोष, धातु तथा मलों के भेद--प्रभेदों का सम्पूर्ण रूप से लिखना असम्भव है । हमारा यह प्रयत्न केवल पथ-प्रदर्शन के लिये ही है।

'तत्र व्याधयोऽपरिसंख्येया भवन्ति, अतिबहुत्वात्; दोषास्तु खलु परिसंख्येया भवन्ति-अनतिबहुत्वात् ।" विमानस्थानम्, ६।५

तथान्यत्रापि—

त एवापरिसंख्येया भिद्यमाना भवन्ति हि ।
रुजा-वर्ण-समुत्थान-स्थान-संस्थान—नामभिः ।। सूत्रस्थानम् १६।४२

अन्यच्च—निदानस्थानम्, ४।२

"त्रिदोषकोपनिमित्ता विंशतिः प्रमेहा भवन्ति, विकाराश्चापरेऽपरिसंख्येयाः ।"

अपरमपि—

'प्रकुपितास्तु खलु प्रकोपणविशेषाद् व्याधिविशेषाच्च विकारविशेषानभिवर्त्तयन्त्यपरिसंख्येयान् ।' विमानस्थानम् ६।७

तथा चोभयथात्वं वेदे—

संख्याताः स्तोकाः पृथिवीं सचन्ते...... ।
असंख्याता ओप्यमानाः सुवर्णाः......।।–अथर्व, १२।३।२८

इत्येतेन भावानां संख्यातुमर्हत्वमसंख्यातुमर्हत्वञ्च सूचितं भवति । तद् यथा – वृक्षस्य शाखा–पत्र- पुष्प-फलेष्वेक एक हि वृक्षमूलाकृष्टो रसो वृक्षपञ्चाङ्गं विभ्रदेकं सदप्यनेकधा प्रकाशयत्यात्मानम्; अमुनैव विधिविशेषेण पञ्चमहाभूतानि लोकान्, प्राणिनः शरीरांश्च दोष-धातु-मलरूपेषु नयन्तः कर्षण—बृंहणात्मकेन पक्षयुगलेन शरीर प्रकृतिविकृतिभावाय नयन्ति लोकांश्च ।

कर्षयेद् बृंहयेच्चापि दोष-धातु-मलान् भिषक् ।
तावद् यावदरोगः स्यादेतत् साम्यस्य लक्षणम् ।। –सु०सू०, १५।४०

एवमेषां कर्षणेन बृंहणेन च ये भेदाः समुत्पद्यन्ते; ते नैव नियममन्तरा सन्तीति कृत्वा; तथा च-**व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्** । ।पातञ्जलमहाभाष्ये ।

चरक में भी कहा है–'व्याधियां असंख्य हैं उनकी गणना तो कठिन है; परन्तु दोष गिने जा सकते हैं; क्योंकि वे अल्प हैं ।' इसका स्पष्टीकरण करते हुये उन्होंने अन्य स्थल में कहा है कि 'त्रिदोष के प्रकोप होने वाले प्रमेह वीस प्रकार के हैं और उनके विकार असंख्य हैं ।' इसी प्रकार दूसरे स्थान पर भी कहा है—'त्रिदोष, अपने प्रकोपविशेष तथा व्याधिविशेष से नाना प्रकार के असंख्येय विकारों को उत्पन्न करते हैं ।'

अथर्ववेद में भी संख्येय और असंख्येय का निर्देश किया गया है कि 'संख्येय अल्प हैं ।'

जैसे एक वृक्ष अपनी जड़ों से रस को खींचकर शाखा, पत्र,पुष्पों और फलों का पोषण करता हुआ अपने को नाना रूपों में प्रकाशित करता है, उसी प्रकार पांचों महाभूत, लोक-लोकान्तरों को तथा प्राणियों के शरीरों को दोष,धातु और मल रूप से कर्षण तथा बृंहण रूप दो पक्षों में विभक्त करते हुए शरीरों को स्वस्थ तथा अस्वस्थ करते रहते हैं तथा समूहावलम्बन से जगत् को उपद्रुत और निरुपद्रुत करते ह । सुश्रुत में भी कहा है कि 'वैद्य को चाहिये कि वह तव तक दोषों, धातुओं और मलों को घटावे बढ़ावे जब तक कि रोगी स्वस्थ न हो जाये ।'

तथा च **तस्यास्तपसा पारमीप्सितव्यम्** (निरुक्ते) इति यास्काशयमादृत्य च गणितमेव नः शरणम् ।

तत्र ब्रह्मवेदो रूपाणां विभरणहेतुमाचक्षाणो मन्त्रमिममुपन्यस्यति—

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ।। —अथर्व, १।१।१

ये त्रिषप्ताः=त्रिधा सप्त, त्रयश्च सप्त च वा, सकलवस्तुबीजभूताः, सत्त्वरजस्तमोरूपास्त्रयो दोषाः, सप्तधातवश्च । **रूपाणि बिभ्रतः**=रूपाणि धारयतः । **विश्वा**= सकलपदार्थानिति यावत् । अथवा विश्वानि रूपाणि धारयतः । पदार्थान्, **परियन्ति**= अधिगच्छन्ति,तदभिव्यञ्जकतया प्राप्नुवन्ति । **तेषां तन्वः**=शरीरस्थाः,**बलाः**=बलानि; ज्ञानात्मकानि । **वाचस्पतिः**=वाचो विद्यायाः स्वामी, ब्रह्मेत्यर्थः । **मे**=मयि शिष्ये । **अद्य**=अस्मिन्नवसरे दिने वा । **दधातु**=धारयतु ददातु वा ।

ये विद्वांसः त्रिसप्ताः परितो जानन्ति त एव रूपविभरणे समर्था भवन्ति—इति भावः । अत्र त्रिः सप्त चेति संख्यावाचके पदे, तयोः सर्वतोभावेन परियान—परिज्ञानं किम् ? तद्धि गणितमिति भावः ।

गणितं हि सङ्कलन—व्यवकलन—संगुणन—विभजन--भेदैश्चतुर्धा विभज्यते । ते हि परस्परं संख्यानं प्राप्ता विकृतिमापद्यन्ते । गणितप्रकारश्च भास्करोक्त--लीलावती--श्लोकैरेवोपन्यस्यते ।

इस प्रकार घटाना—बढ़ाना ही समता का लक्षण है । इस प्रकार घटाने=बढ़ाने से जो-जो भेद उत्पन्न होते हैं, वे किसी नियम के विना नहीं है । व्याख्या करने से ही विशेष का ज्ञान होता है । सन्देह होनेपर उसे छोड़ देना न्याय्य नहीं है । निरुक्तकार यास्कमुनि कहते हैं कि 'किसी भी ज्ञातव्य वस्तु का परिज्ञान, निरन्तर प्रयत्न करते रहने से ही होता है" । इसीलिये हमने गणित का अवलम्बन किया है ।

अथर्ववेद का प्रथम मन्त्र, पदार्थविज्ञान के हेतुओं का वर्णन करता है । इसका भावार्थ यह है कि 'जो तीन सप्तक, अथवा तीन और सात, समस्त पदार्थों के बीज रूप अथवा सत्त्व, रज और तम रूप तीन दोष, सात धातु—सब रूपों को धारण कर रहे हैं, अथवा सब पदार्थों को विज्ञान रूप में व्यक्त करते हैं, उन शरीरों के बलों को वाक् या विद्या का पति ब्रह्मा, मुझे आज दे ।'

सारांश यह कि जो विद्वान्, तीन और सात को सब प्रकार से भली भांति जानते हैं, वे ही सब प्रकार के रूपों एवं नूतन—आविष्कारों के करने में समर्थ होते हैं ।

इस मन्त्र में ३ और ७ संख्यावाचक पद हैं उनका सब रूपों से परिज्ञान है—गणित ।

संक्षेप से गणित चार प्रकार का है—संकलन, व्यवकलन, गुणन और विभजन । ये ही समस्त गणित प्रक्रियाओं के घटक हैं । ये ३ और ७ अपने रूप में पृथक् होते हुए भी गणित में विकारी हो जाते हैं ।

एक–दश–शत–सहस्रायुत–लक्ष–प्रयुत–कोटयः क्रमशः।
अर्बुदमब्जं खर्व–निखर्व–महापद्म–शङ्कवस्तस्मात् ॥
जलधिश्चान्त्यं मध्यं परार्धमिति दशगुणोत्तराः संज्ञाः।
संख्यायाः स्थानानां व्यवहारार्थं कृताः पूर्वैः ॥परिकर्माष्टकम्, २–३

तथा चाथर्ववेदेऽपि दशोत्तरेण संख्या निर्दिश्यते—

एका च मे दश च मेऽपवक्तार ओषधे। ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥१॥
द्वे च मे विंशतिश्च मे ——————॥२॥ तिस्रश्च मे त्रिंशच्च मे——————॥३॥
चतस्रश्च ने चत्वारिंशच्च मे——————॥४॥ पञ्च च मे पञ्चाशच्च मे———॥५॥
षट् च मे षष्टिश्च मे——————॥६॥ सप्त च मे सप्ततिश्च मे———— ———॥७॥
अष्ट च मेऽशीतिश्च मे——————॥८॥ नव च मे नवतिश्च मे——————॥९॥
दश च मे शतञ्च मे——————॥१०॥ शतञ्च मे सहस्रञ्चापवक्तार ओषधे ॥११॥
—अथर्व० का० ५। सू० १५

अत्र भास्करोक्तौ युक्तिः—इह हि गणितशास्त्रे सर्वत्रैव नवमिता अङ्का दृश्यन्ते। अङ्का अङ्कनात्, अञ्चनात्, व्यञ्जनाद् वा। अतोऽत्र तथा गुणोत्तरः कल्पनीयो यथा तदन्तर्वर्तिनस्ते ह्यङ्का भवेयुः, कथमन्यथा तत्–स्थान-नियम–व्यवस्था तद्गणनानुकूला भवेत्। एवं कृते सति तत्रैकाधिकं दशगुणोत्तरा स्थानसंज्ञाकृतेऽति-प्राचीनानां कल्पना नितरां रमणीया, तत् क्रमिकाङ्कगणना–व्यवहारोच्छेदाग्त्तेः।

तथा च ग्रहगणितोक्त एव ख–कक्षामाने मध्यपर्यन्तं; ब्रह्मणः परायुषः प्रमाणे च परार्धपर्यन्तं संख्यास्थानानि जायन्ते। तानि चाष्टादशसमान्येवोपलभ्यन्ते तन्मध्य एव गणितप्रसरणत्वात्, तदधिकस्थानकथनाप्रयोजनत्वाच्च। प्राचीनैरेकादितः परार्धावध्यष्टादशस्थानानि तत्पृथङ्नामानि च युक्तियुक्तानि विहितानि।

लीलावती में गणित के प्रकारों को वतलाने से पहले संख्या के स्थानों का निर्देश किया गया है। वे १८ हैं। वे एक से लेकर उत्तरोत्तर दशगुणित है। जैसे:—एक, दश, शत, सहस्र, अयुत (दश सहस्र), लक्ष, प्रयुत्त (दक्षलक्ष), कोटि, अर्बुद, अब्ज, खर्व, निखर्व महापद्म, शंख जलधि, अन्त्य, मध्य और परार्द्ध ये नाम आचार्यों ने व्यवहार के लिये रखे हैं।

अथर्ववेद में भी दशगुणित संख्या का प्रयोग है। उपर्युक्त मन्त्रों में १-१०, २-२०, ३-३०, ४-४०, ५-५०,६-६०,७-७०,८-८०,९-९०,१०-१०० और १००-१००० संख्याओं का निर्देश है।

यहां इन मन्त्रों का निर्देश केवल दश गुणत्व दिखलाने के लिये किया गया है। इनके विज्ञानमय अर्थ वेद–भाष्यों द्वारा जानने चाहिये।

आचार्यों द्वारा अनुमोदित इन अट्ठारह स्थानों में युक्ति यह है कि गणित शास्त्र में सर्वत्र ९ अङ्क ही देखे जाते हैं। अङ्क शब्द का अर्थ है—द्योतक, व्यञ्जक या चिह्नक। इसलिये यहां ऐसी कल्पना करनी चाहिये जिससे कि वे नौ अङ्क गुणोत्तर के अन्दर आ जावें। अतः दशगुणकल्पना के विना वे नौ अङ्क इसमें नहीं आ सकते थे–अतः आचार्यों की कल्पना अतिशय सुन्दर है।

इसके अतिरिक्त ग्रहगणितोक्त कक्षामान में मध्यपर्यन्त ब्रह्मा की परमायु के प्रमाण में परार्ध्य तक १८ (अट्ठारह) स्थान होते हैं। इसलिये भी १८ स्थानों की कल्पना युक्तियुक्त जंचती है। इन्हीं १८ स्थानों में ही समूचे विश्व का प्रसार है। इससे अधिक स्थानों की कल्पना निष्प्रयोजन थी।

अत्राहुः—किं पुनरष्टादशेति ? एकाष्टयोर्मिथोयोगात् नवसंख्यात्वे परिलीनत्वमेव । यथा च न्यासः १+८=९ इति । यत् परार्ध्यात् परेऽवशिष्यतेऽप्रयोजनार्हं लोकानां कृते तदेवाव्यक्तम् । तस्मादस्याव्यक्तरूपमापन्नस्यैकस्य योगाद् दश भवन्ति । नव हि नामैकेनाव्यक्तेनापूर्णो दश इति । स्पष्टञ्चैतद् वक्ष्यमाणं भविष्यति ।

तत्राङ्केषु प्रथमः प्रकारो योगो नाम । तत्र संकलित-व्यवकलितयोः सूत्रवृत्ताधम् । **'वार्यः क्रमादुत क्रमतोऽथवाङ्कयोगो यथास्थानकमन्तरं वा ।'** इति । त्रि-सप्तानां चक्रयोगो दश भवति । यथा—३+७=१० इति ।

अत्र सङ्गतिः—गीतायां **'नवद्वारे पुरे देही'** इत्युल्लिखितम् । नव द्वाराणि रन्ध्राणि छिद्राणि यस्मिन् देहे इति भावः । वेदेऽपि च—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥

—अथर्व० १०।२।३१,३२

अष्टाचक्रा=मूलाधाराद्यष्टचक्रा, नवद्वारा=नवेन्द्रियच्छिद्रा, तद् यथा-अक्ष्णोः नासयोः कर्णयोश्च द्वे द्वे. मुख-गुद-शिश्नानाञ्चैकमेकमिति नव । देवानां=इन्द्रियरूपेणावस्थितानां प्राणादिदेवानाम्, पूः=नगरी. अयोध्या=योद्धुमनर्हास्ति । यदा पूरियं विकृतिमायाति, तदा रोगरूपाणां रक्षसां पूर्भवतीत्यर्थादवगम्यते । तस्यां=पुरि, हिरण्ययः=ओजोमयः (तैजसत्वादोजसः) कोशः=कोरकाकारं हृदयम्, कोशशब्दो हि लोकेऽपि कोरकपर्य्यायत्वेन प्रसिद्धः । तथा-'इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे' इति । स्वर्गः=सुखदः, स्वः सुखं, तं गमयति प्रापयतीति स्वर्गः । ज्योतिषा=तेजसा, वृतः=परीतः ।

ये १८ भी परस्पर युक्त होने से १+८=९ में ही लीन हो जाते हैं । ९ से जो पर है । वह अव्यक्त है । अतः उस अव्यक्त में ९ के मिलने से १० हो जाते हैं । एक अव्यक्त से हीन दश ही नौ हैं । यह आगे स्पष्ट हो जायेगा ।

अङ्कगणित में पहले प्रकार का नाम योग है । इसके सम्बन्ध में भास्कराचार्य ने लिखा है कि यथास्थान स्थित एक आदि अङ्कों का योग होता है । जैसे–३ इसी न्यास को योग के ज्ञापक (+) इस चिह्न द्वारा भी लिखा जाता है । जैसे—३+७=१० । अन्तर या घटाने का चिह्न (—) है । जैसे—७–३=४ । बडी राशि में से छोटी राशि घटा करती है; छोटी में से बड़ी नहीं ।

उपर्युक्त बातों की सङ्गति–गीता में कहा है कि देही अर्थात् आत्मा, नौद्वारवाले नगर में रहता है । नगर का अर्थ देह और द्वार का अर्थ नव इन्द्रिय—छिद्रों से है । अथर्ववेद में भी कहा है—

आठ चक्रों और नौ द्वारों वाली देवताओं की अयोध्यापुरी है । जिसमें सुखद और तेज से परिपूर्ण कलिकाकार स्वर्णकमल है । तीन अर वाले और तीन प्रकार से प्रतिष्ठित उस कमल-कलिका में मन के सहित आत्मा का निवास है, जिसे तत्त्वज्ञानी ब्रह्मवेत्ता जानते हैं ।

तस्मिन् हिरण्यये कोशे, कीदृशे ? त्र्यरे=वातपित्तकफात्मनां त्रिधा धारके अरस्वरूपे, पुनः कीदृशे ? त्रिप्रतिष्ठिते=सत्त्वरजस्तमोभिरधिष्ठिते। ईदृशे कोशे, यद् यक्षम् आत्मन्वत्। यक्षमत्र मनःपर्यायः। यथा वेदे-**यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानाम्'** (यजु०३४।२) इति। अर्थात् आत्मसहितं यन्मनः, तद् वै=निश्चयेन, ब्रह्मविदः=ब्रह्म इति ज्ञान-नाम, तद्विदः ज्ञानिन इत्यर्थः, विदुः=जानन्ति। **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तै०उ० २।१।१) इत्युक्तत्वात्।

नवद्वारातिरिक्तं दशममव्यक्तं ब्रह्मरन्ध्रेति नामभिधं द्वारं यस्माद्विरजा विच्छिन्न-हृदय-ग्रन्थयो विगतसंशयाश्च तपस्विनो विधूतपाप्मानो योगिनो ब्रह्मणि लीनीभावाय प्रयान्ति। तस्मादेकेनाव्यक्तेनापूर्णा एव दश, संख्यात्वं यान्ति। एष एव हि सार्वत्रिकः क्रमः। तद्यथापरमुदाहरणम्—

शुक्र-शोणित-संयोगादुत्पद्यते गर्भः। तद् (गर्भ)-विषये वेदः-**'दशमे मासि सूतवे,** (ऋ० १०।१८४।३) **'अन्नद्दशमास्यो गर्भो जरायुणा सहेति'** इति च। तथा च—

दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि।
निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि॥ —ऋ० ५।७८।९

इत्युक्तश्रुत्या सुस्पष्टमिदं यद् दशमे मासि जायमानो गर्भो बहिः कार्यक्षमो भवति। अत्राहुः-सप्तमास्योऽष्टमास्यो वा जायमानोऽपि गर्भो दृश्यते। तत्र जीवति च सप्तमास्यः, म्रियते चाष्टमास्यः, तस्माद् व्यभिचरति श्रुतिवाक्यम्, न चोपपद्यते दशत्वम्। रूपविभूतौ सप्तानां त्रयाणां (७+३=१०) दशेति।

अत्र समाधिः—मासशब्दोऽत्र **'दशमे मासि सूतवे'** इत्यादि श्रुतिवाक्येषु

यह शरीर का वर्णन है—इसमें मूलाधार आदि आठ चक्र हैं। आंख, नाक तथा कान के दो-दो एवं मुख,गुदा और शिश्न के एक-एक-इस प्रकार नौ द्वार हैं। यह प्राण आदि देवताओं की युद्ध करने के अयोग्य अयोध्या-नगरी है। इसमें सुखद और ओजोधातु से परिपूर्ण कमलकलिकाकार हृदय है। वात, पित्त और कफ इन तीन अरोंवाले और सत्त्व, रज एवं तम इन तीनों से प्रतिष्ठित इस हृदय कमल में मन और आत्मा रहते हैं इत्यादि।

शरीर में इन नौ द्वारों के अतिरिक्त ब्रह्मरन्ध्र नामक दसवां द्वार-छिद्र भी है। इस द्वार के द्वारा तपस्या से निष्कल्मष योगिजन ब्रह्म में लीन होते हैं। इस प्रकार एक अव्यक्त से अपूर्ण दश संख्या बनती हैं। यही क्रम सर्वत्र है।

दूसरा उदाहरण—रज और वीर्य के संयोग से गर्भ उत्पन्न होता है। गर्भ के विषय में वेद में भी कहा है, 'प्रसव के लिये दसवें मास में।' इसी प्रकार उपर्युक्त ऋग्वेद आदि से स्पष्ट सिद्ध है कि दसवें मास में उत्पन्न गर्भ कार्यक्षम होता है। यहां यह प्रश्न होता है कि सातवें या आठवें मास में भी बच्चे उत्पन्न होते हैं, उनमें से सात मासवाला बच्चा जीता रहता है और आठ मास वाला नहीं जीता। इससे वेदों का नियम खण्डित हो जाता है। तथा रूपों के बनने में (७+३=१०) दशत्व भी खण्डित हो जाता है। इसका समाधान यह है कि—वेदों में आया हुआ दशममास शब्द न तो ३० दिनों के सौरमास और न २७ दिनों के चान्द्रमास से सम्बन्ध रखता है; किन्तु स्त्री के

सूर्य-कृतो न गृह्यते, न चापि चन्द्रकृतः । परन्तु स्त्रियो रजोदर्शनद्वयान्तःकालो मासशब्देनाभिहितः । यतो गर्भपरिपाकाधिष्ठातृत्वात् स्त्रियो गर्भाशयस्यौष्ण्यात् । स्त्रीणां रजश्चन्द्रमसमधिकृत्य गतिमेति । चान्द्रो हि मासः सप्तविंशतिदिनैरष्टाविंशेना-पूर्णेन पूर्णत्वमेतीति सुस्पष्टमेव खगतिविदाम् । एवं हि ते सप्तविंशतिः, परस्परं युक्ता नवसंख्यात्वे (२+७=९) परिलीना भवन्ति । अव्यक्तेनापूर्णेनाष्टाविंशतिना युक्ता परस्परं संयोगाद् दश भवन्ति । तद् यथा न्यासः –(२+८=१०) इति ।

अत एव हि चन्द्रमा रूपाणामधिपतिरुच्यते नक्षत्राणामधिपतिर्वेति वेदोक्त-मुपपद्यते । कथमिति चेद् ब्रूमः—

यथा हि स्त्री स्वरजःप्रवृत्तिकृतदशमासैर्गर्भस्य रूपाणि बिभर्ति, तस्मात् स्त्र्यपि रूपाणामधिपत्नी भवति । मनश्चापि रूपाणामधिपतिश्चन्द्रांशत्वात् । **'चन्द्रमा मनसो जात'** (यजु० ३१।१२) इत्युक्तत्वात् । मननान्तरं रूपं बिभर्ति कर्तेति यतः । तस्मादुपपद्यते स्त्रियमधिकृत्येदं श्रुतिवाक्यम्-**'नानारूपाः पशवो जायमानाः'** इति । पश्यतीति पशुरित्यनया निरुक्त्या पशवः शिशव इति; पश्यतिमात्रत्वात्तेषाम् ।

नक्षत्राणि यथा अष्टाविंशतिः सन्त्यपि, अभिजितान्तर्लीनत्वात् सप्तविंशान्येव भवन्ति । तस्मादुपपद्यते **'मनो गन्धर्वाः सप्तविंशति'** रिति । गां पृथिवीं धारयन्तीति गन्धर्वा नक्षत्राणीति । तथा चोपपद्यतेऽथर्ववेदोक्तम्—

'अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सह योगं भजन्तु मे' (अथर्व० १९।८।२) इति ।

दो रजोदर्शनों के मध्य की दिन संख्या मास शब्द से ली जाती है । क्योंकि गर्भ का परिपाक स्त्री की गर्भाशयस्थ ऊष्मा (गर्मी) से होता है । स्त्रियों का रज, चन्द्रमा के अनुसार गति करता है । चन्द्रमा २७ दिन तथा २८ वें दिन का कुछ अंश लेकर पूरा होता है । खगोलज्ञ इसे समझते हैं। दो और सात परस्पर जोड़ने से (२+७=९) नौ होते हैं । एक अव्यक्त २८ वें को लेकर वे दस हो जाते हैं ।

इसी कारण से चन्द्रमा को रूपों का या नक्षत्रों का अधिपति कहा गया है । जैसे स्त्री अपनी रजःप्रवृति के दस महीनों में गर्भ को रूप देती हैं, रूपवान् बनाती है; या। इसीलिये वह भी रूपों की अधिपत्नी है । इसी प्रकार चन्द्रांश-प्रधान मन भी रूपों का अधिपति है । वेद में कहा है कि 'विराट् के मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति होती है' अतः प्राणियों के मनों का अधिष्ठाता चन्द्रमा है । मन भी मननद्वारा अनेक अव्यक्त रूपों की कल्पना करता है, अनन्तर वे व्यक्तरूप धारण करते हैं ।

स्त्री भी रूपों की कर्त्री है । लिखा है कि इसकी योनि से नाना रूप के पशु उत्पन्न होते हैं। देखने वाले का नाम पशु है; अतः मनुष्य के बालक भी उसी कोटि में आते हैं ।

हमारे लोक में प्रधानरूप से काम आनेवाले २७ नक्षत्र हैं परन्तु अभिजित् के अन्तर्लीन होने से वे २८ (२+८=१०) दश होते हुये भी (२+७=९) नौ ही रह जाते हैं । इसलिये २७ और २८ नक्षत्र बताने वाले दोनों प्रकार के श्रुतिवाक्य सङ्गत हो जाते हैं । जैसे:—'मनो गन्धर्वा' इसमें २७ नक्षत्रों का और 'अष्टाविंशानि शिवानि' इसमें २८ नक्षत्रों का निर्देश है।

स्पष्टार्थोऽयं मन्त्रो निगदव्याख्यातत्वात् ।

प्रसङ्गप्राप्तं मनोऽधिकृत्य अप्तत्त्वप्रधानत्वाच्चन्द्रमसः शीघ्रगतिमत्त्वाच्च सरः-प्रभृतिषु वीचीनामुच्चयो भवति। अपां पतिः समुद्रोऽपि पूर्णे चन्द्रमस्युच्छलति। समुद्र-चन्द्रमसौ जलप्रधानत्वात् परस्परं प्रियसहोदर-वन्धुवदाह्लादतः। तथैव चन्द्रमस उत्पन्नत्वाच्च मनसः। मनोऽपि शीघ्रगतिमन्नानाभावानां भूमिर्वीचिरिव चञ्चलम्। तस्मादुपपद्यते—**'मनो दुर्निग्रहं चलम्'** इति।

चञ्चलं हि मनः कृष्णः प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

—गीता अ० ६ श्लो० ३४

तथा च यजुषि (३४।६)—

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

'समित्येकीभावे।' एकीभूय कल्पते—समर्थो भवतीन्द्रियैरर्थानिति सङ्कल्पं मनः। उक्तञ्च—**'सङ्कल्प-विकल्पात्मकं मनः'** इति। तथा चास्माकं पद्यानि—

सङ्कल्पोऽथ विकल्पश्च यस्मिँस्तन्मन उच्यते।
अनेकाधिष्ठितं ज्ञानमुपादत्ते सहैव नो ।१।
अतीन्द्रियं मनो विद्धि पर्यायैः सत्त्व-चेतसी।
अपरं मनसो लक्ष्म भावश्चाभाव एव च ।२।
ज्ञानस्य येन युक्तेन विना यस्मान्न तद् भवेत्।
विषयस्येन्द्रियाणाञ्च सान्निध्ये ह्यात्मनस्तथा।३।

अब प्रसङ्गतः मन के सम्बन्ध में सङ्क्षिप्त विचार किया जाता है। यह जलतत्त्व प्रधान और शीघ्र गतिशील है। इसीलिये वेदों में इसे 'गौतम' कहा गया है। चन्द्रमा का विकार मन 'गौतम' है और मन के विकार सङ्कल्प विकल्प आदि हैं। यही कारण है कि तालाब, सरोवर, निर्झर, नदी आदि के किनारे बैठने से मन प्रसन्न होता है। जल-पति समुद्र पूर्णिमा को उछल पड़ता है और प्रतिदिन दो बार उसमें ज्वार-भाटा आता हैं। कारण यह है कि समुद्र और चन्द्र दोनों जल प्रधान हैं।

मन की उत्पत्ति भी चन्द्रमा से है। इसीलिये वह अति चञ्चल और शीघ्रगामी है। गीता में इसे अनेकबार चञ्चल और दुर्निग्रह कहा है। वेद में भी मन को 'अजिरं जविष्ठम्' आदि कहा गया है।

निरुक्त में 'सम्' उपसर्ग का अर्थ एकीभाव कहा गया है। मन अर्थ की प्राप्ति में इन्द्रियों के साथ एकरूप होकर समर्थ होता है। अतः वह इन्द्रियेश है। देखा जाता है कि मन, जिस कार्य का साथ छोड़ देता है या ऊब जाता है; वह कार्य अपूर्ण रहता है। मन सङ्कल्प वाला है। जिसके विना इन्द्रियां इष्ट–अर्थ के ग्रहण में असमर्थ होती हैं; वह मन है। मन अतीन्द्रिय है।

ज्ञानमुत्पद्यते नैव कारणं विद्धि तन्मनः ।
संयोगाच्च पुनर्यस्य दुरापं प्राप्यते मतम् ।४।
अणुत्वमथ चैकत्वं गुणौ युग्मौ तु मानसौ ।
दोषौ रजस्तमश्चैव मनसश्च विकारजौ ।५।

सङ्कल्पविकल्पमयत्वादेवेदं रूपाणां विभरणे समर्थं भवति । मनुनोक्तमपि सङ्गच्छते—

अपां समीपे नियत नैत्यिकं विधिमास्थितः ।
सावित्री मप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः ॥

अब्योनिमच्चति तद्विकारं मनो नाम । तस्मान्मनः प्रसादमेति नदीतटमुपविश्य, सरोदृश्यं झीलादिनाञ्चापि दृश्यं दृष्ट्वेत्यादि ।

अथेदानीं स्त्रीणां रजःप्रवृत्तिकालविषये विचार्यते—

मासान्निष्पिच्छदाहार्त्ति पञ्चरात्रानुबन्धि च ।
नैवातिबहुलात्यल्पमार्तवं शुद्धमादिशेत् ॥ (चरके)
मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदार्तवम् । (सुश्रुते)

स प्रकुपितो योनिमुखमनुप्रविश्यार्त्तवमुपरुणद्धि मासि मासि,तदार्त्तवमुपरुध्यमानं कुक्षिमभिवर्धयति । —चर० गुल्माधिकारे नि० स्था० ३।१४

"मासे मासे गर्भकोष्ठमनुप्राप्य ।" —अष्टाङ्गसंग्रहे

आर्त्तवादार्त्तवमष्टाविंशतिभिरहोभिरुदीयमानं प्रशस्तलक्षणं भवति । वाहुल्येन च कालोऽयं स्त्रीणामार्त्तवदर्शने दृश्यते । शेषं वैकारिकं सदपि हीनातिशयत्वं दिनानामनु-

---

वह एक समय में एक ही ज्ञान को ग्रहण करता है । सत्त्व, चेतस् आदि मन के पर्याय हैं । आत्मा इन्द्रिय और ग्राह्य अर्थ के सन्निकट होने पर भी जिसके विना ज्ञान उत्पन्न नहीं हो पाता है; वह मन है । जिसके लग जाने पर क्लिष्ट से क्लिष्ट ज्ञान भी सुज्ञेय हो जाता है; वह मन है । मन एक; और अणु है । रजस् और तमस्—ये दो गुण मन को विकृत करने वाले हैं ।

मन सङ्कल्प और विकल्पात्मक होने से दोनों रूपों के बनाने में समर्थ होता है । मन स्वयं अप्-स्वरूप है, अतः अप् विकारों—नदी-समुद्र-झील-सरोवर-झरने आदि से प्रसन्न होता है । इसलिये भगवान् मनुने मन को रजस् और तमस् से दूर रखने के लिये जल के तट पर सावित्री जप का विधान किया है । उसमें भी अरण्यस्थ शुद्ध जल को अत्युपयोगी माना है ।

अब स्त्री की रजःप्रवृत्ति के विषय में विचारते हैं—

चरक में कहा है कि 'मासान्निष्पिच्छ०, मास के अनन्तर, पिच्छ, दाह, तथा पीडा रहित, न अधिक न न्यून, पाञ्च रात तक रहने वाला आर्तव शुद्ध समझना चाहिये । इसी आशय को स्थानान्तर में भी कहा है । एक आर्तव से दूसरा आर्तव २८ दिनों के अनन्तर होवे तो उत्तम होता है । यह समय निर्देश प्रायः करके स्त्रियों में देखा जाता है । शेष सब समय विकार-जनित हैं ।

र्णयन्नष्टादशदिनानामूर्ध्वं कालोपपन्नत्वं वक्ति । यथा च—

अष्टादशदिनादूर्ध्वं स्नानप्रभृतिसंख्यया ।
यद्रजस्तु समुत्पन्नं तत्कालोत्पन्नमुच्यते ।।

आरम्भः १८ अष्टादशतः त्रिदिनानां रजःप्रवृत्तिमतां योगात्, एकविंशतिर्भवन्ति । प्रसङ्गप्राप्तस्य मासशब्दस्य निरुक्तिरुच्यते—

मस्यन्ते परिमीयन्ते स्वकलावृद्धिहानितः ।
मास एते स्मृता मासास्त्रिशत्तिथिसमन्विताः ।।

तथा च—

चन्द्रनक्षत्रयोगेन नाक्षत्रं दिन उच्यते । —विष्णुधर्मोत्तरे

तथा च भास्करः स्वसिद्धान्तशिरोमणौ मध्यमाधिकारे कालमानाध्याये (३१)—

मासास्तथा च तिथयस्तुहिनांशुमानात् ।।

तथा च श्रुतौ—"मासकृत्"—चन्द्रमाः ।

विधोर्मासकालस्तु—

रवीन्दोर्युतेः संयुतिर्यावदन्या, विधोर्मास एतच्च पैत्र्य द्युरात्रम् ।

—सिद्धान्तशिरोमणौ कालमानाध्याये २०

रवीन्द्वोर्युतेर्नामामावस्या—"**अमा सहार्थेऽव्ययम् ; अमा सह वसतः सूर्य्यचन्द्रमसाविति सामावस्या, अमावास्या वा ।**" —पातञ्जलमहाभाष्ये

रजःप्रवृत्तिकालस्तु—

अधिक से अधिक शीघ्र होनेवाला आर्तव यदि १८ दिन के पश्चात् हो तो वह भी गर्भधारण में समर्थ होता है । जैसे—"अष्टादशदिनादूर्ध्वम्०" इत्यादि । आशय—प्रथम रजोदर्शन से यदि दूसरा रजोदर्शन अठारह दिन के पश्चात् होवे तो वह रजःशुद्धि भी कालोत्पन्न कही जाती है । अठारह दिन से आरम्भ करके ३ दिन तक न्यून से न्यून काल होने से २१ दिन हो जाते हैं ।

मास शब्द की निरुक्ति—जितने काल में चन्द्रमा अपनी कलाओं से हीन तथा वृद्ध होता है उस तिथियुक्त काल का नाम "मास" है ।

एक नक्षत्र तथा चन्द्रमा का जितना काल संयोग रहता है वह नाक्षत्र दिन कहाता है ।

भास्कराचार्य कहते हैं—मास तथा तिथियों का मान चन्द्रमा के मान से होता है । श्रुति में चन्द्रमा को 'मासकृत्' कहा है ।

रवीन्दोर्युते—अमावस्या से अमावस्या तक के अन्तर्वर्ती काल का नाम चान्द्रमास है । वही पित्रों का दिन तथा रात कहाता है ।

सूर्य और चन्द्रमा की युति का नाम अमावस्या है । 'अमा' सह अर्थ में अव्यय है । अमा अर्थात् साथ रहते हैं सूर्य तथा चन्द्रमा जिस तिथि में वह "अमावस्या" कहाती है ।

रजः प्रवृत्ति का काल—

"ततः शुद्धस्नातां चतुर्थेऽहन्यहतवासां समलङ्कृताम्" —सु० शा० २।२६

तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या ।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ।।—मनु० ३।४७
षोडशर्त्तु निशाः स्त्रीणां तस्मिन् युग्मासु संविशेत् ।
ब्रह्मचार्य्येव पर्वाण्याद्याश्चतस्रस्तु वर्जयेत् ।।
—याज्ञवल्क्यस्मृतिः १।७९

स्नानं रजस्वलायास्तु चतुर्थेऽहनि शस्यते ।
गम्या निवृत्ते रजसि नानिवृत्ते कथञ्चन ।।
(आपस्तम्वस्मृतिः)

"चतुर्थेऽहनि संशुद्धा भवति व्यावहारिकी ।"
(इति वृद्धमनुः)

स्मृत्यन्तरे—

शुद्धा भर्त्तुश्चतुर्थेऽह्नि स्नाने स्त्री रजस्वला ।
दैवे कर्मणि पित्र्ये च पञ्चमेऽहनि शुध्यति ।।

चतुर्थमहो रजोनिवृत्तये कल्पते, तस्मात् सप्तविंशतिभिः पूर्णैरेकेन चाष्टाविंशतितमेनापूर्णनाह्ना 'एकेनापूर्णेन युक्ता नवत्वमव्यभिचरन्ता दश भवन्ति, दशांशस्पृष्टत्वात् ।' एवं रूपविभूतौ दशभिरेव रूपं भ्रियते। उक्तं चापि हि चरके "आदशमान्मासात्, एतावान्कालः, वैकारिकमत परं कुक्षावस्थानं गर्भस्य" (च० शा० ४।२६) इति । दृश्यतामुपन्यस्तप्रसङ्गः—

अष्टमे मासि गर्भश्च मातृतो गर्भतश्च माता रसहारिणीभिः संवाहिनीभिर्मुहुरोजः परस्परत आददाते गर्भस्यासंपूर्णत्वात् । तस्मात्तदा गर्भिणी मुहुर्मुहुर्मुदा युक्ता भवति मुहुर्मुहुश्च म्लाना, तथा गर्भः । तस्मात्तदा गर्भस्य जन्म व्यापत्तिमद्भवति-ओजसोऽनवस्थितत्वात् । तं चैवमभिसमीक्ष्याष्टमं मासमगण्यमित्याचक्षते कुशलाः ।।
—चरक० शा० ४।२४

सुश्रुतोक्त—ततः शुद्धस्नातां········इत्यादि प्रमाणसंग्रह समान भावार्थक है, अर्थात् रजस्वला स्त्री चौथे दिन शुद्ध हो जाती है इसका अभिप्रेतार्थ यह हुआ कि २४वें दिन रजोदर्शन हुआ और चौथे दिन का कुछ भाग लेकर समाप्त हुआ अतः २४+३=२७; २+७=९ अपूर्ण चौथा दिन मिलने से १० हो जाते हैं, इससे यह सिद्ध हुआ कि रूप का निर्माण दश से ही होता है। चरक में भी कहा है कि दशमास से अधिक काल तक यदि गर्भ गर्भाशय में ही रहे तो गर्भ का वह काल वैकारिक समझना चाहिये ।

अठमाहे बालक के मर जाने में हेतु—अष्टम मास में गर्भस्थ बालक और माता का परस्पर एक दूसरे का ओज एक दूसरे में आता जाता है, गर्भ के असंपूर्ण होने से । इसलिये उस अष्टम मास में बार-बार माता प्रसन्न तथा म्लान होती है, इसलिये ऐसी अवस्था में गर्भ का जन्म उस के नाश में समर्थ होता है । इसीलिये बुद्धिमान् वैद्य इस अष्टम मास को 'अगण्य' भी कहते हैं ।

अत्र संगृह्णाति चक्रदत्तः—

जतूकर्णेऽपि-स्त्रीगर्भावन्योऽन्यस्थौजसी हरतोऽष्टमे मासे तस्मात्तदा सूतिका गर्भविनाशायैव इति। अन्ये तु वर्णयन्ति—सत्यपि मातुरोजसो गर्भगमने जन्मादृष्टवशादेव गर्भस्यैव मारणाय भवति, न मातुः।"

सुश्रुतव्याख्यातारस्तु--**"अष्टममासे नैर्ऋतभागत्वाच्च गर्भस्य सत्यप्योजोऽनवस्थाने तुल्ये गर्भस्यैव नाशो न मातुः"** इति वर्णयन्ति।

चरकस्तु--**"तस्मिन्नेकदिवसातिक्रान्तेऽपि नवमं मासमुपादाय कालमित्याहुरादशमान्- मासादेतावान् कालः। वैकारिकमतः परं कुक्षौ अस्थानं गर्भस्य"**(च०शा०४।२५)

अपरं वा लोकवेदयोरविरुद्धं कारणमुन्नेयं तदपि वासिष्ठेनाद्रियत एव।

यदि कस्याश्चिद्रजोदर्शनं न्यूनाधिकदिवसैर्भवति, तदा स विकृतो मासो स्त्रियो भवति तस्यां विकृतत्वात् त्रिदोषस्य। स्त्री स्वगर्भोष्मणा सूर्य्यमिव पाचित पक्वं गर्भं सूते सप्तमे मासि। मासानां सप्तत्वं सूर्यमासगणनया भवति। स्त्रीकृत—मासैः स सप्तमास्यः सन् दशमास्य एव भवति। तद्यथा न्यासः—अष्टाविंशतिदिनकृतः स्त्रियो मासस्तदा—(२८×१०=२८०) दशभिर्गुणिता अष्टविंशतिदिवसा अशीत्युत्तरं द्विशतं भवन्ति। ते च सावनमासगणनया विभक्ता नव मास दश दिनानि च भवन्ति। तद्यथा—२८०÷३०=९, शेषाः १०।

इस विषय में जतूकर्ण का 'स्त्रीगर्भौ'''इत्यादि प्रमाण संग्रह समान भावार्थक है। दूसरे भी कहते हैं—

अष्टम मास में परस्पर गर्भ तथा माता के ओज का आदान प्रदान होने पर भी प्रसव होने पर बालक ही मरता है उसकी माता नहीं मरती। कई आचार्य कहते हैं अदृष्ट ही ऐसा है कि बालक मर जाता है माता नहीं मरती।

किन्हीं का मत है कि निर्ऋति का भाग होने से अष्टम मास में प्रसूत बालक मर जाता है, माता नहीं मरती। चरकाचार्य कहते हैं कि नवम मास के दिन से लेकर दशवें मास तक गर्भ का प्रसव काल समझना चाहिये।

इस उपरिनिर्दिष्ट कारणों से भिन्न युक्ततम यदि और भी कोई हेतु समझ में आवे तो सत्यदेव उसे भी स्वीकार करता है ऐसा भी समझना चाहिये, क्योंकि अनुक्त विषमताओं में मनु का यह कथन उपस्थित होता है—"प्रत्यहं लोकदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः" व्यवस्येत इति शेषः। अर्थात् लोक तथा शास्त्र से निश्चय करे, क्योंकि शास्त्र भी लोकानुसारी ही है।

यदि किसी स्त्री का रजोदर्शन निश्चित समय से न्यूनाधिक समय में होता है तो वह काल त्रिदोष वैषम्य से स्त्री का रजोदर्शन जनित मास विकारी है। अतः स्त्री गर्भस्थ ऊष्मा से सूर्य की ऊष्मा की भांति पकाकर सातवें मास में बालक का प्रसव करती है। वह सप्तम मास सूर्य मास की गणना से सातवां होता है परन्तु स्त्रीकृत मासों से दशमासा ही होता है। देखो इसका न्यास—यदि २८ दिन का स्त्री जनित मास रजोदर्शनान्त हो तो (२८×१०= २८०) हुए। इसमें सावन मास (सूर्यमास) गणना से ३० का भाग देने पर (२८०÷३०=९, शेषः १०) नौ मास तथा दश दिन बनते हैं। अतः स्वीकृत मास गणना से तथा सूर्यकृत मास

तस्मादुपपद्यते चोभयथा—**'दशमे मासि सूतवे'** स्त्रीकृतमासैः सूर्य्यकृतैश्च।

मासो हि त्रिशदंशैर्भवति—

अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते ।। (अथर्व० १३।३८)

अत्रेदमवधार्य्यं यत् सूतके सावनमासैरेव गणना भवति। उक्तं च भास्करेण—

"यत्कृच्छ्रसूतकचिकित्सितवासराद्यं तत् सावनाच्च" (सि०शि०कालमानाध्याये ३१)।

अथ चेत् कस्याश्चिच्चतुर्विंशतिदिवसे रजःशुद्धिस्तदा न्यासः—२४×१०=२४०।२४०÷३०=८ एवं वेदोक्तविधिना दशमास्यः, सन्सूर्य्यमासैरष्टमास्यो भवति।

अत्रेदमवधार्य्यम्-द्वाविंशतिः, त्रयोविंशतिः, चतुर्विंशतिदिवसैरुदीयमाना रजः-प्रवृत्तिरष्टमत्वं प्राप्य मारयति मंगलांशाधिक्यात्। चन्द्र-मंगलयोर्योग एव रजो नाम। यदत्र द्रवत्वं नाम स चन्द्रांशः, यच्च रक्तवर्णविभासत्वं नाम स मगलांशः। भवति चात्र ज्योतिर्विदां पद्यम्—

इन्दुर्जलं कुजोऽग्निर्जलमिश्रं त्वग्निरेव पित्तं स्यात्।
एवं रक्ते क्षुभिते पित्तेन रजः प्रवर्त्तते स्त्रीषु ।।

आचार्यवराहमिहिरोऽपि—

कुजेन्दुहेतुप्रतिमासमार्त्तवं गते तु पीडर्क्षमनुष्णदीधितौ।

गणना से "दशमे मासि सूतवे" मन्त्रोक्त सिद्धान्त उपपन्न हो जाता है।

मास ३० अंश का होता है। इसमें अथर्ववेद का मन्त्र "अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गम्" उपपन्न होता है। परन्तु चन्द्रमा वर्ष में १३ चलता है अतः 'त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते वह भी उपपन्न हो जाता है। यहां यह स्मरण रहे कि गर्भकाल गणना में सूर्यमास से ही गणना होती है-इसमें प्रमाण भास्कराचार्य सिद्धान्तशिरोमणि के कालमानाध्याय में लिखते हैं कि 'यत् कृच्छ्रसूतक-चिकित्सितवासराद्यं तत् सावनाच्च'।

अब यदि किसी स्त्री की २४वें दिन रजःशुद्धि हुई हो तो २४×१०=२४०। इसमें ३० का भाग देने पर ८ मास पूरे उपलब्ध होते हैं, यह सावन मास गणना से अष्टमास्यः ही है अतः वेदोक्त कथन "दशमे मासि सूतवे" इत्यादि उपपन्न हो जाता है।

यहां यह भी स्मरण रहे कि २४वें दिन की रजःशुद्धि के अनुसार २२वें तथा २३वें दिन होनेवाली रजःशुद्धि भी अष्टमांश संस्पृष्ट होने से मारक होती है। क्योंकि उसमें मंगल अर्थात् पित्तांश की अधिकता होने से। ज्योतिर्विदों के मत से चन्द्र मंगल का योग 'रज' एवं आर्तव है। रज में जो द्रवत्व है वह चन्द्रांश है जो रक्तवर्णविभासता है वह मंगलांश है। इसमें ज्योतिर्विदों का यह पद्य भी है—

इन्दुर्जलं कुजोऽग्निर्जलमिश्रं त्वग्निरेव पित्तं स्यात्।
एवं रक्ते क्षुभिते पित्तेन रजः प्रवर्त्तते स्त्रीषु।।

इसी आशय को आचार्य वराहमिहिर ने भी "कुजेन्दुहेतुप्रतिमासमार्तवम्" इत्यादि के

अतोऽन्यथा ते शुभपुंगृहेक्षिते नरेण संयोगमुपैति कामिनी ॥

—बृहज्जातके अ० ४ श्लो० १

अत्र महार्थगर्भा रुद्रटीका सम्पूर्णा द्रष्टव्या विशेषज्ञैः ।

यदि कस्यचित् कस्याश्चिद्वा प्रधानग्रहदशायामवान्तरदशायां वा मंगलांशो वैकारिकस्तदा भवति रजो-विकृतिर्नाम । अथवा निषेकलग्नस्वामिनो दूषिते सत्यपि भवति नामैव मृतेर्योग इति ।

एवं हि शेषेष्वपि निम्नाहःसु गणितेनोह्यम् ।

अष्टादशदिवसैः प्रागुदीयमाना रजःप्रवृत्तिर्गर्भ-पोषणासमर्थत्वान्नात्र गण-नापथमध्यारोहति सुतरां पित्तकृतविकारत्वात्तस्याः ।

सारांशतः—रूपेण योगो दशभिर्भवति, ते च दश त्रिषप्ताः समाहृता (३+७=१०) एव ।

प्रसङ्गप्राप्तं गर्भात्मकस्य रूपस्य संवर्धनक्रम उच्यते—असम्पृक्तौ स्त्रीपुरुषौ गर्भोत्पादनसमर्थौ न भवतः । कामविन्दोः शोणितविन्दुना सह परस्परानुप्रवेशादेव गर्भः संजायते । तत्र—

द्वाविंशती रजोभागा शुक्रमात्रा चतुर्दश ।
गर्भसंजननकाले पुंस्त्रियः सम्भवन्ति हि ॥
नारी रजोऽधिकांशे स्यान्नरः शुक्राधिकांशके ।
उभयोरुक्तसंख्यायाः स्यान्नपुंसकसम्भवः ॥
कललं चैकरात्रेण बुद्बुदं पञ्चमे दिने ।

द्वारा कहा है । इस श्लोक पर रुद्रदत्त की संपूर्ण टीका विशेषज्ञों को मनन करनी चाहिए ।

इसी प्रकार गणित से और भी कम दिनों में हुई रजःशुद्धि को दशमासत्व में सिद्ध कर लेना चाहि े ।

अठारह दिन से भी पहले यदि रजःप्रवृत्ति हो तो वह गर्भपोषण में असमर्थ होती है अतः वह त्याज्य है ।

इस सारे विमर्श का सारांश यह है कि—रूप अर्थात् कार्यक्षम दश से ही होता है वे दश मन्त्रोक्त ३ और ७ के योग से होते हैं । अतः यह ३ और ७ की पहली योगात्मिका अवस्था का यथास्थूल विवेचन किया है ।

अब गर्भ के पुम् स्त्री-नपुंसक होने में शुक्र शोणित की भाग कल्पना दर्शाते हैं—

पृथक्-पृथक् पुरुष तथा स्त्री गर्भोत्पादन में असमर्थ होते हैं अतः शुक्र—शोणित परस्पर अनुप्रविष्ट होने पर गर्भसंजनन में समर्थ होते हैं । एतदर्थ २२ (बाईस) भाग रजका तथा शुक्र की मात्रा १४ चतुर्दश भाग होती है । इस भाग विभाग अनुपात में यदि रज की मात्रा वढ जाये तो नारी अर्थात् कन्या प्रसव होता है और यदि शुक्र भाग अधिक हो जाये तो पुरुष (पुत्र) उत्पन्न होता है । यदि उपर्युक्त २२ और १४ का ही अनुपात हो तो नपुंसक होता है ।

शुक्र+शोणित का संवर्धन क्रम—

एक रात में कलल । पांचवें दिन में बुद्बुद । दश रात में शोणित । चौदह दिन में मांस-

शोणितं दशरात्रेण मांसपिण्डं चतुर्दशे ॥
मासकेन तु पूर्णेन मांसपिण्डोऽङ्कुरायते ।
मासद्वये तु संपूर्णे शिरो मेदः प्रजायते ॥
मज्जास्थि च त्रिभिर्मासैः केशास्त्वक् च चतुर्थके ।
मातृजञ्चास्य हृदयं विषयानभिकाङ्क्षति ॥
कर्णाक्षिनासिकारन्ध्रं कण्ठोदरञ्च पञ्चमे ।
षष्ठे मुखं तथा पादौ सर्वाङ्गाणि तु सप्तमे ॥
सन्धिसम्पूर्णतां याति अष्टमे मासि वै ततः ।
एतस्मिन्नन्तरे देवी विश्वेषां गर्भसंकटे ॥
नवमे दशमे मासि प्रबलैः सूतिमारुतैः ।
निस्सार्यते बाण इव जन्तुश्छिद्रेण सज्वरः ॥
पातितोऽपि न जानाति,मूर्च्छितोऽपि ततश्च्युतिम् ।
सूतिवातस्य वेगेन योनिरन्ध्रस्य पीडनात् ।
विस्मृतं सकलं ज्ञानं गर्भे यच्चिन्तितं हृदि ।
(शाक्तानन्दतरङ्गिणी—योगार्णवे योगियाज्ञवल्क्यः)

(२) अन्तरं नाम महतो राशेरल्पीयसः पृथक् कृते यच्छिष्यते,तदेवान्तरमित्युच्यते । सूत्रमस्य पूर्वमुक्तम् । सप्तभ्यस्त्रयाणां ह्रासे कृते चत्वारः शिष्यन्ते; तदेवान्तरम् ।

पिण्ड ।

एक मास में मांस-पिण्ड अंकुरित होता है । दो मास पूरे होने पर सिर और मेद उत्पन्न होती है ।

मज्जा और अस्थि तीसरे मास में । केश और त्वचा चौथे मास में । माता का हृदय निजेन्द्रियविषयों को चाहता है ।

कान, आंख, नाक के छिद्र कण्ठ और उदर पांचवें मास में । छठे मास में मुख तथा पांव । सारे अंग सातवें मास में ।

आठवें मास में सन्धियां पुष्ट होती हैं । यही गर्भ का संकटात्मक काल है ।

नवम मास से दशममास के कुछ दिनों तक प्रबल सूतिमारुत (अपानवायु) से योनिछिद्र में से ज्वर सहित बाण की भान्ति बाहर निकाल दिया जाता है ।

वह सूतिमारुत के वेग से योनि के तंग रन्ध्र से बाहर गिरने पर भी मूर्च्छित हुआ होने के कारण अपनी गर्भच्युति (बाहर आने) को भी नहीं जानता ।

सूतिवात के वेग से तथा योनिछिद्र की पीडाओं के कारण जो कुछ हृदय में सोचा होता है वह सब कुछ भूल जाता है ।

(२) अब ७ और ३ का अन्तर (घटाना) नामक गणित किया जाता है–बड़ी राशि में से छोटी राशि को पृथक् करने पर जो शेष रहता है वह बड़ी तथा छोटी राशि का अन्तर कहा

तद्यथा—७—३=४ इति । के च पुनस्तेऽवशिष्टाश्चत्वारः ? चत्वारो वेदाः । चत्वारो वर्णाः । चत्वार आश्रमाः । चतस्र एव प्रधानदिशः । चत्वारो युगाः । चत्वार उदधयः । चतस्रोऽवस्थाः शरीरे । चतुर्थ-मासि गर्भपिण्डे चित्प्रवेशः । एवमादिषु विविधचतुष्ट्वेषु रूपवतोऽवस्थानं भवति । यद्यथा—शरीरे त्रयो दोषा ऊर्ध्वाधस्तिर्यक् च यान्ति । एका दिक् स्वयमवस्थानेनावस्थिता भवति । एवं हि चरकोक्तमुपपद्यते—

क्षयः स्थानञ्च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः ।
ऊर्ध्वं चाधश्च तिर्यक् च विज्ञेया त्रिविधाऽपरा ॥
त्रिविधा चावरा कोष्ठशाखा—मर्मास्थिसन्धिषु ।

च० सू० स्था०, अ० १७।११०,१११

(३) संगुणितानां पुना रूपम्—गुणिता ह्येते परस्परमेकविंशतिधा भवन्ति । तत्र गुणने करणसूत्र--वृत्तार्धद्वयेन षड्धा गुणनप्रकारान् निर्दिशति भास्कराचार्यः—

१. गुण्यान्त्यमङ्कं गुणकेन हन्यादुत्सारितेनैवमुपान्त्यमादिम् ।
२. गुण्यस्त्वधोऽधो गुणखण्डतुल्यस्तैः खण्डकैः संगुणितो युतो वा ॥
३. भक्तो गुणः शुध्यति येन तेन लब्ध्या च गुण्यो गुणितः फलं वा ।
४. द्विधा भवेद् रूपविभाग एवं स्थानैः पृथग् वा गुणितः समेतः ॥
५.६. इष्टो न युक्तेन गुणेन निघ्नोऽभीष्टघ्नगुण्यान्वितवर्जितो वा ॥

अत्र न्यासः--१-गुण्यः १३५; गुणकः १२ । गुण्यान्त्यमङ्कं गुणकेन हन्यादिति

जाता है । भास्कराचार्य का अन्तर–सूत्र पहले लिखा जा चुका है । सात में से तीन घटाने पर ४ शेष बचते हैं । जैसे ७—३=४ ।

ये चार क्या हैं, चारवेद, चार वर्ण, चार दिशाएं, चार युग, चार आश्रम, चार समुद्र, शरीरकी की चार अवस्था और चौथे महिने गर्भ में चैतन्य का प्रवेश इत्यादि । इस प्रकार के चतुष्क में रूपवान् की स्थिति होती है ।

शरीर में तीन दोष, ऊपर, नीचे और तिरछे गति करते हैं, अर्थात् एक-एक दोष ने एक एक दिशा को अपना स्थान बना लिया है । इससे चरक के इस पद्य की भी सङ्गति हो जाती है—'दोषों की पृथक् अवस्था यथास्थान स्थिति है, दूसरी अवस्था क्षय है और तीसरी अवस्था वृद्धि है ।'

दोषगतिका दूसरा भेद—दोष ऊपर, नीचे और तिरछे गति करता है । इनकी तीसरी गति कोष्ठ, शाखा और मर्मास्थियों में गमन है दोषों की ये तीनों अवस्थाएं विकारजन्य है । अतः अविकृतरूपेण शरीरपोषणार्थ इन्हीं मार्गों से गमन करना चतुर्थ-अवस्था है ।

३. गणित का तीसरा भेद संगुणन है । ७ को ३ से गुणन करने पर २१ होते है । भास्कराचार्य ने गुणनक्रम के छः प्रकार बताये है । क्रमशः देखिये—

१. जो संख्या गुणी जाती हैं; वह गुण्य है, और जिससे गुणते है वह गुणक है । गुण्य के अन्तिम अङ्क को गुणक से गुणा करके और उस गुणक को आगे दाहिनी ओर खिसका कर अन्त्य के समीप जो अङ्क हो उसे गुणना । इस प्रकार आदि से अन्त तक क्रिया करने से जो संख्या उत्पन्न

कृते जातम् १६२०।

२. अथवा गुणरूपविभागे खण्डे कृते ८-४ आभ्यां पृथग्गुण्ये गुणिते च जातम् १६२०।

३. अथवा गुणकस्त्रिभिर्भक्तो लब्धम् ४। एभिस्त्रिभिश्च गुण्ये गुणिते जातं तदेव १६२०।

४. अथवा स्थानविभागे खण्डे १-२ आभ्यां पृथग् गुण्ये गुणिते यथास्थानयुते च जातं तदेव १६२०।

५. अथवा द्व्यूनेन द्वाभ्यां च (२) पृथग्गुण्ये गुणिते युते च जातं तदेव १६२०।

६. अथवाष्टयुतेन गुणेन २० गुण्ये गुणितेऽष्टगुणित--गुण्यहीने च जातं

होगी वही गुणनफल होगा। यह रूपगुणनफल कहा जाता है। जैसे गुण्य १३५, गुणक १२। ऊपर कही हुई विधि से गुणन करने पर फल हुआ १६२०।

२. गुणक के जितने इष्ट खण्ड किये जायें; उतने स्थानों में गुण्य को रखकर, उन खण्डों से पृथक् पृथक् गुणकर और उन्हें जोड़ लेने से गुणनफल निकल आता है इसे रूप-विभाग-गुणन कहा जाता है। उदाहरण—गुणक १२ के दो खण्ड किये–४ और ८। गुण्य १३५ को दो स्थान में लिखा एक स्थान में गुणक के प्रथम खण्ड ४ से गुणा किया ५४० हुआ। दूसरे स्थान में दूसरे खण्ड ८ से गुणा किया १०८० हुए। इन दोनों का योग वही हुआ १६२०।

३. गुणक में जिस अङ्क का भाग देने से शेष न रहे अर्थात् पूरा भाग लग जाये उसकी लब्धि से गुण्य को गुण देना और पुनः उसी गुणे हुए गुण्य को जिस अङ्क का भाग दिया था; उससे भी गुण देने से गुणनफल ठीक होगा। यह भी रूपविभाग-गुणन है। उदाहरण—गुणक १२ में ३ का भाग देने से लब्धि हुई ४। गुण्य १३५ को ४ से गुणने पर ५४० हुए, फिर ५४० को भाजक संख्या ३ से गुणा करने पर वही १६२०।

४ गुणक में जितने स्थान हों, उन स्थानों के अङ्कों से गुण्य को पृथक् कर और गुणकर यथास्थान योग करना। अर्थात् एक स्थान में जो गुणित अङ्क हों, उन्हें एक स्थान के गुणित अङ्कों में, और जो दश आदि स्थानों में गुणित अङ्क हैं, उन्हें दश आदि स्थानों में जोड़ने से गुणन फल होगा। यह स्थान विभाग-गुणन है। उदाहरण—गुणक १२ में एक स्थानीय २ और दश स्थानीय १० हैं। इन दोनों स्थानों के अङ्कों के गुण्य १३५ को पृथक्-पृथक् गुणा और पृथक् पृथक् स्थानों में रखकर जोड़ा जाये तो वही गुणनफल १६२० हुआ।

५. कोई भी इष्ट अङ्क मानकर गुणक में से घटा देना, जो संख्या हो उसको गुणक मानकर गुण्य को गुणना, फिर उसमें इष्ट अङ्क से गुणे हुए गुण्य को जोड़ देने से गुणनफल वही होगा। उदाहरण—इष्ट संख्या २ मानकर गुणक १२ में से घटा दिया शेष रहा १०, इससे गुण्य १३५ को गुण दिया तो १३५० हुए। इसमें इष्ट २ से गुण्य १३५ को गुणकर २७० जोड़ दिये तो वही गुणनफल १६२० हुआ।

६. इष्ट अङ्कों को गुणक में जोड़ कर उससे गुण्य को गुण देना फिर उसमें इष्टाङ्क-गुणित गुण्य घटा देने से गुणनफल होगा। उदाहरण—गुणक १२ में इष्टाङ्क ८ जोड़ देने पर २० हुए। इससे गुण्य १३५ को गुण दिया तो २७०० हुए। इष्ट ८ से गुण्य १३५ को गुणकर

तदेव १६२० । एवं सर्वेष्वेव न्यासेषु योज्यम् ।

प्रकृतमनुसरामः । ३×७=२१, त्रिषप्ताः परस्परं गुणिता एकविंशतिधा भवन्ति । तद्यथा--त्रयो दोषाः, सप्त धातवश्च--रस--रक्त--मांस--मेदः--अस्थि--मज्ज-शुक्राणि, वात-पित्त--कफानामेकैकशः प्राधान्येनैकविंशतिधा भवन्ति । तद् यथा—दन्तानां श्वैत्यं कार्ष्ण्यं वा, चक्षुषोः पीतता श्वैत्यं वा । एवमादीनि तद्व्यञ्जकानि ।

तथा च त्रयो दोषा सप्तत्वमापन्नाः सप्त धातवः, सप्तोपधातवः, एवं युक्ता भवन्ति—एकविंशतिरिति ।

का नाम पुनरेकविंशतिः ? एकस्य द्वयोश्च समाहारः । यथा च न्यासः—२+१=३ । ते ह्येकविंशतिधा भिन्ना दोष-धातु-मल-विभागेष्वेव लीनाः सन्तस्त्रित्व-मापद्यन्ते । एवं बहुविधमुन्नेयं सुधीभिः ।

४ विभागो हि नाम महतो राशेरंशांशकल्पना । तत्र भागहारे करणसूत्रं वृत्तम्—

भाज्याद्धरः शुध्यति यद्गुणः स्यादन्त्यात्फलं तत् खलु भागहारे ।
समेन केनाप्यपवर्त्य हार--भाज्यौ भजेद्वा सति सम्भवे तु ॥

—लीलावती परिकर्माष्टके श्लो० ७

अत्र पूर्वोदाहरणे गुणिताङ्कानां गुणच्छेदानां भागहारार्थं न्यासः—भाज्यः १६२०, भाजकः १२, भजनाल्लब्धो गुण्यः १३५ ।

१०८० हुए । १०८० को २७०० में से घटाने पर वही १६२० फल रहा ।

अपने अभीष्ट अङ्क ३ और ७ का गुणनफल २१ होता है शरीर में तीन अङ्क दोष रूप से हैं और ७ अङ्क धातुरूप से स्थित हैं । इन सात धातुओं में एक-एक दोष का प्राधान्य आरोप करने से २१ प्रकार के हो जाते हैं । जैसे वातप्रधान रस, पित्तप्रधान रस और कफ प्रधान रस-इत्यादि । दांतों का अतिश्वेत या काला होना, आंखों का अतिश्वेत या पीत होना--इत्यादि दोष-दूषित धातुओं के ज्ञापक चिह्न हैं ।

दूसरा पक्ष—सात रूपों में आये हुये ३ दोष । जैसे—पृथक् पृथक् रूप से ३, द्वन्द्वरूप से ३, सन्निपात रूप से १,ये मिलकर सात हुए; सात धातु तथा सात उपधातु—ये मिलकर इक्कीस हुए । ये २१ अङ्क भी परस्पर योग करने से (२+१=३) तीन ही हो जाते हैं । अर्थात् दोष, धातु तथा मल रूप में दृश्यमान से २१ भी ३ में ही लीन हो जाते हैं । इसी प्रकार अनेकविध कल्पनायें करनी चाहियें ।

४. गणित का चौथा प्रकार'विभाग' है । इसे भाग या विभजन भी कहते हैं । एक बड़ी राशि को अपने अभीष्ट भागों में विभक्त करने की प्रक्रिया का नाम भाग है ।

भाज्यराशि में अन्त्य में'हर'जितनी बार निकल सके वह संख्या भागफल कही जाती है। यदि सम्भव हो तो भाज्य और भाजक में समान राशि से अपवर्तन करके पुनः वही क्रम करे ।

उदाहरण—भाज्य १६२० भाजक १२, भागफल हुआ १३५ ।

अथवा भाज्य-हारौ त्रिभिरपवर्तितौ ५४०÷४ चतुर्भिर्वा ४०५÷३ स्व-हारेण हृते वलं तदेव १३५ समानमेव।

एवं हि प्रकृतोपन्यासे (७÷३=२, शेषाङ्कः १) इति रूपम्। सप्त परिधिभिरावृतो लोको दक्षिणायनेन, उत्तरायणेन च ध्रियते। शेषाङ्केन समो वायुरुभयोरेवायनयोश्चरति; अग्नि-व्योम-संसर्गत्वात्तस्य। एवं हि शरीर पित्त-कफाभ्यां वायुः संसृजते। दोषा अपि विकृता मलत्वं यान्ति, धातवोऽपि विकृता मलत्वं यान्ति। एवं दोष-धातुमलान्यपि द्विधात्वेन विभजन्त आत्मानमिति। दोषाणां मलत्वे प्रयोगस्तु—

पित्तं वा कफपित्तं वा पित्ताशयगतं हरेत्।
स्रंसनं त्रीन् मलान् वस्तिर्हरेत् पक्वाशये स्थितान्॥

—च० चि०, ३, १७१

एवं वहुत्र प्रयोगो दरीदृश्यते।

एवं सुतरां समासेन कल्पना ऊहिता। व्यासतश्चाग्रे वक्ष्यते। दोष-धातु-मलानां विकृत्यापरिसंख्येया भेदा जायन्ते। तांश्च वहन्ती नाडी विभेदसौक्ष्म्यमाप्नोति। भेदज्ञस्तु नाडीज्ञाने सौकर्य्येण लब्धतत्त्वबुद्धिर्भवितुं शक्नोतीति भिषजां धियोऽत्राकृष्यन्ते।

अथेदानीं पञ्चभूतसामान्यमुच्यते—

अथवा भाज्य १६२० तथा भाजक १२ में ४ अङ्क से अपवर्तन करने पर ५४०÷४=१३५। ३ अङ्क से अपवर्तन करने पर ४०५÷३=१३५। अपने अपने 'हार' से भाग देने पर फल वही हुआ १३५।

इसी प्रकार अपने अभीष्ट ७ अङ्क से ३ का भाग देने पर ७÷३=२, शेष १ ऐसा रूप बना। अर्थात् सात परिधियों से व्याप्त जगत् उत्तरायण तथा दक्षिणायन में विभक्त है। शेष एक अङ्क वायु रूप है। महावात (आंधी) दोनों अयनों में समान चलती है, क्योंकि यह जगत् अग्निषोमीय है।

इसी प्रकार वायु शरीर में भी कफ और पित्त के साथ संसर्ग करती और उनको गति प्रदान करती है। ऐसे ही विकृत दोष और धातु दोनों ही मल कहे जाते हैं। दोष, धातु और मल पृथक्-पृथक् होते हुए भी विकृत और अविकृत रूप से दो पक्षों-अयनों में विभक्त हो जाते हैं। विकृत दोषों के लिये मल शब्द का प्रयोग चरक में किया गया है—

स्रंसनवस्ति, पित्ताशयगत पित्त का तथा कफ और पित्त का एवं पक्वाशय गत तीनों मलों का हरण करती है।

इस प्रकार संक्षेप से ७ और ३ की कल्पना दिखायी गयी है। अब अगले खण्ड में इसे विस्तार से प्रदर्शित किया जायेगा।

दोष, धातु और मलों के विकार से अपरिसंख्येय विकार—भेद उत्पन्न होते हैं। उनका वहन करती हुई नाडी अनेक सूक्ष्मतम भेदों के साथ गति करती है। अतः विकार भेदों को सूक्ष्मता से जानने पर वैद्य,नाडी के भेदों को भी सरलता से जान सकते हैं। इसीलिये वैद्यों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया गया है।

अब इस गणित को पञ्चभूतों की समानता में विभक्त किया जाता है—

३,७ पृथग् रूपेणाव्ययत्वादाकाशस्थानीया: । ३+७=१० योगो वात-स्थानीयः। ७—३=४ अन्तरमग्निस्थानीयम् । यतोऽग्निर्हि ह्रासयति, शोषयति । अमुनैव विधिनान्तरं ज्यायांसं राशिं ह्रासयति; तस्मादग्नितत्त्वेन समः । ३×७=२१ गुणनं जलतत्त्वस्थानीयम्, आप्यायनहेतुभूतत्त्वादप्तत्त्वस्येति समानो गुणोऽम्भसा । ७÷३=२, शेषः १ । भागो हि पृथिवीतत्त्वस्थानीयः । संहतस्यांशांशकल्पनाभियुक्तत्वात्

अत एवैतेषां सर्वत्र गणिते मूलत्वेनोपयोगो भवत्येव प्रकृतिभूतत्वात् ।

भवन्ति चात्रस्माकम्—

अध्यायेऽस्मिन् त्रिदोषस्य गणितेन प्रयोजनम् ।
असंख्येयाश्च संख्येयाः संख्याभेदोऽत्र मन्त्रतः ॥१॥
'ये त्रिषप्ते' ति मन्त्रस्य व्याख्यानं रूपसिद्धये ।
गणितोद्देशमुद्दिय कृतोऽङ्कस्थाननिर्णयः ॥२॥
अङ्का दशोत्तराः स्थाप्यास्तत्र युक्तिरुदाहृता ।
सूत्रं योग-वियोगस्य न्यस्तं भास्करभाषितम् ॥३॥
'अष्टाचक्रा नवद्वारा, व्याख्यातं युक्तिसङ्गतम् ।
सप्तमादिषु मासेषु सूते गर्भेऽत्र संशयः ॥४॥
वेदमन्त्रैः समाधानं **'दशमे मासि सूतवे'** ।
रूपस्य विभुतावत्र स्त्रिय इन्दुसमानता ॥५॥

अङ्कों का पृथक् पृथक् स्वरूप में व्यवस्थित होना आकाशतत्त्वस्थानीय है । जैसे—३ और ७ ३+७ का योग १० यह वायुतत्त्वस्थानीय है ७–३=४ यह अन्तर अग्नितत्त्वस्थानीय है । अग्नि पदार्थों को सुखाती और लघु कर देती है इसी प्रकार अन्तर बड़ी राशि को लघु कर देता है।, ७×३=२१ गुणन जलतत्त्वस्थानीय है । जैसे—जल अपने संयोग से शुष्कपदार्थों को हरा-भरा करके बढा देता है, वैसे ही गुणन भी राशि के लघु रूप को वृहत् रूप में लाता है । (७÷३=२, शेष १) पृथिवी तत्त्वप्रधान है । क्योंकि विभाग या भाग उपचित वस्तु के होते हैं । इसी प्रकार सारे विश्व के गणितक्रम में ये पांच भेद मूल में अन्तर्निहित हैं । क्योंकि पञ्चमहाभूतों की भांति ये भी विश्व की प्रकृतिभूत हैं ।

इस अध्यायांश का संक्षेप इस प्रकार है—

इस अध्याय के प्रथमखण्ड में गणित का प्रयोजन प्रदर्शित करते हुए वेदमन्त्र द्वारा भावों का संख्येयत्व तथा असंख्येयत्व प्रदर्शित किया गया है और अग्निवेश की 'व्याधियां असंख्य हैं' इत्यादि उक्ति को युक्ति-सङ्गत किया है ॥१॥

'ये त्रिषप्ताः' इस अथर्ववेद के मन्त्र का व्याख्यान किया है ताकि रूपवान् पदार्थों के रूप के परिज्ञान का नियम अवगत हो जाये । गणित के लिये अंकों के १८ स्थान बताये गये हैं ॥२॥

गणित में दशोत्तर अङ्क रखने में युक्ति तथा भास्कराचार्य के सूत्र द्वारा योग तथा वियोग का निर्देश किया है ॥३॥

'अष्टाचक्रा नवद्वारा' इस मन्त्र का युक्तियुक्त अर्थ किया है । गर्भ में प्रसवकाल सम्बन्धी शङ्काओं का निराकरण तथा वेदों से सङ्गति की गयी है । चन्द्रमा रूपों का स्वामी है, स्त्री भी रूपों की स्वामिनी है, क्योंकि वह गर्भ को रूपसम्पन्न करती है ॥४-५॥

शीतांशुना समं नीतं तद्भवं हि मनो यतः ।
'मनो गन्धर्वा' इत्यस्य 'नक्षत्राणीति' यानि च ॥६॥
अष्टाविंशानि मन्त्रस्य सङ्ग्रहोऽथ सुषारथेः ।
मनसो लक्षणं नद्याः कूले तद्धर्षहेतुता ॥७॥
प्रवृत्तौ स्त्रीरजःकाल—विमर्शः शास्त्रसम्मतः ।
निरुच्य मासशब्दं तत्प्रमाणोपचयः कृतः ॥८॥
अष्टमे मासि जातस्य मरणे हेतुरीरितम् ।
सप्तमाष्टमसूतस्य दशमास्येन योजना ॥६॥
चन्द्रमङ्गलयोर्योगो रजो ज्योतिर्विदां मतम् ।
स्त्रीपुंनपुंसकानां च सूतौ मात्राविनिर्णयः ॥१०॥
'अन्तरेण' त्रिदोषस्य गतेस्त्रैविध्ययोजना ।
गुणनस्य प्रकारोऽथ भास्कराचार्य—भाषितः ॥११॥
पाञ्चविध्यस्य तस्यैव पञ्चभूतेषु योजनम् ।
त्रिदोषसंगणनीये संक्षेपेणैतदीरितम् ॥१२॥

इति समासतो व्याख्यानम् ।

चन्द्रमा के समान मन भी रूपों का स्वामी है । नदी आदि जलाशय के किनारे जाकर मन की प्रसन्नता का कारण निर्देश किया है ॥६-७॥

स्त्री के रजःप्रवृत्तिकाल पर शास्त्रानुसारी विवेचन, मास शब्द का निर्वचन तथा प्रमाण-संग्रह किया गया है ॥८॥

अष्टमासिक जातक के मरने का कारण, सप्तमासिक और अष्टमासिक की वेदोक्त 'दश-मास्य' विधान के साथ संगति प्रदर्शित की है ॥६॥

ज्योतिः शास्त्र के मत से चन्द्र और मगल का योग 'रजः' है । स्त्री-पुम्-नपुंसक की उत्पत्ति में स्त्री तथा पुरुषांश की मात्रा का निर्देश किया है ॥१०॥

अन्तर द्वारा त्रिदोष की त्रिविध गति, भास्कराचार्य के शब्दों में गुणन का स्वरूप और क्रम दिखाया गया है ॥११॥

अङ्कों का रूपावस्थान, योग, वियोग, गुणन, विभजन—इस प्रकार पञ्चविध प्रकृतिभूत गणित की पञ्चमहाभूतों के साथ सङ्गति की गयी है ॥१२॥

सङ्क्षेप से त्रिदोष-सङ्गणन-प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ व्यासतस्त्रिदोष—संगणनम्

शरीरे खलु वात-पित्त-कफास्त्रयो दोषा एव दोष-धातु-मल-पर्य्याया: । तेषां कार्यभेदात् संज्ञाभेद: । तद् यथा—

शरीरदूषणाद्दोषा धातवो देह-धारणात् ।
वात-पित्त-कफा ज्ञेया मलिनीकरणान्मला: ।।

—शार्ङ्गधरे, ५।२४

वायु: पित्तं कफश्चेति शारीरो दोषसंग्रह: ।
मानस: पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ।।

—चरक० सू० १।५६

तत्र भेदपरिज्ञानाय भास्करसूत्रम्—

एकाद्येकोत्तरा अङ्का व्यस्ता भाज्या: क्रमस्थितै: ।
पर: पूर्वेण संगुण्यस्तत्परस्तेन तेन च ।।२०।।
एकद्वित्र्यादिभेदा: स्युरिदं साधारणं स्मृतम् ।।२१।।

—लीलावत्यां मिश्रव्यवहारप्रकरणे

तद्यथा— ३—२—१

रूपं कल्प्यते गणनासौकर्याय १/१—२—३

३+३+१=७

इस सातवें अध्याय में गणित द्वारा त्रिदोष का विस्तार बतलाने का यत्न किया गया है। इस अध्याय को दो खण्डों में विभक्त किया गया है। पहले खण्ड में संक्षेप से गणित क्रम बतलाया गया है, इस खण्ड में विस्तार के साथ उसका वर्णन किया जायेगा।

शरीर में रहने वाले वात पित्त और कफ—ये तीनों दोष ही दोष, धातु और मल नामों से कहे जाते हैं। कार्य के भेद से नाम का भेद है। जैसा कि शार्ङ्गधरसंहिता (५।२४) में कहा है कि—

"शरीर को दूषित करने के कारण दोष, उसे धारण करने के कारण धातु और उसे मलिन (रुग्ण) करने के कारण मल कहे जाते हैं।"

चरक (सू० स्था० १।५६) में भी कहा है कि शारीरदोष वात-पित्त-कफ हैं और मानस दोष रजोगुण तथा तमोगुण हैं।

अभीष्ट संख्या के भेद परिज्ञानार्थ श्री भास्कराचार्य जी ने लीलावती में निम्नप्रकार गणित विधान किया है। 'एकाद्येकोत्तरा अङ्का:' जिस संख्या का भेद परिज्ञान करना इष्ट हो उस संख्या को व्यस्त (उल्टे) क्रम से रखें पुन: उसके नीचे उसी संख्या को एकादिक्रम से रखें, पुन: पूर्वस्थित अंक से व्यस्त राशि का गुणन करें, तदनन्तर क्रमस्थित राशि से भाग देवें, लब्ध एक-एक अंक के भेद होंगे, पुन: उन सबका योग करदें, वह योगजफल समूहरूप से भेद संख्या का ज्ञापक होगा। जैसे—

३—२—१

रूप की कल्पना की है गणित की सरलता के लिये १/१—२—३

१×३=३,

उपपद्यते चातो निदानोक्तम्—"**अथ खल्वष्टभ्यः कारणेभ्यो ज्वरः संजायते मनुष्याणाम् । तद्यथा वातात्, पित्तात् वातपित्ताभ्यां, वातकफाभ्यां, पित्तश्लेष्मभ्यां वातपित्तश्लेष्मभ्यः, आगन्तोरष्टमात् कारणात् ।**" (चरक० नि० १।१२) इति

एवं हि वर्णमपि दोषानुरूपमनुयन् त्रित्वमेवाधिशेते प्रधान्येन । तच्च पुनस्त्रित्वं परस्परं द्वन्द्वयोगात् सन्निपाताच्च सप्तधात्वं प्प्नोति । ते च यथाप्रधानम्—रक्तः, पीतः, श्वेतः । द्वन्द्वयोगाद् हरितत्वं श्यावत्वं पाण्डरत्वञ्च प्राप्नुवन्ति । सन्निपाताच्च कृष्णत्वम् । यथा वातस्य रक्तः, पित्तस्य पीतः कफस्य च श्वेतः । वात-पित्ताभ्यां श्यावः, पित्त- श्लेष्मभ्यां हरितः, श्लेष्म-वाताभ्यां पाण्डुरः । वात-पित्त-श्लेष्मभ्यश्च कृष्णो वर्ण इति ।

इस क्रमस्थ राशि के निम्नांक १ का भाग देने से लब्धि '३' हुई उस को नीचे लिखे, पुनः उस लब्धि से अग्रिम व्यस्त अङ्क को संगुणित करे, तदनन्तर क्रमस्थित अग्रिमाङ्क से भाग दे, लब्धाङ्क को उसके नीचे रखे, तदनन्तर पुनः लब्धाङ्क से व्यस्त राशि के अग्रिमाङ्क को गुणित करे और क्रम राशि के निम्नाङ्क से भाग दे । जैसे—३ × २ = ६, क्रमस्थ राशि के '२' अङ्क से भाग दिया तो लब्धि '३' को भाजकाङ्क के नीचे लिखा, वही विधि अग्रिमांक से की ३ × १ = ३ इसमें क्रमस्थित राशि के ३ अंक का भाग दिया तो लब्धि हुई '१' इस को क्रमस्थित राशि के '३' अंक के नीचे लिखा, तदनन्तर लब्धांकों का योग किया तो संपूर्ण रूप से तीन वात-पित्त-कफ के सात भेद प्राप्त हुये । जैसे—

३—२—१
१—२—३
३—३—१ = ७

(वात-पित्त-कफ)	(वातपित्त-पित्तश्लेष्मा-वातश्लेष्मा)	(वातपित्तश्लेष्मा)
३	३	१

इनका योग करने से त्रिदोष सप्तधा उपपन्न हो जाता है ।

अतः चरक निदानस्थान (१।१२) कथित 'अष्टभ्यः कारणेभ्यो०' इत्यादि उपपन्न हो जाता है ।

आठ कारणों से मनुष्यों को ज्वर अर्थात् रोग होते हैं । जैसे—वात-पित्त-कफ, वात-पित्त-पित्तश्लेष्मा-वातश्लेष्मा, वात-पित्त-श्लेष्म-रूष विषम संपात रूप सन्निपात से, आठवां कारण आगन्तुज-अर्थात् बाहर से अभिवात (चोट), अभिशाप तथा अभिचारादि का होता है ।

इसी प्रकार वर्ण भी दोषों का अनुसरण करते हुये प्रधान रूप में तीन ही हैं । वह त्रित्व परस्पर दो के योग से तथा एक साथ मिलने से सात प्रकार का होता है । जैसेः—प्रधानतः रंग तीन हैं—लाल, पीला और श्वेत । दो रंगों के योग से हरे, भूरे और धूम्र वर्ण बनते हैं और सभी रंगों के मिलने से काला रंग बनता है । वायु का लाल रंग है, पित्त का पीला और कफ का श्वेत । वात-पित्त से भूरा, पित्त-कफ से हरा और वायु-कफ से धूमिल वर्ण होते हैं और तीनों के संयोग से काला रंग होता है ।

यथैवांशांशकल्पनानुस्यूतं त्रिदोषमयमिदं जगत् प्रभावमनुशेते; तथैव वर्णानामंशांशकल्पनानुस्यूतं वर्णमयं जगत्, त्रिदोष-सिद्धान्तमेव परिपोषयन्ननुस्यूतमास्ते। एतेन चरकस्येन्द्रियस्थानोक्तं प्रभाच्छायाभ्यामरिष्टविज्ञानमुपपन्नं भवतीति सुधीभिरुन्नेयम्। अस्य विस्तरस्तु चरकेन्द्रियस्थानस्थे नवमाध्याये द्रष्टव्यः।

शरीरं शरीरच्छाया, सप्तत्वमापन्ना दोषाश्च मिलित्वा नवसंख्यात्वं प्राप्नुवन्ति। एवं 'नवग्रहमयं जगत्' यथांशांशकल्पनयासंख्येयप्रकारमनुशेते; तथैवायं कायोऽपरिसंख्येयविकाराणां भूमिरित्युपपद्यते। सप्त परिधयो लोके, सप्त त्वचः काये, सप्त ग्रहा लोके, सप्त दोषाः काये। ग्रहा गृह्णन्तीति यतः। यथा च यजुर्वेदे (३१।१५) **सप्त समिधः कृताः'** इति। सप्त समिधश्च सप्त दीप्तयः, ते च ग्रहाः-रविचन्द्रभौमबुधगुरुशुक्रशनयः। इत्थमेवात्र काये सप्तथा भिन्न दोषा अविकृताः शरीरं वलवर्णायुषा युञ्जन्ति।

यथा लोके सप्त लोकाः, एवं हि शरीरस्योर्ध्वभागे सप्तच्छिद्राणि श्रोत्रयोः, चक्षुषोः, नासयोः, मुखस्य चैकमिति सप्त। एवं हि पादौ, हस्तौ, पायूपस्थौ, नाभिश्चेति सप्त लोका भवन्ति निम्नाभिमुखाः। एवमेवां काये शुक्ल-कृष्ण-पक्षाभ्यां दक्षिणोत्तरायणाभ्यामपरेण वेष्टद्वन्द्वेन साम्यमुपकल्पनीयम्।

एवं हि शरीरे दोषाणामविकृतानां शुक्लपक्षेऽवस्थानम्, विकृतानाञ्च कृष्णपक्षे। एवमत्र निदान-सौकर्याय च नानाविधत्वमूहनीयं भवति।

जैसे त्रिदोष की अंशांश कल्पना के प्रभाव से सारा जगत् व्याप्त है, उसी प्रकार त्रिदाष मिद्धान्त के अनुसार ही सारा जगत् वर्णमय है। इसने चरक के इन्द्रिय स्थान में कहे गये प्रभा और छाया से होनेवाले अरिष्ट विज्ञान की संगति सिद्ध होती है। इसका विस्तार चरक इन्द्रिय स्थान के नवम अध्याय में देखना चाहिये।

शरीर, शरीरछाया और सात सख्या को प्राप्त दोष, ये मिलकर नौ होते हैं। इस प्रकार जैसे—नवग्रहात्मक संसार अंशांशकल्पना के कारण असंख्य प्रकार का होता है, उसी तरह यह शरीर भी असंख्यविकारों का स्थान बनता है।

लोक में सात परिधियां हैं, शरीर में सात त्वचाएं हैं। लोक में सात ग्रह हैं और शरीर में सात दोष हैं। यजुर्वेद ३१।१५ में भी लिखा है कि 'विराट् ने सात समिधाएं बनायीं'। वे सात समिधाएं सात ज्योतियां हैं जो सात ग्रह कहे जाते हैं। वे सात ग्रह—रवि, सोम, भौम, बुध, गुरु, शुक्र और शनि हैं। इसी प्रकार शरीर में सात रूपों से फैले हुए दोष, अपनी साधारण स्थिति में रहकर शरीर के बल वर्ण और आयुष्य को बढ़ाते हैं।

जैसे संसार में सात लोक प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार शरीर के उपरिभाग में सात छिद्र हैं। कान; नाक और आंख के दो दो और एक मुख। इसी प्रकार दो हाथ, दो पैर, गुदा, जननेन्द्रिय एवं नाभि—ये नीचे के सात लोक हैं। इसी प्रकार शरीर में शुक्ल और कृष्ण पक्ष एवं दक्षिणायन और उत्तरायण आदि की समानता कल्पित कर लेनी चाहिये। जैसे—शरीर में दोषों का अविकृत रूप से रहना शुक्लपक्ष के समान और विकृतरूप में रहना कृष्णपक्ष के समान है, इसी प्रकार निदान और चिकित्सा की सुगमता के लिये विविध कल्पनाएं करनी पड़ती हैं।

एवं त्रयः सप्त भवन्ति । सप्त च पुनस्त्रयो भवन्ति सत्त्वरजस्तमोरूपैः ।

वात-पित्त-कफाः काये स्थानभेदात् पञ्चधा विभज्यन्ते । यथा वायुः पञ्चधा-१-प्राणः—हृदये, २- अपानः-मलाशये, ३- समानः-कोष्ठाग्निस्थाने, ३- उदानः-कण्ठे, ५-व्यानः-सर्वशरीरगः ।

एवं पित्तमपि पञ्चधा—१-पाचकम्—अग्न्याशये,२-भ्राजकम्—तैलाभ्यङ्गादि-पाचकम्, ३-रञ्जकम्-यकृति, ४-आलोचकम्-चक्षुषोः ५-साधकम्-हृदये ।

कफोऽपि पुनस्तथैव—१. क्लेदनः-अग्न्याशये, २. स्नेहनः—मूर्ध्नि, ४. रसनः—कण्ठे ४. अवलम्बकः—हृदये, ५. श्लेष्मकः—सन्धिषु ।

अथ गणितम्—यस्याङ्कस्य भेद-जिगमिषा स्यात् तस्मादिष्टाङ्कात् पूर्वाङ्कस्य भेदसंख्यां द्विगुणयित्वा रूपं तत्र संक्षिपेत् तदेष्टाङ्कभेदाः समुपलभ्यन्ते । तद् यथा—पञ्चधा भिन्ना वात-पित्त-कफाः परस्परं दूषयन्तः कति भेदान् लभन्ते ? तत्र न्यासः—पञ्चमात् पूर्वोऽङ्कश्चत्वारः (४) । तस्य च भेदाः पञ्चदश भवन्ति । तत्र पञ्चदश-संख्यां द्विगुणयित्वा १५×२=३० भवन्ति । अत्र रूपेण योगात् ३०+१=३१, एव-मुपपद्यते-पञ्चानामेकत्रिंशद् भेदा इति । एषो हि सरलः क्रमः; **'एकाद्येकोत्तरा अङ्का'** (लीलावती) इति श्लोकोक्त-प्रक्रियातः ।

अत्र आसप्तमाङ्कं भेदा गण्यन्ते । यथा—

इस प्रकार तीन ही सात हो जाते हैं और सात, सत्त्व, रज और,तमके रूप में होकर तीन रह जाते हैं ।

शरीर में रहने वाले वात, पित्त और कफ स्थानभेद और कर्मभेद से पांच पांच प्रकार के होते हैं । जैसे—हृदय में प्राण, मलाशय में अपान, अग्न्याशय में समान, कण्ठ में उदान और समस्त शरीर में व्यान वायु रहता है ।

इसी प्रकार एक ही पित्त, स्थान तथा कर्मभेद से ५ प्रकार का है । अग्न्याशय में अग्निरूप तिल-प्रमाण पाचक पित्त; त्वचा पर भ्राजक, यकृत् और प्लीहा में आहार रस को रक्तवर्ण करने वाला रञ्जक; नेत्रों में आलोचक और हृदय में साधक पित्त रहता है ।

इसी प्रकार कफ भी ५ प्रकार का है—अग्न्याशय में क्लेदक, मस्तक में स्नेहन, कण्ठ में रसन, हृदय में अवलम्बक और सन्धियों में श्लेष्मक कफ रहता है ।

अब गणित प्रकार देखिये—

जिस किसी अभीष्ट अङ्क के भेद-ज्ञान की इच्छा हो; उससे पहले अङ्क की भेद-संख्या को दूना करके उसमें एक अङ्क का प्रक्षेप कर देना चाहिये, इससे इष्ट-अंक का भेद सहज ही निकल आता है । जैसे—पांच प्रकार में विभक्त त्रिदोष,यदि एक दूसरे के विकारी बने तो उसके कितने भेद होंगे—यह जानने के लिये प्रकार बताया जाता है ।

पांच से पहला अङ्क ४ (चार) है । ४ अङ्क के १५ भेद होते हैं । १५ को दूना करने पर १५×२=३० तीस हुये,उसमें एक जोड़ने पर इकतीस हुए । ये भेद पांच अङ्कों के परस्पर मिलने से उपलब्ध हुए । भास्कराचार्य के 'एकाद्येकोत्तरा अङ्का', इस सूत्र के अनुसार यह क्रम सरल है । पाठकों की सरलता के लिये यहां १ से ७ तक अङ्कों के भेद का गणित किया जाता है ।

एकस्य—रूपमात्रमेव भेदः।
द्वयोः—१×२+१=३।
त्रयाणाम्—३×२=६+१=७।
चतुर्णाम्—७×२=१४+१=१५।
पञ्चानाम्—१५×२=३०+१=३१।
षण्णाम्—३१×२=६२+१=६३।
सप्तानाम्—६३×२=१२६+१=१२७, इत्यादि।

अथ चेदिष्टाङ्कभेदज्ञाने सूक्ष्मभेद-जिज्ञासा स्यात्; तदा **'एकाद्येकोत्तरा अङ्का'**—इत्याद्युक्तभेद एव साधीयान्। तद् यथा—

५ ४ ३ २ १
१) १ २ ३ ४ ५
५ १० १० ५ १ = ३१ भेदयोग उपपन्नः।

अत्रोपपत्तिः—पञ्चमहाभूतेभ्यस्त्रयो दोषा उत्पद्यन्ते, तत्र खम्=आकाशस्य सर्वलीनत्वाच्चत्वार एव स्थूलत्वात् त्रिषु दोषेषु विकृतिमापन्ना दृश्यन्ते। अतो विचार्य्यते यत् किं नामैकत्रिंशत्? ३०+१=३१। यच्छून्यं तदेव खम्। अतः ३१=३+१=४ एवं स्वां योनिमेव लीनाः। आतश्च प्रतित्रिकमेकत्रिंशद् भेदा भवन्ति।

अङ्क	भेद
१	१
२	१×२=२+१=३
३	३×२=६+१=७
४	७×२=१४+१=१५
५	१५×२=३०+१=३१
६	३१×२=६२+१=६३
७	६३×२=१२६+१=१२७

यदि अभीष्ट अङ्क के सूक्ष्मभेद जानने की इच्छा हो तो पूर्वोक्त भास्कराचार्य का क्रम लेना चाहिये। जैसेः—

५—४—३—२—१
१) १—२—३—४—५
५—१०—१०—५—१ = ३१ योग। ये ३१ भेद पृथक् पृथक् भेद से समस्त रूपों में प्राप्त होते हैं। इसकी उपपत्ति इस प्रकार हैः—

'पञ्चमहाभूत-त्रित्व-ज्ञापक' अध्याय में पञ्चमहाभूतों से त्रिदोष की उपपत्ति कही जा चुकी है। आकाशतत्त्व के अव्यक्त तथा सर्वव्यापक होने के कारण शेष चार भूत स्थूलरूप से त्रिदोष में विकारी दीखते हैं। इसलिये ५ अङ्कों के उपलभ्यमान ३१ भेदरूप अङ्कों पर दृष्टिपात करने से ३१ में ३०, और १ से दो अङ्क हैं। इनमें शून्य आकाशतत्त्व है। अतः ३+१=४ हुए। ये ४ चार अङ्क चार महाभूतों की अवस्था को बताते हैं।

यदि इन तीनों—५ वायु, ५ पित्त, ५ कफ—के भेदों को परस्पर युक्त किया जाये तो

ते च संयुक्ताः (३१+३१+३१=९३) त्रिणवतिर्भवन्ति। किं नाम त्रिणवतीति विचार्यते—९+३=१२, द्वादशराशिमयं जगत् पञ्चधा भिन्नेष्वेव तर-तमाभ्यस्तं लीयते। ते च पुनर्द्वादश परस्परं संयुक्ताः १+२=३ त्रिष्वेव लीयन्ते। अथवा नवग्रहात्मकस्य जगतस्त्रिष्ववस्थितिर्भवति।

तद् यथा—सत्त्व-रजस्तमःसु; आग्नेय-सौम्य-वायव्यात्मकेषु त्रिविधा व्याधयः प्रादुर्भवन्ति। एवमेवोत्पत्ति-स्थिति-प्रलयेषु, स्त्री-पुं-नपुंसकेषु विविधविकल्पनैरूह्यम्।

अथवा ९×३=२७ नवग्रहात्मकस्य जगतो नवग्रहाणाञ्च सप्तविंशतिनक्षत्रेष्ववस्थानम्। अभिजितः सप्तविंशतिष्वेवान्तर्लीनत्वात् पृथङ् न परिगण्यते। एवं पूर्वोक्तवद् एकेनाव्यक्तेन पूर्णा नव, दश एवेति तस्मादुपपद्यते मन्त्रोक्तं **'ये त्रिषप्ताः'** इति।

कलाः सप्त १- मांसस्य, २- असृजः, ३- मेदसः, ४- यकृत्प्लीह्नोः, ५- अन्त्राणाम्, ६- अग्निधरा, ७- अन्तरधरा च।

आशयाः सप्त १- श्लेष्माशयः (उरसि), २- आमाशयः (उरोऽधः), ३- अग्न्याशयः (नाभेरूर्ध्व वामभागे, तस्योपरि तिलम्) ४. पवनाशयः (अग्न्वाशयतोऽधस्तात्), ५- मलाशयः (अधोभागे), ६- वस्तिः (मूत्राशयोऽधः) ७- जीवरक्ताशयः (उरः-हृदयम्)।

स्त्रीणां तु त्रय आशया अधिकाः पुम्भ्यः—१ गर्भाशयः, २-३—स्तनाशयौ चेति।

३१+३१+३१=९३ तिरानवे हो जाते हैं। यदि ९३ को परस्पर जोड़ा जाये तो ९+३=१२ बारह होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि बारह राशियों में विभक्त यह समूचा विश्व पांच प्रकार से विभक्त त्रिदोष में ही अंशांश कल्पना-व्यतिरेक से अनुस्यूत है। क्योंकि १२ का स्वरूप स्वयं १+२=३ तीन में ही लीन हो जाता है।

अथवा, ९३ का पृथक् स्वरूप है—नौ और तीन। अर्थात् इस नवग्रहात्मक जगत् की सत्ता तीन अवस्थाओं में ही है। इस त्रित्व की विविध प्रकार से सत्ता करनी चाहिये। जैसे वात-पित्त-कफ, सत्त्व-रज-तम, भूत-वर्तमान-भविष्यत्, उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय, पुं-स्त्री-नपुंसक आदि। व्याधियां भी वायव्य, आग्नेय तथा सौम्य रूपों में ही प्रकट होती हैं।

अथवा ९३ तिरानवे का यह स्वरूप भी हो सकता है। जैसे—९×३=२७ नवग्रहात्मक विश्व की अवस्थिति २७ नक्षत्रों में हैं। यद्यपि अभिजित् २८वां नक्षत्र है; लेकिन उसके २७ में अन्तर्लीन हो जाने के कारण २७ ही रह जाते हैं। इन्हीं २७=२+७=९ में एक अभिजित् को मिलाकर दश हो जाते हैं। इसी प्रकार में ९ में एक१ अव्यक्त (अपूर्ण) के मिलने से दश हो जाते हैं। अतः रूपपरिज्ञान में 'ये त्रिषप्ताः' मन्त्र का स्वरूप ही सर्वत्र व्यक्त हो रहा है। अतः चिकित्सकों को इस ओर ध्यान देना चाहिये।

इस प्रकार ३ और ७ के विविध स्वरूप-संक्षिप्त प्रकरण में पहले बताये गये हैं।

कलाएं सात हैं। नाम संस्कृत में देखिये। आशय भी सात हैं, उनके नाम और स्थान ऊपर लिखे गये हैं। स्त्रियों के तीन आशय पुरुषों से अधिक होते हैं—१. गर्भाशय और २, ३.

धातवः सप्त—१-रसः, २-रक्तम् ३-मांसम् ४-मेदः,५-अस्थि, ६-मज्जा,७-शुक्रञ्चेति । तदुक्तम्—'**जायन्तेऽन्यन्योऽतः सर्वे पाचिताः पित्ततेजसा**' (शा० १।५।११) इति ।

मलाः सप्त—१ रसस्य—जिह्वानेत्रकपोलानां जलम्,२. रक्तस्य—रञ्जकं पित्तम्, ३. मांसस्य—कर्णमिलम् ४. मेदसः—रसना-दन्त-कक्ष-मेढ्राणां मलम्, ५. अस्थ्नः—नखाः, ६. मज्ज्ञः—नेत्रमलं, मुखे स्निग्धत्वञ्च, ७. रेतसः—यौवनपिटकाः, श्मश्रूश्च ।

उपधातवः सप्त—१. स्तन्यम् २. रजः, ३. वसा, ४. स्वेदः, ५. दन्ताः, ६. केशाः, ७. ओजश्चेति क्रमशो धातूनामुपधातवः ।

त्वचः सप्त—१. अवभासिनी, २. लोहिता, ३. श्वेता, ४. ताम्रा, ५. वेदनी, ६. रोहिणी, ७. स्थूला चेति ।

परस्परं विकृतिमापन्नानामेतेषां भेदपरिज्ञानाय गणितविधिना सप्तविंशत्युत्तरमेकशतं (१२७) भवन्ति । सप्तविंशत्युत्तरमेकशतस्याङ्कयोगां परस्परं युक्तः १+२+७=१० दश भवन्ति ।

सप्तधा भिन्ना दोषाः १२७+७=८८९ । एषां परस्परं योगः— ८+८+९ =२५) पञ्चविंशतिः । नवाङ्कन भक्ताः २५÷९=२. शेषाः, ७ सप्तविधभेषजैश्चिकित्स्या दोषाणां समीकरणात् । एवं १२७×७=८८९ मिलिताः स्त्री-पुरुषाणां व्याधीन् जनयन्ति ।

स्तनाशय । धातु सात हैं—रस, रक्त आदि । ये धातुएं क्रमशः एक-एक की ऊष्मा—पित्त से बनती है ।

सात धातुओं के सात मल हैं—१. जिह्वा नेत्र और कपोलों का जलरूप कफ,द्रवरस का मल है, २. रञ्जक पित्त; रक्त का, ३. कान का मैल; मांस का, ४. जिह्वा, दांत, कांख आदि का मल; मेदस् का, ५. नख; अस्थियों का, ६. आंखों का कीचड़; मज्जाका और ७. मुंहांसे; दाढ़ी, मूंछ आदि शुक्र का मल है ।

सात धातुओं की सात उपधातुएं भी हैं:—१. रस का दूध, २. स्त्रियों का रज; रक्त का ३. शुद्ध मांस की चिकनाहट; चर्वी (वसा) का, ४. पसीना (स्वेद); मेदस् का, ५. दांत; अस्थियों का, ६. केश; मज्जा का, और ७. ओज; शुक्र का उपधातु है ।

इसी प्रकार अवभासिनी आदि ऊपर लिखी सात त्वचाएं शरीर में हैं ।

ये सब परस्पर विकृत होकर पूर्वोक्त गणित क्रम से १२७ भेदवाले हैं । १२७ का स्वयं परस्पर जोड़ १+२+७ १० होता है ।

इस १२७ को सात प्रकार से विभक्त त्रिदोष से गुण दिया जाये तो १२७×७=८८९होते हैं । इनका परस्पर योग—८+८+९=२५ पच्चीस होता है । २५ को ९ से भाग दिया जाये तो लब्धि २ और शेष ७ रहते हैं । ये दो आग्नेय तथा सौम्य एवं कर्षण, बृंहण और उभयात्मक, प्रकार सात प्रकार की औषधियों से चिकित्सा करने के योग्य हैं ।

इस प्रकार ये विकार्य और विकारी के रूप से स्त्रियों यथा पुरुषों की ८८९ प्रकार की व्याधियां उत्पन्न करते हैं ।

विधिभेदमधिकृत्य-ज्वरस्त्येक एव सन्तापलक्षणः। स द्विविधो विधिभेदेन-शारीरो मानसश्च। स पुनर्द्विविधो दृष्टः-सौम्यः,आग्नेयश्च। पुनर्द्विविधः-अन्तर्वेगो वहिर्वेगश्च। पुनर्द्विविधः-प्राकृतो वैकृतश्च। पुनर्द्विविधः-साध्योऽसाध्यश्च। स पुनः पञ्चधा दृष्टो दोष-कालवलात्। तद् यथा-सन्तत-सतत-अन्येद्युष्क-तृतीयक-चतुर्थकाः। पुनराश्रयभेदेन धातूनां सप्तधा भिन्नः कारमभेदेन पुनरष्टधा। (च०, चि० ३।३१-३५ श्लोकाशयः)

अथ गणितम्—

योगश्चैषां-१+२+२+२+२+२+५+७+८=३१, द्वन्द्वास्त्रयः,सन्निपातश्चतुर्थः। अतः ३१×४=१२४। ते च परस्परं युक्ताः-१+२+४=७। अस्यां १२४ संख्यायां ज्वरस्य भेदाः प्रभेदाश्च लीयन्ते। अयं हि विधिभेदस्तावद् यथासम्भवं व्याधिषु कल्पनीय एव।

अथ कालकृता भेदा परिगण्यन्ते—

कालो हि त्रुट्यादितः संवत्सरान्तः। संवत्सरो हि द्वादशमासात्मकः। ते हि मासाः परस्परं गणिता यथाक्रममेतान् भेदान् जनयन्ति। व्यासः पूर्वोक्तप्रकारेण—

	१२	११	१०	९	८	७	६	५	४	३	२	१
१/	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२

भेदाः-१२+६६+२२०+४९५+७९२+९२४+७९२+४९५+२२०+६६+१२+१ = एतेषां योगः ४०९५ भवति।

ऊपर लिखे हुए विधिभेद को चरक चि० अ० ३ श्लोक ३१ से ३५ में देखिये

"साधारणतः ज्वर एक है। वह दो प्रकार का है शरीर और मानस। वह पुनः दो प्रकार का है—सौम्य और आग्नेय। पुनः—अन्तर्वेग और वहिर्वेगके रूप से दो प्रकार का है। प्राकृत और वैकृत रूपसे पुनः दो प्रकारका है और साध्य असाध्य भेद से पुनः दो प्रकार का है। दोष एवं काल के वलाबल से वह फिर पांच प्रकार का होता है—१. सन्तत, २. सतत, ३. अन्येद्युष्क, ४. तृतीयक और ५. चतुर्थक। वह ज्वर, पुनः सात धातुओं के आश्रय-भेद से सात प्रकार का हो जाता है और कारण भेद के मिलने से पुनः आठ प्रकार का होता है।"

इसे गणित प्रक्रिया द्वारा देखने पर इन सबका योग १+२+२+२+२+२+५+७+८=३१ होता है। द्वन्द्व ३, सन्निपात १। अतः ३१ को चार से गुणा करने पर ३१×४=१२४ एक सौ चौबीस भेद हुए। १२४ का परस्पर योग १+२+४=७ सात होता है। इस प्रकार सभी ज्वर १२४ भेदों में लीन हो जाते हैं।

अब व्याधियों के काल जनित—भेदों पर दृष्टिपात किया जाता है—त्रुटि से लेकर संवत्सर तक काल कहा जाता है। १२ मासों का संवत्सर होता है। इन बारह मासों का भेद वतानेवाला गणित इस प्रकार है:—

१२—११—१०—९—८—७—६—५—४—३—२—१

१/ १—२—३—४—५—६—७—८—९—१०—११—१२

१२+६६+२२०+४९५+७९२+९२४+७९२+४९५+२२०+६६+१२+१ =४०९५.

मिथ्याहारविहाराभ्यां परस्परं चैत्रादिमासा विकारमापन्ना बाणाङ्काभ्रवेद—(४०९५) मितान् व्याधीन् जनयन्ति। ते च बाणाङ्काभ्रवेदाः परस्परं सङ्कलिताः (४+०+९+५=१८) अष्टादश भवन्ति। किं पुनरष्टादशेति? १×८=९ नवैवेति। अपूर्णेन संवत्सरेण युक्त दश भवन्ति, ते च दश, पुनरात्मान त्रिषप्तस्वेव लीयन्ते। अत्र कालविषये चरकः—

निर्दिष्टः कालसंप्राप्तिर्व्याधीनां हेतुसंग्रहे ।
चय-प्रकोप-प्रशमाः पित्तादीनां यथा पुरा ।।१०९-।
मिथ्यातिहीन-लिङ्गाश्च वर्षान्ता रोगहेतवः ।
जीर्णभुक्तप्रजीर्णान्नकालाकालस्थितिश्च या ।।११०।।
पूर्वमध्यापराह्लाश्च रात्र्या यामास्त्रयश्च ये ।
तेषु कालेषु नियता ये रोगास्ते च कालजाः ।।१११।।

—चरक० शा० अ० १

दिवसे मासांशस्य ज्ञानार्थम्—

षष्टिघटिकात्मकमहश्चतुर्धा विभज्यते यथास्थूलम्। तद् यथा—प्रातः, मध्याह्नः, सायाह्नः, निशीथमिति। दोषाणां गतेरपि वाय्वर्कसोमानामिव दुर्विज्ञेयत्वम्। उक्तमेवं हि दूतनाडी—परीक्षाध्याये १३६ पृष्ठे—

लोके वाय्वर्कसोमानां दुर्विज्ञेया यथा गतिः ।
तथा शरीरे वातस्य पित्तस्य च कफस्य च ।।

—च० चि० २८।२४७

अतश्च मन्तव्यं भवति यन्नाड्या दोषज्ञानमिच्छता यथास्थूलं मासांशा

मिथ्या आहार और विहार से चैत्र आदि १२ मास, परस्पर विकार्य-विकारी भाव से ४०९५ प्रकार की व्याधियां उत्पन्न करते हैं।

४०९५ का परस्पर योग ४+०+९+५=१८ होता है। यह १८, १+८=९ होते हैं और इनमें एक अपूर्ण अव्यक्त का योग करने से १० होते हैं। यह १० भी स्वयं ३ तीन और सात में लीन हो जाते हैं।

काल से उत्पन्न होनेवाले रोगों का सूक्ष्म-विवेचन, चरक शारीरस्थान, अध्याय १, श्लोक संख्या १०९—१११ से भी समझा जा सकता है।

अब स्थूलरूप से दिन में मास के अंशों का परिज्ञान लिखा जाता है, इसके द्वारा चिकित्सक को निदान, चिकित्सा तथा पथ्यापथ्य—कल्पना में विशेष सुविधा प्राप्त हो सकेगी।

दिन-रात के स्थूल रूप से ४ भाग हैं—प्रातः, मध्याह्न, सायंकाल और निशीथ (आधीरात)। चरक० चि० २८।२४७ में कहा है कि—"जिस प्रकार सूर्य चन्द्र और वायु की गति दुर्विज्ञेय है उसी प्रकार शरीर में वात पित्त और कफ की गति भी दुर्विज्ञेय है।"

नाडी के द्वारा वात पित्त कफ का सूक्ष्म भेद जानने के लिये दिन और रात को बारह

अह्न्यपि ज्ञातव्याः । तस्माल्लिख्यन्ते—

उदीयमान-सूर्यमासः प्रातःकाल-स्थानीयः । ततश्चतुर्थो मासो मध्याह्न-स्थानीयः । ततश्चतुर्थो मासः सायाह्न-समानः । ततश्चतुर्थो मासो निशीथ-स्थानीयः । तद् यथा—

वैशाखाहःसु-प्रातर्वैशाखः, मध्याह्ने श्रावणः, सायाह्ने कार्तिकः, अर्धरात्रौ माघः । मासाः प्रत्यहं स्वच्छायां प्रधानमासेन छायान्विताः सन्तोऽह्नोविभागेषु स्वांशान् धारयन्त्येव ।

न्यासो यथा--१—४—७—१० एतत् संख्यका मासाः परस्परमेकजातिं भजन्ते । एवमेव २—५ —८—११ तथा –३–६–९–१२ संख्यका मासा अपि । प्रयोजनञ्चास्य विज्ञानस्य; व्यथातुरस्य पथ्य-निर्णय-सौकर्यम्, चिकित्सा-निदानादिसौकर्यञ्च । दिङ्मात्रमुदाहृतम् । विशेषश्चास्य स्वप्रतिभा-प्रकर्षेण विज्ञातव्यः ।

मासास्तु खलु प्रसिद्धा वैशाखादयो द्वादश । एभिरेव संवत्सरो भवति । उदाह्रियते वैद्य-बुद्धि-वैशद्याय किमपि—

ज्येष्ठे मासि प्राता रुजार्त्तः पीयूषपाणिं भिषजं पृच्छति—'मया सायह्ने किं भोक्तव्यं किं पेयं किञ्चाच्छाद्यमिति ? तत्र कुशलेन भिषजा मार्गशीर्षमासः सायाह्न इति कृतधिया वक्तव्यम्-किञ्चित् स्निग्धमुष्णं मधुररसप्रधानं द्रव्यं पथ्ये प्रयोज्यम् । आच्छादनमपि तदनुगुणमेव, एवमेव यथारोगं यथायोग्यं वैद्येन विधातव्यम् ।

ज्येष्ठे मासि निशार्धे भवति शीतं दिनापेक्षया । कुत एवम् ? ज्येष्ठेऽपि मासि निशार्धे फाल्गुनमासांशस्य भुज्यमानत्वात् ।

विभागों में विभक्त, करके उनमें बारह मासों की कल्पना करनी चाहिये ।

सूर्य जिस मासमें उदय होता है; प्रातःकाल में उसी मास का प्रभाव रहता है, मध्याह्न में उससे चौथा मास, सायंकाल उससे भी चतुर्थमास और निशीथ उससे चौथा मास होता है । जैसेः—

वैशाख के प्रातःकाल में वैशाख का प्रभाव रहेगा, मध्याह्न में उससे चतुर्थ श्रावण मास भुक्तमान् होता है, सायंकाल में उससे चौथामास कार्त्तिक गतिमान् रहता है और निशीथ में उससे चौथा माघ मास प्रवृत्त होता है । यहां यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रतिदिन में भुक्त होनेवाले अन्यान्यमास प्रधान मास की छाया से प्रभावित अवश्य ही रहते हैं ।

बारह मासों को विभागों में विभाजित किया जाता है । १, वैशाख, श्रावण, कार्तिक और माघ । २. ज्येष्ठ, भाद्रपद, मार्गशीर्ष और फाल्गुन । ३. आषाढ़, आश्विन, पौष और चैत्र ये चौकड़ियां परस्पर समान जाति की हैं । इस विज्ञान द्वारा वैद्य, रोगी के लिये आहार, औषधि आदि का आदेश कर सकता है और मास-प्रकृति के अनुसार त्रिदोष निर्णय में भी सुविधा प्राप्त हो सकती है ।

प्रायः देखा जाता है कि वैशाख, श्रावण, कार्तिक और माघ मास में उष्णता उत्तरोत्तर न्यून होती जाती है । वैसे ही वैशाख के दिनों में प्रातः, मध्याह्न, सायं और निशीथ में उष्णता परिवर्तित होती है । अतः यह कहना युक्तिसंगत है कि उस-उस समय में उस-उस मास का प्रभाव अंशांशरूप से रहता है ।

असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगोऽपि रोगोत्पत्तौ हेतुर्भवतीति तमधिकृत्य विचारः प्रस्तूयते—

ज्ञान—इन्द्रियाणि—श्रोत्रम्, त्वक्, नेत्रम्, रसना, घ्राणम् ।
अर्थाः— शब्द स्पर्शं, रूपम्, रसः, गन्धः ।
कर्म—इन्द्रियाणि—वाक्, हस्तौ, पादौ, उपस्थः, गुदम् ।
अर्थाः— वचनम्, आदानम्, चलनम्, आनन्दः, उत्सर्गः ।
भूतानि— खम्, वायुः, अग्नि, जलम्, पृथिवी ।

इन्द्रियार्थानां पुनस्त्रिविधो योगो भवति—१. अयोगः, २. अतियोगः, ३. मिथ्यायोगश्चेति । तद् यथा—

५ ४ ३ २ १
१) १ २ ३ ४ ५
५+१०+१०+५+१=योगः ३१×३=९३

अमुनैव विधिना त्रिणवतिर्भेदाः ज्ञानेन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणाञ्च । त्रिणवतिश्च परस्परं युक्ता ९+३=१२ द्वादश भवन्ति । ते च पुनर्द्वादश, मिथः संकलिताः (१+२=३) त्रिष्वेवात्मानं लीयन्ते । के च पुनस्ते त्रय इति ? वात-पित्त-कफा इति । त्रिदोष-समक्षेपीयेऽध्याये यथायोग्यमुक्तं तत एवावगन्तव्यम् ।

चरक आदि प्राचीन महर्षियों का मत है कि रोग के अन्यान्य अनेक कारणों में 'असात्म्येन्द्रियार्थ-संयोग' भी कारण होता है । अतः इसके सहज भेदों पर विचार किया जाता है । जैसे—

ज्ञान— इन्द्रिय—श्रोत्र	त्वक्	चक्षु	रसना	घ्राण
अर्थ ——शब्द	स्पर्श	रूप	रस	गन्ध
कर्म—इन्द्रिय—वाणी	पाणी	पाद	उपस्थ	गुदा
अर्थ ——बोलना	आदान	चलना	आनन्द	उत्सर्ग
भूत——आकाश	वायु	अग्नि	जल	पृथिवी

इन्द्रियों का अपने-अपने अर्थों के साथ तीन प्रकार का योग होता है—१. अयोग, २. अतियोग और ३. मिथ्यायोग । अतः इनके परस्पर विकार्य-विकारीभाव से ९४ भद उपलब्ध होते हैं । जैसे:—

५ ४ ३ २ १
१) १ २ ३ ४ ५
५ १० १० ५ १=३१ इन इकतीस भेदोंको तीनसे-(अयोग, अतियोग, मिथ्यायोग से) गुणन करने पर ३१×३=९३ तिरानवे भेद ज्ञानेन्द्रियों और उतने ही कर्मेन्द्रियों के उपलब्ध होते हैं । यह तिरानवे संख्या भी सूक्ष्म होकर (९+३=१२ एवं १+२=३) तीन में ही लीन हो जाती है ।

इन तीनों योगों के वात, पित्त और कफ में युक्तियुक्त प्रक्षप का विशद विचार त्रिदोष-समक्षेपीय अध्याय में किया जा चुका है, उसे वहां देखें ।

शरीर रन्ध्राणि पुनर्नव। तानि च विकृतिमापन्नानि पूर्वोक्त-विधिना गुणन-भजन-संकलनं प्राप्तानि चन्द्रभ्वर्थं—(५१२) मितान् भेदान् जनयन्ति। ते च पुनः परस्परं सङ्कलिताः सप्तस्वेव लीयन्त आत्मानम्। यथा—५+१+१=७।

विकृता हि शरीरैकदेशः सकलमपि कायमाकुलीकरोति। तस्मादुपपन्नमेतद् यदंशांशेन व्याधेः सर्वशरीरे व्याप्तिरेव। तस्मादेते भेदाः सर्वलोकमावृण्वानाः परिदृश्यन्ते।

पञ्चीकृत-पञ्चमहाभूतात्मकत्वात् त्रिदोषस्य, भूत-संख्यात्मकमेव तेषां शोधन-मुपपद्यते। तथा च चरकः—

"त्रिदोषे विधिवद् वैद्यः पञ्चकर्माणि कारयेत्।" —च० वि० १५।१६४

प्रज्ञापराधोऽपि हि रोगोत्पत्तौ हेतुत्वाय प्रभवति। तद्भेदप्रभेदज्ञानाय गणिते कृते तस्य १,३८,२४,६६५ भेदा भवन्ति। मूलमस्य चरकस्य शारीरस्थानस्थप्रथमाध्याये (श्लो० ६८–१०६) द्रष्टव्यम्। कलेवरवृद्धिभयान्नेहोद्ध्रियन्ते।

प्रज्ञापराधस्य वहुविधत्वात्, सूक्ष्मत्वाच्च वेदेषु, वेदानुसार्यार्षग्रन्थेषु च प्रज्ञा-परिष्काराय पुनः पुनर्विधानमाधीयमानं सयुक्तिकं सङ्गच्छत एव।

सप्तधा भिन्नास्त्रिदोषा कलादेः षट्-सप्तकान् कतिधा विभजन्तीति ज्ञानाय गणितम्। तथा च भास्कराचार्यः—

शरीर में नव द्वार हैं। ये विकारी होकर पूर्वोक्त भेद गणित द्वारा ५११ रूपों में विभक्त होकर विश्व में व्याप्त हैं। ये ५११ परस्पर युक्त करने से पृथक् द्वन्द्व और सन्निपातात्मक त्रिदोष का विस्तार है। जैसे—५+१+१=७।

देखा जाता है कि शरीर का एक देश, विकारी होकर समूचे शरीर को विकारी कर देता है, इससे यह सिद्ध होता है कि व्याधि अंशांशरूप से समस्त शरीर में ही व्याप्त है। अतः ये भेद सारे विश्व को व्याप्त करके वैद्य और रोगी की बुद्धि को मोहित और भ्रान्त कर रहे हैं।

त्रिदोष का उद्गम पञ्चमहाभूत हैं,अतः त्रिदोष—विकार के शोधन के लिये ऋषियों ने पञ्च-कर्म योजना की है। चरक ने कहा है 'त्रिदोष में वैद्य को विधिवत् पञ्चकर्म कराने चाहियें।'

रोग के कारणों में प्रज्ञापराध भी एक कारण है। अतः उस पर भी कुछ विचार करना आवश्यक है। प्रज्ञापराध को उक्त गणित क्रम से भिन्न करने पर एक करोड़, अड़तालीस लाख, चौवीस हजार, नौ सौ पचानवे (१,३८,२४,६६५) भेद उपलब्ध होते हैं। इसका मूल जानने के लिये चरक, शारीरस्थान, अध्याय १. (श्लोक ६८—१०६ तक) देखना चाहिय।

प्रज्ञापराध के सूक्ष्म तथा बहुविध होने के कारण ही वेदों एवं वेदानुकूल आर्षग्रन्थों में प्रज्ञाविशुद्धि के लिये बार-बार विधान करना सुसङ्गत हो जाता है।

सात प्रकार से विभक्त हुए त्रिदोष, कला आदि छः सप्तकों को शरीर में कितने रूपों में विभक्त करते हैं—यह जानने के लिये भास्कराचार्य के सूत्र को गणित के लिये प्रयुक्त किया जाता है।

स्थानान्तमेकादिचयाङ्कघातः संख्याविभेदा नियुतैः स्युरङ्कैः ।
भक्तोऽङ्कमित्याङ्कसमासनिघ्नः स्थानेषु युक्तो मितिसंयुतिः स्यात् ॥१॥
(लीलावत्यामंकपाशे)

अत्रोद्देशकः—७, ६.

न्यासः—१ २ ३ ४ ५ ६ १×२×३×४×५×६×७=५०४० भेद-संख्या। निर्दिष्टाङ्कयोगः ७+६=१३ । भेदसख्या-५०४०×१३=६५५२० । स्थानसंख्यया द्वाभ्यां २ विभक्ता ३२७६० । मितिसंयुत्या स्थानेषु युक्ताः ३२७६०
३२७६०
३६०३६० इति साकल्येन

त्रिदोषस्यास्त-व्यस्तभेदाः समुपपन्नाः ।

एषां परस्परं संकलनेन (३+६+०+३+६+०=१८) योगोऽष्टादश (१८) भवति । ते च पुनरव्यक्तेन पूर्णा अष्टादश; (१+८+०=९। नव सन्तोऽपि दशैव।

उपर्युक्ताष्टादशसु त्रिदोषा (३) ङ्कयोगेन १८+३=२१ भवन्ति। ते च परस्परं युक्ताः (२+१=३) त्रिष्वेव लीयन्ते ।

उपर्युक्तेषु कलादिषट्सप्तकेषु योजितस्त्रिदोषसप्तकः,तत उपपद्यन्ते सप्तसप्तकाः,

---

सूत्र का तात्पर्य यह है कि जितने स्थान में अङ्क दिये हों, उतने ही एक आदि अङ्कों का घात करने से संख्याओं के भेद होते हैं और उसी एक आदि घातक निर्दिष्ट अंकों के योग से गुणकर, उससे उतनी ही बार स्थानवृद्धि से जोड़ना चाहिये। जितने निर्दिष्ट अंकों के स्थान हों; इसी प्रकार सब भेदों की संख्या का योग होता है। जैसेः—७. ६.

न्यासः—१—२—३—४—५—६—७.

१×२×३×४×५×६×७=५०४०—यह भेद-संख्या हुई। निर्दिष्टाङ्कयोग ७+६=१३। भेदसंख्या ३०४० को निर्दिष्टाङ्क-योग से गुण दिया—५०४०×१३=६५५२०। स्थान संख्या २ से भाग दिया तो लब्धि हुई—३२७६०। इसको दो बार स्थान वृद्धि से जोड़ दिया तो ३२७६०
३२७६०
३६०३६० यह कुल भेदसंख्या हुई।

शरीर में त्रिदोष को उलट-पलटकर रखने से अर्थात् शरीर को त्रिदोषमय बनाने से ३६०३६० भेदों से शरीर व्याप्त होता है। यदि इस अङ्कराशि को जोड़ दिया जाये तो ३+६+०+३+६+०=१८ अठारह होते हैं। इन अट्ठारहको पुनः जोड़ देने से १+८=९ होते हैं। इनमें एक अव्यक्त छोड़ने से १० होते हुये भी ९ रह जाते हैं।

पूर्वोक्त १८ में ३ अङ्क त्रिदोष सत्ता के, जोड़ देने से २१ होते हैं और वे २१ परस्पर युक्त करने से २+१=३ तीन में ही लीन हो जाते हैं अर्थात् वात, पित्त कफ अपने स्वरूप में उपलब्ध होते हैं।

ऊपर कहे हुए कला आदि के छः सप्तकों में त्रिदोष सप्तक मिला देने से सात सप्तक हो जाते

सप्तैव च कर्तारः सन्ति सप्तग्रहाधिष्ठितत्वाज्जगतः।

दोषभेद–विकल्पः—

दोष—भेद–विकल्पेषु सर्वरोग—समुद्भवः ।
तस्मान्नाडीज्ञ ! लिख्यन्ते त्रयो दोषा द्विषष्टिधा ॥ (अस्माकम्)

द्विषष्टिभेदेष्वेकः स्वास्थ्यकारणभेदो मिलित्वा त्रिषष्टिधा भवन्ति । तथा च सुश्रुतः—

द्विषष्टिभेदा निर्दिष्टास्त्रिषष्टिः स्वास्थ्यकारणम् ।

एवमेते दोषास्त्रिषष्टिधात्वं प्राप्य; रसैस्त्रिषष्टिविधैः साम्यमुपगच्छन्ति । तद् यथा—

त्रय एव पृथग् दोषाः, द्विशो नव, समाधिकैः ।
त्रयोदशाधिकैकं द्वि-सम—मध्योल्वणैस्त्रिशः ॥
पञ्चाशदेवं तु सह भवन्ति क्षयमागतैः ॥
क्षीणमध्याधिक—क्षीण—-क्षीणवृद्धैस्तथा परैः ।
द्वादशैव समाख्यातास्त्रयो दोषास्त्रिषष्टिधा ॥

यथा—वात–पित्त–कफाः पृथग् वृद्धिमागतास्त्रयः ३, वायुःपित्तम् ४, कफः पित्तम् ५, श्लेष्मा वायुः ६, इति समवृद्धानां संसर्गस्त्रिसंख्यः; वात–पित्त–कफावृद्धाः समस्ताः ७, वातं हीनं पित्तं मध्यमं कफोऽधिकवृद्धः ८, वातं हीनं कफो मध्यमः पित्त-मधिकं वृद्धम् ९, पित्तं हीनं वातो मध्यमः कफोऽधिकवृद्धः १०, पित्तं हीनं कफो मध्यमो वातमधिकं वृद्धम् ११, कफो हीनो वातं मध्यमं पित्तमधिकवृद्धम् १२, कफो हीनो वातं मध्यमं पित्तमधिकं वृद्धम् १३, वातातिवृद्धं पित्तातिवृद्धं कफोऽतिवृद्धः १४, वातातिवृद्धम् १५, पित्तातिवृद्धम् १६, कफोऽतिवृद्धः १७, वात-पित्तातिवृद्धे १८, वात-कफातिवृद्धे १९, वातं वृद्धं पित्तमतिवृद्धम् २०, पित्तं वृद्धं वातातिवृद्धम् २१, कफो वृद्धः पित्तमतिवृद्धम् २२, पित्तं वृद्धं कफोऽतिवृद्धः २३, कफो वृद्धो वातमतिवृद्धम् २४, वातं वृद्धम्, कफोऽतिवृद्धः २५। एवमेते वृद्धदोषा एकशो द्विशस्त्रिशः सममध्यातिवृद्धि-योगात् पञ्चविंशतिभेदानुपपद्यन्ते ।

हैं । जैसे लोक में सात ग्रह प्रधान हैं उसी प्रकार शरीर में भी प्रधान रूप से सात सप्तक हैं । 'लोक–सम्मितः पुरुषः' यह सिद्धान्त युक्तिसङ्गत होता है ।

दोष-भेद—विकल्प—

दोष-भेद—विकल्पों में ही सब रोगों की उत्पत्ति होती है । दोषों के प्रधानत ६२ भेद होते हैं । उनमें 'स्वास्थ्यकारण' नामक एक भेद मिलाने से ६३ हो जाते हैं । इसी प्रकार रसों के भी ६३ भेद हैं अतः दोनों की समता हो जाती है । दोषों के हीन, मध्यम, वृद्ध, अतिवृद्ध तथा क्षीण, स्वल्पक्षीण एवं अतिक्षीणता आदि के योग से जितने भेद होते हैं, जिज्ञासुओं की सुविधा के लिये उनका पृथक्-पृथक् विवरण ऊपर संस्कृत में अङ्कों के साथ दिया है । वह अति सरल है, अतः हिन्दी में उसकी पुनरुक्ति नहीं की गयी है ।

इदानीं दोषाणां क्षीणतामधिकृत्य पञ्चविंशतिरुच्यते—

१. वायुः क्षीणः । २. पित्तं क्षीणम् । ३. कफः क्षीणः । ४. वात—पित्ते क्षीणे । ५. वात-कफौ क्षीणौ । ६. कफ—पित्ते क्षीणे । ७. वात—पित्त—कफाः क्षीणाः । ८. वातं स्वल्पं क्षीणम्, पित्तं मध्यक्षीणम्, कफोऽधिकः क्षीणः । ९. वातं स्वल्पं क्षीणम्, कफो मध्यमः पित्तमधिकं क्षीणम् । १०. पित्तं स्वल्पं, वायुर्मध्यमः, कफोऽधिकः क्षीणः । ११. पित्तं स्वल्पम् कफो मध्यमः वायुरधिकः क्षीणः । १२. कफः स्वल्पः, पित्तं मध्यमम्, वायुरधिकक्षीणः । १३. वातातिक्षीणम्, १४, पित्तमतिक्षीणम्, । १५. कफोऽतिक्षीणः । १६. वात—पित्तेऽतिक्षीणे । १७. वात-कफावतिक्षीणौ । १८. कफ-पित्तेऽतिक्षीणे । १९ वायुः क्षीणः, पित्तमतिक्षीणम् । २०. पित्तं क्षीणम्, वातमतिक्षीणम् २१. कफः क्षीणः, पित्तमतिक्षीणम् । २२. पित्तं क्षीणम्, कफोऽतिक्षीणः । २३. कफः क्षीणः, वातमतिक्षीणम् । २५. वातं क्षीणम् कफोऽतिक्षीणः । एवं क्षीणयोगात् पञ्चविंशतिरुक्ता ।

साम्प्रतं वृद्धि—क्षयाभ्यां द्वादश भेदा निरूप्यन्ते—

१. वायुर्वृद्धः, पित्तं समम्, कफः क्षीणः । २. पित्तं वृद्धम्, वातः समः, कफः क्षीणः । ३. कफो वृद्धः, पित्तं समम्, वायुः क्षीणः । ४. कफो वृद्धः, वायुर्मध्यमः, पित्तं क्षीणम् । ५. वायुर्वृद्धः, कफो मध्यमः, पित्तं क्षीणम् । ६ पित्तं वृद्धम्, कफः समः, वायुः क्षीणः । ७. वायुःक्षीणः, पित्त-कफौ वृद्धौ । ८. पित्तं क्षीणं वात-कफौ वृद्धौ । ९. कफः क्षीणः, वात—पित्तौ वृद्धे । १०. वात-पित्ते क्षीणे, कफो वृद्धः, ११. वात-कफौ क्षीणौ, पित्तं वृद्धम् । १२. कफ-पित्ते क्षीणे वायुर्वृद्धः । एवं वृद्धिक्षयाभ्यां द्वादश भेदाः सम्पद्यन्ते । योगश्चैषां द्विषष्टिर्भवति । तत्रैकः स्वास्थ्यकारणाख्यः सर्वसमः । एवं दोषाणां त्रिषष्टिरुपपद्यते ।

दोषाणां क्षय—वृद्धयोः स्वरूपं यथा—

एको वृद्धः समश्चैकः क्षीणस्त्वेको यदा भवेत् ।
क्षीण एकः प्रवृद्धौ द्वौ क्षीणौ द्वौ वृद्धिमांस्तथा ।।
एक एव स्थितस्तत्र व्यक्तरूपेण देहिनः ।। १ ।।

पहले वृद्धि योग से होने वाले २५ भेद कहे गये हैं । तत्पश्चात् क्षीणता आदि के योग से होनेवाले दोषों के २५ भेद लिखे हैं और अन्त में दोषों की वृद्धि तथा क्षय के योग से होने वाले १२ भेद हैं । इस प्रकार इन ६२ भेदों में 'स्वास्थ्यकारण' संज्ञक भेद मिलाने से ६३ भेद उपपन्न हो जाते हैं ।

शरीर में दोषों के वृद्धि तथा क्षय का स्वरूप—

जब एक दोष वृद्ध, एक दोष सम, एवं एक दोष क्षीण हो अथवा एक दोष क्षीण एवं दो दोष वृद्ध हों, किंवा दो दोष क्षीण हों एक वृद्धिमान् हो तो व्यक्त रूप से शरीर में एक ही स्थित हुआ सा व्यक्त होता है ।।१।।

अथेदानीं दोषाणां वृद्धिक्षयमागतानां संक्षिप्तलक्षणानि उच्यन्ते—

प्रवृद्धो मारुतः पित्तं प्रकृतिस्थं कफक्षये ।
गृहीत्वा स्थानतो यत्र यत्राङ्गेषु विसर्पति ।
तत्र तत्र स्थितो दाहः श्रम-भेदौ वलक्षयः ॥ २ ॥
क्षीणे पित्ते यदा वायुर्वृद्धावस्थः समः कफः ।
विदधाति तदा शूलं शैत्यमन्तर्हि गौरवम् ॥ ३ ॥
वृद्धं कफक्षये पित्तं प्रकृतिस्थं प्रभञ्जनम् ।
निरस्य च यथावृद्धि दाहः शूलञ्च जायते ॥ ४ ॥
वृद्धं वातक्षये पित्तं प्रकृतिस्थं यथा कफम् ।
निरुणद्धि तदा तस्य स्युस्तन्द्रागौरवज्वराः ॥ ५ ॥
श्लेष्मा वृद्धो यदा वायुः समः पित्त-परिक्षये ।
निरुद्धः स्यात्तदा तस्य गौरवं शीतकज्वरे ॥ ६ ॥
कफोऽनिलक्षये पित्तं प्रकृतिस्थं यदा वली ।
निरुणद्धि तदा तस्य मृद्वग्नित्वं शिरोव्यथाम् ॥ ७ ॥
प्रलापो गुरुता तन्द्रा निद्रा स्यात्तु मरुत्क्षये ।
ष्ठीवनं पित्ताकफयोर्नखादीनाञ्च पातनम् ॥ ८ ॥
कफः पित्तेन संयुक्तो वलहानिं भृशं क्षयम् ।
करोत्यपाकमरुचिं गौरवं गात्रसादनम् ॥ ९ ॥

वृद्ध क्षीणादि योगोत्थ दोषों को जानने के लिये संक्षिप्त रूप से शरीर में होनेवाले लक्षणों को लिखते हैं—

बढ़ी हुई वायु प्रकृतिस्थ पित्त को अपने साथ लेकर जहां-जहां जाती है वहां-वहां दाह श्रम (थकान) भेद एवं दुर्बलता को उत्पन्न करती है ॥२॥

जब पित्त क्षीण हो, वायु वृद्ध हो, कफ सम हो, तब शूल, शैत्य एवं अन्तर्गौरव (भारीपन) होता है ॥३॥

जब पित्त वृद्ध हो, कफ क्षीण और वायु प्रकृतिस्थ हो तब पित्त वायु को वहां से धकेलकर दाह एवं शूल को उत्पन्न करता है ॥४॥

बढ़ा हुआ पित्त वायु के क्षीण होने पर प्रकृतिस्थ कफ को रोक देता है तब वह शरीर में तन्द्रा, गौरव एवं ज्वर को उत्पन्न करता है ॥५॥

पित्त के क्षीण होने पर बढ़ा हुआ श्लेष्मा जब समवस्थित वायु को रोक देता है तब भारीपन एवं शीतज्वर को उत्पन्न करता है ॥६॥

जब कफ बलवान् होकर वायु के क्षीण होने पर प्रकृतिस्थ पित्त को रोक देता है तब पुरुष को मन्दाग्नि एवं शिर में शूल उत्पन्न करता है ॥७॥

वायु के क्षीण होने पर प्रलाप, गुरुता, तन्द्रा एवं निद्रा उत्पन्न होती है । कफ एवं पित्त-युक्त थूक आना, तथा नख आदि का झड़ना होता है ॥८॥

कफ पित्त के साथ मिलकर बलहानि, अतिदुर्बलता, अपाक, अरुचि, गौरव एवं गात्रसाद (स्फूर्तिनाश) को उत्पन्न करता है ॥९॥

मारुतेन युतः श्लेष्मा हीन—पित्तः यदा भवेत् ।
करोति मृदुतां वह्नेर्भुङ्क्ते नान्नाभिलाषितः ॥१०॥
वेपनं गौरवं स्तम्भो शैत्य-तोदौ तथा चिरात् ।
शुक्लत्वञ्च नखादीनां पारुष्यं वपुषोऽपि च ॥११॥
कुपितौ पित्त--पवनौ परिक्षीणः कफो यदा ।
उद्वेष्टनं श्रमं तोदं कुरुते स्फोटनं तथा ॥१२॥
स्रोतांसि भिद्यते श्लेष्मा यदा पित्तानिलक्षये ।
चेष्टानाशं तदा कुर्यात् मूर्च्छां वाग्भङ्गमेव च ॥१३॥
देहौजः स्रंसयेत् पित्तं वात-श्लेष्मक्षये तृषाम् ।
कुर्यादिन्द्रियदौर्बल्यं मूर्च्छां ग्लानिं क्रियाक्षमम् ॥१४॥
मर्माणि पीडयेद् वायुः श्लेष्म--पित्त-परिक्षये ।
संज्ञा-प्रणाश कुरुते प्रकम्पं विदधाति च ॥१५॥

इति मिश्रितत्रिदोषलक्षणानि स्मर्तुं निर्दिष्टानि । वात-पित्त-कफानां वृद्धि-

---

पित्त की हीनता होने पर श्लेष्मा वायु से मिलकर मन्दाग्निता उत्पन्न कर देता है जिससे पुरुष अन्न का इच्छुक होने पर भी खाता नहीं ॥१०॥

तथा कम्प, गौरव, स्तम्भ (जकड़ना) शैत्य, तोद, (चुभन) को बार-बार उत्पन्न करता है। शरीर को परुष (खरखरा) एवं नखादिकों को शुक्ल कर देता है ॥११॥

कफ के परिक्षीण होने पर कुपित हुये वात पित्त उद्वेष्टन (खुसाहट) श्रम, तोद, एवं स्फुटन को उत्पन्न करते हैं ॥१२॥

जब पित्त और वात क्षीण हो जाते हैं तब श्लेष्मा स्रोतों का भेदन करके चेष्टानाश मूर्च्छा एवं वाग्भङ्ग को उत्पन्न करता है ॥१३॥

वात श्लेष्मा के क्षय होने पर पित्त देह के ओजस् को स्रंसित करता है तथा तृषा को उत्पन्न करता है ॥१४॥

श्लेष्मा और पित्त के क्षीण होने पर वायु मर्मस्थानों को पीड़ित करती हुई इन्द्रिय-दौर्बल्य, मूर्च्छा, ग्लानि एवं क्रिया करने में असमर्थता उत्पन्न करती है, संज्ञा का नाश करती है और प्रकम्प को भी उत्पन्न करती है ॥१५॥

इन मिश्रित त्रिदोष लक्षणों के निर्देश का प्रयोजन यह है कि चिकित्सक इन्हें स्मरण करलें, नाडी से दोषवैषम्य जानकर लक्षण कहें ताकि उनका दोष परिज्ञान रोगी से अनुमोदित होने पर चिकित्सा में सहायक सिद्ध हो ।

क्षयलक्षणानि तु सुश्रुतस्य सूत्रस्थानस्थ—पञ्चदशाध्याये द्रष्टव्यानि ।

भवति चात्र—

द्विषष्टिर्दोषभेदानां साम्ययोगास्त्रिषटिधा ।
स्मर्तुं मुक्ता हि यशसे सुश्रुतोत्तारतन्त्रतः ॥

अथेदानीं क्रमप्राप्तानां षड्रसानां त्रिषष्टिभेदा विन्यस्यन्ते सुश्रुतात्—

दोषाणां पञ्चदशधा प्रसरोऽभिहितस्तु यः ।
त्रिषष्ट्या रसभेदानां तत् प्रयोजनमुच्यते ॥ ३ ॥
अविदग्धा विदग्धाश्च भिद्यन्ते ते त्रिषष्टिधा ।
रसभेदान् त्रिषष्टींस्तु वीक्ष्य वीक्ष्यावचारयेत् ॥ ४ ॥
एकैकेनानुगमनं भागशो यदुदीरितम् ।
दोषाणां, तत्र मतिमान् त्रिषष्टिं तु प्रयोजयेत् ॥ ५ ॥

तत्र भेदगणितार्थं न्यासः—

६ ५ ४ ३ २ १
१)१ २ ३ ४ ५ ६

६+१५+२०+१५+६+१=६३ सकलभेदाः ।

एकैकशः षड्रसा भवन्ति । यथा—मधुरः, अम्लः, लवणः, कटुकः, तिक्तः, कषायश्चेति । (सु० उ० अ० ६३, श्लो० १६)

द्वयो रसयोर्भेदाः पञ्चदश भवन्ति । यथा सुश्रुते—

वात-पित्त-कफ के वृद्धि एवं क्षय आदि के लक्षणों को सुश्रुत सूत्रस्थान के १५ वें अध्याय में देखना चाहिये ।

अब सुश्रुत से ६ रसों के ६३ तिरेसठ भेद लिखते हैं—

दोषों का १५ प्रकार का जो प्रसर कहा है उस का प्रयोजन रसों के ६३ भेदों के साथ योजना करना है । वैद्य को चाहिये कि रसों के विदग्ध एवं अविदग्धादि ६३ भेदों को खूब अच्छी प्रकार विचार कर क्रिया (चिकित्सा) करे ॥३,४॥

हम ने दोषों की भेद कल्पना में जो तिरेसठ ६३ भेद दर्शाये हैं कुशल वैद्य को चाहिये कि वह उन्हें ६३ रसों में प्रयुक्त करे ॥५॥

भेद गणित—

६ ५ ४ ३ २ १
१)१ २ ३ ४ ५ ६

६+१५+२०+१५+६+१=६३ भेद योग।

प्रधान ६ रस—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय ।

दो (२) रसों के १५ पन्द्रह भेद होते हैं—१- मधुर+अम्ल, २- मधुर+लवण,

यथाक्रमं प्रवृत्तानां द्विकेषु मधुरो रसः ।
पञ्चानुक्रमते योगानम्लश्चतुर एव च ।। ६ ।।
त्रींश्चानुगच्छति रसो लवणः, कटुको द्वयम् ।
तिक्तः कषायमन्वेति ते द्विका दश पञ्च च ।। ७ ।।

तद्यथा—१. मधुराम्लः, २. मधुर-लवणः, ३. मधुर-तिक्तः, ४. मधुर-कटुकः, ५. मधुर-कषायः, एते पञ्चानुक्रान्ता मधुरेण ।। १. अम्ल-लवणः, २. अम्ल-कटुकः, ३. अम्ल-तिक्तः, ४. अम्ल-कषायः—एते चत्वारोऽनुक्रान्ता अम्लेन ।। १. लवण-कटुकः, २. लवण--तिक्तः, ३. लवण-कषायः, एते त्रयोऽनुक्रान्ता लवणेन ।। १. कटु--तिक्तः, २. कटु—कषायः, द्वावेतावनुक्रान्तौ कटुकेन । १. तिक्त—कषायः, एक एवानुक्रान्तस्तिक्तेन । एवमेते पञ्चदश द्विकसंयोगा व्याख्याताः ।।८।।

त्रिकान् वक्ष्यामः—

आदौ प्रयुज्यमानस्तु मधुरो दश गच्छति ।
षडम्लो लवणस्तस्मादर्धमेकं तथा कटुः ।। ९ ।।

तद् यथा—१. मधुराम्ललवणः, २. मधुराम्लकटुकः, ३. मधुराम्लतिक्तः, ४. मधुराम्लकषायः, ५. मधुरलवणकटुकः, ६. मधुर—लवण तिक्तः, ७. मधुरलवणकषायः, ८. मधुरकटुकतिक्तः, ९. मधुरकटुककषायः, १०. मधुरतिक्तकषायः, एवमेषां दशानां त्रिकसंयोगानामादौ मधुरः प्रयुज्यते ।। १. अम्ललवणकटुकः, २. अम्ललवण-

---

३-मधुर+तिक्त, ४- मधुर+कटु, ५- मधुर+कषाय ये मधुर रस के योग से पांच (५) भेद हुये ।

१- अम्ल+लवण, २-अम्ल+कटुक, ३- अम्ल+तिक्त, ४-अम्ल+कषाय ये अम्ल रस के योग से चार (४) भेद हुये ।।६।।

१-लवण+कटु, २-लवण+तिक्त, ३—लवण+कषाय, ये तीन (३) भेद लवण रस के योग से हुये ।

१-कटु+तिक्त, २-कटु+कषाय ये दो (२) भेद कटु रस के योग से हुये ।

१-तिक्त+कषाय यह एक भेद तिक्त रस के योग से हुआ । इस प्रकार १५ भेद दो दो रसों के परस्पर मिलने से प्रादुर्भूत हुये ।।७,८।।

तीन तीन रसों के मिश्रण भेदों को दर्शाते हैं—

"आदौ प्रयुज्यमानस्तु मधुरो दश०"—जैसे— १-मधुर+अम्ल+लवण, २-मधुर+अम्ल+कटु, ३-मधुर+अम्ल+तिक्त, ४-मधुर+अम्ल+कषाय, ५—मधुर+लवण+कटु, ६—मधुर+लवण+तिक्त, ७— मधुर+लवण+कषाय, ८— मधुर+कटु+तिक्त, ९—मधुर+कटु+कषाय, १०—मधुर+तिक्त+कषाय, ये दश भेद मधुर रस आदि में प्रयोग करने से हुये ।।

१—अम्ल+लवण+कटुक, २—अम्ल+लवण+तिक्त, ३—अम्ल+लवण+कषाय,

तिक्तः, ३. अम्ललवणकषायः, ४. अम्लकटुतिक्तः, ५. अम्लकटुकषायः, ६. अम्लतिक्त-कषायः, एवमेषां षण्णामादावम्लः प्रयुज्यते ॥ १. लवणकटुतिक्तः, २. लवणकटु-कषायः, ३. लवणतिक्तकषायः,एवमेषां त्रयाणामादौ लवणः प्रयुज्यते ॥ १. कटुतिक्त-कषायः,एवमेकस्यादौ कटुकः प्रयुज्यते । एवमेते त्रिकसंयोगा विंशतिर्व्याख्याताः॥१०॥

चतुष्कान् वक्ष्यामः—

चतुष्करससंयोगान्मधुरो दश गच्छति ।
चतुरोऽम्लस्तु गच्छेच्च लवणस्त्वेकमेव तु ॥ ११ ॥

१. मधुराम्ललवणकटुकः, २. मधुराम्ललवणतिक्तः, २. मधुराम्ललवणकषायः, ४. मधुराम्लकटुतिक्तः, ५. मधुराम्लकटुकषायः,६. मधुरलवणतिक्तकटुकः, ७. मधुरा-म्लतिक्तकषायः, ८. मधुरलवणकटुकषाय., ९. मधुरकटुतिक्तकषायः, १०. मधुर-लवणतिक्तकषायः, एवमेषां दशानामादौ मधुरः प्रयुज्यते ॥ १. अम्ललवणकटुतिक्तः, २. अम्ललवणकटुकषायः, ३. अम्ललवणतिक्तकषायः, ४. अम्लकटुतिक्तकषायः, एव-मेषां चतुर्णामादावम्लः प्रयुज्यते ॥ १ लवणकटुतिक्तकषायः, एवमेकस्यादौ लवणः प्रयुज्यते । एवमेते चतुष्करससंयोगाः पञ्चदश कीर्तिताः ॥१२॥

४—अम्ल+कटु+कषाय, ५—अम्ल+कटु+तिक्त, ६ -अम्ल+तिक्त+कषाय, अम्ल रस के आरम्भ में प्रयोग करने से ये छह (६) भेद उत्पन्न हुए ।

१—लवण+कटु+तिक्त, २—लवण+कटु+कषाय, ३—लवण+तिक्त+कषाय, ये तीन (३) भेद लवण रस को आदि में रखने से उपलब्ध हुए ।

१–कटु+तिक्त+कषाय, यह एक भेद कटु रस को आदि में प्रयुक्त करने से प्राप्त हुआ । इस प्रकार २० त्रिकसंयोगों की व्याख्या हो चुकी ॥९; १०॥

चार रसों को युक्त करने से मधुर प्रथम प्रयुक्त किया हुआ दश भेदों को उत्पन्न करता है । जैसे—

चतुष्करससंयोगान्मधुरो—१—मधुर+अम्ल+लवण+कटु, २—मधुर+अम्ल+लवण+तिक्त, ३—मधुर+अम्ल+लवण+कषाय, ४—मधुर+अम्ल+कटु+तिक्त, ५—मधुर+अम्ल+कटु+कषाय, ६ –मधुर+लवण+तिक्त+कटु, ७—मधुर+अम्ल+तिक्त+कषाय, ८—मधुर+लवण+कटु+कषाय, ९ –मधुर+कटु+तिक्त+कषाय, १०–मधुर+लवण+तिक्त+कषाय ।

अम्ल रस का आदि में प्रयोग करने से चार भेद उत्पन्न होते हैं—१-अम्ल+लवण+कटु+तिक्त, २—अम्ल+लवण+कटु+कषाय, ३—अम्ल+लवण+तिक्त+कषाय, ४—अम्ल+कटु+तिक्त+कषाय ।

लवण रस को प्रथम प्रयुक्त करने से एक भेद उत्पन्न होता है—लवण, कटु, तिक्त, कषाय । इस प्रकार चतुष्क रस संयोग के १५ भेद उत्पन्न हुए ॥११; १२॥

पञ्चकान् वक्ष्यामः—

पञ्चकान् पञ्च मधुर एकमम्लस्तु गच्छति ॥ १३ ॥

१. मधुराम्ललवणकटुतिक्तः, २. मधुराम्ललवणकटुकषायः, ३. मधुराम्ललवण-तिक्तकषायः, ४. मधुरलवणकटुतिक्तकषायः, ५. मधुराम्लकटुकतिक्तकषायः, एवमेषां पञ्चानामादौ मधुरः प्रयुज्यते ।। अम्ललवणकटुतिक्तकषायः—एवमेकस्यादावम्लः प्रयुज्यते । एवमेते षट् पञ्चसंयोगा व्याख्याताः ॥१४॥

षट्कमेकं वक्ष्यामः । एकस्तु षट्कसंयोगो मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायः, एष एक एव षट्कसंयोगः ॥१५॥

भवति चात्र—

एषा त्रिषष्टिर्व्याख्याता रसानां रसचिन्तकैः ।
दोषभेदत्रिषष्ट्यां तु प्रयोक्तव्या विचक्षणैः ॥ १७ ॥

—सु० उत्तरतन्त्रे, अ० ६३

"रसभेदकथनस्य प्रयोजनमिदमेव यत् त्रिषष्टिप्रकाराणामपि सभेदानामुपयोगार्थं दोषभेदा उक्ताः । तेन दोषभेदानामपि त्रिषष्टिर्गृह्यते ।" —मुरलीधरः ।

अस्मिन्निवन्धे संगतिस्तु—रसानां भेदज्ञानाद् भिषग् व्यथातुरस्य दोषकोपनं जानन् पथ्याहारविहारमुपदेष्टुं शक्नोति । दोष-भेद-ज्ञान-कुशलश्च भिषग् व्यथातुर-स्यापथ्यकृतमववोद्धुं शक्नोति । तस्मान्नाडीज्ञानमारुरुक्षुणां दोषाणां रसानाञ्च भेदाः पौनःपुन्येन नूनमवधार्य्या यशोऽर्थलाभाय ।

पांच रसों के संयोग में मधुर रस पांच भेदों के आरम्भ में प्रयुक्त होता है । १—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, २—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय, ३—मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कषाय ४—मधुर, लवण, कटु, तिक्त, कषाय, ५—मधुर, अम्ल, कटु, तिक्त, कषाय । एक भेद अम्ल रस को आदि में रखने से होता है—अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय । यह ६ पंचक संयोगों की व्याख्या हुई ॥१३; १४॥

६ रसों के संयोग से एक भेद उत्पन्न होता है—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषायः । यह एक ही षट्क संयोग है ॥१५॥

रस भेद ज्ञानियों ने ६ रसों के त्रेसठ भेद उपर्युक्त प्रकार इसलिये किये हैं कि इनका प्रयोग त्रेसठ भेदों में विभक्त त्रिदोष में किया जाये ॥१७॥

६ रस और तीन दोष परस्पर अनुस्यूत होने से सारे विश्व को अपने में व्याप्त कर रहे हैं ।

नाडीज्ञान में इन त्रिदोषभेदों एवं रसभेदों के उल्लेखका प्रयोजन यह है कि वैद्य इन भेदों से भलीभांति परिचित होनेके कारण रोगीके दोष, प्रकोप आदिको जानकर उसके अनुकूल औषधि, आहार, विहार आदिकी कल्पना और आदेश कर सके ।

इन भेदों का जानकार वैद्य नाडीकी गतिद्वारा दोष-भेद आदि जानकर किसी भी रोग के अपथ्य एवं अहितका भी विचार कर सकता है । इसी कारण इन भेदों का परिचय यहां कुछ विस्तार के साथ प्रदर्शित किया गया है । इस परिज्ञान से यश और अर्थलाभ भी होता है ।

अथेदानीं सूक्ष्मज्ञानाय पञ्चीकृत—पञ्च—महाभूतानां भेदज्ञानायाव्यक्त-विधिना संकलनं व्यवकलनं च भास्कर-सूत्रेणोच्यते—

'योगोऽन्तरं तेषु समानजात्योर्विभिन्नजात्योस्तु पृथक्स्थितिश्च'।

—बीजगणितम्,

तेषु=वर्णेषु मध्ये, समाना=एका यावत्तावत्त्वादिधर्मरूपा,जातिर्ययोस्तौ, तथा तयोः समानजात्योः, पूर्वोक्तो योगः, अन्तरं वा स्यात्। अत्र स्यादिति पदमुत्तर-दलस्थमन्वेति देहली-दीप-न्यायेन। 'समानजात्यो'रित्युपलक्षणम्। समानजातीनामपि द्रष्टव्यम्। विभिन्ना जातिर्ययोस्तयोः, योगेऽन्तरे वा क्रियमाणे पृथक् पृथक् स्थिति-रेव स्यात्। अस्यायमभिप्रायः—रूपस्य रूपेण यावत्तावतोर्यावत्तावता, कालकस्य कालकेन, यावत्तावद् वर्गस्य यावत्तावद् वर्गेण, यावत्तावद्घनस्य यावत्तावद्घनेन, कालकवर्गस्य कालकवर्गेण, कालक--नीलक-भावितस्य कालक-नीलक—भावितेन। एवं समान—जात्योर्योगेऽन्तरे वा कर्तव्ये; योगोऽन्तरं वा प्रोक्तवद् भवति। रूपस्य यावत्तावता कालकादिना वा, एवं विभिन्नजात्योर्योगेऽन्तरे वा पृथक् स्थितिरेव। अत्रैकपङ्क्ताविति द्रष्टव्यम्। अन्यथा योगोऽन्तरज्ञापकाभावादिति। विशेषस्तु बीज-गणितादवगन्तव्यः।

अस्मिन्निबन्धेऽस्य सङ्गतिस्तु—पञ्चीकृत-त्रिषष्टिरसभेदेषु त्रिषष्टिदोषभेदेषु च पञ्चीकृत—पञ्चमहाभूतानामंशास्तथैवाव्यक्तविधिना संकलय्य ज्ञातव्या यत् कस्य वा भूतविशेषस्यान्येभ्यो भूतचतुष्टयेभ्य आधिक्यमस्तीति। उक्तञ्च स्पष्टं पञ्चमहा-भूतत्रित्वीयेऽध्याये भूतानां रसेषु योगः, त्रिदोषेषु च।

तद् यथा न्यासः—दोषभेदेष्वेकस्य निदर्शननिमित्तम्। वायुर्वृद्धः, कफो वृद्ध-

---

पञ्जीकृत पञ्चमहाभूतों की न्यूनता और अधिकता से ही रसभेद और दोषभेद जाने जाते हैं। अतः उनका परस्पर जोड़ और घटाव आदि बीजगणित के संकलन एवं व्यवकलन के क्रम से होना चाहिये। बीजगणित में भास्कराचार्य ने लिखा है—।

'योग और अन्तर (जोड़ना-घटाना) समान जातियों में होता है।' अतः यहां वायु; वायुमें, पित्त; पित्तमें, और कफ; कफ में योग और वियोग प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथिवी—तत्त्व; अपने में ही योग एवं वियोग प्राप्त करते हैं।

रसों और दोषों के ६३ भेदों में से पञ्चीकृत—पञ्चमहाभूतों के अंशों को अव्यक्त विधि से संकलित करके जान लेना चाहिये कि अभीष्ट रस-भेद-विशेष में या दोषभेद-विशेष में किस भूत की अधिकता है। इसका विशद-विवेचन'पञ्चमहाभूत-त्रित्वीय अध्याय'में किया जा चुका है।

उदाहरण के लिये एक दोष—भेदका यहां उल्लेख किया जाता हैं।

जैसेः—वायुवृद्ध, कफ वृद्धतर और पित्त वृद्धतम है। इनमें भूत संख्या जानने के लिये

तरः, पित्तं वृद्धतमम् । अत्र भूतानि संख्यातुं दोषेषु भूतनिक्षेपो यथा—उक्तमेव हि पूर्वं त्रिदोषवेदमूलीयेऽध्याये १४ पृष्ठे—

ते (वात-पित्त-कफाः) द्वे द्वे देवते श्रिताः । तद् यथा—आकाशमारुताभ्यां वातः श्रितः । अग्निमादित्यञ्च पित्तम् । सोमं वरुणञ्च कफः । तास्तेषां देवताः ।"

(काश्यप-संहिता)

अत्र वृद्धो वायुः=अकाशः[२], मारुतश्च[२] । वृद्धतरः कफः=आकाशः[१], वायुः[१], अग्निः[२],सोमः[3], पृथिवी[3] । वृद्धतमं पित्ताम्–आकाशः[१], मारुतः[१], अग्निः[४], सोमश्च[४] ।

यद्यत्र समो दोषो रूप—१-समः कल्पितः स्याच्चेत् तदा समुपपद्यते वृद्धः समो द्वयेन, वृद्धतरस्त्रिभिः, वृद्धतमश्चतुर्भिरिति, कल्पनैषा गणना--सौकर्याय ।

आकाशः ४, वायुः ४, अग्निः ६, जलम् ७, पृथिवी ३ । एवमुपलब्ध-भूतांशेषु विपरीत-भूतांशानां मधुरादिरसानामुपयोगः स्वास्थ्याय कल्पयत्यातुरं यशसा च योजयति भिषजम् । तत्र रसानां भूत-सन्निवेशो यथा—

मधुरोऽम्लः पटुश्चैव कटु–तिक्त--कषायकाः ।
इत्येते षड्रसाः ख्याता नाना द्रव्य--समाश्रिताः ॥१४॥

'त्रिदोष-वेदमूलीय' अध्याय में पृष्ठ १४ पर कथित पञ्चमहाभूतक्रम देखना चाहिये, जो वृद्धजीवकीय तन्त्रके आधार पर लिखा गया हैं ।

वृद्ध जीवकतन्त्रमें कहा है—

"वे—वात, पित्त और कफ—दो-दो देवताओं के आश्रित हैं । जैसे—वायु, आकाश और मरुत देवता के अश्रित है । पित्त, अग्नि और आदित्यके आश्रित है एवं कफ सोम और वरुण के आश्रित है । वे ही छः उनके (वात पित्त-कफ के) देवता हैं ।

[अतः त्रिदोष में उन-उन देवताओं की प्रकृतिका ज्ञान करते हुए चिकित्सकको चिकित्सा करनी चाहिये और रोगीको उन-उन दोषों की प्रबलता में उन-उन देवताओं की आराधना करनी चाहिये ।]

वृद्धवायु–आकाश २, वायु २ । वृद्धतर कफ–आकाश १, वायु १, अग्नि, २, सोम ३, और पृथिवी ३ । वृद्धतम कफ—आकाश १, वायु १, अग्नि ४, सोम ४ ।

यदि गणितकी सरलता के लिये सम दोष की एक अङ्क के बराबर मान लिया जाय तो स्वयं ही २ अङ्क वृद्ध ३ अङ्क वृद्धतर और ४ अङ्क वृद्धतम समझा जा सकता है । अतः योग इस प्रकार हुआ–आकाश ४, वायु ५ अग्नि ६, जल ७, और पृथिवी ३ । इस प्रकार इन उपलब्ध भूतांशों के विपरीत मधुर आदि रस स्वस्थ करते हैं और वैद्यको यशस्वी बनाते हैं ।

रसोंका भूत सन्निवेश इस प्रकार हैः—

मधुक=पृथिवी+जलके आधिक्यसे
अम्ल=पृथिवी+अग्निके "
लवण=जल+अग्निके "

धराम्बुक्ष्मानल–जल--ज्वलनाकाश--मारुतैः ।
वाय्वग्निक्ष्मानिलैर्भू तद्वयै रससम्भवः क्रमात् ॥१५॥

—शार्ङ्ग०, पूर्वखण्ड, अ० २

कटुः ४, तिक्त–कषायौ ४, तिक्त-अम्ल-कटुः ६, मधुरः, पटुः ७, मधुराम्ल–कषायाः १, एवमेते रसाः शरीरे। तत्र योगः—

मधुरः ८, अम्लः ७, लवणः ७, कटुः १०, तिक्तः १०, कषायः ५, एवं रसांशयुक्तं द्रव्यमस्मिन् रोगार्त्तेऽस्ति, तत्र विपरीत-रसान्नपान–विहाराणामुपयोगः क्षेमाय कल्पते वैद्यातुरयोः । इत्यूहक्रमः ।

भुक्तान्नरस–परिपाककालः—

रसः, पञ्चदिनानि सार्द्धैका च घटी प्रत्येकं धातौ तिष्ठन् परिपाकं भजते ताद्भाव्याय। एवं सप्तभिर्गुणिताः पञ्चत्रिंशद्दिनानि सार्धदश च घटिका भवन्ति। तत्रौजसि परावर्तितुञ्च दिनानि ५. घटिका १, पलानि ३० युक्ता भवन्ति ४०।१२ चत्वारिंशद्दिनानि द्वादश च घटिकाः। अत एव च लौकिका भाषन्ते–यत्त्वया चत्वारिंशद्दिवसं भैषज्यं सेवनीयमिति ।

अथेदानीं द्वादशराशिमयं शरीरं कल्पयित्वोत्पाद्योत्पादकभावेन गणितं निरूप्यते—

यथा हि द्वादशभावमयं जगत् तत्र गणिते निवद्धमस्ति; तथैव शरीरावयवा अपि परस्परं सम्बन्धमातिष्ठन्ति, अवयवेषु व्याधीनां सद्भावाद् व्याधयोऽपि गणिते-

---

कटु = आकाश + वायु के आधिक्य से
तिक्त = वायु + अग्नि के ,,
कषाय = पृथिवी + वायु के ,,

कटु ४, तिक्त—कषाय ४, तिक्त–अम्ल–कटु ६, मधुर–पटु ७, मधुर-अम्ल-कषाय १, शरीर में रस इस अनुपात से हैं। इनका योगः—मधुर ८,अम्ल ७, लवण ७, कटु १०,तिक्त १० कषाय ५, इस रसानुपाती द्रव्य रोगी में है जब कि वायुवृद्ध, कफ वृद्धतर और पित्त वृद्धतम—रूप से शरीर में हैं।

यदि इस रसानुपात से विपरीत रसानुपात प्रयुक्त किया जाय तो रोगी को आरोग्य लाभ एवं वैद्य को कीर्ति लाभ होगा। इसी प्रकार सूक्ष्मज्ञान के लिये सर्वत्र कल्पना करनी चाहिये।

खाये हुए आहार का रस, शरीर में ५ दिन, १॥ डेढ़ घड़ी में परिपाक होता है। इसी प्रकार प्रत्येक धातु के सायुज्य होते-होते अन्तिम ओजस् धातु के परिपक्व होने तक ४० दिन का समय लगता है। यही कारण है कि साधारणतः कहा जाता है कि ४० दिनों तक औषधि का सेवन करना चाहिये।

वारह राशिमय काल—पुरुष, उत्पाद्य—उत्पादक भाव से समस्त संसार को गणित में बांध हुए है, उसी प्रकार इस शरीर को, बारह भागों में विभक्त करके उत्पाद्य और उत्पादक भाव से व्याधियों के परिज्ञान के लिये उपस्थित करते हैं। क्योंकि व्याधियों की उत्पत्ति,शरीर के

नानेन ज्ञानसौकर्य्यमुपगच्छन्ति, क्रियासौकर्य्याच्चारोग्यत्वञ्च । तत्र न्यासः—

अवयवाः	विवरणम्
मस्तिष्कम् १ कर्णौ, नासा, नेत्रे, मुखम् ५ कण्ठः—९	इमे अवयवा ज्ञानेन्द्रिययुक्तत्वात् काये ब्राह्मण इव तिष्ठन्ति ।
उरः—३ उरस्तो नाभिपर्यन्तम्—७ नाभेरधः—११	सविभजन—प्रधानत्वाद् वैश्यस्येव मध्यमो भागोऽयं काये ।
हस्तौ—२ प्रकोष्ठास्थीनि—६ प्रगण्डास्थीनि—१०	रक्षाकर्मणः प्राधान्यमधिकृत्य क्षत्रियस्थानीयोऽयं शरीरे ।
जघनास्थीनि—४ पिण्डिकाः—८ पादौ—१२	शूद्रमिव वहनकर्मप्राधान्यमधिकृत्य शूद्रस्थानीयोऽयं विभागः शरीरे ।

चतुर्विध—विक्लृप्तत्वात् सृष्टेः,लोकसम्मितश्च पुरुष इति तस्मादुपपन्नं भवति । उक्तञ्च यजुषि—

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्यते ॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳫं शूद्रो अजायत ॥

—यजु० अ० ३१, मं० १०, ११

एक देश में कुपित होने वाले दोषों के कारण ही होती है । इस गणित के द्वारा वैद्यों को निदान और चिकित्सा करने में सुविधा प्राप्त होगी ।

न्यासः—१,५,९ संख्यावाले अवयव, ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्ध रखने के कारण ब्राह्मण २,६,१० क्षत्रिय, ३,७,११ वैश्य और ४, ८, १२ शूद्र संज्ञक हैं । यह सृष्टि भी चार भागों में विभक्त है । यजुर्वेद में भी विराट् पुरुष के विभागों के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर यही उत्तर दिया गया है—'उसका मुख—स्थानीय ब्राह्मण है, बाहू क्षत्रिय, ऊरू वैश्य और पैर शूद्र स्थानीय हैं' ।

अनेनैव समानार्थको मन्त्र आथर्वणे । यथा—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्योऽभवद् ।
मध्यं तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।

—अथर्व० १६।६।६

रोग—परिज्ञानार्थं शरीराङ्ग—विभागो यथा—

शिरः–१, गलः–२, नेत्रे–५, यकृत्प्लीहानौ–५,आमाशयः–५, नासा–३, कर्णौ ३, लिङ्गम्–३, स्कन्धः—३, हृदयः–४, मुखम्–४, ओष्ठौ—४, जिह्वा–४, उरः—६, कटिश्च–६ उत्तरवस्तिः—७, गर्भाशयः—७, क्षुद्रान्त्राणि–७,वृक्कौ—७ । पायुः—८, दन्ताः–८, बृहदन्त्रम्-८, नितम्बौ-९, जङ्घे—१०, पिण्डलित आपादम्–११, हस्तौ–१२, गलस्याभ्यन्तरदिशि सार्धचतुरङ्गुलम्—५ । गुदवलयश्च सार्धचतुरङ्गुलम् ।

अत्र द्वादशराराशिषु त्रिदोषविभागः—

१—४ – ७—१०—मेष-कर्क-तुला-मकराः—वातस्थानीयाः ।

२—५—८—११—वृष-सिंह-वृश्चिक-कुम्भाः- पित्तस्थानीयाः ।

३—६—९—१२—मिथुन-कन्या-धनुर्मीनाः—कफस्थानीयाः ।

एतेषामुत्पाद्योत्पादकभावो लिख्यते—

योगः	उत्पादकाङ्काः,	उत्पद्यमानाङ्काः,	उत्पाद्याङ्काः	योगः
१२	३-४-५	—१—	९-१०-११	—३०
१५	४-५-६	—२—	१०- १-१२	—३३
१८	५-६-७	—३—	११-१२-१	—२४

अथर्ववेद में भी इसी आशयका मन्त्र है ।

शरीर के अङ्गोंको ज्ञान-सौकर्य के लिये स्थूल रूप से अङ्कित करते हैं ।

१—सिर, २—हाथ, गला, ३—कन्धा, नासिका, लिङ्ग, ४—हृदय, रसना, ५—नेत्र, यकृत् प्लीहा, आमाशय, ६—छाती कटि(कमर), ७–क्षुद्र अंतड़ियां, वृक्क, गर्भाशय, मूत्राशय, ८—गुदा, बृहदन्त्र, दांत, गलेका आन्तरिक भाग ४॥ अंगुल, ९–नितम्ब, १०–जङ्घा बाहुमूल से कोहनी तक, ११—पिण्डलियां, १२–हाथ, पैर ।

द्वादश राशियोंका वात, पित्त, कफ में विभाग —

१—४—७—१०—वातस्थानीय, २–५–८–११–पित्तस्थानीय और ३–६–९–१२ श्लेष्म स्थानीय हैं ।

अब इनका उत्पाद्य—उत्पादक भाव देखिये—

योग	उत्पादक अङ्क	उत्पद्यमान अङ्क	उत्पाद्य अङ्क	योग
१२	३–४–५	१	९—१०-११	३०
१५	४–५–६	२	१०-११-१२	३३
१८	५–६–७	३	११-१२—१	२४

२१	६—७—८	—४—	१२-१—२ — -१५
२४	७—८—९	—५—	१—२—३———६
२७	८—९--१०	—६—	२—३—४———९
३०	९--१०-११	—७—	३—४—५——१२
३३	१०-११-१२	—८—	४—५--६——१५
२४	११-१२--१	—९—	५--६--७——१८
१५	१२-१—२	—१०-	६—७—८——२१
६	१—२—३	—११-	७—८—९——२४
९	२—३—४	—१२-	८—९-१०——२७

स्पष्टीकरणम्—

यथात्रारम्भे दशमास-प्रसूतित्वमुक्तं तद्वदेवात्रापि। यथा वर्तमाने वैक्रमे वत्सरे वेदशून्याभ्रनेत्र (२००४)मिते वैशाखे मासि कस्याश्चिद् गर्भो ध्रियते तदा तस्या गर्भ-प्रसवो माघे मासि श्रेष्ठो भवति। वैशाखस्य प्रारम्भदिनेषु यदि गर्भाधानं स्यात् तदा दिनानां व्यत्ययात् स पौषे मास्युत्पद्यते। अथ चेत् वैशाखान्तेष्वहःसु गर्भो धृतः स्यात् तया स काल-व्यत्ययात् फाल्गुनं स्पृष्ट्वा प्रादुर्भवति। एष एव हि सर्वराशिषु क्रमः। राशिर्हि समानो मासशब्देन।

२१	६—७—८	४	१२-१—२	१५
२४	७—८—९	५	१—२—३	६
२७	८—९-१०	६	२—३—४	९
३०	९-१०-११	७	३—४—५	१२
३३	१०-११-१२	८	४--५—६	१५
२४	११-१२-१	९	५—६—७	१८
१५	१२-१—२	१०	६—७—.८	२१
६	१—२—३	११	७—८—९	२४
९	२—३—४	१२	८—९-१०	२७

स्पष्टीकरण—

इसी अध्याय के प्रारम्भ में कहा गया, है कि गर्भ का प्रसव काल दसवां महीना है। इस पर जैसा वहां विचार-विमर्श किया गया है वैसा ही यहां भी समझना चाहिये। जैसे-वर्तमान विक्रम-सम्वत् २००४ के वैशाख मास में स्थित होने वाले गर्भ का प्रसव माघ में उत्तम है। यदि वैशाख के प्रारम्भिक दिनों में गर्भ स्थित हो जाय तो पौष के अन्तिम दिन में भी प्रसव हो सकता है। इसी प्रकार वैशाख के अन्तिम दिनों में स्थित होनेवाले गर्भ का प्रसव दिनों के व्यत्यय से फाल्गुन के प्रारम्भ में भी हो सकता है। यही क्रम सब राशियों के उत्पादक, उत्पद्यमान एवं उत्पाद्य में भी समझना चाहिये। राशियां महीनों के स्थान में हैं।

तद् यथा–वेदशून्याभ्रनेत्र (२०४, मिताब्दस्य कार्तिके मासि गर्भ आधृतो भवति तदा स अर्थशून्याभ्रनेत्र (२००५) मिताब्दस्य कर्के मासि जन्म धारिष्यति। गर्भाधानस्य कालव्यत्ययेन गर्भस्थ–पाककालव्यत्ययेन च समुपपद्यते। तुलामासो जनयति-आषाढं, श्रावणं, भाद्रपदं वा। तत्स्थभावानां तन्मासेन ग्रहणं भवति। एवं चक्रकव्यवस्थया द्वादशसु मासेष्वेव जन्म भवति। शुनीनां शशादीनामजानां वा प्रसवविषये तु पूर्व-मुक्तमिति नेह पुनर्विचार्य्यते।

अमुनैव प्रकारविशेषेणाङ्गनामङ्केषु प्रादुर्भावो भवति। तद् यथा–शरीराङ्गानि राशित्वेन कल्पनीयानि, तत्र च हृदयं (४) चतुर्भिरङ्कितमस्ति। हृदये च यदि कस्यचित् व्याधिरस्ति तदा चिन्तनीयं यत्–६–७–८तश्चत्वार उत्पद्यन्ते। तत्र सप्तमाङ्केन वृक्कौ निर्दिष्टौ, तदा वक्तव्यं ज्ञातव्यं वा यद् वृक्कावस्य दूषितौ प्राग् हृदयव्याधेः। यत ७ अङ्का वृक्कस्य। वृक्क-दूषणञ्च-मैथुनातिशयेन, मिथ्यामैथुनेन वा व्यायामातिशयेन वा गमनातिशयत्वात्। एतेषामभावे दुष्कृतस्यादृष्टस्य कारणत्वम-वसेयम्। एतदेव हि हृदयव्याधेर्मूलं वृक्कदूषणमुपलब्धम्। वृक्कयोः कार्यम्–"वृक्कौ **पुष्टिकरौ प्रोक्तौ जठरस्य च मेदसः"** इत्युक्तरीत्या वृक्क-दोष-प्रशमनेन वैद्यः साफल्यं लभते। हृदयं स्वस्थीकर्तुं रत्नानां प्रयोगो वैद्येन यथाकालं करणीय एव। एतद्धि प्रधान्येनोक्तम्।

व्यत्ययेन च गुददोषात्, मलदोषात्, दन्तानां मलिनीभावाद् वेति वसुना (८) अङ्केन संगनीमयम्, यत एतेषामष्टावङ्काः। इत्थमेव कट्यामपि विकृतायामुरसि

जैसेः—सम्वत् २००४ के कार्तिकमास में स्थिर गर्भ, २००५ के कर्क—श्रावण में जन्म लेगा। गर्भाधान के काल-व्यत्यय से तुला–कार्तिक—मास आषाढ़, श्रावण और भाद्रपद मासों को जन्म देता है। अर्थात् इन मासों में प्रसव होता है। यह प्रसूयमान जिस मास में उत्पन्न होता है; उसी सूर्य से उसका व्यवहार होता है।

इसी चक्र को १२ मासों में चालित कर देना चाहिये। यहां कुतिया, खरगोश आदि के प्रसव सम्बन्ध में विचार नहीं किया गया। इसकी युक्ति प्रथम ही लिखी जा चुकी है।

इसी नियम से अङ्गों का अङ्कों में प्रादुर्भाव होता है–ऐसा समझना चाहिये। जैसेः—हृदय को ४ अङ्क से अङ्कित किया है, तो यदि किसी के हृदय में रोग है तो उक्त गणित–प्रक्रिया से ज्ञान कर लेना चाहिये कि ६ ७ और ८ से ४ उत्पन्न होता है। अब यह देखना चाहिये कि ७ अङ्क वृक्क का है, अत अवश्य ही इस हृद्रोगी के वृक्क पहले दूषित हुए होंगे। वृक्कों के दूषित होने के प्रधानतः ये कारण हैं—मैथुनातिशय, व्यायामातिशय या गमनातिशय यदि इनमें से कोई कारण नहीं है तो पूर्वजन्म का दुष्कृत समझना चाहिये। सारांश यह कि हृदयरोग का मूल, वृक्कों का दूषित होना सहज ही उपलब्ध हो गया।

वृक्क का कार्य है–उदर और मेदा पुष्टि करना। अतः कुशल वैद्य को चाहिये कि वृक्कों के दोष को दूर करते हुए हृदय को स्वस्थ करने के लिये रत्नों का भी उचित प्रयोग करे।

व्यत्यय से ८ का अङ्क लीजिये। यह अङ्क बृहदन्त्र और दांतों का है। अतः ८ अङ्क अर्थात्

वा दूषिते भवति हृद्रोगः, इति निदर्शनमात्रमुक्तम् । सर्वत्रैवं सर्वाङ्गेषु शरीरावयवलाच्छनाङ्कमुपादाय तस्योत्पाद्योत्पादकभावं निष्काल्य वक्तव्यम् । इत्यूहक्रमः सार्वत्रिकः ।

महोष्मा-अर्शरोग आदि भी हृदय को विकारी करते हैं । निदान आदि में अर्शोरोगी के हृदय में दोष का होना लिखा है । दांतों का मैला या दूषित होना भी इसका कारण हो सकता है ।

इसी प्रकार ६ अङ्क कमर और छाती का है, अतः कमर या छाती के दूषित होने से भी हृद्रोग हो सकता है । जैसे—दमे या श्वास के रोगी का हृदय असंयत रहता है वह हृदयरोग का अनुभव करता है ।

पहले नाडी से वात—पित्त—कफ का मुख्य-गौण भाव जानकर और प्रधान दोष के अनुसार व्याधि की उत्पत्ति का बताना वैद्य के लिए प्रत्यक्ष यश और अर्थ दायक है । यह गणित का प्रकार सफल, अनुभूत और अमोघ है । यही सब अङ्कों की व्याधियों में ऊहा का क्रम है ।

इसके स्पष्टीकरण के लिये एक और उदाहरण देते हैं । किसी की आखों में विशेष विकार है । इसके अङ्क ७—८—६ हैं । ८ संख्या गुदा की है । अतः मेंहदी (मदयन्ती) को पीसकर उसकी टिकिया गुदापर रखने से तीन दिन में आंखों की लाली, शूल एवं यकृत् का उपताप आदि शान्त होते हैं – यह बहुधा देखा गया है ।

गर्भाशय का ७ अङ्क है और सिर का एक । अतः गर्भाशय का वात-पित जनित विकार शिरःशूल के रूप में प्रकाशित होता है इस अवसर पर शिरः शूलकी चिकित्सा करनेवाले चिकित्सक को सफलता नहीं मिलती क्योंकि रोग का मूल गर्भाशय में स्थित है । कुपित दोष गर्भाशय में ७ अङ्क सीधी दृष्टि से १ अङ्क को और वक्र दृष्टि से ४ को भी देखता है । अतः स्त्रियां प्रायः कहा करती हैं कि वैद्यजी, मेरा दिल (हृदय) बैठता जाता है और खुसता है इत्यादि ।

प्रत्यक्ष अनुभव—

मेरे एक स्नेही मित्र श्री शुभनाथ वकील की पिण्डलियों में विशेष दर्द होता था । खड़ा होना कठिन था । अनेक डाक्टरों की चिकित्सा और मालिश विशेषज्ञों की मालिश कराते रहे । २—३ सप्ताह तक कष्ट बढ़ता रहा । उन्होंने मुझसे कहा । मैंने पिण्डली की ११ संख्या देखी, जो ५ अङ्क--आमाशय को देख रहा था अतः तुरन्त निश्चय कर लिया कि आमाशय में कुपित वायु ने सुद्दे डाल दिये हैं । अतः मैंने निर्भ्रान्त होकर द्विगुण—कपूर योग से सिद्ध की गयी तुत्थ भस्म की एक रत्ती मात्रा दे दी । वे एक पुड़िया में ही स्वस्थ हो गये । उन्हें पहले एक वमन हुआ और एक घण्टे बाद एक रेचन हुआ । वायु का विबन्ध द्रुत हो गया । २४ घण्टों में स्वस्थ हो गये । उसके अनन्तर वे त्रिदोष विज्ञान के परम अनुयायी बने और मुझ से इस गणित प्रकार को छात्रवत् सीखा । उन्होंने ३३ वर्ष की अवस्था तक कभी वैद्यों की पुड़िया नहीं खायी और न उन्हें उन पर विश्वास था । वे इस समय भी इसके प्रमाण स्वरूप उपस्थित है और पाश्चात्य चिकित्सकों के परम विरोधी हो गये हैं । अतः लोकोपकारार्थ गागर में सागर रूप गणित को उपस्थित किया है ।

यह नाडी परिज्ञान का विषय अतिशय गम्भीर और दुरूह होते हुए भी सभी प्रकार की परीक्षाओं में अधिकतम परिपूर्ण है--ऐसा मेरा निज जीवनानुभव से निर्भ्रान्त विश्वास है ।

अथ चेद् रोगी व्याधिमुपेक्षते, प्रमाद्यति वा तच्चिकित्सायां तदा पूर्वक्रम-न्यासेन ज्ञातव्यं यच्चतुर्थोऽङ्कः कमङ्कं जनयति, स यं यमङ्कं जनयेत्, व्याधिना ते तेऽप्यवयवा आक्रान्ता भविष्यन्तीति ज्ञातव्यं भवति । तद् यथा—

चत्वार उत्पादयन्ति प्राधान्येन चन्द्राङ्कं (१), स चैकोऽङ्कः शिरसः । सो हि हृद्रुजार्तश्चिन्तनीयं विषयं चिन्तयितुमशक्तो भविष्यति, चिन्तिते वा हठाद्व्याधि-हृं दयस्थोदीरणमेष्यतीति ।

यश्चात्राङ्कयोगः स काल-कथने प्रयोगं लभते । सा योगात्मिका संख्या घटि-भिर्दिनैर्वर्षैर्मासैश्च यथासमयं प्रयोगं लभते । विषयोऽयं ज्योतिर्विद्भिः सम्बन्धमात-नोति, तस्मादत्र लेखं न ज्ञापयितुं शक्यते । अध्यापनीयोऽयं विषयः । अध्यापिताश्च वहवश्छात्राः परम्परयानया ।

अथेदानीं ज्ञाप्यते कस्यां प्रकृतावयं पुरुषो मरिष्यतीति । तद् यथा-अहमङ्काङ्ग-नन्दचन्द्रेऽब्दे(१९६९ वैक्रमे भाद्रे मासि समुत्पन्नः । स च पञ्चमो मासः । पञ्चमोऽङ्कः प्राधान्येन नेत्राङ्कं (२) जनयति । स च समो भवति ज्येष्ठमासेन । तस्माज्ज्येष्ठमास-समामुष्णां प्रकृतिं प्राप्य मरिष्यामि । ज्येष्ठमासो हि वहिरुष्णोऽन्तः शीतश्च भवति तस्माद्दाहं रक्तपित्तमन्यां वा पित्त-समुद्भवां व्याधिं प्राप्स्यामीति गणितकुशलैर्वैद्यैरव-धार्य्यम् । एष क्रमः सार्वत्रिकः ।

अब व्याधिसञ्चार ज्ञान के लिये भी संक्षिप्त रूप से लिख देना आवश्यक है । यदि रोगी व्याधि की उपेक्षा करता है तो देखना चाहिये कि अभीष्ट व्याधि का आश्रयभूत अङ्क कौन सा है। वह अङ्क अपने से चतुर्थ अङ्कवाले शरीर के अवयव को मुख्यतया दूषित करता है । जैसे–रोगी का हृदय ४ अङ्क १ अङ्कवाले सिर को रुग्ण कर देता है। अर्थात् हृद्रोगी यदि ऊर्ध्वजत्रु-जनित श्रम करना चाहे तो वह व्याधि बढ़ जायेगी । यदि इतने पर भी चिकित्सा में प्रमाद करता है तो अङ्क १ अङ्क १० का प्राधान्य उत्पन्न करता है। १० अङ्क-जंघा है । अतः वह चलने-फिरने में अशक्त हो जायेगा । यदि चलेगा तो हृदय में विकार उत्पन्न हो जायेगा, शिर में चक्कर आदि आवेंगे । ऐसा ही सर्वत्र समझना चाहिये ।

इस विषय को अधिक विस्तार से लिख-लिखकर समझाना असम्भव है अतः हमने छात्रों को पढाकर, उनके द्वारा इस विज्ञान को फैलाने का निश्छल यत्न किया है और करते भी रहते हैं । यह विज्ञान हमें गुरु परम्परा से प्राप्त हुआ है ।

वैद्य, यदि यह जानना चाहे कि अभीष्ट व्यक्ति किस प्रकृति में मरेगा—वातल पित्तल या श्लेष्मल—तो उसके लिये एक उदाहरण प्रदर्शित किया जाता है । उदाहरणः—

मैं विक्रम सम्वत् १९६९ के भाद्रमास में जन्मा हूं । अतः ५ अङ्क २ अङ्क को उत्पन्न करता है । २ अङ्क ज्येष्ठ मास का है ज्येष्ठ मास बाहर उष्ण और अन्दर ठण्डा होता है । अतः मैं पित्त या पित्तप्रधान बीमारी से मरूंगा । इस प्रकार गणित–कुशल चिकित्सकों को सर्वत्र कल्पना करनी चाहिये । यह क्रम सारे विश्व पर लागू हो सकता है ।

(इसी प्रकार सं० १९३७ वि० के आषाढ मास में मेरे पूज्य पिता अनन्तराम जी उत्पन्न

यथाकाशे नक्षत्राणि न क्षतं यन्तस्तिष्ठन्ति तथैवेहापि—

आत्मा । पुं—स्त्री—नपुंसकाः । वर्णाः १ ३ दिशः वेदाः		इत्येवमादि ४
भूतानि । आकाशगाः ५ जलचराः भूचराः उभयचराश्च पुरुषाः	४	ग्रहाः ७
ब्रह्मा—विष्णु – महेशात्मिकाः शक्तयस्तिस्रः । सत्त्व—रजस्तमोरूपात्मका वा गुणाः । उत्पत्ति–स्थिति–प्रलयात्मिका वा तिस्रः क्रियाः ।		३

समुदयो ह्येषां सप्तविंशतिर्भवति। तत्रैकेनाव्यक्तेन ब्रह्मणाभिजिदिवान्तर्लीनेन युवतत्वादष्टाविंशानि सन्त्यपि सप्तविंशान्येव भवन्ति । एतानि न क्षतं यान्तीति सतः । उपपद्यते च ये त्रिषप्तोक्तम् (२८=२+८=१०) इति । अव्यक्तमतोऽपास्य त एव (२७=२+७=९) नवाङ्केष्वेव सर्वगणितस्य लीनत्वात् ।

निवन्धोऽयमष्टाङ्गायुर्वेदस्य कायाङ्गस्योपाङ्गीभूतः । तस्मादुपपद्यत एवात्र ऋचां विस्पष्टापनम्; उपवेदस्यास्य स्वयं वेदव्याख्यानत्वात्, अथर्वणि च विशेषतो भक्ति–

हुये । आषाढ ३ को उत्पन्न करता है और चैत्र १२ को । चैत्र मास न उष्ण है न शीत, अतः उनकी अपने अन्तिम काल से कुछ समय पूर्व से ही ऐसी प्रकृति विगड़ी कि न शीत सात्म्य हो और न उष्ण । वे सम्पूर्ण जीवन परम पथ्याहार विहार सेवी रहे परन्तु अन्त के कुछ वर्ष स्वयं उनको भी हैरान करने लगे । अन्त में वे सं० १९९९ वि० में स्वर्गारूढ हो गये।

इसका उल्लेख वैद्यों की वुद्धि में गम्भीरता उत्पन्न करना है; कौतूहल उत्पन्न करना नहीं ।

जैसे आकाश में नक्षत्र क्षीण न होते हुये यथावद् अवस्थित हैं वैसे ही यहां लोक में भी १ आत्मा । ३ पुरुष, स्त्री और नपुंसक । ४ वर्ण, दिशा अथवा वेद । ५ पृथ्व्यादि महाभूत । ४ नभचर, जलचर, भूचर और उभयचर पुरुष । ७ ग्रह । ३ ब्रह्मा—विष्णु—महेशात्मक तीन शक्तियां अथवा सत्त्व रज और तमोरूपात्मक तीन गुण, या उत्पत्ति-स्थिति और प्रलयात्मक तीन क्रियायें ।

१+३+४+५+४+७+३=२७ इन सब का योग २७ होता है। इसमें एक अव्यक्त ब्रह्म को अभिजित् नक्षत्र की भांति अन्तर्लीन करने पर ये २८ होते हुये भी २७ ही हैं। यह भी क्षय को प्राप्त नहीं होते । इसलिये 'ये त्रिषप्ताः' मन्त्रोक्त (२८=२+८=१०) उपपन्न हो जाता है । इस से में अव्यक्त ब्रह्म को पृथक् कर देने पर [२७=२+७=९] नौ हो जाते हैं । नौ अङ्कों में सम्पूर्ण गणित समाया हुआ है ।

यह निवन्ध अष्टाङ्ग आयुर्वेद के कायाङ्ग का उपाङ्ग है इसीलिये इसमें वैदिक ऋचाओं की व्याख्याओं द्वारा अनेक प्रमाण उपस्थित किये गये हैं । आयुर्वेद अथर्ववेद का उपाङ्ग है, अतः

मत्वात् कायाङ्गस्योपाङ्गत्वञ्च 'काय' शब्द-निरुक्त्यैव। यथा-कायति=शब्दं करोति 'धुग् धुग्' इति हृदयम्। स्रोतसां समुदयमेव पुरुषं केचिदिच्छन्तीति चरके प्रतिपादित-प्रसङ्गत्वात्। हृदयस्य स्वयं विवरयुक्तत्वात्, धरायाश्चापि स्रोतोमयत्वात्।

स्रोतोविज्ञानं हि नाडीज्ञानमित्युक्तं नाडीपदविज्ञानीयेऽध्याये। स्रोतसां सद्भावो ह्याकाशतत्त्वेन; '**सर्वच्छिद्रसमूह आकाशस्ये**'ति आर्षानार्षसंहितासु प्रतिज्ञापितत्वात्। सर्व-सूक्ष्मत्वात्, सर्वव्यापकत्वात्, दुरूहत्वाच्चाकाशशक्तेः। अत एव च नाड्यपि सर्व-परीक्षासु दुरूहतमा, न हि सर्वैः साकल्येन ज्ञातुं शक्येत्युक्तं पञ्चमहाभूतत्रित्वीयाध्यायान्ते संग्रहे (७७ पृष्ठे)।

द्वादशराशीनां ज्ञानमिव मनोविकृतिकारकाः रजस्तमःप्रधानत्वाद् दुःखाय लोकान्नेनीयमाना द्वादशावर्त्ता अपि ज्ञातव्याः तद् यथा सनत्सुजात उवाच—

शोकः क्रोधश्च लोभश्च कामो मानः परासुता।
ईर्ष्या मोहो विधित्सा च कृपासूया जुगुप्सुता।
द्वादशैते महादोषा मनुष्य-प्राण-नाशनाः।
यैराविष्टो नरः पापं मूढसंज्ञो व्यवस्यति॥

—महाभारत उद्योगपर्व, अ० ४५,

एते च द्वादश पुण्यप्रधानाः सत्त्वगुण इव- सत्त्व-रजोयुक्ताश्च केचन। यथा—

उस में विशेष रूप से भक्ति रखता है

काय शब्द का अर्थ है-शब्दयुक्त शरीर। सचेष्ट शरीर में हृदय 'धुक् धुक्' शब्द करता करता है। शब्द, आकाशतत्त्व का विशेष गुण और उसी के धर्मवाला है। किसी के मत में स्रोतों का समुदाय ही शरीर है हृदय भी स्वयं विवरयुक्त (पोला) है। नाडी भी पोली है अतः यह नाडी या धरा-विज्ञान स्रोतो विज्ञान भी कहा जाता है। इस विषय पर 'नाडीपद-विज्ञानीय' अध्याय में कहा जा चुका है।

स्रोतों की सत्ता आकाशतत्त्व से है। आयुर्वेद के आर्ष और अनार्ष सभी ग्रन्थों ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है कि सभी छिद्रों का समूह-शरीर-आकाशतत्त्व प्रधान है। आकाशतत्त्व सबसे सूक्ष्म, सर्वव्यापक परमशक्तिमान् तथा दुरूह है, इसीलिये नाडी परीक्षा भी सब परीक्षाओं में दुरूह है। कैसे पुरुष इस परीक्षा में सफल हो सकते हैं इसका विचार पंच महाभूतत्रित्वज्ञापक अध्याय के अन्त में [पृ० ७७ और ७८ पर] किया जा चुका है।

वैद्य को चाहिये कि वह रोगोत्पादक पापों एवं महादोषों को भी जाने, वे बारह हैं। महाभारत उद्योगपर्व के दूसरे अध्याय में लिखा हैं। वे ये हैं—१ शोक, २ क्रोध, ३ लोभ, ४ काम, ५ मान, ६ परासुता (द्रोह), ७ ईर्ष्या, ८ मोह, ९ विधित्सा, (अपने को सर्वोच्च और सर्वाग्रणी-बनाने की इच्छा) १० कृपा, ११ असूया (डाह) और १२ जुगुप्सा (निन्दा)।

ये १२ दोष, मानव के प्राणघातक हैं। इनसे घिरा हुआ मनुष्य बुद्धि के बिगड़ने पर पाप करता है। रोग पापों का फल है। अतः सुख चाहनेवाले को इनसे दूर रहना चाहिये।

धर्मश्च सत्यञ्च तपो दमश्च दमश्च, अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया ।
दानं श्रुतं चैव धृतिः क्षमा च, महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य ॥

महा०, उद्योग० अ० ५५.

उभयविध=द्वादशगुणात्मके जगदिदं चरति क्षेमाय दुःखाय वा। तत्रैष नियमः–"**यन्मनासा ध्यायति तद्वाचा वदति यद् वाचा वदति, तत्कर्मणा करोति, यत्कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते ।" इति (उपनिषदि)**

तत्र दुष्कर्माचरतां परिपाकेनापि व्याधिरूपेणैव भाव्यमिति निश्चितम् । '**पूर्वजन्मकृतं कर्म व्याधिरूपेण बाधते**'इत्युक्तत्वात् तस्मादसंयतात्मा हि कुत्सति निदानम्, कुत्सति चिकित्साम्, कुत्सति भिषजम्, निन्दति च त्रिदोष-विज्ञानम् । न च स्वदुष्कृताय पश्चात्तपति मूढः । तस्माज्ज्ञानविज्ञाननिष्ठेन प्रमत्तगीतवदेवंविधा वक्तार उपेक्ष्याः, न विसंशनीयः स्वात्मेति निर्णिक्तं ब्रूमः ।

भवतश्चात्र—

जानन् मर्त्यो लोभमोहादिसक्तो, मर्त्यं मर्त्यं मोहयित्वा मृषोक्त्या ।
स्वार्थं सेद्धुं यत्नतोऽर्थं विचिन्वन् मन्दार्थी ना सौख्यमेयात् कथं नु ॥

उदाहरणं यथा—

इसके विपरीत १२ पुण्यमय सत्कर्म हैं । जैसेः—१ धर्म, २ सत्य, ३ तप, ४ दम, (इन्द्रिय-निग्रह), ५ मत्सरता न करना, ६ लज्जा, ७ सहिष्णुता, ८ अनसूया (डाह-निन्दा न करना), ९ दानशीलता, १० विद्वानों का सत्सङ्ग, ११ धैर्य, और १२ क्षमा ।

जो मनुष्य, इन १२ नियमों का पालन करते हैं, वे सारी पृथ्वी पर अनुशासन कर सकते हैं । इनमें से यथासम्भव जितने भी नियमों का पालन किया जाये उतना ही मनुष्य के लिये आरोग्य और उन्नति का लाभ होगा ।

सारांश यह कि संसार के प्राणी इन्हीं दो–द्वादश वर्गों में चलकर दुःख (रोग) और सुख (स्वास्थ्य) को प्राप्त करते हैं । दुष्कर्म का फल व्याधिरूप में मिलता है, यह प्रत्यक्ष-अनुभव सिद्ध है । यही कारण है कि जो इन्द्रिय-निग्रह करने में असमर्थ हैं वे प्रचुर धन-व्यय करके भी आरोग्य लाभ नहीं कर सकते । इस परिस्थिति में वे वैद्य की,वैद्य के निदान की चिकित्सा प्रणाली की एवं त्रिदोष–सिद्धान्त की निन्दा करते हैं; किन्तु अपने अनाचार की ओर ध्यान नहीं देते । इसलिये वैद्य ऐसे व्यक्तियों के कथन की पागल-प्रलाप की भांति उपेक्षा करें किन्तु अपनी चिकित्सा प्रणाली और त्रिकालाबाधित आयुर्वेदिक आर्ष–सिद्धान्तों पर सन्देह न करें ।

इस विषय में हमारे दो शालिनी वृत्तों का भाव यह हैं—लोभ मोह आदि से अविभूत मनुष्य जान बूझकर झूठ एवं सच से अनेक मनुष्यों को मोहित करके अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये धन को इकट्ठा करता हुआ सुख चाहता है परन्तु उसे सुख कैसे मिले ? अर्थात् वह सुखी नहीं हो सकता ।

लोके द्रव्यं राज्यमानान्निरस्तं, मर्त्यो दत्त्वा नाभ्युपेत्यन्यमीह्यम्
आत्मद्रोही द्रव्यमाचित्य पापात् तस्मात् स्वास्थ्यं वष्टि चिन्त्यं न किं स्यात् ॥

अथेदानीं भगवदग्निवेशशब्दैर्विशदीक्रियते—

रजस्तमोभ्यां तु मनोऽनुबद्धं ज्ञानं विना तत्र हि सर्वदोषाः ।
गति-प्रवृत्त्योस्तु निमित्तमुक्तं, मनः सदोषं बलवच्च कर्म ॥३७॥
सर्वामयानां त्रिविधा हि शान्ति-र्ज्ञानार्थकालाः समयोगयुक्ताः ३९॥
जितेन्द्रियं नानुतपन्ति रोगास्तत्कालयुक्तं यदि नास्ति, दैवम् ॥४२॥
दैवं पुरा यत् कृतमुच्यते तत् तत् पौरुषं यत्त्विह कर्म दृष्टम् ।
प्रवृत्तिहेतुर्विषमः स दृष्टो, निवृत्तिहेतुस्तु समः स एव ॥४३॥
नरो हिताहारविहारसेवी, समीक्ष्यकारी व्यसनेष्वसक्तः ।
दाता समः सत्यपरः क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः ॥४५॥
मतिर्वचः कर्म सुखानुबन्धि, सत्त्वं विधेयं विशदा च बुद्धिः ।

इसमें लौकिक उदाहरण यह है कि जैसे राज्यमान से निरस्त (खोटा) द्रव्य का व्यय करने से मनुष्य को अभिवाञ्छित दूसरा पदार्थ नहीं मिलता इसी प्रकार अपने आपको धोखा देनेवाला मनुष्य अनर्थार्जित द्रव्य को व्यय करके उत्तम स्वास्थ्य चाहता है, यह हमारे विचार से उसका विचार चिन्त्य ही है ।

इसी आशय को चरकसंहिता में भगवान् पुर्नवसु आत्रेय ने विशद रूप से लिखा है—
अज्ञानी मनुष्य का मन, रजस् और तमस् से युक्त होने के कारण सब दोषों—अनर्थों का कारण बनता है । जब तक मनुष्य कर्म न करे तब तक वह दोष युक्त नहीं होता । अतः कर्म ही गति और प्रवृत्ति का मूल कारण है ॥३७॥

सब प्रकार के दुःखों की शान्ति के तीन प्रकार हैं:—बुद्धिपूर्वक, उचितकाल में, मर्यादित इन्द्रियों से कर्म करे ॥३९॥

यदि उस समय दैवी-प्रकोप न हो तो जितेन्द्रिय पुरुष को रोग नहीं सताते ॥४२॥

जन्मान्तर में किये हुए कर्म को दैव कहते हैं और इस जन्म में किये हुए कर्म का नाम पुरुषार्थ है । असमय में किया गया विषम-पुरुषार्थ रोगोत्पादन का कारण बनता है, वही पुरुषार्थ बुद्धिपूर्वक यथासमय और उचित मर्यादा में किया गया आरोग्य का कारण बनता है ॥४३॥

सोच-समझ कर हित आहार और विहार करनेवाला, संयमी, दानी, सर्वत्र समभाव रखनेवाला, सर्वथा सत्य का पालन करने वाला, क्षमाशील, प्रामाणिक एवं विद्वान् पुरुषों की सङ्गति करने वाला पुरुष आरोग—स्वस्थ रहता है ॥४५॥

सुखप्राप्ति के लिये मन, बुद्धि, वाणी एवं कर्म को प्रवृत्त करने वाले विशद

ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे, यस्यास्ति तं नानुतपन्ति रोगाः । ४६।।

—चरक० शा०, अ० २

'मा प्र गाम पथो वयम्, —अथर्व० १३।१।५९

भवन्ति चात्र—

त्रिदोषः सप्तधा न्यस्तः ससूत्रं सनिदर्शनम् ।
लोकसम्मित-मर्त्यस्य लोकसाम्यं प्रदर्शितम् ।।१।।
दोषस्य पाञ्चविध्यस्य सभेदं गणितं त्विह ।
कलादिसप्तवर्गस्य भेदसंकलनं कृतम् ।।२।।
विधिभेदोऽत्र व्याख्यातो ज्वरमाश्रित्य व्यक्तये ।
सप्रयोजनमुद्दिष्टं दिने मासांशकल्पनम् ।।३।।
असात्म्यतामुपात्तानां खार्थानां भेदकल्पनम् ।
तथा प्रज्ञापराधानां गणितेन प्रकाशनम् ।।५।।
त्रिदोषमात्रकायस्य यद्यस्तव्यस्तरूपतः ।
क्रियेत स्थान—संस्थानं तदैतावत्त्वदर्शनम् ।।५।।
रसानामथ दोषाणां भेदानुक्त्वा पृथक् पृथक् ।
गणितस्य समाश्लेषान् नाड्यां तज्ज्ञानमीरितम् ।६।

(उदार-स्वच्छ) बुद्धिवाले, ज्ञानार्जन, योग और नियम में सर्वदा लगे हुए व्यक्ति को रोग नहीं सताते ।।४६।।

हे ईश्वर ! ऐसी सुमति प्रदान करो कि हम पथ-भ्रष्ट न हों ।

इस अध्याय के उत्तरार्द्ध व्यासभाग का संक्षिप्त सार इस प्रकार है—

त्रिदोष की सप्तविधता सूत्र और उदाहरण सहित बतलाई है । "लोकसम्मित पुरुष" का लोक के साथ साम्य प्रदर्शित किया है ।।१।।

पंचविध दोष का परस्पर भेदों सहित गणित लिखकर कला आदि सप्तवर्ग के परस्पर भेदों का संकलन किया है ।।२।।

विधि भेद से ज्वर के ८ तथा १२४ भेदों की व्याख्या करके, अहोरात्र में बारह मासों की प्रयोजन सहित कल्पना की गई है ।।३।।

असात्म्य इन्द्रिय तथा उनके अर्थ (विषयों) की परस्पर भेदकल्पना और प्रज्ञापराधों की परस्पर भेदकल्पना को गणित के द्वारा प्रकाशित किया है ।।४।।

वात पित्त कफात्मक काय के अस्त और व्यस्त रूपों के द्वारा उनके स्थान एवं एतावत्त्व का वर्णन किया है ।।५।।

रस और दोषों के भेदों को पृथक्-पृथक् लिखकर गणित के योग से नाडी के द्वारा उनका ज्ञान इस प्रकार प्रतिपादित किया हैं ।।६।।

यथार्कभेषु लोकोऽयं तथा कायस्य कल्पनम् ।
पृथक्शोऽङ्गाङ्कविन्यासाद् विश्वसंख्यापुरःसरम् ।
त्रिदोषो व्यक्ततां नीतो जगद्व्याध्याधिमद् यतः ।।७।।
अष्टाङ्गेष्वेक उद्दिष्टः कायाङ्गोऽपि भिषग्वरैः ।
तस्य चोपाङ्गभूतं स्यान्नाडीतत्त्वार्थदर्शनम् ।।८।।
दुष्करोति हि दुश्चेता व्याधिस्तत्पाक एव हि ।।
मनोविकारको ह्युक्तो द्वादशवर्गः सनातनः ।
मनाविमलकारी च प्रोक्तो वर्गः सनातनः ।।९।।
समुद्रखाभ्रनेत्रस्य (२००४) पौषे विक्रमवर्षतः ।
त्रिदोषगणनीयोऽयमध्यायः पूर्तिमन्वगात् ।।१०।।

इति व्यासतस्त्रिदोष—संगणनीयः सप्तमोऽध्यायः ।

जिस प्रकार द्वादश राशियों में यह लोक स्थित है उसी प्रकार शरीर की भी द्वादश राशियों में कल्पना की गई है । पृथक्-पृथक् अङ्गों के अङ्कों का न्यास करके त्रिदोष की व्याख्या की गई है जिस से व्याधि तथा आविमय जगत् का निदान करने में सुगमता रहे ।।७।।

आयुर्वेद के आठ अंगों में कायचिकित्सा भी एक अङ्ग है, उसी कायचिकित्सा का यह उपाङ्गभूत नाडीतत्त्वार्थदर्शन या "नाडीतत्त्वदर्शन" है ।।८।।

दुश्चेता (पापी) दुष्कर्म (पाप) करता है उसी का प्रतिफल व्याधि है । मन को दूषित करने वाले सनातन द्वादशवर्ग (शोक क्रोध आदि) और मन को विमल करने वाले सनातन द्वादशवर्ग (धर्म सत्य तप दम आदि) का प्रतिपादन किया है ।।९।।

विक्रम सं० २००४ के पौष मास में त्रिदोष संगणनीय अध्याय पूरा हुआ। ।।१०।।

विस्तार से त्रिदोष संगणनीय सप्तम अध्याय समाप्त हुआ ।

नाडी-तत्त्व-दर्शने

अष्टमोऽध्यायः

❦ ❦

रावण—विरचिता

नाडी–परीक्षा

विवृति–सहिता

—सत्यदेवो वासिष्ठः

अथ रावण-नाडी-परीक्षा विवृति-सहिता

मङ्गलाचरणम

अगणित-महिमायै साधकानन्ददात्र्य
सकल-विभव-सिद्ध्यै दुर्गति-ध्वान्त-हन्त्र्यै ।
अमृत-जलधि-जायै जातरूपात्म-मूर्त्यै
मधु-रिपुं-वनितायै चेन्दिरायै नमोऽस्तु ।।१।।

इन्दिरा-लक्ष्मीः । अमृतजलधिः—क्षीरसागरः । जातरूपं-स्वर्णम् । मधुरिपुः-विष्णुः । शेषं स्पष्टम् ।।

अष्टविध—परीक्षा—

गदाऽऽक्रान्तस्य देहस्य स्थानान्यष्टौ निरीक्षयेत् ।
नाडीं मूत्रं मलं जिह्वां शब्द-स्पर्श-दृगाकृतिम् ।।२।।

नाड्या रोगपरिज्ञाने प्राधान्ये सत्यपि परीक्षा-सौकर्य्यार्थं रोगेष्वष्टविधैव परीक्षा युज्यते। तद् यथा—उदरविकार-उपदंश-प्रमेह-अश्मरी-प्रभृतिरोगेषु मूत्र—परीक्षणमुपयुज्यते। अतिसार संग्रहणी-सन्निपातादिषु मल-परीक्षणम्। आमवात-रक्तपित्त-प्रभृतिषु जिह्वा-परीक्षणम् । कण्ठरोगादौ शब्द-परीक्षणम्। कण्डु-दद्रु-विद्रधि-गुल्मादिषु-स्पर्श-परीक्षणम् । पाण्डु-कामला-प्रभृतिषु नेत्र-परीक्षणम् । स्फोटादिष्वाकृतिपरीक्षणम् । सर्वविधरोगेषु सर्वाः परीक्षाः समुपयुज्यन्ते; परन्तु रोगिणो-

---

रावण—नाडी परीक्षा की व्याख्या

वर्णनातीत महिमावाली, साधक पुरुषों को आनन्द देनेवाली, सभी वाञ्छित अर्थों को देने वाली, दुर्गति-दरिद्रता-रूपी अन्धकार को दूर करने वाली, अमृत समुद्र से प्रकट हुई, सोने के समान रंगवाली और मधु-दैत्य को मारनेवाले विष्णु की पत्नी लक्ष्मी देवी को नमस्कार है।

रोगी की आठ प्रकार की परीक्षाः—

रोगी पुरुष के शरीर की आठ वस्तुओं की परीक्षा करनी चाहिये-१. नाडी, २. मूत्र, ३. मल, ४. जिह्वा; ५. शब्द, ६. स्पर्श ७. नेत्र और ८. आकार।

यद्यपि रोग-ज्ञान के लिये नाडी की ही प्रधानता है; तथापि सुगमता के लिये आठ प्रकार की परीक्षा करना उचित है। जैसे—उदरविकार, उपदंश, प्रमेह, और अश्मरी (पथरी) आदि में मूत्र-परीक्षा; अतिसार, संग्रहणी, सन्निपात आदि में मल-परीक्षा; आमवात, रक्तपित्त आदि में जिह्वा-परीक्षा; कण्ठरोग आदि में शब्द-परीक्षा; खुजली, दाद, चम्बल आदि में स्पर्श परीक्षा; पाण्डु, कामला आदि में नेत्र-परीक्षा तथा व्रण, विस्फोट आदि में आकार-परीक्षा उपयुक्त है।

ऽन्तरङ्गदोषगतेर्ज्ञानं नाडी—स्पर्श—विज्ञानमन्तरा न सम्भवति । तस्मान्नाडीपरीक्षैव श्रेष्ठतमा ।२।

नाडी-परीक्षा-मूलम्—

रुग्णस्य मुग्धस्य विमोहितस्य दीपः पदार्थानिव जीवनाडी ।
प्रदर्शयेद् दोष—जनिस्वरूपं व्यस्तं समस्तं युगलीकृतञ्च ।।३।।

दोषजनिस्वरूपमिति । यतो हि रक्तवाहिन्यो दोषाणामपि वहनं कुर्वन्ति । उक्तञ्च सुश्रुते शा०, ७।१६,१७—

"न हि वातं सिराः केचिन्न पित्तं केवलं तथा ।
श्लेष्माणं वा वहन्त्येता अतः सर्ववहाः स्मृताः ।।
प्रदुष्टानां हि दोषाणामुर्च्छितानां प्रधावताम् ।
ध्रुवमुन्मार्गगमनमतः सर्ववहाः स्मृताः ।।"

तथा च—तदेभिरेव (वात-पित्त-श्लेष्मभिः) शोणितचतुर्थैः सम्भव-स्थिति-प्रलये-ष्वप्यविरहितं शरीरं भवति—सु० सू०, २१।३

अन्यच्च—

यस्माद्रक्तं विना दोषैर्न कदाचित् प्रकुप्यति ।
तस्मात्तस्य यथादोषं कालं विद्यात् प्रकोपणे ।।

सु० सू०, २१।२६

जीवनाडी-स्थानम्—

इन आठ प्रकार की परीक्षाओं में अन्तरङ्ग दोषों की अंशांश-कल्पना करने के लिये नाडी परीक्षा ही सर्वोत्तम है ।।२।।

नाडी-परीक्षा का मूलः—

जैसे अन्धेरे में रखे हुए पदार्थ, दीप की सहायता से भलीभांति देखे जा सकते हैं, उसी प्रकार जीवनाडी मनुष्य के रोगों, मूर्च्छा, आदि स्थितियों एवं दोषो की उत्पत्ति आदि को, उनके स्वरूप और गति को, उनके पृथक् द्वन्द्वज या सान्निपातिक रूपों को अंशांश-भेद की कल्पना से वता देती है ।

रक्तवाहिनो धमनियां दोषों का भी वहन करती हैं, अत एव धमनियां दोषों के स्वरूप को भी प्रकाशित करती हैं । सुश्रुत में कहा है कि 'कोई भी सिरा ऐसी नहीं है, जो वात, पित्त और कफ का वहन न करती हो, इसीलिए सिराओं का नाम 'सर्ववहा' है ।

विगड़े हुए या बढ़े हुये दोषों की गति अमार्गस्थ होती है, उनका वहन भी सिराएं (स्रोत) करती हैं, अतः उन्हें 'सर्ववहा' कहा गया है ।

सुश्रुत ने एक अन्य स्थान पर कहा है—तीन दोष और चौथा रक्त—ये ही जन्म, स्थिति और विनाश के कारण हैं ।

अन्यत्र भी कहा है—दोषों के कुपित हुए विना रक्त कभी कुपित नहीं होता । इस रक्त के प्रकोप-काल का निश्चय दोष के प्रकोप-काल से करना चाहिये ।।३।।

जीवन-नाडी का स्थानः—

अस्ति प्रकोष्ठगा नाडी मध्ये कापि समाश्रिता ।
जीवनाडीति सा प्रोक्ता नन्दिना तत्त्ववेदिना ॥४॥

प्रकोष्ठं नाम-मणिबन्धादारभ्य कफोणोति यावत् । को नाम नन्दीति जिज्ञासायामनुमीयते यच्छिवस्य सेवका ये नन्दिभङ्ग्यादयो गणा लोकप्रसिद्धाः सन्ति तत्स्थोऽयं नन्दीति । रावणोऽपि शिवभक्त आसीदिति च ज्ञायते तत्कृतिभिः शिवताण्डवेति नामप्रसिद्धाभिः । स च नन्दिनामा गणः स्यादस्यां नाडीपरीक्षायां विशेषनिपुणो रावणसंसर्गात् । दृश्यते च रावणकृतिरायुर्वेदं बिभ्रती । उपस्थितनाडीप्रबन्धोऽपि रावणनाम्नैव प्रसिद्धिमलंकुर्वन्नास्ते ।

अन्ये त्वेवमाहुः—यदयं रावणनामायुर्वेदचूडामणिर्भिषग् रामरावणयोर्युद्धप्रसिद्धादन्य एव । ऐतिहासिकास्तु कालमस्य वैक्रमाब्दात् पञ्चमीं शताब्दीं वदन्ति । संकीर्त्तनं त्वेतन्नन्दिना तत्त्ववेदिनेति ज्ञापयति यत् स्यान्नाम कोऽपि प्रबन्धो नाडीपरीक्षाज्ञानाय प्रकृष्टतमः, यमयं ग्रन्थकर्त्ता संकीर्त्तयति ।

लिङ्गपुराणालोचनेन नितरां प्राचीनत्वमस्योपलभ्यते । नन्देश्चानेकविद्यावत्त्वम् । रावणोऽपि तत एवायुषो वेदस्य ज्ञानमाप्तवान् । पुराणे तु—

शालङ्कायनपुत्रो वै शिलाद इति विश्रुतः ।
अयोनिजो मृत्युहीनो शैलादिनन्दिकेश्वरः ॥

नाडी के विशेषज्ञ, नन्दी नामक आचार्य ने हाथ की कलाई में रक्तवाहिनी और अंगूठे के मूल में रहनेवाली 'धमनी' को जीव-नाडी कहा है।

(शरीर विचय करके इसका प्रत्यक्ष भान होता है इसके पास पीताभादि भी इस से भिन्न उपलब्ध होती है, वे अग्राह्या हैं) ।

'नन्दी' के विषय में ऐसा अनुमान किया जाता है कि जो शिव के सेवक लोकप्रसिद्ध नन्दि-भंग्यादिगण हैं उनमें से यह नन्दी नामक गण है । रावण की शिवताण्डवादि कृतियों के देखने से पता चलता है कि रावण भी शिव भक्त था । हो सकता है कि रावण की संगति से नन्दी नामक गण इस नाडी विद्या में विशेष निपुण हो, रावण की आयुर्वेद सम्बन्धी कृति भी रावणार्क-प्रकाशादि में दीखती है तथा च उपस्थित नाडी निबन्ध भी रावण के नाम से ही प्रसिद्ध हो रहा है । कुछ एक यूं कहते हैं कि यह रावण नामक आयुर्वेद चूडामणि भिषक् राम-रावण के युद्ध से भिन्न ही हैं । ऐतिहासिक तो इसका समय विक्रम की पांचवीं शताब्दी कहते हैं । "नन्दिना तत्त्ववेदिना" यह निर्देश बताता है कि कोई नाडी परीक्षा का ज्ञापक प्रकृष्टतम प्रबन्ध था जिसका निर्देश ग्रन्थकार कर रहा है ।

इस नन्दी का परिज्ञान लिङ्गपुराण में इस प्रकार है—शालङ्कायनपुत्रो०—शलंकुका पुत्र शिलाद, शिलाद का अयोनिज मृत्युहीन नन्दिकेश्वर है । वर प्राप्त होने से—नन्दी ने

उपदिष्टा हि तेनैव ऋक्शाखा यजुषस्तथा ।
सामशाखासहस्रश्च साङ्गोपाङ्गं महामुने ! ।
आयुर्वेदं धनुर्वेदं गान्धर्वं चाश्वलक्षणम् ।।
हस्तिनां चोदितञ्चैव नराणाञ्च सलक्षणम् ।
सम्पूर्णे सप्तमे वर्षे ततोऽथ मुनिसत्तमः ।।

लिङ्गपुराणे अ०-४२-४३

विशेषविज्ञानाय लिङ्गपुराणस्थलमवलोक्यम् । जाम्ववदेशेऽभिषेकोऽभूत् नन्देः ।।४।।

अङ्गुष्ठमूलसंस्था तु विशेषेण परीक्ष्यते ।
सा हि सर्वाङ्गगा नाडी पूर्वाचार्य्यैः सुभाषिता ।।५।।

अङ्गुष्ठमूलसंस्थेति पदेन तदितरायाः कनिष्ठिकामूलस्थितताया नाड्या रोग-परिज्ञानेऽनर्हत्वमुक्तम् । परन्तु क्वचिदपवादरूपेण कनिष्ठिकामूलं विभ्रत्यपि नाडी कैश्चिद् दृश्यते । वयमपि प्रत्यक्षदृष्टत्वाद् ब्रूमः । दृश्यन्ते चैतादृशा मानवा येषां नाडी मणिवन्ध—पृष्ठभागे समुपलभ्यते । तथा च गल—नासा—गुल्फ—पादादिस्था—नानां नाडीनां प्रयोजनार्हत्वे सत्यपि अङ्गुष्ठमूलसंस्थायाः प्राधान्यकथनं ज्ञान—

"उपदिष्टा हि०"—ऋक् शाखाओं, यजुर्वेद की शाखाओं—सामवेद की सहस्र शाखाओं का साङ्गोपाङ्ग उपदेश किया । तथा च-आयुर्वेद—धनुर्वेद—गान्धर्ववेद-अश्वलक्षण सहित अश्वायुर्वेद तथा हस्त्यायुर्वेद और नरों के लक्षणों का भी उपदेश किया । यह सप्तम वर्षस्थ नन्दी ने उपदेश किया । विशेष परिज्ञान के लिये लिङ्ग पुराण अ० ४२-४३ का पर्य्यालोचन करना चाहिये ।

नन्दी का राज्याभिषेक जाम्वव देश में हुआ था । रावण ने नन्दी से ज्ञान प्राप्त किया है इस निर्देश से रावण का यह प्रवन्ध भी पुरातनतम सिद्ध होता है ।।४।।

अँगूठे के मूल में स्थित गतिशील जो धमनी है, उसी के द्वारा रोगों की परीक्षा की जाती है । वह नाडी, हृदययन्त्र से सम्बद्ध होकर सारे शरीर में व्याप्त है । पूर्वाचार्यों ने उसी को जीवनाडी कहा है ।

अङ्गुष्ठमूलस्थ नाडी की भांति कनिष्ठिका-मूल में भी नाडी का प्रधमन मालूम होता है । परन्तु रोगज्ञान में उसका उपयोग नहीं होता—यही कारण है कि 'अंगुष्ठमूल—संस्था' पद का प्रयोग किया गया । कहीं-कहीं इसका अपवाद भी देखा गया है हमें भी उसका प्रत्यक्ष अनुभव हुआ है । परन्तु यह अपवाद कहीं-कहीं न्यूनतम रूप में देखने में आता है । ऐसे भी मनुष्य देखे गये हैं, जिनकी नाडी अँगूठे के मूल में न होकर मणिवन्ध (कलाई) के पिछले हिस्से में प्रकाशित होती है ।

गला, नाक, गुल्फ और पैर आदि में रहनेवाली नाडियां भी रोग-परीक्षा के उपयोग में आती हैं । अँगूठे के मूलवाली नाडी का प्रधान रूप से निर्देश सुगमता के लिये किया गया है ।

सौकर्यातिशयार्थम् । स्त्रीणां बालकानाञ्च रोगपरिज्ञाने सौकर्यत्वज्ञापनार्थञ्च । तथा चाङ्गुष्ठमूलसंस्थायां नाड्यां सर्वविध-दोषाणामंशांश-विकल्पप्राप्तानां विकृताविकृतानां व्यञ्जकस्य सद्भावात् ।

यदि कस्यचिद् बाहुद्वयमपि न स्यात्तदोपर्युक्तेष्वपि द्रष्टुं शक्यं भवति । विसूचिकादिषु हस्तपादयोरदृश्यायामपि नाड्यां मात्रिकाभ्यां=गलस्य नाडिकाभ्यां निर्णेतव्यं भवति । भवति च क्वचिद् हृदय एव तद्धमनम् । दौर्बल्यातिशयात् प्रत्यक्षं स्पर्शज्ञानं न वहति धरा ।

अरिष्टलक्षण-संग्रहेषु चरकः—

'सततं स्पन्दमानानां शरीरदेशानां स्तम्भः,

तस्य चेन्मन्ये परिमृश्यमाने न स्पन्देयातां, परासुरिति विद्यात्' । च०इ० ३।४,९ ।

अङ्गुष्ठमूलसंस्था तु नाडी सततं चलति । परन्तु नाडीनां वैषम्यात् क्वचिदङ्गुष्ठमूलाद् वक्रत्वमवाप्य प्रकोष्ठपृष्ठं प्रकोष्ठपार्श्वं वा वहति । एवंभूता नाडी-विकृतयाऽपि दृष्टिपथं प्राप्तत्वान्न्यस्ताः । तस्मादस्मद्गुरुसम्प्रदायस्त्वेवं यत् पूर्वं तावदङ्गुलीनां मणिबन्धे प्रसारः कार्यः । तदनन्तरं गतिमवबुध्य नाडी-स्पन्दनेन नाडीज्ञानं विधेयम् ।

विशेषपरिज्ञानन्तु बसवराजीय-नाड्यामुक्तम्:—

'यास्तु स्थानं न मुच्येत पादनाडी निदर्शयेत् ।'

दूसरे इस अंगूठे वाली नाडी से स्त्रियों और बच्चों के रोग ज्ञान में अतिशय सरलता प्राप्त होती है । तीसरे इस नाडी में दोषों की अंशांश-कल्पना और विकृत-अविकृत दोषों को व्यक्त करने की क्षमता सर्वाधिक है ।

यदि किसी के दोनों हाथ न हों तो ऊपर कहे हुए कण्ठ, नासा, गुल्फ और पैर आदि की नाडी द्वारा भी रोग-ज्ञान किया जा सकता है । विसूचिका (हैजा) आदि रोगों में हाथ-पांव आदि से लुप्त होने पर मात्रिकाओं अर्थात् गलस्थ नाडी से जीवन-मरण का निर्णय करना चाहिये । क्योंकि दुर्बलता की अधिकता के कारण हृदय में ही केवल ध्यान होने के कारण कहीं कहीं मात्रिकाएं, जीवन की गति बतलाने में समर्थ होती हैं ।

अरिष्ट लक्षण संग्रह में भी चरक में कहा है:—निरन्तर स्पन्दन करनेवाले देशों का स्तम्भ, अरिष्ट सूचक है, तथा यदि मन्याओं को स्पर्श करने से स्पन्दन न प्रतीत हो तो गतायु जाने ।

किसी पुरुष-विशेष या रोग-विशेष में नाडी, प्रकोष्ठ के पीछे या बगल में भी चलती हुई देखी जाती है । अतः यह नाडी का गमन प्रकोष्ठ—पृष्ठवाही या प्रकोष्ठ-पार्श्ववाही कहा गया है। नाडी देखने में हमारी गुरु परम्परा (श्री अर्जुनमिश्र जी की परम्परा) इस प्रकार है कि पहले वैद्य सारे मणिबन्ध पर हाथ रखे । जहां नाडी के प्रधमन का अनुभव हो, वहां अंगुलियों के अग्रभाग से नाडी-स्पन्दन को देखते हुए दोषांश-कल्पना करे।

पांव आदि की नाडियों के विषय में बसवराज ने लिखा है कि 'पांव की नाडी, यदि स्थानच्युत न हो तो वह जीवन के अवशेष को बताती है' ।

हस्त-गलयोः—

तिर्यग्यवप्रमाणेन जहाति च निजं पदम् ।
सूचितं जीव--निर्माणं हस्तनाडी गले च या ॥

हस्तनाड्या ज्ञातव्याः—

अजीर्णमामदोषञ्च ज्वरस्यागमनं क्षुधाम् ।
वात-पित्त-कफान् दुष्टान् हस्तनाडी निदर्शयेत् ॥

कण्ठनाड्या ज्ञातव्याः—

आगन्तुकं ज्वरं तृष्णामायासं मैथुनं क्लमम् ।
भयं शोकञ्च कोपञ्च कण्ठनाडी निदर्शयेत् ॥

नासानाड्या ज्ञातव्याः—

मरणं जीवितं कामं नेत्ररोगं शिरोव्यथाम् ।
श्रावणान् मुखजान् रोगान् नासा नाडी-विनिर्दिशेत् ॥

शुभलक्षणान्विता तु—

सुव्यक्ता निर्मला चैव स्वस्थान-स्थितिरेव च ।
अचाञ्चल्यममन्दत्वं सर्वासां लक्षणं शुभम् ।।५।।

नाडी-परीक्षण-विधिः—

एकाङ्गुलं परित्यज्याधस्तादङ्गुष्ठमूलतः ।
परीक्षेत यत्नवान् वै सा ह्यभ्यासादेव लक्ष्यते ।।६।।

हाथ या गले की नाडी, यदि अपने स्थान से लम्बे रूप में पड़े हुए जौ के बराबर स्थान छोड़ दे तो जीव का मरण होता है।

अजीर्ण, आमदोष, ज्वर का आगमन, वात--पित्त--कफ की विकृति, ये सब अंगुष्ठ मूल की नाडी से जाने जाते हैं।

आगन्तुक ज्वर, तृष्णा आयास (श्रम-थकावट), मैथुन, क्लम, भय, शोक और क्रोध आदि का ज्ञान गले की नाडी से किया जाता है।

मरना, जीना, इच्छा, नेत्र-रोग, शिरोरोग, कर्ण--मुख--सम्बन्धी रोग नाक की नाडी से जाने जाते हैं।

इन सब स्थानों की शुभलक्षण युक्त नाडियां, स्पष्ट, निर्मल अपने उचित स्थान में रहकर स्थिर गति से चलती हुई और समुचित (अमन्द-अतीव्र) गति करें तो सुख और आरोग्य को व्यक्त करती हैं ॥५॥

नाडी परीक्षा का प्रकारः—

अंगूठे की जड़ में रोगी की एक अंगुली के जितना स्थान छोड़कर नीचे की ओर यत्न-पूर्वक रोगी की परीक्षा करनी चाहिये। यह परीक्षा अभ्यास और परिश्रम से आती है।

एकाङ्गुलं परित्यज्य-इत्यत्र रोग्यङ्गुलीस्थौल्यमिति यावत्तावत् त्याज्यम्। अभ्यासादेवेतिपदेन नाड्या दुर्बोधत्वं सूच्यते। तद् यथा देवताया दुर्बोधत्वमाह यास्कः- "शाकपूणिः संकल्पयाञ्चक्रे सर्वा देवता जानामीति। तस्मै देवातोभयलिङ्गा प्रादुर्बभूव तां न जज्ञे। तां पप्रच्छ विविदिषाणि त्वेति। सास्मा एतामृचमादिदेश। एषा मद्देवतेति"। एवमिहापि नाडीज्ञो नाभिमन्येत, परन्तु प्रयतेतैव स्वज्ञानातिशयत्वे। उक्तमन्यत्रापि—

शास्त्रेण सम्प्रदायेन तथा स्वानुभवेन वै।
परीक्षा रत्नवच्चास्यास्त्वभ्यासादेव जायते॥

अभ्यासो हि नाम क्रियायाः पौनःपुन्येन करणम्। अभ्यासोऽपि नाडीविशेषज्ञ-गुरुसहायमन्तरा न कर्तव्यः। अशुद्ध-ज्ञानवतोऽभ्यासोऽशुद्धिबाहुल्याय कल्प्यमानो गर्हायै नयति चिकित्सकम्॥६॥

अंगुष्ठमूलभागे या धमनी जीवसाक्षिणी।
तच्चेष्टया सुखं दुःखं ज्ञेयं कायस्य पण्डितैः॥७॥

धमनी-धम सौत्रो धातुः। धमति-परिस्पन्दं भजत इति भावः। तथा च श्रुतौ प्रयोगः—

सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः। इति — ऋ०१०।८१।३

इसीलिये 'अभ्यासादेव' पद लिखकर इसकी दुर्बोधता कही गयी है। सभी शास्त्रों का यही क्रम है। जैसे—यास्क जी अपने निरुक्त में देवता का दुर्बोधत्व वर्णन करते हुए लिखते हैं कि "शाकपूणि आचार्य ने संकल्प किया कि मैं देवता सम्बन्धी सम्पूर्ण विज्ञान को समझ गया हूं। तब उसके सन्मुख उभयलिङ्ग देवता वाली ऋचा उपस्थित हुई वह उसे न जान सका, तब शाकपूणि ने कहा कि मैं तुम्हें जानना चाहता हूं; तब ऋचा ने उसे अपना देवता बतलाया कि यह मेरा देवता है"। इसलिये नाडी-ज्ञान के लिये वैद्य को निरभिमान होकर यत्नशील बने रहना चाहिये। अत एव आचार्यों ने कहा है—शास्त्र से गुरु सम्प्रदाय से तथा निरन्तर अभ्यास से रत्नों की भांति नाडी परीक्षा करनी चाहिये। एक ही कार्य को बार-बार करना ही अभ्यास कहा जाता है। नाडी का अभ्यास; नाडी–विशेषज्ञ गुरु की सहायता के विना न करना चाहिये। अशुद्धज्ञानवाले का अभ्यास भी अशुद्ध ही रहता है। और उससे चिकित्सक और विज्ञान दोनों का अपयश होता ॥६॥

अँगूठे की जड़ में प्राणियों की जीवित अवस्था बतलाने वाली जो नाडी है, इसकी चेष्टा-गतिविधि से वैद्यों को शरीर का सर्वविध सुख-दुःख जानना चाहिये।

'धमनी' शब्द 'धम्' धातु से बना है जिसका अर्थ स्पन्दन एवं गति है। वेद में भी 'धम' धातु का प्रयोग इसी अर्थ में आया है। मन्त्राशयः—इन्द्रदेव इस ब्रह्माण्ड को रचकर पंख समान बाहुओं से इस विश्व को गतिमान् कर रहा है। अर्थात् जड़रूप विश्व में होने वाला स्पन्दन या चेष्टा, ईश्वर की चिद्-विभूति है।'

तथा च—

नाडीमंगुष्टमूलाधः स्पृशेद्दक्षिणे करे ।
ज्ञानार्थं रोगिणो वैद्यो निजदक्षिणपाणिना ।।
स्थिरचित्तः प्रशान्तात्मा मनसा च विशारदः ।
स्पृशेदङ्गुलिभिर्नाडीं जानीयाद्दक्षिणे करे ।।७।।

स्त्री–पुरुष--भेदेन नाडी--परीक्षणम्

स्त्रीणां भिषग् वामहस्ते वामपादे च यत्नतः ।
पुंसां दक्षिणभागे च नाडीं विद्याद् विशेषतः ।
गुल्फस्याधोऽङ्गुष्ठभागे पादे त्वङ्गुष्ठमूलतः ।।

क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः ।
त्रिविधा चापरा ज्ञेया कोष्ठशाखामर्मास्थिसन्धिषु ।।

चरक० सू० १७।११२ ।

श्लेष्मणो गुरुत्वात् श्लेष्मावृता दोषा अधो यान्ति। ऊर्ध्वगतित्त्वाच्च वह्नेः पित्तावृता दोषा ऊर्ध्वगामिनो भवन्ति, तस्माच्चिकित्सकेन समकालमेव पादनाडी

इसी आशय को पुनः रूपान्तर से कहा गया है कि वैद्य अपने दाहिने हाथ से रोगी के दाहिने हाथ की नाडी को रोगज्ञान के लिये देखे । वैद्य को चाहिये कि स्थिरचित्त तथा प्रसन्न मन से सावधान होकर दाहिने हाथ की अँगुलियों से रोगी की नाडी का स्पर्श करे ।।७।।

स्त्री–पुरुष भेद से नाडी-परीक्षाः—

वैद्य को चाहिये कि स्त्रियों की नाडी उनके वाएँ हाथ से देखे और पुरुषों की उनके दाहिने हाथ से । यह व्यवस्था है । विशेष ज्ञान के लिये दोनों (स्त्री-पुरुषों) की दाईं बांईं नाडी देखे । पुरुष के दाहिने हाथ तथा दाहिने पैर की नाडी देखनी चाहिये । पैर की नाडी देखने का स्थान गुल्फ (पैरों का गिट्ट) के नीचे अँगूठे के मूल में है ।

दोषों के गमन की तीन अवस्थायें होती हैं । किसी दोष का क्षीण हो जाना, तथा सम–मात्रा में दोष का स्थान में रहना और दोषों का प्रवृद्ध हो जाना ।

दूसरी त्रिविध गति यह है कि दोषों का कोष्ठाश्रयी होना । २-शाखा (रस रक्तादि धातु) में जाना । ३-मर्मों या मर्मास्थिसन्धियों में स्थित हो जाना या वहां पहुचकर विकार उत्पन्न करना ।

दोषों के तीन स्वरूप हैं:—पृथक् मिश्रित एवं आवृत्त । श्लेष्मा, गुरु (भारी) है, अतः श्लेष्मावृत्त दोष, नीचे की ओर जाते हैं । पित्त आग्नेय है, अग्नि का धर्म ऊपर की ओर जाना है, अतः पित्त आवृत्त या पित्तवहुल त्रिदोष ऊपर की ओर गति करता है । अतः दोषों का गमन किस ओर है-यह जानने के लिये वैद्यको हाथ और पैर की नाडियां एक साथ ही देखनी चाहियें । दाहिना हाथ हो तो वांया पैर; और वांयां हाथ हो तो दाहिना पैर देखना चाहिये । स्त्रियों में पुरुषों से विपरीत होता है ।

मणिवन्धस्था च नाडी, दक्षिण–वाम–हस्ताभ्यां द्रष्टव्या ।

अत्र हेतुमाचष्टे वसवराजः—

स्त्रीणामूर्ध्वमुखः कूर्मः पुंसां पुनरधोमुखः ।
अतः कूर्मव्यतिक्रान्तात् सर्वत्रैष व्यतिक्रमः ॥
लक्ष्यते दक्षिणे पुंसां या च नाडी विचक्षणैः ।
कूर्मभेदेन वामानां वामे चैवावलोक्यते ॥

अन्यच्च शतपथब्राह्मणे (१०।५।२।६)—

'स एवेन्द्रो योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषोऽथेयमिन्द्राणी योऽयं सव्येक्षन् पुरुषः ।,

अन्यदपि—

प्रायः स्फुटा भवति वामकरे वधूनाम्, पुंसाञ्च दक्षिणकरे तदियं परीक्षा ।
ईषद्विनामितकरं विततांगुलीकम्, बाहुं प्रसार्य रहितं परिपीडनेन ॥ इति

उक्तं हि त्रिदोषसंगणनीयेऽध्याये—पुरुषः सूर्यस्थानीयः, स्त्री चन्द्रस्थानीया, तस्मादुच्यते दक्षिणे सूर्यस्वरः, वामे चन्द्रस्वरः, सैवावस्था नाड्यामपि समत्वाद्, व्यवस्थितं "स्त्रीणां भिषग्वामहस्ते" इत्यादि ॥८॥

प्रकारान्तरेण नाडी—परीक्षण–विधिं वक्ति—

नाडी-परीक्षा के सम्बन्ध में कारण--निर्देश, वसवराज ने अपने नाडी-विज्ञान में किया है:—

'नाभिचक्र में, जहां से नाडियों का जाल शरीर में फैलता है,वहां नाडी-जाल का आकार कूर्म (कछुए) के समान है । यह कच्छपाकार नाडी जाल स्त्रियों की नाभि में अधोमुख और पुरुषों की नाभि में ऊर्ध्वमुख रहता है । इसीलिये स्त्रियों की बांई नाडी और पुरुषों की दाहिनी नाडी देखी जाती है ।

शतपथ—ब्राह्मण में भी कहा है कि 'इन्द्र की पुरुषरूप शक्ति पुरुष की दाहिनी ओर रहती है और इन्द्राणीरूप शक्ति पुरुष के बांएं ओर रहती है ।' इसी नियम से गर्भ में कन्या या बालक का भी निर्णय किया जाता है ।

'प्रायः स्त्रियों की नाडी बाएं हाथ में और पुरुषों की दाहिने हाथ में प्रकाशित होती है । हाथ को कुछ नमाकर अंगुलियों को फैलाकर, बाहु को फैलाकर और विशेष दबाव न देकर नाडी परीक्षा करनी चाहिये ।'

त्रिदोष संगणनीय अध्याय में कहा भी है कि पुरुष सूर्यस्थानीय है और स्त्री चन्द्रस्थानीय है । इसलिये कहा जाता है कि दाहिने में सूर्यस्वर है । और बायें में चन्द्रस्वर । वही अवस्था नाडी में भी समझनी चाहिये । अतः 'स्त्रीणां भिषग्वामहस्ते' इत्यादि उपपन्न हो जाता है ।।८।।

दूसरे शब्दों में नाडीपरीक्षा—

एकाङ्गुलं परित्यज्य मणिबन्धे परीक्षयेत् ।
अधः करेण निष्पीड्य त्रिभिरङ्गुलिभिर्मुहुः ॥६॥

त्रिभिरङ्गुलिभिरिति-दोषास्त्रय इति यतः । मुहुरिति त्रिधैत्र त्रिःकृत्वा । त्रिदोषावृतशुभाशुभभावविशेषस्याऽऽश्रयभूतत्वाच्च हृदयेन ध्माते रक्ते तथाविधस्य सद्भावात्, त्रिस्थूणत्वाच्च । मलस्थ-दोष-परिज्ञानाय कनिष्ठिकयापि तदधःस्थां नाडीं पश्यन्ति तद्विद इति । एतया चास्माभिरसकृत् मलाशय-परीक्षोच्यते । अयमस्मद्-गुरु—सम्प्रदायः । तथा च—

'वारत्रयं परीक्षेत धृत्वा धृत्वा च मोचयेत् ।
विमृश्य बहुधा बुद्ध्वा रोगव्यक्तिं विनिर्दिशेत् ॥
अंगुलित्रितये स्पृष्ट्वा क्रमाद् दोषत्रयोद्भवाम् ।
मन्दां मध्यगतिं तीक्ष्णां त्रिभिर्दोषैस्तु लक्षयेत् ॥
वातं पित्तं कफ द्वन्द्वं त्रितयं सान्निपातिकम् ।
साध्यासाध्यविवेकञ्च सर्वं नाडी प्रकाशयेत् ।' इति ॥६॥

वैद्य, अंगूठे के मूल के नीचे की ओर, रोगी की अंगुली से एक अंगुल स्थान छोड़कर, हल्के हाथ से तीन अंगुलियों से बार-बार मणिबन्ध (कलाई) में नाडी-परीक्षा करे ।

तीन अंगुलियों से कहने का तात्पर्य यह है कि दोष तीन हैं । बार-बार देखने का तात्पर्य यह है कि छोड़-छोड़ कर पुनः-पुनः नाडी देखने से अंशांश-कल्पना समझनी चाहिये । रक्त, हृदय से धमनियों में जाता है और शुभ-अशुभ का विशेष आश्रय है । अतः धमनी से त्रिदोषज्ञान कराया जाता है । शरीर के तीन स्तम्भ हैं— दोष, धातु और मल । मल का विकार जानने के लिये नाडी विशेषज्ञ, कनिष्ठिका के नीचे चलनेवाली नाडी से मल-परीक्षा (अर्थात् पक्वाशय में स्थित मल-साम है या निराम) करते हैं । हम भी कनिष्ठिका द्वारा मल-परीक्षा करते हैं । यह हमारा अर्जुनमिश्र-सम्प्रदाय है । दूसरे ग्रन्थों में भी इसी बात को स्पष्ट किया गया है—

नाडी की तीन बार परीक्षा करनी चाहिये । अर्थात एक बार देखकर छोड़ दे । पुनः देखे । इस प्रकार ३ बार करे । दोषों की अंशांश-कल्पना एवं सामता और निरामता का भली भांति निर्णय करके रोग का प्रकाशन करे ।

तीनों अंगुलियों के नीचे क्रमशः तीनों दोषों की मन्दगति कफ से, मध्यम गति पित्त से और तीव्रगति वायु से जाननी चाहिये ।

नाडी, वात, पित्त, कफ सन्निपात, साध्य एवं असाध्य आदि सभी प्रकार के रोगों को बताती हैं' ॥६॥

लघु वामेन हस्तेन चालम्ब्यातुरकूर्पकम् ।
स्फुरणं नाडिकायास्तु शास्त्रेणानुभवैर्निजैः ।।
सम्प्रदायेन वा यत्नात् परीक्षेत भिषक्तमः ।।१०।।

वैद्येन लाघवेन स्ववामहस्ताश्रयप्रदानात् रोगिणो धरायां शैथिल्यं—अर्थात् स्वभावस्था गतिर्यथा स्यात्तथा कृत्वा नाडी परीक्षणीया । शास्त्रेणेति । शास्त्रं नाम आप्तागमस्तावद् वेदो यश्चान्योऽपि कश्चिद् वेदार्थादविपरीतः परीक्षकैः प्रणीतो लोकानुग्रहप्रवृत्तः शास्त्रवादः । अथवा शास्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या गुरुरपि शास्त्रम् । तज्ज्ञविधानानुकूलमाचरणमन्तरा कार्यहानेर्दृष्टत्वाद् गुरुरपि शास्त्रम् । श्रीमद्भगवद्-गीतायामप्युक्तम्—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।। १६।२३

अनुभवैर्निजैरिति । स्वयमेव दर्शं दर्शं या विशेषोहापोहोपपत्तयो लभ्यन्ते ताभिरिति भावः । एतेन नाडी-प्रवन्धोक्तानां लक्षणानामतन्त्रत्वमुक्तं भवति । अस्ति चैष एव क्रमः सर्वशास्त्रेषु । यथा च व्याकरणे-वहुलम्, अनभिधानाद्वा, शिष्टप्रयोगाद्वेत्यादि । निरुक्तेऽपि च-अक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयान्नत्वेव न निर्ब्रूयादित्यादि । छन्दसि च-

---

उत्तम वैद्य बाएं हाथ से रोगी की कोहनी को सहारा देकर अपने दाहिने हाथ की अंगुलियों से रोग की नाडी के स्पन्दन की, शास्त्र से निजी अनुभव से या अपनी गुरु-परम्परा की रीति से यत्न पूर्वक परीक्षा करे ।

यहां हल्के बाएँ हाथ से रोगी की कोहनी को सहारा देने का तात्पर्य यह है कि रोगी की धमनी में होने वाला रक्त-प्रवाह अत्यन्त सरलता से हो; ताकि उसमें दोषों का वहन ठीक-ठीक भासित हो । दूसरे, अत्यन्त उग्र व्याधि में या अतिदुर्बल रोगी अपने हाथ को विना सहारे रखने में असमर्थ रहता है-ऐसी स्थिति में धरा के रक्त-प्रवाह में अव्यवस्था हो सकती है । इसीलिये 'लघु वामेन हस्तेन' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

शास्त्र शब्द का अर्थ है—आप्त-आगम । वेदों के अनुकूल, परीक्षाओं से परीक्षित एवं लोक कल्याण की भावना से किया गया शासन, शास्त्र कहा जाता है । अथवा जो शासन करे उसे शास्त्र कहते हैं—इस व्युत्पत्ति से गुरु भी शास्त्र-रूप ही है । श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा है कि "जो शास्त्र निर्देश को छोड़ के स्वमतावलम्बन करके कार्य करता है वह उस कार्य की सिद्धि जनित फल को प्राप्त नहीं होता ।" हम जगत् में भी देखते हैं गुरु के कथनानुकूल कार्य न करने से कार्य नष्ट हो जाता है, श्रम-धन सब खटाई में पड़ जाता है ।

निज अनुभव का अर्थ है—वार-वार नाडियों के देखने से प्राप्त हुआ निजी ज्ञान-विशेष । इससे यह न समझना चाहिये कि जब अनुभव ही प्रधान है तो शास्त्र और शास्त्रोक्त-लक्षणों का क्या प्रयोजन ? सभी शास्त्रों में ऐसा नियम है । व्याकरण शास्त्र में वहुलम्, अनभिधानाद्वा, शिष्टप्रयोगाद् वा-इत्यादि विधान किया है । निरुक्त में भी अक्षरवर्णसामान्यात् आदि कथन

छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति । स्वतन्त्रा हि कवयो भवन्ति । आयुर्वेदशास्त्रेऽपि—

व्याधेरयुक्तं यद्द्रव्यं गणोक्तमपि तत् त्यजेत् ।
अनुक्तमपि यद्द्रव्यं योजयेत्तत्र तद् बुधः ॥

सम्प्रदायेनेति । नाडी-परीक्षा-विधौ द्विविधस्तावत् सम्प्रदायः । तत्र प्रथमस्तु-

अग्रे वातवहा नाडी मध्ये वहति पित्तला ।
अन्ते श्लेष्मविकारेण नाडी ज्ञेया बुधैः सदा ।

एष कल्पो गतिमधिकृत्य । समानकाले समानं मार्गं व्रजत्सु त्रिदोषेषु वातः सर्वप्रथममभीष्टं प्राप्नोति । ततोऽनु पित्तम् । ततोऽनु च कफः । अत एव चोपपद्यते- वायुनाविष्कृततमा अशीतिर्व्याधयः । पित्तेन चत्वारिंशत् । श्लेष्मणा विंशतिरिति ।

द्वितीये सम्प्रदाये—कफ-पित्त-वातेतिक्रमः । पक्षोऽयं सृष्ट्युत्पत्तिक्रममा- लक्ष्यैव । यथा च ऋग्वेदे—

तम आसीत् तमसा गूळमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।

से निर्वक्ता को स्वतन्त्रता दी गई है । छन्दःशास्त्र में सब कुछ विधान कर देने पर भी कह दिया है कि 'कवि, निरंकुश-नियन्त्रण-रहित होते हैं ।' आयुर्वेद शास्त्र में भी सब व्याधियों के योगोंका विधान कर देने पर भी यह आज्ञा दी है कि 'वैद्य को अधिकार है कि हमारे योगों में से जिस औषधि को रोग,देश और काल के अनुकूल न समझे उसे निकाल दे और अनुक्त औषधि का योग कर दे ।' इस प्रकार के आदेश शास्त्र को महार्य-गर्भ बनाते हैं और शास्त्रों का महत्त्व बढ़ाते हैं। शास्त्रों का उद्देश्य सार्वभौम दृष्टि से लोक-कल्याण-मार्ग का निदर्शन करना है । वे किसी को सीमित करके बांधने वाले नहीं हैं । वे तो अध्येता की बुद्धि को ज्ञान-सागर में प्रविष्ट करा देते हैं-आगे उसकी अपनी बुद्धि का कार्य रहता है । दूसरे, लिख लिखकर नाडियों के सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम भेदों का बताना कदापि सम्भव नहीं है ।

सम्प्रदाय—यह शब्द सं-प्र-पूर्वक 'डुदाञ्' दाने धातु से बनता है, जिसका अर्थ है-विभाग या भेद । नाडी-परीक्षा में दो प्रकार का सम्प्रदाय है । एक तो यह कि—अंगूठे के मूल में पहले वात नाडी, पुनः पित्त और अनन्तर कफ नाडी है ।' यह सम्प्रदाय त्रिदोष की गति के आधार पर है । एक ही काल में एक ही मार्ग से गमन करनेवाले त्रिदोष में वायु, सर्वप्रथम अपने अभीष्ट स्थान को प्राप्त करती है । उसके अनन्तर मध्यगति पित्त और उसके अनन्तर स्थिर-मन्द-गति कफ आता है । इसी नियम से वायु-रोगों से आधे पित्त-रोग और उससे आधे कफ-रोग हैं। अर्थात् उनकी संख्या क्रमशः-८०,४०,२० है । देखिये-रोगगणनाध्याय में विशेष विवरण ।

दूसरे सम्प्रदाय का क्रम है—कफ, पित्त और वात । यह क्रम सृष्टि के उत्पत्तिक्रम के आधार पर अवलम्बित है । ऋग्वेद में कहा है कि "इस सृष्टि की उत्पत्ति के पहले तम था । उस गूढ़-तम से अप्रकटित, ज्ञान से अगम्य तथा अव्यवहार्य कुछ जलमय था । उस कोहरे की भांति अम्भसें अपि-

तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥

—ऋ० १०-१२९-३

इत्येतेनोत्पत्तौ जलस्यानिवार्यत्वमुक्तं भवति। लोके च पश्यामः--वप्ता सर्वप्रथमं क्षेत्रं वारिणा सिञ्चति । ततोऽनु प्रादुर्भवति बीजाङ्कुरम् । पुरुषसृष्टावपि क्रमोऽयम्-प्रजापतिः-शेफः, गर्भे द्रवं शुक्रं सिञ्चति । ततोऽनु कालपरिपाकात् जायते गर्भः । यथोक्तं यजुषि–'**प्रजापतिश्चरति गर्भे' इति** । शिल्पज्ञसृष्टावेष एव क्रमः–प्रथमं धातून् द्रावयति । ततोऽनु सञ्चितेषु सञ्चिनोति । ततो जायते वाञ्छित रूपम् । तत्र यद् द्रवत्वं स सलिलांशः, यच्च घनत्वं स पृथिव्यंशः। तथा चायुर्वेदविदो भाषन्ते—'**अम्भःपृथिवीभ्यां श्लेष्मा**'–इति । कार्यं हि कारणमनुशेत इति कृत्वा प्रातः श्लेष्मा, बाल्ये श्लेष्मा, चैत्रे मासि श्लेष्मा--इत्यादयो भावाः संगच्छन्ते । सृष्टयारम्भोऽपि मधोः सितादेव--यथा च भास्करः—

लंकानगर्य्यामुदयाच्च भानोस्तस्यैव वारे प्रथमं बभूव ।
मधोः सितादेर्दिन-मास-वर्ष-युगादिकानां युगपत्प्रवृत्तिः ॥

—सिद्धान्तशिरोमणिकालमानाध्याये १५

अत्र स्पष्टम्—'तस्याव्यक्तस्य कालस्य सृष्टयादौ व्यक्तिजनकानां भ--ग्रहाणां

हित सृष्टि, उस ईश्वर की तमोमयी महिमा से एक ही काल में उत्पन्न हुई ।"

यही अवस्था प्रतिदिन दीख पड़ती है । यह सारा जगत्, रात होते ही अन्धकार से छा जाता है और दीपक आदि के प्रकाश के विना अव्यवहार्य होता है । सूर्य रूप ईश्वर के उदय से एक काल में सब कुछ दृष्टिगोचर होने लगता है । रात्रि में नक्षत्र आदि का प्रकाश भी होता है; परन्तु सृष्टि के प्रारम्भ में सूर्य, चन्द्र नक्षत्र आदि कुछ भी नहीं था - इसीलिये 'तम आसीत् तमसा गूळम्' इस निर्देश से उत्पत्ति काल में जल का होना अनिवार्य कहा गया है । मनु ने भी लिखा है कि ईश्वर ने पहले पहल जल की सृष्टि की ।' लोक में भी देखा जाता है कि किसान पहले खेत को पानी से सींचता है, तब बीजांकुर उत्पन्न होता है । पुरुषोत्पत्ति का भी यही नियम है । पहले प्रजापति (जननेन्द्रिय) गर्भ का जल (शुक्र) से सिञ्चन करता है । गर्भाशय में भी अन्धकार ही रहता है और गर्भावृत कलाओं में पानी रहता है । शिल्पियों की सृष्टि का भी यही क्रम है । वे प्रत्येक धातु को पहले द्रवरूप बनाकर अभीष्ट सांचों में ढालते हैं । द्रव–अंश जल और घन अंश पृथिवी है । आयुर्वेदज्ञ जल और पृथिवीतत्त्व से कफ की उत्पत्ति मानते हैं । जीवन के प्रारम्भिक बाल्यकाल में श्लेष्मा की प्रधानता रहती है । इसी प्रकार दिन के प्रारम्भ-प्रातःकाल में और वर्ष के प्रारम्भ–चैत्रमास में श्लेष्मा की प्रधानता रहती है । सृष्टि का प्रारम्भ भी चैत्रमासशुक्लप्रतिपदा से ही होता है । इसी आधार पर कफ को प्राथमिकता दी गयी है । इसी को श्री आचार्य भास्कर सिद्धान्त शिरोमणि में लिखते हैं—

इस अव्यक्तकाल के व्यञ्जक नक्षत्र ग्रहों के प्रादुर्भाव होने पर दिन–मास–वर्ष युगादि की

प्रादुर्भावे सति कालस्य व्यक्तीनामपि दिन--मास-वर्ष-युगादीनां युगपदेवाहेलया प्रवृत्तिर्बभूव । एतदुक्तं भवति —चन्द्रार्कयोर्मेषादिस्थयोश्चैत्रस्थ शुक्लपक्षादिः प्रतिपद् अतो मधोः सितादेर्दिनानां सौरादिमासानां वर्षाणां युगानां मन्वन्तराणां कल्पस्य च तदैव प्रवृत्तिरिति ।"

साम्प्रतं कालस्य शैथिल्याद् भवतु नाम कोऽपि व्यभिचारः कालव्यवहारेऽसावत्र न विचारास्पदमिति कृत्वा त स्पृश्यते ।

कालेऽपि च पुनः द्विविधः पक्षः-किं प्रलयानन्तरं सृष्ट्युत्पत्तिरथवा सृष्ट्युत्पत्त्य-नन्तरं प्रलय इति । अथवैवमवगन्तव्यं रात्र्यनन्तरं दिन-प्रवृत्तिः, दिनान्तरं वा रात्रि-प्रवृत्तिरिति ।

तत्र दिनं पित्तम्, रात्रिः श्लेष्मेति पक्षोभयोरवस्थानं भवति । अमुमेव सिद्धान्तमनुसृत्य दर्श—पौर्णमास-प्रक्रियायाः सर्वयागानां प्रकृतिभूतायाः कर्म—विधानं कुर्वतो यजुर्वेदस्य द्वैविध्यमुपपद्यते शुक्लयजुर्वेदः कृष्णयजुर्वेद इति । या यजुर्वेदशाखाः कृष्णपक्षमधिकृत्य व्याख्यां चक्रुस्ताः कृष्णपदेन व्यवहृताः, याश्च शुक्लपक्षमधिकृत्य व्याख्यां चक्रुस्ताः संहिताः शुक्लेति पदेन प्रसिद्धाः ।,

सारांशस्त्वयं यद् दोष-परिज्ञान-समये वात-पित्त कफेति क्रमो बुद्धौ समास्थाप्यः। बाल-युव वृद्धावस्थासु बलज्ञानाय व्याधेर्बलाबलज्ञानाय च कफ-पित्त-वातेति

एक ही समय में प्रवृत्ति हुई । अर्थात् मेषादि में स्थित चन्द्र सूर्य के चैत्र मास के शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से दिनों की सौरादि मासों की तथा वर्ष—युग—मन्वन्तर और सृष्टि की प्रवृत्ति हुई । इस समय कालगणना के व्यभिचार से हमें कोई प्रयोजन नहीं, अतः यहां इस विषय में विचार नहीं किया जाता ।

काल में भी दो पक्ष हैं—क्या प्रलयानन्तर सृष्टि की उत्पत्ति हुई या सृष्टि उत्पत्ति के अनन्तर प्रलय हुई ? अथवा यूं भी कहा जा सकता है क्या रात के अनन्तर दिन होता है या दिन के अनन्तर रात होती है ?

इन दोनों में ही दिन पित्त स्थानीय है और रात श्लेष्म—स्थानीय है । इसी सिद्धान्त का आश्रय करके सृष्ट्युत्पत्ति के अनन्तर प्रलय होती है, ऐसा मानकर सब यागों के मूल दर्श दर्शपौर्णमास की प्रक्रिया के क्रिया-कलाप विधान करते हुए यजुर्वेद की दो शाखायें शुक्ल तथा कृष्ण पक्ष को अर्थात् प्रलयानन्तर सृष्टि की उत्पत्ति को मूल मानकर व्याख्या करने लगी वे शाखायें कृष्ण—यजुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध हुईं और जो पहले सृष्टि पुनः प्रलय के मत को आश्रित करके चलीं वे शुक्ल—यजुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध हुईं । प्रवाह से अनादि होने के कारण किसी भी पक्ष से विधान आरम्भ कर सकते हैं ।

इन दोनों की सङ्गति इस प्रकार करनी चाहिये कि रोग निमित्त दोष-परिज्ञान के लिये नाडी में वात,पित कफ वाले क्रम को व्यवहार में लाना चाहिये और बाल--युवा—वृद्ध—अवस्थाओं में व्याधि का बलाबल जानने के लिये कफ, पित्त, वातवाले क्रम को अपनाना चाहिये ।

क्रमो बुद्धावास्थाप्यः । भगवद्गीतायामुपनिषत्सु च स्पष्टमुक्तम्–'ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्'(१५।१)। इत्येनेन देहिनो देहस्योर्ध्वमूलत्वाधःशाखावत्त्वाच्च कफ-पित्त–वात–वहापि नाडी, मणिवन्धसंस्पर्शाद् वात-पित्त--कफ--रूपात्मिकैव शास्त्रे निरूप्यते अतोऽयमेव साधीयान् पक्षः। एषो हि क्रमोऽस्मद्गुरुकुले–पारम्परीणः।

मया हि द्वे गुरुकुले सेविते। तत्र भारत-प्रसिद्ध-भिषक्प्रवर--गणनाथ–शिष्यः काश्मीर-देशीयसान्धिविग्रहिक–महाकुल-प्रसूतः श्रीगोकुलात्मजः श्रीनाथूराममौद्गल्यो मे गुरुरायुर्वेदज्ञापने ज्योतिःस्तम्भ इव भास्वान्। अपरः श्रीमतो धन्वन्तरिकल्पस्य श्रीमदर्जुनमिश्रस्य-शिष्यो राजगुरुः पण्डितसुखरामात्मजो ब्रह्मचारी तिलकरामशर्मा यतिः ॥१०॥

नाडी--स्थितिः—

आदौ वात-वहा नाडी मध्ये वहति पित्तला।
अन्ते श्लेष्म-विकारेण नाडिकेति त्रिधा मता ॥११॥

स्पष्ट एवार्थः ॥११॥

दोषानुरूपा नाडी--गतिः—

वाताधिके वहेन्नाडी प्रव्यक्ता तर्जनीतले।
पित्ते व्यक्ता मध्यमायां तृतीयांगुलिका कफे ॥१२॥

अथवा, गीता के अनुसार यह पुरुष, ऊर्ध्वमूल और अधःशाखामय होने के कारण कफ–पित्त–वायु इस क्रम से दोषों का वहन करनेवाली नाडी, मणिवन्ध के संस्पर्श में वात–पित्त–कफ रूप से ही कही गयी है। अतः नाडी में रहनेवाली दोष-गति का वात–पित्त कफवाला पक्ष ही उत्तम है। हमारी गुरुपरम्परा में यही क्रम व्यवहृत होता है।

मैंने दो गुरुकुल (गुरु घर) सेवन किये है "प्रथम प्रत्यक्षशारीर प्रबन्ध के प्रणयनकर्त्ता श्री गणनाथ सेन के शिष्य पंजाब देश के मुख्य काश्मीर के सान्धिविग्रहिक महाकुल नामक-स्थानोत्पन्न श्रीगोकुल जी के पुत्र श्रीनाथूराम जी मौद्गल्य मुझे इस आयुर्वेद ज्योति के देने में प्रकाश स्तम्भ की भान्ति शुभकीर्ति वाले गुरु हैं। द्वितीय---काशी निवासी आयुर्वेद चूडामणि श्री अर्जुन जी मिश्र के शिष्य राजगुरु श्री पं० सुखरामात्मज श्री ब्रह्मचारी तिलकराम जी ॥१०॥

नाडी की स्थिति,—

अंगूठे के मूल की ओर से नाडी, पहले वायु, मध्य में पित्त और अन्त में कफ दोष को प्रकाशित करती है। इस प्रकार एक ही नाडी दोषों के आश्रय विशेष से तीन प्रकार की मानी जाती है। यह प्राकृत निर्देश है। वैकारिक दोष में व्यभिचार हो जाता है। वहां व्यभिचार रोग का सूचक है ॥११।

दोषानुरूप नाडी की गतिः—

रोगी के शरीर में वात दोष की अधिकता होने पर नाडी-परीक्षा में तर्जनी (अंगूठे के समीप की) अंगुली के नीचे नाडी-स्फुरण होता है। पित्त की प्रबलता से मध्यमा अँगुली के और कफ की

तर्जनी मध्यमा-मध्ये वात-पित्तेऽधिके स्फुटा ।
अनामिकायां तर्जन्यां व्यक्ता वात-कफे भवेत् ॥१३॥
मध्यमानामिकामध्ये स्फुटा पित्त—कफे भवेत् ।
अंगुलित्रितयेऽपि स्यात् प्रव्यक्ता सान्निपातिके ॥१४॥

अत्र विविधे द्वन्द्वे-- आशयापकृष्टत्वाद् हीनदोषस्य । विस्तरस्त् चरकेणानु—सन्धेयः । यथा—

प्रकृतिस्थं यदा पित्तं मारुतः श्लेष्मणः क्षये ।
स्थानादादाय गात्रेषु यत्र यत्र विसर्पति ॥
तदा भेदश्च दाहश्च तत्र तत्रानवस्थितः ।
गात्रदेशे भवेत्तस्य श्रमो दौर्बल्यमेव च ॥

—च०, सू०, अ० १७।४४,४५

एवं हि यदा प्रकृतिस्थं श्लेष्माणं मारुतः पित्तस्य क्षये वहति, स्थानादादाय यत्र यत्र विसर्पति तत्र तत्र श्लेष्म—लक्षण--प्रधानानां शोथ--स्थौल्य--स्फोट--कण्डू--प्रभृतीन् विकारानवस्थितान् जनयति । दोषाणां कर्षणभेद-परिज्ञानाय द्रष्टव्यम्--चरक--सूत्रस्थानस्थ--सप्तदशाध्याये ४६ तः ६० श्लोकपर्यन्तम् । द्वन्द्वश्चात्मानं श्लोकोक्तस्थाने व्यनक्ति--तस्माद् युक्तियुक्तमेवेदं द्वन्द्वे पार्थक्येन स्थानकथनम् ।

अधिकता से अनामिका के नीचे नाडी का स्फुरण होता है । इसी प्रकार वात-पित्त का प्रकोप होने पर तर्जनी और मध्यमा के नीचे, वात-कफ-प्रकोप में तर्जनी—अनामिका के नीचे एवं पित्त—कफ-प्रकोप में मध्यमा—अनामिका के नीचे, त्रिदोष की अधिकता में या त्रिदोष-दुष्ट नाडी, तर्जनी, मध्यमा और अनामिका के नीचे समकाल में ही स्फुरित होती है ।

स्पष्टीकरण—यहां तीन प्रकार के द्वन्द्वों की उत्पत्ति का कारण यह है कि वायु कफ का क्षय करके जब प्रकृतिस्थ पित्त को अपने स्थान से हटाकर तथा अपने साथ लेकर शरीर में जहां-जहां सञ्चारित होता है; शरीर के उस-उस अवयव में अस्थिर रूप से भेदन (वायुसे) और दाह (पित्त से) उत्पन्न करता है और शरीर में श्रम एवं दुर्बलता उत्पन्न करता है । यही व्याख्या वात कफ में भी समझनी चाहिये अर्थात् वायु, पित्त को क्षीण करके कफ को उसके स्थान से हटाकर अपने साथ ले लेता है । तब वह वात—श्लेष्मा शरीर में जहां-जहां संचार करता है वहां पर अस्थायी रूप से सूजन, स्फोट (फोड़ा), खुजली आदि लक्षणों को प्रकाशित करता है। वैद्य को इस प्रकार सर्वाङ्गीण-लक्षणों का कथन करना चाहिये । सन्निपात का स्वरूप यह है—

सन्निपातत इति। भिषजा सन्निपात-स्वरूप-साधकः श्लोकः स्मर्तव्यः—

आमो ह्याहारदोषात् प्रथममुपचितो हन्ति वह्निं शरीरे
श्लेष्मत्वं याति भुक्तं सकलमपि ततोऽसौ वायु-दुष्टः।
स्त्रोतांस्यापूर्य्य रुन्ध्यादनिलमथ मरुत् कोपयेत् पित्तमन्तः
सम्मूच्छर्चान्योऽन्यमेते प्रवलमति नृणां कुर्वते सन्निपातम्॥

तस्माद् युक्तियुक्तमुपपद्यतेऽङ्गुलित्रितयेऽपि प्रव्यक्ता सन्निपातत इति॥१२-१४॥

दोषानुरूपं गतेर्भेदः—

वाते वक्रगतिर्नाडी चपला पित्तवाहिनी।
स्थिरा श्लेष्मवती प्रोक्ता सर्वलिङ्गा च सर्वगा॥१५॥
श्लेष्मणा स्तिमिता स्तब्धा मिश्रा मिश्रैश्च लक्षयेत्॥१६॥

वक्रगतिः-कुटिलगतिरिति, तद् यथा सर्पः सर्पति। अथवा, वक्रत्वं हि नाम नकस्य मार्गस्यावलम्वनम्। यतो हि वाताः सर्वगामिनो भवन्ति, तस्माद् वाते प्राधान्यमागते कौटिल्यं स्यादेव नाडयामिति स्पष्टमुपपद्यते।

मिथ्या एवं अहित आहार से भोजन अपक्व रहकर आम को उत्पन्न करता है। आम अग्नि का नाश कर देता है अतः आहार रस श्लेष्मा रूप में परिणत और विकृत होकर वायु के साथ स्रोतों को भर देता है, जिससे वायु की गति रुद्ध हो जाती है। तव कुपित वायु, पित्त को विकृत कर देता है, अतः तीनों दोष मिलकर कुपित हो जाते हैं तब सन्निपात करते हैं। इसलिये कहा गया हैं कि सन्निपात की नाडी तीनों अंगुलियों में स्फुरण करती है॥१२-१४॥

दोषानुरूप नाडी की वक्र आदि गतियों का वर्णनः—

वात दोष के कुपित होने पर नाडी की गति में वक्रता-टेढापन आ जाता है। पित्त-कोप से चञ्चलता और कफकोप से मन्दता-स्थिरता आती है। इसी प्रकार सन्निपात से तीनों प्रकार की गति की प्रतीति होती है। श्लेष्मा के कोप से स्थिरता या स्तब्धा प्रतीत होती है। इसी प्रकार दोषान्तरों का सम्मिश्रण होने से नाडी की गति भी मिश्रित लक्षणों वाली हो जाती है।

जैसेः—वाताधिक्य से नाडी में टेढापन तो रहेगा परन्तु पित्त के साथ होने से टपकती हुई सी और कफ के संसर्ग से टेढेपन के साथ मन्दता भी प्रतीत होगी। पित्त-प्रधान होने से नाडी में चपलता तो होगी ही; परन्तु वायु के संसर्ग से चपलता के साथ टेढापन और तेजी रहेगी एवं कफ के साथ होने से चपलता में विवशता मालूम होगी। कफ की प्रधानता में वायु के संसर्ग से नाडी में मन्द चपलता और टेढापन रहेगा। पित्त का संसर्ग होने से स्थिरता और मन्दता के साथ चपलता रहेगी।

वक्रगति का तात्पर्य—सर्प की सी गति से है। वक्रता का अर्थ यह भी है कि किसी एक व्यवस्थित चाल पर न रहना। कारण यह कि वायु सर्वगामी है, सभी ओर चलता है। इसलिये वात की प्रधानता से नाडी की कुटिलता या वक्रता का होना स्वाभाविक है।

चपलेति–सूर्ययोनित्वाद् वह्नेः । अग्निरेव शरीरे पित्तम् । लघुनि हि चापल्यं भवति । तस्मिन् दोषे ह्यन्तर्निहिता ऊर्ध्वं चिगमिषा व्यक्ता भवति । अग्निभूयस्त्वात् पित्तस्य । यथा वायुयोगाद् दीपशिखा विविधं वेपते; तथैव वायुयोगात् पित्तं चञ्चलं भवति ।

स्थिरेति–पार्थिवांश–बहुलः श्लेष्मा गुरुर्भवति । गुरुर्हि न चेष्टते पाषाणमिति यथा । श्लेष्मणा संसर्गं भजन्नपि वायुर्गौरवमापद्यते । तस्माद् वायुर्न श्लेष्मणः स्थैर्यं विहन्तुमीशः । यदा वायुः स्वयं कुपितः सन् श्लेष्माणमनुनयते तदा भवत्यनवस्थितत्वं श्लेष्मणोऽपि जवाधिष्ठितत्वाद् वातस्येति ॥१५–१६॥

गतिज्ञानविधिः—

वातोद्रेके गतिं कुर्याद् जलौका—सर्पयोरिव ।
पित्तोद्रेके तु सा नाडी काक–मण्डूकयोरिव ॥१७॥
हंसस्येव कफोद्रेके गतिं पारावतस्य वा ।
नाडी धत्ते त्रिदोषे तु गतिं तित्तिर–लावयोः ॥१८॥

पञ्चमहाभूत–सूक्ष्मज्ञान–विरहितानां परिज्ञानाय स्थूलतमोपायेन ज्ञापयति । सर्पो हि कुटिलं क्रामति । जलौकापि च रोधं रोधं गच्छति । अर्थात् पूर्वं विकासय-

---

चपलता–वन्हि की योनि सूर्य है । शरीर में अग्नि ही पित्त है । लघु में चपलता होती है अर्थात् दोष में अव्यक्त रूप से ऊपर की ओर जाने की इच्छा होती है । क्योंकि पित्त अग्नितत्त्वमय है । जैसे दीप की ज्वाला (लौ) वायु के योग से विविध प्रकार से कांपती है उसी प्रकार पित्त भी चञ्चल होता है ।

स्थिरता:—

स्थिरता का कारण कफ-गत गुरुत्व है । पृथिवीतत्त्व की अधिकता से कफ में गुरुत्व होता है । गुरु पदार्थ में पत्थर के समान गति नहीं होती । अतः लघुतम वायु भी कफ के संसर्ग से गुरु हो जाता है अतः वह श्लेष्मा की स्थिरता को नष्ट नहीं करता । यदि वायु, स्वयं कुपित होकर कफ को साथ लेता है तो कफ में भी अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है ।१५-१६।

वक्रता आदि गतियों का ज्ञानः—

वायु की अधिकता से नाडी की गति जोंक और सर्प के समान होती है, पित्त की अधिकता से काक और मेंढक के समान उछल-उछलकर चलती है, कफ की अधिकता से हंस और कबूतर की चाल की भांति नाडी का स्पन्दन होता है और त्रिदोष में तीतर तथा बटेर की सी गति होती है ।

जो पुरुष, पञ्चमहाभूत प्रक्रिया से गुरु लघु, मन्द और तीक्ष्ण आदि नहीं समझ सकते उन्हें स्थूल रूप से समझाने के लिये नाडी–गति का वर्णन किया गया है । सर्प टेढीचाल से चलता है और जोंक रुक–रुक कर चलती है । अर्थात् पहले अपने शरीर को फैलाती है, फिर सिकोड़ती है । जोंक पानी से उत्पन्न होती है इससे यह ज्ञात होता है कि जब वायु कफ से युक्त होता है

त्यात्मानं ततश्च सङ्कोचमञ्चति । जलयोनित्वात्तस्याः । एतेन ज्ञायते यत् श्लेष्म-संसर्गं भजमानस्य वायोरेषा गतिर्भवति । पित्त-संसर्गं भजमानो वायुः सर्पगतिमन्वेति । अत्रोभयविधगत्योर्वायोरेव प्राधान्यम् । तस्मादुपपद्यते–जलौका–सर्पयोरिव इति ।

काक–मण्डूकयोरिति-पित्तमात्मनः प्राधान्यं भजन् तदा वातमनुनयति तदा काकवत् चाञ्चल्यं प्रकाशयति । यदा च पित्तमात्मनः प्राधान्यं भजन् श्लेष्माणमनुनयति तदा प्रकटयति मण्डूक-समां गतिम् । मण्डूकस्य जल-प्रधानत्वात् काकस्य च वियच्चारित्वात् ।

हंसस्येवेति-गम्भीर गतिमत्त्वाद्, हंसो हि जलमनुशेते वियति च विसर्पति । श्लेष्म-प्राधान्यं भजन् यदा वायुमनुनयते तदा हंसस्येव गतिं प्रकटयति । यदा श्लेष्मा, स्वात्मनः प्राधान्यं भजन् पित्तमनुनयते तदा पारावतस्येव गतिं प्रकाशयति । पारावतो हि पाषाणमत्ति । आत्मनि तीव्रौष्ण्यं भजन् पाषाण द्रवयति । पाषाणं हि पृथ्व्यंशबहुलम् । कारणमनुशेते कार्यमिति कृत्वा समुपपद्यते पारावतस्येव गतिः ।

तित्तिर–लावयोरिति तित्तिर–लावयोस्त्वनेकविधगतिमत्त्वात् त्रिदोषगति-ज्ञापनाय साम्यं संगच्छत एव ।

सर्पा हि बहुविधाः सन्ति । ततस्तेषां वैविध्यसाम्येन दोषाणामंशांश–कल्पनाः

तब नाडी में जोंक की गति उत्पन्न होती है । क्योंकि श्लेष्मा, जल और पृथिवी तत्त्वों का योग है। पृथिवी के गुरु होने से वायु में गौरव होना स्वाभाविक है । इसी प्रकार अग्नितत्त्व-प्रधान पित्त से संश्लिष्ट होने के कारण वायु की गति सर्प की भांति हो जाती है । वक्रता वायु की है और तीव्रता पित्त की । इन दोनों गतियों में वायु की प्रधानता है ।

जब पित्त, प्रधान होकर वायु का संसर्ग करता है, तब नाडी कौवे की सी चंचल गति में रहती है । काक, आकाशचारी जीव है । जब पित्त, अपनी प्रधानता में कफ का संसर्ग करता है तब नाडी मेंढक की गति से चलती है अर्थात् उछल–कूद करती है । मेंढक जलचर और काक नभचर है ।

हंस की गति स्वभावतः गम्भीर होती है । हंस सरोवरों के तट पर भी रहता है और आकाश में भी उड़ता है, इसलिये बढा हुआ कफ, अपनी प्रधानता में जब वायु को साथ लेता है, तब नाडी में हंस समान गति होती है । जब बढा हुआ कफ,पित्त का संसर्ग करता है तब कबूतर की गति के समान नाडी की गति हो जाती है । कबूतर कंकड़ों को खा जाता है और अपनी औदर्य-अग्नि से उन्हें पचा देता है । पत्थर में पृथिवी का अंश अधिक होता है । कारण के अनुसार कार्य होता है । इसलिये कफ-युक्त पित्त की गति कबूतर के समान होती है ।

तित्तर और लावा की गतियां एक सी नहीं होती । वे विविध गतियों में चलते है । इसी प्रकार त्रिदोष–दूषित सान्निपातिक नाडी की गति उन्हीं के समान होती है ।

सर्प अनेक प्रकार के हैं । अतः सर्पों के भेद-विशेष के अनुसार वायु बहुल पित्त की भी अंशांश कल्पना करनी चाहिये । इस प्रकार जल जोंक के समान तृण-जोंक भी होती है । अतः

कल्पनीया भवन्ति। एवं जलौका-तृणजलौकयोरपि भेदो विज्ञेयः। आकाशतत्त्ववहुले वातोत्तरपित्ते तृणजलौकागतिर्ज्ञातव्या। अन्येऽपि ये कीटा जलौकावत् सर्पन्ति तेऽपि स्वबुद्धया योजनीया बुद्धिवैशारद्याय। एवं काकस्य मण्डूकजातेस्तत्तच्चेष्टानाञ्च वैविध्यं स्वबुद्धया वोध्यं वैद्यवरैर्येन दोषांश-कल्पना-सौकर्यं सम्भवेत्। अतः श्रेष्ठतमोपायो नास्ति प्रकृतिनियमानुकूलस्त्रिदोषज्ञानस्य। एवमन्यत्रापि।

यथा च वसवराजीये—

वाते वाताधिका नाडी व्यालीव कुटिला सदा।
अत्यन्तदुष्टा वहति स्तब्धा तन्त्री—समाकृतिः ॥१२॥

पित्ताधिक्ये नाडोलक्षणम्—

पित्ताधिक्ये तु चपला नाडी वहति काकवत्।
वक-दर्दुर-सञ्चारा चटका—वर्तिका--गतिः ॥१३॥

श्लेष्माधिक्ये नाडीवर्णनम्—

कफेन दुष्ट--नाडी तु हंस-कुक्कुट—गामिनी।
कपोत--मन्द—सञ्चारा भवतोति विनिश्चयः ॥१४॥

दोनों की गति के अनुसार दोषों की अंशांश--कल्पना करनी चाहिये। अर्थात् आकाशतत्त्व-वहुल वातोत्तर पित्त में तृणजलौका के समान नाडी की गति जाननी चाहिये। इस प्रकार अन्य कीड़े भी जोंकों की भांति चलते हैं उनके समान त्रिदोषांश--कल्पना में नाडी की गति को युक्त करना चाहिये। कौवों की नाना प्रकारता से पित्त वहुल वात की भी नाना कल्पना अंशांश भेद से करनी चाहिये। इसी प्रकार मेंडकों के नाना प्रकारों को देखकर पित्त-वहुल कफ की तथा हंस, कपोत आदि के भेदों को देखकर कफ-वात और कफ-पित्त के अंशांशमय भेदों की कल्पना करनी चाहिये। नाडी में त्रिदोष ज्ञान के लिये इससे अच्छा अन्य साधन नहीं है। वसवराज ने भी कहा है—

वात अधिक नाडी का लक्षण:—

वाताधिक वात दोष में नाडी की गति सर्प के समान कुटिल होती है। अत्यन्त दुष्टवात में स्तव्ध तन्त्री के आकार की होती है।

पित्ताधिक नाडी का लक्षण—

पित्त की अधिकता में नाडी की गति काक की भांति तथा वक-मेंडक-चटका (चिड़ा) वर्त्तिका (वतख) की सी होती है। यहां पर कथित काकादि की गति में परस्पर भेद होता है, अतः इन सव का संगतिकरण पित्तोत्तर वात या कफ के न्यूनाधिक अंशज भेदों के जताने के लिये है।

श्लेष्मा अधिक नाडी:—

कफ से दुष्ट नाडी हंस—कुक्कुट-कपोत की गति के समान तथा मन्दसंचारी होती है। ऐसा नाडी ज्ञाताओं का निश्चय है।

त्रिदोषनाडीस्वरूपम् —

वाताद् वक्रगता नाडी पित्तादुत्प्लुत्यगामिनी ।
कफान्मन्दगतिर्ज्ञेया सन्निपातादतिद्रुता ॥१६॥

वात--पित्त-नाडी-लक्षणम्—

मुहुः सर्पगतिं नाडी मुहुर्भेकगतिं तथा ।
वात—पित्त-द्वयोद्भूतां प्रवदन्ति विचक्षणाः ॥१७॥

वात--श्लेष्म—नाडी-लक्षणम्—

भुजगादिगतिं नाडी राजहंसगतिं तथा ।
वात-श्लेष्म-समुद्भूतां प्रवदन्ति विनिश्चयम् ॥१८॥

पित्त--श्लेष्म--नाडी--लक्षणम्—

मण्डूकादिगतिं नाडी मयूरादिगतिं तथा ।
पित्त-श्लेष्म-समुद्भूतां प्राहुर्वैद्यविशारदाः ॥१९॥

इत्यनेन संकीर्त्तनेन ज्ञायते यद् वैद्येन स्वोहा नानाविधत्वेनोहनीया इति ।
तन्त्रान्तरीयास्त्वेवम् —

त्रिदोष नाडी का स्वरूप—

वात से वक्र (वांकी) गति, पित्त से उछलकर चलनेवाली, कफ से मन्द गति, तथा सन्निपात से अतिद्रुत गतिवाली नाडी होती है ।।१६।।

द्वन्द्वज वात-पित्त नाडी का लक्षण—

वात-पित्त द्वन्द्व जनित नाडी बार-बार सर्प की भांति और बार-बार मण्डुक की भाति चलती है ।।१७।।

वात-श्लेष्मा नाडी लक्षण—

वात श्लेष्मा युक्त नाडी सर्प तथा राजहंस की सी गति को लिये हुए चलती है ।।१८।।

पित्त-श्लेष्मा नाडी लक्षण—

मण्डूक तथा मयूर के समान गतियुक्त नाडी पित्तश्लेष्मज द्वन्द्व में चलती है ऐसा नाडी ज्ञान कुशल वैद्य जनों ने निश्चित विधान किया है ।।१९।।

इस उपर्युक्त सम्पूर्ण निर्देश से यही ज्ञात होता है कि वैद्य को अपनी बुद्धि से नाना प्रकार की गतियों में अंशांश कल्पना करनी चाहिये। (यहां तत्त्व यह है कि सभी प्राणियों के शरीर पञ्च महाभूतों के न्यूनाधिक्य का संयोग है इसी प्रकार रोगार्त्त के अन्दर भी पञ्चमहाभूत जनित वात–पित्त–श्लेष्मा का न्यून्याधिक्य रोग के अनुसार हो जाता है सो वैद्य को इन उपर्युक्त जानवरों से भिन्न जानवरों की गतियों की कल्पना करनी चाहिये। वैद्य को इन जानवरों की गतियों को भी देखते रहना चाहिये। हम पञ्चमहाभूत त्रित्व ज्ञापक अध्याय में त्रिदोष का पञ्चमहाभूतों से एकीकरण बता चुके हैं)। इसी आशय को रूपान्तर में भी कहा है—

सर्पजलौकादिगतिं वदन्ति विबुधाः प्रभञ्जने नाडीम् ।
पित्तेन काकलावकमण्डूकादेस्तथा चपलाम् ॥
राजहंसमयूराणां पारावतकपोतयोः ।
कुक्कुटस्य गतिं धत्ते धमनी कफसंगिनी ॥
मुहुः सर्पगतिं नाडीं मुहुर्भेकगतिं तथा ।
वातपित्तसमुद्भूतां तां वदन्ति विचक्षणाः ॥
सर्पहंसगतिं तद्वद् वातश्लेष्मवती वदेत् ।
हरिहंसगतिं धत्ते पित्तश्लेष्मान्विता धरा ॥

सन्निपाते नाडी-स्वरूपम्—

काष्ठकुट्टो यथा काष्ठं कुट्टते चातिवेगतः ।
स्थित्वा स्थित्वा तथा नाडी सन्निपाते भवेद्ध्रुवम् ॥१८॥

स्पष्टोऽर्थः ।

द्वन्द्वजा नाडी यथा—

कदाचिन्मन्दगमना कदाचिद् वेगवाहिनी ।
दोष-द्वयोद्भवो रोगो विज्ञेयः स भिषग्वरैः ॥१९॥

वायुर्हि विषमगतिधर्मा स यदा कफ-पित्तयोः कतरदपि दोषमनुनयति तदा धरायां तीव्र-वेगं (पित्तेन) मन्द-वेगं (कफेन) वा जनयति ।

असाध्यनाडी—

वाताधिक्य में सर्प तथा जलौका के समान नाडी की गति होती है। पित्ताधिक्य से काक-मण्डूक तथा लावक के समान चपल गतिशील नाडी होती है।

राजहंस-मयूर-पारावत-कपोत तथा कुक्कुट के समान कफाधिक्य से संसृष्ट नाडी की गति होती है।

वात-पित्त में नाडी बार-बार सर्पसम गति को तथा मण्डूक की सी गति को धारण करती है।

वात-श्लेष्म प्रकोप में नाडी सर्प तथा राजहंस के समान गति को धारण करती है।

सन्निपात की नाडी:—

कठफोरवा पक्षी, जिस प्रकार अपनी चोंच से ठहर-ठहर कर काठ को फोड़ता है उसी प्रकार सन्निपातज नाडी ठहर-ठहर कर वेग से चलती है ॥१८॥

द्वन्द्वज नाडी—

नाडी, कभी मन्द गति से कभी तीव्र चाल से चले तो उसे द्वि-दोषज जानना चाहिये। भावार्थ यह कि वायु की विषम गति तो होती ही है। अतः वह अपने साथ कफ को लेती है तो मन्द, और पित्त को लेती है तो तीव्र गति से चलती है ॥१९॥

असाध्यनाडी—

क्वचिन्मन्दां क्वचित्तीव्रां त्रुटितां वहते क्वचित् ।
क्वचित् सूक्ष्मां क्वचित् स्थूलां नाड्यसाध्यगदे गतिम् ॥२०॥

यदा हि रोगो वहुलक्षणयुक्तो भवति तदासाध्यत्वमुच्यते । अत एवोक्तं भवति–

पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया ।
यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युर्ज्वरपुरःसरः ॥
अन्यस्यापि हि रोगस्य पूर्वरूपाणि यं नरम् ।
विशन्त्यनेन कल्पेन तस्यापि मरणं ध्रुवम् ॥
—च० इन्द्रिय०, अ०५ श्लो० ३,४

सर्वोपद्रवसंयुक्तं नरं तं परिवर्जयेत् इति च ।

उपद्रवलक्षणन्तु—

व्याधेरुपरि यो व्याधिर्भवत्युत्तरकालतः ।
उपक्रम—विरोधी च स उपद्रव उच्यते ॥
—च० चि० स्थानम्

नास्ति रोगो विना दोषैर्यस्मात्तस्माद् विचक्षणः ।
अनुक्तमपि दोषाणां लिङ्गैर्व्याधिमुपाचरेत् ॥
(सुश्रुते सूत्र० ३५।१६)

नाडी, कभी मन्द; कभी तीव्र, कभी रुक-रुक कर, कभी सूक्ष्म और कभी स्थूल गति से चलती हो तो रोग को असाध्य समझना चाहिये।

जव रोग सम्पूर्ण या अधिक लक्षणों से युक्त होता है, तब असाध्य कहा जाता है। चरक (चि० स्था० अ० ५) में कहा है—

"जिस रोगी में ज्वर के पूर्वरूप सम्पूर्ण रूप से अतिमात्रा में दीख पड़ें, उस रोगी में ज्वर के रूप से मृत्यु का प्रवेश होता है।"

इसी प्रकार अन्य रोगों में भी यदि रोगी में रोग के सम्पूर्ण पूर्वरूप व्याप्त हो जायँ तो रोगी का निश्चय ही मरण होता है।

'यदि रोग के साथ उसके सभी उपद्रव दीख पड़ें तो रोगी को छोड़ देना चाहिये, अर्थात् उसकी चिकित्सा न करें।'

चरक के चिकित्सास्थान में उपद्रव का लक्षण इस प्रकार कहा है—

"प्रधान या मुख्य रोग के अनन्तर उसी के आधार पर जो छोटे या बड़े रोग उत्पन्न हो जाते हैं–उन्हें उपद्रव कहते हैं। वे भी उपद्रव कहे जाते हैं जो प्रधान रोगों की चिकित्सा में वाधक हो जाते हैं।"

सुश्रुत (सू० स्था० अ० ३५) में कहा है कि रोग, दोषों के विना नहीं होते, अतः वैद्य को चाहिये कि उन अनुक्त रोगों की भी चिकित्सा, दोषों के चिह्नों को देखकर करे।

विशेष—इस समय लोगों का कथन है कि जो रोग चरक के समय में थे उनसे भी

चरकेऽपि—

विकाराणामाकुशलो न जिह्रीयात् कदाचन ।
न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवास्थितिः ।।

तस्मादुपपद्यते क्वचिन्मन्देत्यादि । तथा चासाध्यलक्षणमाह वसवराजः—

या च सूक्ष्मा च वक्रा च तामसाध्यां विनिर्दिशेत् ।
त्वगूर्ध्वं दृश्यते नाडी प्रवहेदतिचञ्चला ।।
असाध्यलक्षणा प्रोक्ता पिच्छिला चातिचञ्चला ।।

स्पष्टं पूर्वश्लोकस्य व्याख्यानेन । अत्रेदं विशेषमवधार्यम्ः—

क्रियापथमतिक्रान्ताः केवलं देहमाप्लुताः ।
दोषाः कुर्वन्ति यं चिह्नं तदरिष्टं निरुच्यते ।।

—चरक इन्द्रियस्थाने

तस्मान्नाड्यामनेकविधदोषगतिसंभूतयो भवन्ति ।।२०।।

निर्दोषा नाडी—

अंगुष्ठादूर्ध्वसंलग्ना समा च वहते यदि ।

अधिक इस समय हो गये हैं, उनका क्या विधान है ? इस प्रकार के कथन को सुश्रुत के उपरि निर्दिष्ट श्लोक ने अपने अन्दर ले लिया है और चिकित्सा का भी निर्देश कर दिया है' । इसी कथन को 'विकाराणां पद्य' से चरक ने स्पष्ट किया है ।

इसलिये आचार्य का असाध्य ज्ञापिका नाडी में मन्दादि लक्षण का कथन करना उपपन्न हो जाता है ।

वसराज के मत में असाध्य ज्ञापिका नाडी:—

यदि सूक्ष्म और टेढी नाडी चलती हो तो वह असाध्य रोग की ज्ञापिका होती है ।

प्रकारान्तर से असाध्य ज्ञापिका नाडी:—

नाडी त्वचा पर चलती दीखे और उसका वेग तीव्र हो, कुछ दवी सी पिच्छिल हो, कभी हाथ में नाडी का ज्ञान हो कभी न हो और अत्यन्त चंचल हो तो उस गति को भी असाध्य समझना चाहिये । (इसकी उपपत्ति भी ऊपर कहे श्लोक की भांति ही समझनी चाहिये) । इतना ध्यान रहे कि जब दोष शरीरान्तरचारी क्रिया का उल्लङ्घन करके बाहर त्वचा में अपने लक्षणों को उत्पन्न करते हैं तब नाडी की गति इस प्रकार विषम हो जाती है । अतः अरिष्ट संप्लुता नाडी भी ऐसी ही त्रिदोष सम लक्षण युक्त चाल से चलेगी । अतः यह लक्षण निर्देश युक्ति द्वारा सिद्ध हो जाता है । साथ ही अनेकविध गतियां भी नाडी की उपपन्न हो जाती हैं ।

निर्दोषा नाडी:—

अंगूठे से ऊपरकी ओर लगी हुई नाडी,यदि तीनों अंगुलियों के नीचे समान भाव से चले तो

निर्दोषा सा तु विज्ञेया नाडीलक्षण—कोविदैः ॥२१॥

निगदव्याख्यातम् । तन्त्रान्तरे च यथा—

हंसगा चैव या नाडी तथैव गजगामिनी ।
मुखं प्रशस्तं च भवेत् तस्यारोग्यं भवेत् सदा ॥

वसवराजः—

सुव्यक्ता निर्मला चैव स्वस्थानस्थितिरेव च ।
अचाञ्चल्यममन्दत्वं सर्वासां लक्षणं शुभम् ॥

मृत्युज्ञापिका नाडी—

स्थित्वा स्थित्वा गतिं याति सा नाडी मृत्युदायिनी ।
अतिशीता च या नाडी सा ज्ञेया प्राणहारिणी ॥२२॥

अत्र युक्तिः—

शान्तेऽग्नौ म्रियते युक्ते चिरं जीवत्यनामयः ।
रोगी स्याद् विकृते मूलमग्नितस्मान्निरुच्यते ॥

—चरक०, चि०, अ० १५, श्लो० ४

शान्ते ह्यग्नौ कफ-प्रकोपः । स हि गुरुः । यथा हि स्थूलः पुरुषः स्थायं स्थायं चलति वलक्षीणो वा मन्दं मन्दं चलति । भारस्य वोढा भारं रक्षं रक्षं विश्रम्य विश्रम्य वा चलति, तथैवायं श्लेष्म-प्रकोपो नाडीं स्थायं स्थायं गमयति । अतिशीतेति–सुतरां

उसे निर्दोष नाडी जानना चाहिये । समान भावका अर्थ है–यथायोग्य दोषोंका कार्यारूढ होना । कहा भी है कि जिसकी नाडी, हंस और हाथी के समान चलती हो और जिसका मुंह देखने में अच्छा लगता हो उस पुरुषको नीरोग समझना चाहिये ।

वसवराज के मत से—

यदि नाडी सुव्यक्त, निर्मल, स्वस्थान स्थित, चंचलता तथा मन्दता रहित हो तो वह नाडीगति शुभ तथा स्वास्थ्य प्रदर्शिका होती है ।।२१।।

मरण-सूचक नाडीः—

ठहर-ठहर कर चलनेवाली नाडी मृत्यु की सूचक होती है । जो नाडी, अत्यन्त शीतल होकर चलती है वह भी प्राणघातिनी होती है ।

इसमें कारण 'जब पुरुष की अग्नि शान्त हो जाती है या अग्नि विकृत (तीक्ष्ण, मन्द, या विषम) हो जाती है, तब मृत्यु होती है और समाग्नि होने पर मनुष्य पूर्णायु होकर जीवित रहता है ।'

अग्नि के शान्त होने पर कफ का प्रकोप होता है । कफ, स्वभाव से ही गुरु (भारी) है। अतः श्लेष्मा के भार से नाडी रुक-रुक कर चलती है । अग्नि अत्यन्त नष्ट हो जाने पर नाडी

मन्दत्वाद्वन्ह्नेः। यथा श्लेष्मा मन्दं याति, तथैव पित्त-प्रकोपस्त्वरयति। दृष्टञ्चास्माभिः स्वपितुः श्रीकृष्णात्मजस्य श्रीमदनन्तरामशर्मणो मृत्युकाले वैक्रमे मुन्यङ्काङ्कचन्द्रेऽब्दे (१९९७) धराया वलपूर्णत्वम्। तत्र बहवो भिषजो विमुग्धाः। तस्माद् भिषजा सर्वप्रयत्नेन रोगाणां निदाने प्रयतितव्यम्। निदानज्ञो हि नाडीज्ञानकुशलो भवितुमर्हतीति निर्णिक्तं ब्रूमहे।

भवति चात्र—

भिषग् धामनीसंस्पर्शाद् यथार्थं वक्तुमर्हति।
स्मृतिमान् हेतु-युक्तिज्ञो जितात्मा प्रतिपत्तिमान्॥२२॥

शरीरस्थित्यनुरूपा नाडी—

उष्णा वेगवती नाडी ज्वरकोपे प्रजायते।
उद्वेग-क्रोध-कामेषु भय-चिन्तोदये तथा॥२३॥
भवेत् क्षीणगतिर्नाडी ज्ञातव्या वैद्यसत्तमैः।

उष्णा वेगवतीत्यादि—'ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना' इति। रुद्र-कोप-प्रभवत्वाज्-ज्वरस्य। रुद्रः-पित्तम्। पित्ते शान्ते मृतं रुदन्तीति भावः।

अति शीतल होकर चलती है। यहां यह ध्यान देने योग्य विषय है कि जैसे श्लेष्मा के प्रकोप से नाडी की गति मन्द हो जाती है उसी प्रकार पित्त-प्रकोप से अतितीव्र भी होती है। इसका हमने प्रत्यक्ष अनुभव किया है। यह लक्षण हमने श्रीकृष्ण सहजपाल वासिष्ठ के सुपुत्र मेरे पिता श्री अनन्तराम जी की वि० सं० १९९७ में होनेवाली प्रातःकालीन मृत्यु के समय में नाडी को बलयुक्त देखा। उस नाडी की गति से बहुत सारे वैद्य विमोहित हो गये। इसलिये वैद्य को रोगों के निदान में लगन के साथ परिश्रम करना चाहिये। अनेक बार कहा गया है कि 'निदान विशेषज्ञ ही नाडी का विशेषज्ञ हो सकता है'। यह हमने निश्चित बुद्धि से भलीभांति परीक्षण किया है।

हमारा यह सूत्र भी याद रखना चाहिये—

"मेधावान् (गुरु के एवं शास्त्रों के उपदेशों को स्मरण रखने वाला); रोग की उपपत्ति को जाननेवाला, संयत चेष्टावाला और कार्य के समय प्रत्युत्पन्नमति वैद्य; नाडी ज्ञान में सफलता प्राप्त कर सकता है" ॥२२॥

शरीर की स्थिति के अनुसार नाडी:—

ज्वर का प्रकोप होने पर नाडी उष्ण (गर्म) और वेगवती होती है। घबराहट, क्रोध कामातुरता, चिन्ता और भय में नाडी उष्ण होती है; परन्तु क्षीणगतिवाली होती है।

उष्णता के विना ज्वर नहीं होता। क्योंकि वह रुद्र के क्रोध से उत्पन्न होता है। रुद्र, पित्त है। पित्त के शान्त हो जाने पर मृत व्यक्ति के सम्बन्धी रोते हैं, अतः वही रुलाने वाला रुद्र है।

उद्वेगादिषु त्रिदोष-विभागस्त्वस्मन्मते यथा—उद्वेगः—वातः १, पित्तम् १/२ श्लेष्मा १/२ । क्रोधः—पित्तम् १, वातः १/२ । कामः—पित्तम् १, वातः १/२ कफः १/२ । भयम्—पित्तम् १/४ वातः १, श्लेष्मा १/२ । चिन्ता—वातः १/२ पित्तम् १/४ कफ १ ।

इमे च रजस्तमोवाहुल्यान्मनसि समुत्पद्यन्ते । एवमेव च यथादोषं लोभ-मोह-मान ईर्ष्या-मात्सर्यादयोऽपि सूक्ष्मतमदोषांश-कल्पना—विधिज्ञेन ज्ञातव्याः । मनो हि प्राकृतम् चन्द्रयोनित्वात् शीघ्रगतिमत् । तस्मात् सूक्ष्मभावैः प्रथमं मनो युज्यते, ततोऽनु शरीरं तैस्तैर्दोषैराक्रामति । अत्र युक्तिः—यदा दोषा ग्रहणीमभिव्याप्य वायोः साहाय्येन हृदयमापूरयन्ति तदा मनसो मार्गं विकार्यं, मनस्तथाविधमेव बुद्ध्याध्यवस्यति, न हि हृदये दोषोद्रेकमन्तरा मानसदोषाणां प्रादुर्भावो भवति, हृत्प्रतिष्ठितत्वान्मनसः । अयं च यजुषि—हृत्प्रतिष्ठतं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु, इति । लोकेऽपि च पश्यामः—अधिष्ठाने दुष्टे जाते सति तत्रस्थस्याधेयस्यापि दुष्टिः । एतया युक्त्या सर्व एव मानसा रोगाः संगमनीया भवन्ति । अतः ग्रहणी चिकित्स्या भवति । तस्माद् युज्यत एव धरयोद्वेगादीनां ज्ञानम् । परीक्षितं चास्माभि-

---

वैद्यों की सुविधा के लिये उद्वेग आदि में दोषांशकल्पना दिखाने का प्रयत्न किया जाता है।

उद्वेग (घबराहट)—वायु १, पित्त १/२ कफ १/३ । क्रोध—पित्त १, वायु १/२ । काम—पित्त १, वायु १/२ कफ १/२ । भय—वात १, पित्त १/४ कफ १/२ । चिन्ता—वायु १/२ पित्त १/४ श्लेष्मा—१ । यह विभाग हमारी निजी कल्पना से प्रसूत है । वातज्वर में कहा गया है कि वह हृदय में घबराहट उत्पन्न करता है । अतः उद्वेग में वात-दोष की प्रधानता रहती है । रजस् और तमस् से व्याप्त हृदय में उद्वेग, क्रोध, काम और चिन्ता आदि उत्पन्न होते हैं । इसी प्रकार ईर्ष्या, लोभ, मान, मोह, मात्सर्य आदि में त्रिदोषों की कल्पना करनी चाहिये । मन प्राकृत है । चन्द्र से उत्पन्न होने के कारण शीघ्र गतिवाला है । सब ग्रहों में चन्द्रमा की गति अतिशीघ्र है । मन ही सबसे प्रथम सूक्ष्मरूप रजोगुण एवं तमोगुण से युक्त होता है । पुनः शरीर भी उन-उन दोषों से आक्रान्त हो जाता है । यहां यह युक्ति है कि जब दोष ग्रहणीकला को प्राप्त हो हृदयवाही स्रोतों को आपूरित करते हैं तब वे दोष मनोवाही स्रोतों को विकारी करके,मन उन्हीं विकारी भावों को बुद्धि से विचारता बोलता तथा क्रियायें करता है । हृदय में दोषों में विकार आये विना मानस रोगों का प्रादुर्भाव नहीं होता । मन का स्थान हृदय है इसमें यजुर्वेद का 'हृत्प्रतिष्ठं यदजिरम्' मन्त्र प्रमाण है । लोक में भी हम देखते हैं कि स्थान के दूषित होने पर आश्रित में भी दोष आ जाता है । इस युक्ति से सभी प्रकार के मानस रोगों की यथादोष से गति कर लेनी चाहिये । अतः मनोविकारों में ग्रहणी की चिकित्सा करनी चाहिये । इस

र्बहुत्र । तथा चोक्तं चरके—

मानसेऽपि कामादौ दोषकोपो भवत्येव ।
काम--शोक--भयाद् वायुः क्रोधात् पित्तमिति ।

तदुक्तम्—

ईर्ष्या-शोक-भय—क्रोध—मान द्वेषादयश्च ये ।
मनोविकारास्तेऽप्युक्ताः सर्वे प्रज्ञापराधजाः ॥

—च०, सू०, ८।५२

अन्यच्च—

लोभ-शोक-भय--क्रोध--मान-वेगान् विधारयेत् ।
नैर्लज्जेर्ष्यातिरागाणामभिध्यायाश्च बुद्धिमान् ॥

—च०, सू०, ७।२७

एवं बहुत्रोक्तमस्ति । कामादिषु तन्त्रान्तरेण नाडी-लक्षणं यथा—
काम--क्रोधाद् वेगवहा क्षीणा चिन्ता--भय--प्लुता - इति

वसवराजस्तु—

आगन्तुकज्वरं तृष्णामायासं मैथुनं क्लमम् ।
भयं शोकं च कोपञ्च कण्ठनाडी निदर्शयेत् ॥

कणादस्तु—

क्रोधजे संगलग्नाङ्गा ससंर्गा कामजे ज्वरे ।
उष्णा वेगधरा नाडी ज्वरकोपे प्रजायते ॥ इति

लिये नाडीद्वारा उद्वेग आदि का ज्ञान सुलभ होता है ।

चरक में भी कहा गया है:—

मन में उत्पन्न होने वाले कास आदि विकारों में भी दोष कोप होता है । काम; शोक, और भय से, वायु और पित्त से क्रोध उत्पन्न होता है ।

लोभ-शोक-भय-क्रोध-मान-निर्लज्जता-ईर्ष्या-अतिराग और अभिध्या के वेगों को बुद्धिमान् धारण करें ।

ईर्ष्या आदि सभी मनोविकार प्रज्ञापराध से उत्पन्न होते हैं । इस सम्बन्ध का विशद विवेचन चरक के विमानस्थान अध्याय ६—८ में देखना चाहिये ।

इस प्रकार अन्यान्य स्थानों में भी निर्देश किया गया है कि 'काम तथा क्रोध से नाडी वेगवती होती है और भय तथा चिन्ता से क्षीणगति होती है । वसवराज ने इनका ज्ञान कण्ठनाडी से करने के लिये लिखा है ।

कणाद ने अपने नाडी-विज्ञान में कहा है कि—'क्रोध ज्वर में नाडी गरम, और दूसरे दोषों (वात और कफ) में कुछ स्पर्शवाली होती है । काम-ज्वर में पित्त और कफ से पूर्ण सम्बन्ध रखनेवाली तथा वेगवती होती है ।

मनोव्याकुलत्वे—

उद्वेग क्रोध–कामेषु भय-चिन्ता–भ्रमेषु च ॥२४॥
भवेत् क्षीणगतिर्नाडी ज्ञातव्या वैद्यसत्तमैः ।
क्षीणधातोश्च मन्दाग्नेर्भवेन्मन्दतरा ध्रुवम् ॥२५॥

क्षीणधातुरिति–धातुषु हि पित्तनामा स्वोष्मा तिष्ठति, यया धातवः पचन्ति। नष्टे धातौ तत्स्थपित्तस्यापि नाशः स्यादेव। सामान्येनैष प्रयोगः, परन्तु वैद्येन रसाद्योजोऽन्तानां धातूनां क्षये नाड्या भेदेन धमनं भवतीति निश्चेतव्यम्। तथा च—प्रकृति–वयो--वल--शरीर--सत्त्वाग्नि--मूलानुवन्ध--ग्रहणी--केवलदोष–संसृष्ट–सन्निपात-स्थान—व्याधिस्थान - व्याधिविशेष—अभिजनारोग्यप्रायत्वानारोग्यप्रायत्व-सात्म्या--सात्म्यानि च सततं बुद्धौ समास्थाप्यानि। एतैर्विना ब्रुवन् वैद्यो मिथ्यावाचमभ्युप--पद्यते। अस्य विशेषव्याख्यानं तु रसवैशेषिके द्रष्टव्यम्।

तथा चैतमेवार्थं वह्निवेशोऽनुगायति—

सूक्ष्माणि हि दोषभेषजदेशकालबलशरीराहारसात्म्यसत्त्वप्रकृतिवयसामवस्थान्तराणि यानि खल्वनुचिन्त्यमानानि विमलविपुलबुद्धेरपि बुद्धिमाकुलीकुर्युः, कि पुनरल्पबुद्धेः। —च० सू० १५।४

मनोभावों में नाडीः—

वैद्यवरों को जानना चाहिये किः—

घबराहट, क्रोध, भय, चिन्ता और भ्रम में नाडी की गति क्षीण होती है। क्षीण धातु और मन्द अग्निवाले मनुष्य की नाडी क्षीण और अत्यन्त मन्द होती है।

प्रत्येक धातु में पित्त रूप से अपनी-अपनी निजी ऊष्मा (गरमी) रहती है, जिससे वे पकते हैं और आगे की धातुओं को उत्पन्न करते हैं। धातुओं के नाश हो जाने पर उनमें रहनेवाली ऊष्मा भी नष्ट हो जाती है-यह सामान्य नियम है। परन्तु यहां वैद्य को अपनी बुद्धि से समझना चाहिये कि रस, रक्त आदि धातुओं के क्षय होने पर नाडी की गति में परस्पर भेद रहता है। इसके जानने की युक्ति उन-उन धातुओं के मलों का क्षय है। 'त्रिदोष समक्षेपीय अध्याय में इसका सप्रमाण विवेचन किया जा चुका है। रोगी के इन भावों का भी ध्यान रखना चाहिये जैसे—प्रकृति, वय, बल, शरीर सत्त्व, अग्नि, मूल अनुबन्ध, ग्रहणी, केवल-दोष, ससृष्टदोष, सन्निपात स्थान, व्याधिस्थान, व्याधिविशेष और अभिजन (कुल परम्परा में रोग आदि का) सात्म्य और असात्म्य। इसका विस्तृत व्याख्यान मूलग्रन्थ रस वैशेषिक में देखना चाहिये।

अग्निवेश ने भी अनुकथन किया हैः—

दोष भेषज देश काल बल शरीर आहार सात्म्य सत्त्व प्रकृति और वय साथ ही इनके भेद ये बहुत ही सूक्ष्म हैं, जिनका सूक्ष्म विवेचन विमल विपुल बुद्धिवाले की बुद्धि को भी व्याकुल (विमोहित) कर देता है तो पुनः अल्पबुद्धि वाले की क्या कथा।

अग्नेर्मन्दीभावात् श्लेष्मप्रकोपे सति स्यादेव मन्दतरा धरा । अत्रापि सविशेषमनुचिन्तनीयम्—यदा पित्तप्रकोपाद् वह्नेर्मान्द्यं स्यात् तदा न मन्दतरा धर्मति धमनी । वातकोपे चान्यादृगेव, उक्तमत एवात्र पूर्वमाचार्येण—'शास्त्रेणानुभवैर्निजैः' इति ॥२५॥

गुर्वी सोष्णा च रक्तेन पूर्णा नाडी प्रजायते ।
समा गुर्वी भवेन्नाडी मन्दासृक् पूर्णितापि च ।२६॥

रक्तं हि स्वभावतः पित्तबहुलं भवति। उक्तमेव पूर्वं 'रक्तस्य मलं पित्तम्' इति, रक्ते हि सर्वधातूनां मलानाञ्च स्व—परमाणुरूपेणावस्थानात् । तद् यथाविधं रक्तं वहति दोषं तथाविधेन गुरुणा-अगुरुणा वा सोष्मणेनानूष्मणेन च पूर्णां धरां वहति । त्रिदोषस्य विकृतस्य स्थान—विभेदाज्ञानिनो ब्रुवन्ति धरां स्पृष्ट्वा-'रक्तं तव दूषित' मिति । अथवेदमुक्तं भवति—यदा दोषा मलीभूय रक्तमाश्रयन्ति तदा गुर्वीं सोष्णां च रक्तेन दूषिते पूर्णां धरां धमयन्ति । उक्तमेव हि सुश्रुते—

यस्माद्रक्तं विना दोषैर्न कदाचित् प्रकुप्यति ।
तस्मात्तस्य यथादोषं कालं विद्यात् प्रकोपणे ॥

अग्नि के मन्द होने से श्लेष्मा प्रकुपित होता है और उसके प्रकोप से नाडी की गति में मन्दता आ जाती है । यह भी समझना चाहिये कि जब पित्त-प्रकोप से अग्नि मन्द होगी तब नाडी मन्दतर रूप से नहीं चलेगी । वात-प्रकोप से मन्दाग्नि होने पर नाडी की गति भिन्न प्रकार की रहेगी । अतएव आचार्य ने कहा है कि शास्त्र की सहायता तथा निजी अनुभव द्वारा परीक्षा करनी चाहिये ॥२५॥

रक्त—पूर्ण नाडीः—

रक्त-विकार से भरी हुयी नाडी भारी तथा उष्णता को लिये हुए रहती है । इसी प्रकार आम-दोष-युक्त नाडी भी गुरु होती है । आम-वात, आम-पित्त और आम-कफ में भी परस्पर तनिक भेद से नाडी में गुरुत्व समझना चाहिये । रक्त, यदि कफ से दूषित हो तो नाडी में मन्दता रहती है । यहां दो बार रक्तपूर्णा लिखने का तात्पर्य यह है कि उष्णा नाडी पित्त-दूषित रक्त से; और मन्दगामिनि नाडी, कफ-दूषित रक्त से होती है ।

रक्त, स्वभाव से ही पित्त बहुल होता है; क्योंकि पित्त, रक्त का मल है । रक्त में सभी धातुओं के परमाणु विद्यमान रहते हैं तो भी रक्त जिस प्रकार के दोष का वहन करता है, उसी प्रकार से नाडी को भी लघु गुरु, उष्ण या अनुष्ण रूप से चलाता है । विकृत त्रिदोष के स्थान—भेद को न जानने वाले नाडी देखकर कह देते हैं कि 'रक्त दूषित है' । अथवा ऐसे भी कहा जा सकता है कि जब दोष दूषित होकर रक्त को विकारी कर देते हैं तब रक्त के दोष विकृत होने के कारण नाडी भारी तथा उष्ण चलती है

सुश्रुत ने कहा है कि दोषों के कुपित हुए विना रक्त कदापि दूषित नहीं होता । रक्त

अन्यच्च—

नर्ते देहः कफादस्ति न पित्तान्न च मारुतात्।
शोणितादपि वा नित्यं देह एतैस्तु धार्यते ॥

—सु० सू०, २१।३

आमो हि शरीरे विकृतोऽन्नरसांशो मलाख्यः। मलाश्चापि कफस्थानीयाः पूर्वमुक्तास्त्रिदोषसमक्षेपीयेऽध्याये। पृथ्व्यंशप्रधानत्वान्मलानाम्। उपपद्यते चातः सामायां धरायां गुरुत्वव्। आमवातेऽपि गुर्वी भवति नाडिका। रक्तपूर्णस्यापि गुर्वी। आमस्वरूपं पूर्वाध्यायेषूक्तम्। आम स्वरूपं तु—

व्याध्युत्पत्तिकरं यच्च पोषाणानुपयोगि यत्।
मलस्वरूपं तत्सर्वमाममित्यभिधीयते ॥

अष्टाङ्गहृदये—

जठरानलदौर्बल्यादविपक्वस्तु यो रस।
स आमसंज्ञको देहे सर्व--दोष-प्रकोपणः ॥२६॥

—सू०, १२।२५

दीप्ताग्निसुखिनो लक्षणम्—

लघ्वी भवति दीप्ताग्नेस्तथा वेगवती मता।
सुखिनस्तु भवेन्नाडी स्थिरा बलवती तथा ॥२७॥

लघुगुणवानाकाशः। अग्नावपि तद्गुणस्य सद्भावः सूर्ययोनित्वादग्नेः।

कोप का समय दोष प्रकोप के अनुसार ही समझना चाहिये और कहा भी है कि 'यह शरीर, वात पित्त; और चौथे रक्त के विना नहीं है। अतः इन चारों से ही शरीर धारण होता है'।

इस शरीर में विकृत अंश आम कहा जाता है। वह मल है 'त्रिदोष-समक्षेपीय' अध्याय में मलों को कफ स्थानीय कहा गया है। कारण यह कि मलों से पार्थिवांश की प्रधानता रहती है। इसलिये आम-युक्त नाडी में भारीपन युक्ति-सिद्ध है।

आम का स्वरूप—जो पोषक अंश, शरीर के पोषण में तो असमर्थ हो किन्तु व्याधि को उत्पन्न करे उस मल रूप द्रव्य का नाम आम है।

वाग्भट ने भी लिखा है कि—जठराग्नि के दुर्बल होने से उत्पन्न अपक्व रस, आम-संज्ञक होता है वह सभी दोषों के प्रकोप का कारण होता है, ॥२६॥

दीप्ताग्नि और सुखी नाडी—

जिसकी जठर-अग्नि प्रदीप्त-तीव्र होती है, उसकी नाडी, लघु (हल्की) और वेगवती होती है। सुखी मनुष्य की नाडी स्थिर तथा बलवती होती है।

लघुता आकाश का गुण है। अग्नि में भी आकाश गुण की सत्ता है। अग्नि का उद्गम

अग्निर्हि दहनधर्मा प्रकाशधर्मा च। दीप्ताग्निर्हि विकृतांशान् गुरुतरभुक्तञ्च सम्यग् विश्लिष्य लघयति। तस्मादुपपद्यते--लघ्वी वहति दीप्ताग्नेरिति। पित्तमाग्नेयमिति, वह्निः पित्तस्य योनिरित्यर्थः। वेगवतीति--अग्निर्हि वायुयोगाद् वेगं जनयति। आमरहितत्वात् स्रोतसां निर्मलत्वात् प्रसन्नत्वाच्च वेगवती स्यादेवेति सङ्गतम्। लोकेऽपि दृश्यते ग्रीष्मर्त्तौ वायुरुष्णधर्मा, शीतर्तौ च शीतधर्मेति। उक्तमेव चरके—

योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्।
दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात्॥

—च० चि० ३।३८

स्थिरेति-वलाधाना हि पेश्यः। उक्तञ्च—'तेन भारसहा नराः' इति। ताश्च—**'मेदसः स्नायु-सन्धयः'** (च० चि० १५।१७) इति। अथवा स्थिरा-गम्भीरेति।

तथा च कणादः—

भू-लता-भुजगप्राया स्वच्छा स्वस्थमयी हि सा।
सुखितस्य स्थिरा ज्ञेया तथा बलवती मता॥

शरीर-पोषकांशानां यथामार्गं नीयमानत्वात्। पोषकांशा हि यथानुकूलं स्व-स्व-धातुपोषकांशाणवः। पुष्टिर्हि कफात्, कफे पृथ्व्यंशसम्भवात्। उक्तमेव पूर्वम्—'प्राकृतस्तु वलं श्लेष्मा विकृतो मलमुच्यते'—इति॥२७॥

सूर्य से है। अग्नि दाहकता और प्रकाश है। प्रदीप्त अग्नि ही उदर के विकृत अंशों को जला देती हैं और अन्न के गुरु-तर अंशों को पकाकर लघु-तर कर देती है। इसलिये नाडी में लघुता लक्षित होती है। पित्त, आग्नेय है। अग्नि वायु के योग से वेग को उत्पन्न करती है। आम के अभाव से स्रोत स्वच्छ और निर्मल रहते हैं-इसलिये नाडी निर्बाध रूप से गति करती है। लोक में यह प्रत्यक्ष देखते हैं कि ग्रीष्म ऋतु में वायु उष्ण तथा शीत ऋतु में वायु शीत होता है।

चरक में भी कहा है—

"वायु योगवाही है। गर्मी में गरम और जाड़े में ठण्डा रहता है। अतः पित्तयुक्त होने पर गरम और कफयुक्त होने पर ठण्डा रहता है।"

शरीर में मांस पेशियां ही बल का आश्रय हैं। कहा भी है 'अस्थिसन्धियां पेशियों द्वारा बँधी हुई होने के कारण प्राणी भार सहन करने में समर्थ होता है'। ये सन्धियां मेदस् धातु से स्निग्ध (चिकनी) रहती हैं। स्थिर का गम्भीर अर्थ भी किया जा सकता है।

कणाद ने अपनी नाडी-विज्ञान में कहा है कि तीव्राग्नि, सुखी या भोगी मनुष्य की नाडी केंचुआ और सर्प की भांति स्थिर, निर्मल और गम्भीर गति से चलती है।

दीप्ताग्नि से शरीर के पोषकतत्त्वांश स्रोतों द्वारा सञ्चार करते हुए अपने-अपने धातुओं को पुष्ट करते हैं। पुष्टि का कारण कफ है; क्योंकि उसमें पार्थिव अंश अधिक है।

चरक में कहा है कि 'प्राकृत-श्लेष्मा बल है और विकृत-श्लेष्मा मल है' ॥२७॥

क्षुधिता नाडी—

चपला क्षुधितस्य स्यात् स्थिरा तृप्तस्य सा भवेत् ।
स्थिरा श्लेष्मवती नाडी वहति प्रदरे तथा ॥२८॥

क्षुधिते पित्तोद्रेकात् चापल्यसम्भवः। उद्रिक्तं पित्तं वातमनुसंसृजति। तृप्तस्येति--आहारो हि पार्थिवांशवहुलो भवति, सर्वधातूनां पोषकांशानां तत्र सद्भावात् स्थैर्यञ्च पृथिव्याम्। तृप्तस्य स्थिरेत्युपपद्यते श्लेष्मणः पृथिवी--तत्त्व--वहुलत्वात्। प्रदरेति–श्वेतप्रदरोऽत्राधिगन्तव्यः। आमेन मन्दीकृतत्वाद् वह्नेः; मन्दाग्नीनामाम--वहुलदोषवतीनां स्त्रीणां प्रदर--प्रवृत्तिर्भवति। वायुश्च तत्र संसृजते। अथवा शोक-चिन्तावेगविधारणैश्च पूर्वं वायुः प्रकोपमासाद्य चाब्धातुवहानि स्रोतांसि विषमयति, ततश्चापि दृश्यते प्रदर–प्रवृत्तिरिति। सा हि स्थैर्यं वहन्त्यपि धरा रोगिणः प्रकृति-वयोवल शरीराद्युक्तवर्गस्य वैशिष्यात् सूक्ष्मा, कुटिला, मन्दा, क्षीणा चापि ज्ञानपथ-मारोहत्येव। तत्र विसंशयोच्छेदाय प्रयतनीयं काल–भू–कर्म--आहारादीनां च प्रकृति-विकृति-ज्ञानाय। प्रमादमापन्नो भिषक् विडम्बनामाप्नोति। रक्तप्रदरे नैषा स्थिरा गतिर्धमन्या भवति; कुतः ? पित्तप्रधानत्वाद्रक्तस्य ॥२८॥

अजीर्णे नाडी—

क्षुधित की नाडीः—

भूखे व्यक्ति की नाडी, चञ्चल होती है। आहार आदि से तृप्त व्यक्ति की नाडी, स्थिर एवं गम्भीर भाव से चलती है। प्रदर रोग में नाडी, स्थिर और कफ–दोष युक्त होकर चलती है।

भूख में पित्त का उद्रेक होता है। उभडा हुआ पित्त, वायु के संसर्ग से नाडी में चञ्चलता उत्पन्न करता है। आहार द्रव्यों में पार्थिव-अंश की प्रधानता रहती है और उसमें सभी धातुओं के पोषकपरमाणु भी होते हैं। पृथिवी का गुण स्थिरता है अतः तृप्त पुरुष की नाडी स्थिर तथा गम्भीर रहती है। प्रदर का तात्पर्य यहां श्वेत-प्रदर से है। आम से मन्दाग्नि होती है या मन्दग्नि से उत्पन्न आमदोष स्त्रियों को प्रदर उत्पन्न करता है। वायु संसर्ग को प्राप्त हो जाती है अथवा शोक चिन्ता तथा वेगों को धारण करने से वायु कुपित होती है और वह वायु अप्—धातु का वहन करनेवाले स्रोतों को विषम बना देती है। इसीसे प्रदर रोग उत्पन्न होता है। प्रदर–नाडी, स्थिरता को धारण करते हुए भी, प्रकृति, वय, बल आदि पूर्वोक्त वर्ग के कारण सूक्ष्म, कुटिल, मन्द और क्षीण देखी जाती है। इसलिये संशय दूर करने के लिये यत्न करना चाहिये। अर्थात् रोगी का आहार, विहार, कर्म, देश, काल आदि का प्रकृति-विकृति-भाव रोगी से पूछकर और अपने अनुभव से करना चाहिये। अन्यथा भ्रम हो जाने पर विडम्बना प्राप्त होती है। रक्त–प्रदर में नाडी स्थिर नहीं रहती, क्योंकि पित्त के उद्वेग से रक्त, विकृत होकर प्रदर को उत्पन्न करता है ॥२८॥

अजीर्ण में नाडीः—

अजीर्णे तु भवेन्नाडी कठिना पूरिता जडा ।
चपला रसजा दीर्घा पित्त–वेगवती तथा ॥२९॥

अजीर्णं हि नाम चतुर्विधाहारस्यासम्यक् परिपाकः । एवं हि--अजीर्णं आमम्, असम्यक्परिणतञ्च पर्यायैराख्यातम् । तल्लक्षणन्तु—

अविपक्वमसंयुक्तं दुर्गन्धं बहुपिच्छलम् ।
स्पन्दनं सर्वगात्राणामाममित्यभिधीयते ॥
अजीर्णात् पवनादीनां विभ्रमो बलवान् भवेत् ॥

—सु०, सू०, अ० ४६

अजीर्णं हि मूलं रोगाणाम् । तच्च प्राधान्येन त्रिविधं सदपि षड्विधं भवति । तद्यथा—

आमं विदग्धं विष्टम्भं कफपित्तानिलैस्त्रिभिः ।
अजीर्णे केचिदिच्छन्ति चतुर्थं रसशेषतः ॥

—सु० सू० ४६।४९९

अजीर्णं पञ्चमं केचिन्निर्दोषं दिनपाकि च ।
वदन्ति षष्ठं चाजीर्णं प्राकृतं प्रतिवासरम् ॥ इति ।

अजीर्णे हि चतुर्विधाहारद्रव्याणां गौरवेण सद्भावात् । काठिन्यञ्च पृथिव्याम्,

---

अजीर्ण में नाडी, कठिन और भरी हुई होने के कारण भारी हो जाती है । रस–विकार और आम-रस की नाडी, चञ्चल, गहरी और लम्बी (तीनों अँगुलियों में प्रतीत होनेवाली) होती है । पित्त प्रकोप में नाडी, चञ्चल और वेगवती प्रतीत होती है ।

चार प्रकार के आहार का भलीभांति पाचन न होना अजीर्ण है । अजीर्ण, आम, अपाचन ये पर्याय हैं ।

आम के लक्षण:—

अपक्व, शरीर-पोषण के अयोग्य, दुर्गन्धयुक्त, अत्यन्त चिकना (चावल के मांड जैसा) और शरीर के अवयवों को भारी करनेवाला पदार्थ—आम कहा जाता है । अजीर्ण से पवनादि त्रिदोष में विभ्रम (विकार) बलवान् (सोपद्रव) उत्पन्न हो जाता है ।

अजीर्ण या आम ही सब रोगों का मूल है । वह प्रधानरूप से तीन प्रकार का होता हुआ भी ६ प्रकार का है ।

जैसे:—'आम, विदग्ध और विष्टम्भ । ये क्रमशः कफ, पित्त और वायु से उत्पन्न होते हैं । किसी के मत में 'रस-शेष' नाम का चौथा अजीर्ण भी है । कुछ लोग निर्दोष 'दिनपाकी' नाम का पांचवां और दैनिक या प्राकृतिक अजीर्ण को छठा मानते हैं ।'

अजीर्ण में चारों प्रकार के आहारज [भोज्य, चोष्य, लेह्य और पेय] द्रव्यों की गुरु

तस्मात् कठिना गुर्वी वा । कठिना पूरितेति पदविन्यासे, किं कठिना पूरितेति विसन्धि-रथवा कठिनाऽऽपूरितेति 'आङ्'-सहितेन प्रयोगः ? अत्र समाधिः;-उभयथापि वस्तु-तत्त्वसिद्धिः । आपूरितापूरिता वोभयोर्धराया आम—पूर्णत्त्वं न विहन्यते । जडेति—जडा=मूढा, अप्रसन्ना धरा । एषा नाडीगतिः कफ-सम्भवेऽजीर्णे ज्ञेया, कफस्य जलतत्त्व—सम्भूतत्वात् । तस्मादुक्तं सर्वं संगच्छते । चपलेति -पित्ताजीर्णे विदग्धाख्ये । तत्राग्नेरंशाधिक्यपारिशेष्याद् विकृतिमापन्नत्वाद्वा । विष्टम्भे वातेन स्रोतसां विगुणीकृतत्वादुभयोरेवान्तर्लयः । यतो हि वायुः कफं पित्तं वा कतरमपि सहानुनयत्येव । रसाजीर्णे तु दीर्घा । रसो हि सोमवहुलो भवति प्रकृत्या । तस्मा-द्दीर्घेति सुतरां संगच्छत एव । पश्यामश्च लोके यज्जलं नद्यादिरूपेषु लम्वायमानं सद् याति । पित्ते वेगवतीति—ग्रहणीस्थपित्तस्य विकृत्या युक्तत्वात् ॥२९॥

अजीर्णे पाचिते क्षुत् प्रवर्तते । तस्मादुक्तम्—

प्रसन्ना च द्रुता शीघ्रा क्षुद्भिर्नाडी प्रवर्तते ।

निगद एव व्याख्यातम् । अत्र भिषजा संशयोच्छेदायावधेयम्—

स्वल्पं यदा दोषविबद्धमामं लीनं न तेजःपथमावृणोति ।
भवत्यजीर्णेऽपि तदा बुभुक्षा सा मन्दबुद्धिं विषवन्निहन्ति ॥

—सु०, सू०, अ० ४६।५१३

रूप में सत्ता रहती है । क्योंकि कठिनता और गुरुता पृथिवी का धर्म है । कठिना पूरिता इस पद में कठिना-पूरिता यह सन्धिच्छेद है अथवा कठिना-आपूरिता यह सन्धिच्छेद है । इसका समाधान यह है कि दोनों ही प्रकारों में वस्तुतत्त्व की सिद्धि हो जाती है । अर्थात् "आपूरिता" तथा "पूरिता" पद मानने पर भी नाडी का आम-पूर्णत्व विहत नहीं होता । जडा अर्थात् मूढा या अप्रसन्ना । कफजन्य अजीर्ण में नाडी, जडा, अर्थात् मूढ या अप्रसन्न सी रहती है; क्योंकि कफ, जलतत्त्व प्रधान है । पित्त-जन्य विदग्ध नामक अजीर्ण में नाडी चञ्चल रहती है; क्योंकि विदग्धाजीर्ण में अग्नि के अंशों के शेष रहने से चञ्चलता स्वाभाविक ही है । वायु से होनेवाले विष्टम्भाजीर्ण में वायु द्वारा स्रोतों के विकारी होने से कठिनता और चञ्चल-दोनों ही रहती हैं, क्योंकि वायु कफ और पित्त को साथ लेकर चलता है । रसाजीर्ण में नाडी, दीर्घा= लम्बी रहती है । रस, सोम गुणवाला है । जल, लम्बे रूप में ही बहता है । पित्त में वेगवाली हो जाती है । ग्रहणी रोग में पित्त के विकृत होने से यह लक्षण संघटित होता है । यहां चारों प्रकार के अजीर्णों को मानकर ही नाडी की गति कही गयी है । अजीर्ण के पचने पर ही क्षुधा लगती है । अतः कहा है—

भूख लगने पर नाडी प्रसन्न [दोष परिपाक से] हल्की तथा शीघ्रगामिनि होती है ।

यहां वैद्य को झूठी भूख की उत्पत्ति भी जाननी चाहिये । दोष-दुष्ट आमरस परिपाक को प्राप्त न होकर स्रोतों के मार्ग को रोक देता है, मार्ग के रुक जाने पर पित्त, अजीर्ण होने पर भी क्षुधा को उत्पन्न करता है । ऐसे अवसर पर जो मन्दबुद्धि भोजन करते हैं, वे विष-भक्षण करते हैं । अर्थात् उनकी मृत्यु होती है ।

समासतो वैद्येनाग्नीनां चतुर्विधत्वं बुद्धावास्थाप्यम् । यथा—

मन्दस्तीक्ष्णोऽथ विषमः समश्चेति चतुर्विधः ।
कफ-पित्तानिलाधिक्यात् तत्साम्याज्जाठरोऽनलः ।।

अग्नीनां चतुर्विधानां लक्षणानि कर्मभेदेन—

विषमो वातजान् रोगान् तीक्ष्णः पित्तनिमित्तजान् ।
करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान् कफसम्भवान् ।।
समा समाग्नेरशिता मात्रा सम्यग्विपच्यते ।
स्वल्पापि नैव मन्दाग्नेर्विषमाग्नेस्तु देहिनः ।।
कदाचित्पच्यते सम्यक् कदाचिन्न विपच्यते ।
मात्रातिमात्राप्यशिता सुखं यस्य विपच्यते ।
तीक्ष्णाग्निरिति तं विद्यात् समाग्निः श्रेष्ठ उच्यते ।।

साम्प्रतं कर्मणामशुभसञ्चयातिशयान् नाडीगतयोऽपि संकरतां प्राप्ताः । ऐषमे काले घन-सञ्चयेऽतिप्रवृत्तिमत्त्वाल्लोकानाम् । तस्मान्मनुष्येषु चिन्ता—शोक—भय-क्रोधादीनां सद्भावः स्यादेवः । उक्तञ्चातः—

मात्रयाभ्यवहृतं पथ्यं भुक्तं चान्नं न जीर्यति ।
चिन्ता-शोक-भय-क्रोध-दुःख-शय्या-प्रजागरैः ।। इति ।

कफ से मन्द अग्नि, पित्त से तीक्ष्ण अग्नि, वायु से विषम अग्नि और यथायोग्य त्रिदोष से सम अग्नि—इन चार अग्नियों का ध्यान, वैद्य को सदा रखना चाहिये ।

कर्मभेद से अग्नियों के कार्यः—

विषमाग्नि वातरोगों को, तीक्ष्णाग्नि पित्तरोगों को, मन्दाग्नि कफरोगों को उत्पन्न करती हैं ।

समाग्नि सम्यक् परिपाक करती है । विषमाग्निवाले को कभी पच जाता है तो कभी नहीं पचता है ।

जिस पुरुष को मात्राधिक तथा मात्राहीन खाया हुआ भोजन ठीक-ठीक पच जाये उसे तीक्ष्णाग्नि जानना चाहिये । इनमें समाग्नि श्रेष्ठ है ।

इस समय अशुभ कार्यों के अधिक संचय करने से नाडी की गतियों में भी संकरता आ गई है । अब देश और काल की स्थिति के अनुसार लोगों में धन, तृष्णा आदि के बढ जाने से चिन्ता, शोक, भय, क्रोध आदि का आक्रमण अधिक रूप में हो रहा है ।

कहा भी है—

शोक, चिन्ता, क्रोध, आदि में किया हुआ मात्रायुक्त भोजन भी नहीं पचता; इससे भी अजीर्ण होता है तथा अनेक अन्यान्य रोग भी होते हैं । अतः वैद्य को नाडी परीक्षा के समय रोगी की परिस्थिति का सम्यक् अध्ययन कर लेना भी आवश्यक है । केवल स्थूल-निदान से ही काम नहीं चलता है । सभी बातों पर सूक्ष्मतम विवेचन करना वैद्य के लिये आवश्यक है ।

वसवराजस्तु—

अजीर्णादुद्भवा नाडी कठिना पूरिता जडा।
प्रसन्ना स्फुटिता शुद्धा क्षुधा-नाडी प्रशस्यते ॥ इति।

कणादस्तु—

अजीर्णे तु भवेन्नाडी कठिना पूरिता जडा।
प्रसन्ना तु द्रुता शुद्धा त्वरिता च प्रवर्तते ॥
पक्वाजीर्णे पुष्टिहीना मन्दं मन्दं वहेत् सिरा।
असृक्पूर्णा भवेत् कोष्णा गुर्वी सामा गरीयसी ॥ इति।

ज्वरे—

ज्वरे तीव्रा प्रसन्ना च नाडी वहति पित्ततः ॥३०॥

व्याख्यातपूर्वम्।

रसप्रधाननाडी—

स्निग्धा रसवती प्रोक्ता रसे मूर्च्छाविधायिनी।
भाविरोग-प्रबोधाय स्वस्थे नाडी—परीक्षणम् ॥३१॥

स्निग्धेति—रसस्य कफमलत्वादिति। उक्तञ्च—'रसस्यं तु कफः' इति। कफ-वृद्धिकरास्तु गुरु-मधुर-रसातिस्निग्ध-दुग्धेक्षुभक्ष्य-द्रव-दधि-दिननिद्रा-पूप-सर्पिष्प्रपूरादयः। एतेषां भृशं सेवनेन जलतत्त्वप्रधानत्वात् कफस्य स्निग्धा रसवतीति सुतरां सङ्गच्छते।

वसवराज ने भी क्षुधा की (पित्तवती) नाडी को स्वच्छ और प्रसन्न कहा है। कणाद के मत में भी अजीर्ण की कठिन और जकड़ी हुई तथा क्षुधा की नाडी, प्रसन्न वेगवती और दोष रहित बताई गई है।

ज्वर की नाडी:—

पित्तज्वर में नाडी, तीव्र और प्रसन्न (उछल-कूद करती हुई) चलती है ॥३०॥

रस प्रधान नाडी:—

रसप्रधान नाडी, स्निग्ध (चिकनी) होती है। क्योंकि इसका मल कफ है। इसीलिये चिक्कणता होनी चाहिये। रसप्रधान नाडी मूर्च्छा करनेवाली भी होती है। भावी (अव्यक्त) रोगज्ञान के लिये भी स्वस्थ पुरुष की नाडी-परीक्षा करनी चाहिये।

कफ की वृद्धि के कारण ये हैं:—

गुरु, मधुर, रसप्रधान, तरल, स्निग्ध, दुग्ध, दुग्ध से बने मलाई आदि पदार्थ, गुड़-युक्त पदार्थ, द्रव, दधि, दिन में सोना, अपूप (तले हुए मालपूआ आदि) एवं घी से भरे पदार्थ। इनके सेवन से कफ बढता है। इसलिये 'स्निग्धा रसवती' यह उपयुक्त है।

चपला रसजेति एकोनत्रिंशत्तम-श्लोकोक्तं विरोधमाचष्टे। अत्रायं समाधिः— पित्तवृद्धिकराणामथवाग्नेयतत्त्व-प्रधानानां चतुर्विधाहाराणामतिसेवनात्, पित्तांश-शेषत्वाद् रसे 'चपला रसजे' त्युपपद्यते।

पित्त-वृद्धिकरा भावास्तु—

"कट्वम्लोष्ण-विदाहि-तीक्ष्ण-लवण-क्रोधोपवासानप स्त्रीसम्पर्क-तिलातसी-दधि-सुरा-शुक्तारनालादिभिः।" पित्तं प्रकोपं भजेदिति शेषः। तस्मादुभयथा सुतरां सङ्गच्छते—'स्निग्धा रसवती प्रोक्ता' 'चपला रसजेति' च।

रसे मूर्च्छाविधायिनी—यदा रसस्था वातादयो दोषाः प्रकुपिताः स्वैः कोपनै—र्हृदयं निविशन्ते, तदा मानवा मूर्च्छन्ति। उक्तञ्च निदाने—

संज्ञावहासु नाडीसु पिहितास्वनिलादिभिः।
तमोऽभ्युपैति सहसा सुखदुःख-व्यपोहकृत्॥ इति।

तथा च—

'मूर्च्छा पित्ततमःप्राया'। तमो हि पृथिव्याम् यथा यथा हि कूपस्य खनिता कूपं खनन् नीचैस्तरं खनति; तथा तथा तमसोऽतिशयत्वं भवति। तस्माद्रुपपद्यते--तमो हि पृथिव्याम्--इति। एवं यदा दोषा धातून् तन्मलान् वानुलोम—प्रतिलोम—

यहां यह प्रश्न होता है कि २९वें श्लोक में 'चपला रसजा' कहा है और यहां उसके विपरीत 'स्निग्धा रसवती' कहा गया है। इसका समाधान यह है कि पित्तवृद्धि करने वाले अग्नि-तत्त्व प्रधान आहार करने से पित्तांश-शेष रस में 'चपला रसजा' यह लक्षण संगत होता है।

पित्तवृद्धि करनेवाले पदार्थ ये हैं—

कटु तथा अम्लरस, उष्ण, विदाही तीक्ष्ण, लवणरस-प्रधान पदार्थ, क्रोध, उपवास, धूप का सेवन, स्त्री–सेवन, तिल, अलसी, दधि, मद्य, अचार, सिरके आदि से पित्त की वृद्धि होती है। इसलिये 'चपला रजसा' और 'स्निग्धा रसवती' दोनों ही उचित हैं।

जब रसधातु में वात आदि दोष अपने कारणों से कुपित होकर हृदय-गुहा में निवास करते हैं, तब मनुष्य मूर्छित हो जाता है। मूर्च्छा निदान में कहा भी है कि—

बाह्य तथा अन्तरङ्ग कारणों से तथा निज हेतुओं से कुपित वात आदि दोष ज्ञानवाही स्रोतों को रोककर स्वयं भी रुक जाते हैं तथा सहसा सुख दुःख की विवेचना का नाशक तम छा जाता है और पुरुष मूर्च्छित हो जाता है। और भी कहा है 'मूर्च्छा' पित्त तथा तमोगुण की प्रधानता से होती है।'

तम पृथिवी का धर्म है। लोक में भी देखा जाता है कि पृथिवी को नीचेकी ओर जैसे-जैसे खोदा जाता है वैसे-वैसे तम बढ़ता जाता है। जब दोष, धातुमलों का अनुलोम या प्रतिलोम

गतिभ्यां विगुणीकृत्य हृदयं प्रापयन्ति तदा मूर्च्छन्ति प्राणिनः । तस्माद् 'रसे मूर्च्छा-विधायिनी'ति सङ्गच्छते ।

अत्र मधुरादि--षड्रसानां धरा-ज्ञाने कणादोक्तं सहृदयभिषजां परिज्ञानाय समुद्ध्रियते—

मधरे वर्हिगमना, तिक्ते स्याद्भू--लता गतिः ।
अम्ले कोष्णा प्लवगतिः कटुके भृंग सन्निभा ।।
कषाये कठिना म्लाना, लवणे रसला द्रुता ।
एवं द्वि--त्रि—चतुर्योगे नानाधर्मवती धरा ।।

रसानां भोजने नाड्यां दोषगतेर्हानिः—

स्वाद्वम्ललवणा वायुं कषायस्वादु-तिक्तकाः ।
जनयन्ति पित्तं श्लेष्माणां कषाय कटुतिक्तकाः ।।

रसैर्नाड्यां दोषगतेर्वृद्धिः—

कट्वम्ललवणाः पित्तं स्वाद्वम्ललवणाः कफम् ।
कटु-तिक्त-कषायाश्च कोपयन्ति समीरणम् ।।

विधि से विकृत करके हृदय में पहुंचाते हैं तब मनुष्य मूर्च्छित हो जाता है । इसलिये 'रसे मूर्च्छा विधायनी' कहना सर्वथा उपयुक्त है ।

यहां प्रसङ्ग से मधुरादि षड्रसों का नाडी में गमन कणादोक्त जन्तुओं की समता से दर्शाते हैं—

मधुरे वर्हिगमना०—मधुर रस (भोजन) में मयूर गमन (गम्भीर मस्त गतिवाली), कड़वे रस में—केंचुये की (टेढी और मन्द) गतिवाली, खट्टे रस में—उष्ण और उछल कूदवाली । चरपरे रस में—भौंरे की (गतागत) गतिवाली होती है ।

कषाये०—कषैले रस में कठिन स्पर्शा और मुर्झाई हुई, नमक रस में—सीधी और शीघ्र गामिनी नाडी होती है । इसी प्रकार दो-तीन-चार आदि रसों के संयोग में विविध अवस्थाएं धारण करती है ।

रसों के भोजन से नाडी में दोषगति की हानि—

स्वादु, अम्ल और लवण, ये तीन रस अपने भाव से नाडी में वायु की गति को घटा देते हैं, कषाय, मधुर और तिक्त—पित्त की गति को घटा देते हैं, और कषाय, कटु, तिक्त—ये कफ को घटा देते हैं ।

ये श्लोक (चरक सू० १ अ० और २६ से) उद्धृत किये हैं । अतः नाडी प्रभाव व्यञ्जक अर्थ यहां दर्शाया है ।

रसों से नाडी में दोष गति की वृद्धि—

कट्वम्ललवणाः पित्तम्—कटु, अम्ल, लवण, ये तीन रस पित्त को, मधुर, अम्ल, लवण ये तीन कफ को और कटु, तिक्त, कषाय, ये तीन रस—वायु दोष को (नाडी में) बढा देते हैं ।

कटु-तिक्त-कषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः ।
अम्लोऽम्लं पच्यते, स्वादुर्मधुरं लवणस्तथा ॥

रसादीनां पुरीषादीनां गतौ प्रभावः—

मधुरो लवणोऽम्लश्च स्निग्धभावात् त्रयो रसाः ।
वात-मूत्र-पुरीषाणां प्रायो मोक्षे सुखा मताः ॥
कटु--तिक्त--कषायास्तु रूक्षभावात् त्रयो रसाः ।
दुःखाय मोक्षे दृश्यन्ते वात-विण्मूत्र--रेतसाम् ।

मधुरद्रव्याणां नियतकफवर्धनेऽपवादः—

मधुरं श्लेष्मलं प्रायो जीर्णशालियवादृते ।
मुद्गाद् गोधूमतः क्षौद्रात् सिताया जांगलामिषात् ॥
प्रायोऽम्लं पित्तजननं दाडिमामलकादृते ॥ इति ।

सर्वं हि कटुद्रव्यमवृष्यं भवति—अन्यत्र पिप्पली-विश्वभेषजात् ।

—च० सू० अ० २६

भाविरोगेति—भाविरोगाणां प्रादुर्भावो हि स्वस्थे भवति। तस्मात् स्वस्थस्य भाविरोगज्ञानाय नाडी परोक्षणीया स्वास्थ्य--संरक्षणाय वा । यतो हि चिकित्सा

किस कारण से ३-३ रस मिलकर १-१ दोष को नाडी में घटा-बढा देते हैं इसलिये रसों के विपाक परिणाम को प्रकट करते हैं—कटु-तिक्त-कषाय-रसवाली वस्तुओं का विपाक (पेट में पचने के अनन्तर उनसे बने हुए रस का स्वाद) प्रायः कटु (चरपरा) होता है । अम्ल रसवाली का अम्ल (खट्टा) और मधुर-लवण रस विशिष्ट का मधुर (मीठा) होता है ।

रसों का पुरीष आदि की गति पर प्रभाव—

मधुरो लवणोम्लश्च—मधुर-अम्ल-लवण रसवाले पदार्थ खाने से उनकी स्निग्धतर (तरी) के कारण वात—मूत्र-पुरीष के निकलने में सरलता होती है और कटु तिक्त-कषाय रसवाले पदार्थों से उनकी रूक्षता (खुश्की) के कारण वात-मूत्र-पुरीष के मोक्ष (त्याग) में कष्ट होता है ।

मधुरद्रव्यों के नियत कफवर्द्धन में अपवाद—

मधुरं श्लेष्मलं—प्रायः समस्त ही मधुर रसवाले (द्रव्य) कफवर्धक होते हैं । (किन्तु) पुराने चावल, जौ, मूंग गेहूं शहद, मिसरी और जङ्गली (हरिण आदि) जीवों का मांस, ये (मधुर रसवाले होते हुए भी) कफ को नहीं बढ़ाते । इसी प्रकार अम्ल रस वाले (द्रव्य) पित्त को बढ़ाते हैं । (परन्तु) अनार और आंवला (खट्टे होते हुए भी) पित्त को नहीं बढ़ाते ।

सब के सब कटु पदार्थ अवृष्य (पुंस्त्व नाशक) होते हैं परन्तु पिप्पली और विश्वभेषज (सौंठ) को छोड़कर ।

भावी रोगों का उदय स्वस्थता की स्थिति में होता है अतः आगामी रोग-ज्ञान के लिये स्वस्थ व्यक्ति की नाडी परीक्षा करनी चाहिये ताकि वह भावी रोगों के आक्रमण से सुरक्षित रह सके ।

स्वस्थातुर-परायणा । उक्तञ्च—

हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थाऽऽतुर-परायणम् ।
त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामहः ॥

—च० सू० १।२४

स्वस्थलक्षणं यथा सुश्रुते (सू० ३५।४१)—

सम-दोषः समाग्निश्च सम-धातु-मल-क्रियः ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते' ॥३१॥ इति ।
भार-प्रदाह-मूर्च्छा-भय-शोक-विशूचिका भवा नाडी ।
सम्मूर्छितापि गाढं पुनरपि सा जीवितं भजते ॥३२॥

भारादिभिर्भावैर्युक्तस्य पुरुषस्य नाडी, स्वकोपनैर्वृद्धत्वाद् दोषाणां संमूर्च्छिता भवति । सम्मूर्च्छिता सा व्यपगतदोषैर्हेतुभिर्वा पुनर्जीविता भवति । विशेषस्तु हृद्गतिमवरुद्ध्य कौतुकं दर्शयन्ति, तेषां नाड्यपि प्रत्यक्षं स्पर्शगम्यं स्पन्दनं नैति; किन्तु सूक्ष्म-कलया धमन्यां ध्मानं भवत्येव । 'सम्मूर्छितापि गाढं पुनरपि सा जीवितं भजते' इति पदं सुतरां सङ्गच्छते ।

कणादस्तु—

भाराभिघात-मूर्च्छा-भय-शोक-प्रमुख-कारणान्नाडी ।
सम्मूर्छितापि गाढं पुनरपि सा जीवितं धत्ते ॥

क्वचित् पाठभेदः—भार-प्रहार-मूर्च्छा—
वसवराजस्तु—

चिकित्सा के भी दो ही प्रयोजन हैं—स्वास्थ की रक्षा और रोगी के रोग का निवारण ॥३१॥

अधिक भार उठाने से या दब जाने से, दाह से, जल जाने से, भय से, शोक से और विसूचिका (हैजा) हो जाने से नाडी मूर्च्छित हो जाती है इन कारणों से मूर्च्छित नाडी, कुछ समय के अनन्तर या उपचार आदि करने से पुनः चैतन्य प्राप्त करती है । अर्थात् सहसा नाडी का दब जाना ही रोग को प्रकट करता है अत: नाडी छूट जाने पर भी उसे जीवित ही समझना चाहिये । हृदय की गति को रोककर जो योगी आदि समाधि लगाने का तमाशा दिखाते हैं, उनकी नाडी प्रत्यक्ष रूप में तो चलती नहीं दीखती; लेकिन सूक्ष्मरूप से चलती ही रहती है ।

कणाद ने भी कहा है—

भार, चोट, मूर्च्छा, भय, शोकादि कारणों से नितान्त सन्तुलित नाड़ी भी फिर यथा स्थान स्थिर हो जाती है ।

वसवराज का भी मत है—

बालानामपि वृद्धानां मूकानामपि देहिनाम् ।
उन्मत्तानामभिन्यास——विमूढमनसामपि ॥
व्यस्तं समस्तं द्वन्द्वञ्च दोषरूपमशेषतः ।
दर्शयत्यचिरादेव नाडी द्रव्याणि दीपवत् ॥३२॥

मेहादिषु नाडी—

मेहेऽर्शसि मलाजीर्णे शीघ्रं तु स्पन्दते धरा ।
गुर्वी वातवहा नाडी गर्भेण सह लक्षयेत् ॥३३॥

मेहे धातूनां क्षरणाद् वाताधिक्यं भवति शरीरे । स वायुर्ज्वलयति पित्तम् । तस्माद्वात-पित्त-बहुला धरा शीघ्रं स्पन्दते ।

प्रमेहाः स्वरूपतो विंशतिधा भवन्ति । तस्माद् दोष दुष्ययोर्वैकारिकं निरूप्यते नाडीज्ञानसौकर्याय ।

तत्र कफः—

मेदश्च मांसञ्च शरीरजञ्च क्लेदं कफो वस्तिगतः प्रदुष्य ।
श्लैष्मिकान् मेहान् करोति, तच्च वस्तिप्राप्तं शरीरजं क्लेदं विदूष्य ।

तदुक्तम्—

मूत्राघाताः प्रमेहाश्च शुक्रदोषास्तथैव च ।
मूत्रदोषाश्च ये चापि वस्तौ ते सम्भवन्ति हि ॥

बालकों की, वृद्धपुरुषों की, मूक (गूंगे) उन्मादी अभिन्यास तथा ज्वराक्रान्त पुरुषों की नाडी दोषों के सभी रूपों में अर्थात् अलग अलग, मिल के दो दो दोषों के रूपों को अदल बदल कर दिखाती है जैसे अन्धकार में दीपक द्रव्यों को दिखाता है ॥३२॥

मेहादि रोगों में नाडी—

प्रमेह, अर्श (बवासीर) और मलाजीर्ण में नाडी का स्पन्दन शीघ्र होता है । ऐसी नाडी मलवृद्धि में भी समझनी चाहिये ।

उपपत्ति—मेह रोगों में धातुओं का क्षरण होने से शरीर में वात की अधिकता होती है । वह बढी हुई वायु पित्त को बढाती है । इसीलिये वात पित्त की अधिकता से नाडी शीघ्र स्पन्दित होती है ।

प्रमेह स्वरूप से बीस होते हैं । अब प्रमेह के दोषों तथा गुणों के वैकारिक स्वरूप दर्शाते हैं जिस से कि नाडी के ज्ञान में सुगमता हो जाये ।

कफ मेहः—

शरीर के क्लेद को वस्ति वृक्क (दोनों मूत्रवाही स्रोत) तथा मूत्राशय में कुपित हुआ कफ प्रमेह को उत्पन्न करता है । कहा भी है—

मूत्राऽऽघात, प्रमेह, गुण दोष और मूत्र के दोष वस्ति में होते हैं ।

वस्तिरत्र वृक्क-मूत्रप्रवह-स्रोतोद्वय-मूत्राशय-संवलितो ज्ञेयः।

पित्तमधिकृत्य—

करोति मेहान् समुदीर्णमुष्णैस्तमेव पित्तं परिदूष्य चापि।

समुदीर्ण-वेगं पित्तं वस्तिगतान् मेदो-मांस-शरीर-क्लेदान् प्रदूष्य प्रमेहान् करोति पैत्तिकान्।

वातमधिकृत्य—

क्षीणेषु दोषेष्ववकृष्य धातून् संदूष्य मेहान् कुरुतेऽनिलश्च।

अनिलो दोषेषु क्षीणेषु वस्तौ धातूनवकृष्य वातजान् प्रमेहान् कुरुते इति भावः।

दोषभेदात् संख्याभेदः, साध्य-याप्य-असाध्यत्वञ्च। साध्याः कफोत्था दश, पित्तजा षड् याप्याः। वातजाश्चत्वार असाध्याः।

साध्यादिषु हेतुमाचष्टे—

समक्रियत्वाद् विषमक्रियत्वान्महात्ययत्वाच्च यथाक्रमं ते।

पोष–दूष्याणां समक्रियत्वादिति। अत्र दोषः श्लेष्मा। दूष्याणि च रस–मांस–मेदो-मज्जा-शुक्र-लसीकौजांसीति। दोषस्य श्लेष्मणः, एषां दूष्यवर्गाणाञ्च कटुतिक्त-कषायादिभिः समैव क्रिया। अत एव च कफजा दश साध्याः। प्रमेहं विनान्येषां रोगाणामतुल्यदूष्यत्वमेव साध्यत्वहेतुर्दोषाणां विषमक्रियत्वादिति। तथा च वचनम्–

पित्त–मेहः—समुदीर्ण वेग (बढा हुआ) पित्त वस्ति में दूषित होकर शरीर के मेद, मांस, तथा क्लेद को दूषित करके पैत्तिक प्रमेहों को उत्पन्न करता है।

वात–मेहः–पित्त कफ के क्षीण होने से बढी हुई वायु वस्ति में धातुओं को खेंचकर वातज प्रमेहों को उत्पन्न करती है।

दोषों के भेद से संख्या भेद दर्शाते हैं—

प्रमेह तीन प्रकार के होते हैं—साध्य-याप्य और असाध्य।

इन में कफ के दश संख्यक प्रमेह साध्य हैं पित्त के छ (६) याप्य हैं और वात जनित चार (४) प्रमेह असाध्य हैं।

इन प्रमेहो के साध्य याप्य, तथा असाध्यत्व में कारण निर्देश करते हैं—दोष और दूष्यों के समक्रिय होने से, यहां दोष श्लेष्मा है और दूष्य—रस मांस, मेद, मज्जा, शुक्र, लसीका, ओज है। इस प्रकार इन दोष और दूष्य वर्ग के कटु-तिक्त-कषायादि रसप्रधान भेषजों से 'समक्रिय' अर्थात् दोष और दूष्य का समकाल में ही प्रशम क्रिया को प्राप्त होने के कारण साध्य हैं अर्थात् कटु तिक्त कषायादि से दोष और दूष्य दोनों ही परस्पर विरोध को प्राप्त नहीं होते परन्तु स्वास्थ्य भाव को ही प्राप्त होते हैं अतः कफ के दश प्रमेह साध्य हैं। प्रमेह के विना अन्य व्याधियों में अतुल्य दोष और दूष्य हों तो साध्य व्याधि होती है।

ज्वरे तुल्यर्तु दोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता ।
रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम् ।।

याप्ये दोष-दूष्याणां विषमक्रियत्वञ्च यथा—दोषः पित्तम् । दूष्याणि-रसमांसादीनि । तत्र शीत-मधुरादिकाक्रिया पित्तहन्त्री, सा रस-मांस-मेदसां जनयित्री, तेन विषमक्रियत्वात् षट् पित्तजा याप्याः । अथवा, पित्तहरं हि मधुरादिकं मेदस्करम्, मेदोहरञ्च कटुकादि पित्तकरमिति क्रिया-वैषम्यं ततो याप्याः ।

असाध्ये-महात्ययत्वाद् हेतुः, अत्युपयोगिनां वसादिधातूनां, अयः—निःसरणं, अत्ययः । महांश्चासौ अत्ययो महात्ययः । चकाराद्विषमक्रियत्वञ्च वातजानामुक्तम् तत्र सामान्येन समुच्चिनोति —

कफः सपित्तः पवनश्च दोषाः, स्रोऽस्रशुक्राम्बुवसालसीकाः ।
मज्जा रसौजःपिशितञ्च दूष्याः, प्रमेहिणां विंशतिरेव मेहाः ।। इति ।

वसा—मांसस्नेहः । लसीका—उदकविशेषः । उक्तञ्च—

यत्तु मांस-त्वगन्तर उदकं तल्लसीकाशब्दं लभते ।—च०, शा०अ०७

इस में प्रमाण—

ज्वर में अतुल्य (असमान) दोष और ऋतु का होना शुभ है । प्रमेह में तुल्य दोष और दूष्यता, तथा रक्त गुल्म का पुराना होना साध्य का लक्षण है ।

प्रमेहों के याप्य में हेतु—विषमक्रियत्वादिति—दोष और दूष्यों की परस्पर विषम क्रिया होने से—दोष पित्त है और सोमरस प्रधान-रस मांस आदि दूष्य वर्ग है । अतः इन में मधुरादि रस प्रधान शीतक्रिया पित्त का शमन करती है और रस मांस मेद आदि में सोमता को बढाती है । इसलिये दोष और दूष्य का औषध के प्रति विषम प्रभाव होने से अथवा मधुरादि रस-प्रधान औषध पित्त की तो शामक है परन्तु मेदः धातु को बढाती है, एवं कटु रसप्रधान औषध मेदोदोष को तो हरती है परन्तु पित्त को कुपित करती है । यह दोष और दूष्य के क्रिया वैषम्य का स्वरूप है अतः पित्त के ६ प्रमेह याप्य कहे हैं ।

वात प्रमेहों की असाध्यता का कारण—

"महात्ययत्वाच्च"—अत्युपयोगी वसा आदि धातु का निःसरण होने से, विनाश होने से, वात का दूष्यादि के प्रति औषध प्रभाव में विषम क्रियास्थ होने से असाध्यता कही है ।

प्रमेहों का सामान्य संग्रह—दोष कफ-पित्त-वात तथा मेद-रक्त-शुक्र-वसा-लसीका-मज्जा-रस-ओज, पिशित (मांस) ये दूष्य हैं । प्रमेह २० ही होते हैं ।

वसा=मांस स्नेह, लसीका उदय विशेष है । चरक में कहा है-जो मांस और त्वचा के मध्य में उदक विशेष है वही लसीका संज्ञक है ।

अन्ये तु—

तेजोभूतः परं सूक्ष्मः सरक्त रस उच्यते ।
लसीका नाम लभते सगन्धित्वक्समाश्रितः ॥

तन्त्रान्तरेऽपि दूष्याणां संग्रह उक्तः—

वसा मांसं शरीरस्य क्लेदः शुक्रं सशोणितम् ।
मेदो मज्जा लसीकौजः प्रमेहे दूष्य-संग्रहः ॥

ओजसश्चात्रार्धाञ्जलिपरिमितं श्लेष्मस्वरूपम् । तदुक्तं चरके-**'श्लेष्मस्यौजसोऽर्धाञ्जलिपरिमाणम्'** (च० शा० ७) लसीका-मज्जौजांसि वातिकदूष्याः, न पैत्तिके न चापि श्लैष्मिके । सर्वमेहानां प्रायस्त्रिदोषजन्यत्वं भवति । तथा हि चरकः—

समारुतस्य पित्तस्य कफस्य च मुहुर्मुहुः ।
दर्शयत्याकृति गत्वा क्षयमाप्यायते मुहुः ॥ (च० सू० अ० १७)

सुश्रुतेऽपि—

वातपित्तमेदोन्वितश्लेष्मा मेहान् जनयति । (सु० नि० ६ ८)

कोई कोई आचार्य लसीका का लक्षण इस प्रकार करते हैं—

तेजोभूतः परं सूक्ष्मः०—आहारादि का तेजोभूत परम सूक्ष्म जो रससंज्ञा रक्त है वह गन्ध युक्त होकर त्वचा को आश्रय कर के रहनेवाला—रस विशेष "लसीका" कहाता है ।

इसी प्रकार प्रमेह के दोष दूष्यों का संग्रह और आचार्यों ने भी किया है—

"वसा मांसम्"—वसा-मांस-शरीर का क्लेद (अब्धातु) शुक्र-रक्त-मेदः-मज्जा-लसीका और ओज प्रमेह रोग में दूष्य हैं । अर्थात् इन के दूषित होने से प्रमेह होते हैं या इन में से एक या अनेक प्रमेह में दूषित होते हैं ।

ओज से यहां अर्धाञ्जलि परिणाम रूप श्लेष्मा—धातुसाररूप लिया जाता है । अष्टविन्दु परिमाण वाला ओज नहीं लिया जाता क्योंकि अष्टबिन्दु परिमाणात्मक के क्षय होने पर तो पुरुष मर जाता है परन्तु प्रमेह में ओजः के क्षय होने पर भी पुरुष जीता है । लसीका-वसा-मज्जा-वात प्रमेह में दूषित होते हैं । पैत्तिक और श्लैष्मिक प्रमेह में नहीं है । सामान्य रूप में तो सारे प्रमेह त्रिदोषज होते हैं । जैसे चरक में कहा भी है—

समारुतस्य—प्रमेह-वात—पित्त—कफ के चिह्नों को बार बार दिखाता है, और क्षीणता की ओर बढ़ता जाता है ।

सुश्रुत में भी कहा है—मेदोधातु से युक्त वात, पित्त और श्लेष्मा प्रमेहों को पैदा करते हैं ।

एवं सामान्यतः प्रमेहस्वरूपमवगत्य प्रमेहभेद-जिज्ञासुना वैद्येन परीक्षणीया धरा। सा धरा यादृशेन दोष दूष्येण विकृतिमापन्ना गतिं धत्ते तथाविधातुरस्य प्रमेह-नामोच्चारं कृत्वा प्रकल्प्यः प्रमेह-विशेषः। प्रमेहनाडी-ज्ञानं प्रमेह-विषयाध्ययनमन्तरा न सङ्गच्छते केवलश्लोकार्थज्ञानेन; प्रमेहाणां दुष्पारत्वात्, धराज्ञानस्य चातिसौक्ष्म्याद् बुद्धिमता भिषजा स्वबुद्ध्या नाडी-भेदाः कल्पनीयाः। न हि लेखं लेखं पारमेति धीर्नाडी-भेदानाम्। उक्तमेव पूर्वमाचार्येण-शास्त्रेणानुभवैर्निजैरिति।

इस प्रकार प्रमेहों के भेद जानने की इच्छावाले वैद्य को प्रमेहों का स्वरूप भी बुद्धि में रखना चाहिये। पुनः प्रमेह भेद कहने के लिये नाडी परीक्षा करे। रोगी की नाडी जिस प्रकार के दोष दूष्यों को लेती हुई गति करे उसी प्रकार का प्रमेह-विशेष, रोगी को कहना चाहिये। इतना विशेषरूप में लिखे विना आचार्य का प्रमेह निदर्शक नाडी का लक्षण संगत एवं सुबोध नहीं होता, क्योंकि श्लोक कूटार्थ युक्त है। प्रमेह भी अंशांश कल्पना भेद से बीस होते हुये भी अनेक हो जाते हैं। चरक ने कहा है कि—प्रमेह अनुषङ्गियों में सर्व प्रधान है। बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि स्वयं बुद्धि से प्रमेहभेदों की नाडी से कल्पना करे। लिख लिखकर प्रमेह भेदों की नाडी का भेद दर्शाना सर्वथा असम्भव है। इसलिये प्रमेह के भेद-उपभेदों को जानते हुये भी आचार्य ने पृथक् पृथक् प्रमेह की पृथक् पृथक् नाडी गति के लक्षण नहीं दर्शाये। ऐसा करना ठीक ही है यह बुद्धिमान् सद्वैद्यों को समझ लेना चाहिये।

अनुभवः—हमने इसी उपर्युक्त विधि से नाना प्रकार का कथन किया है सो आधुनिक तन्त्र विश्लेषण प्रक्रिया की परीक्षा से पूरा पूरा ठीक उतरा है।

आचार्य ने अपने इस नाडी परीक्षा प्रबन्ध में कहा भी है कि शास्त्र के सहारे से तथा अपने अनुभव से रोग का कथन करे। जैसे—वात प्रमेह में 'हृद्ग्रह' लक्षण चरकादि में कहा है। यह शास्त्र द्वारा जाने हृद्गति ही नाडी गति है। हृदय और नाडी का सम्बन्ध हम "नाडी-पद विज्ञानीय" अध्याय में स्पष्ट कर चुके हैं।

प्रमेह, अर्श [बवासीर] और मलाजीर्ण में नाडी का स्पन्दन शीघ्र होता है। मलवृद्धि में भी ऐसी ही नाडी की गति समझनी चाहिये।

प्रमेह में धातुओं का क्षरण होने के कारण वायु की वृद्धि होती हैं और वह बढ़ा हुआ वायु पित्त को बढाता है। इसलिये पित्त की अधिकता से नाडी में शीघ्र स्पन्दन होता है। प्रमेहों की संख्या २० है। सूक्ष्मभेद से उसके अनन्त प्रकार होते हैं। उसमें दोष और दूष्य का विशेषज्ञान वैद्य के लिये अत्यावश्यक है। उसपर विस्तृत विचार किये विना आचार्य का नाडी-लक्षण संगत नहीं हो सकता। चरक ने भी कहा है कि प्रमेह अनुषङ्गियों में सर्व प्रधान है। वैद्य को चाहिये कि अपनी बुद्धि से प्रमेह-भेद की नाडी से कल्पना करे। लिख लिखकर समझाना तो सर्वथा असम्भव है। इसलिये पहले ही ग्रन्थकार ने कहा है कि शास्त्र के सहारे से तथा निजी अनुभव के द्वारा रोग का निर्णय करना चाहिये।

'अर्शसि' इति—गुदवल्लिषु त्रिदोषविकारात्, आममलस्य विदह्यमानत्वात्, अर्श-मशक-हेतुना वा क्रिमिसञ्जातत्वाच्च शीघ्रं स्पन्दते धरा। अर्शसां क्रिमयो 'दुर्नाम' संज्ञां लभन्ते । भगन्दरेऽप्येवमेव नाडी-स्पन्दनं भवतीत्यस्माभिर्बहुधा परीक्षितमिदम्। भगन्दरे हि रसक्षयो भवति। अतो हृदयं द्रवति। रसक्षयलक्षणञ्च यथा चरके—

घट्टते सहते शब्दं नोच्चैर्द्रवति शूल्यते।
हृदयं ताम्यति स्वल्प-चेष्टस्यापि रसक्षये ॥ (च० सू० १७।६४)

हृद्धमनमेव नाडी स्पन्दनमस्ति। 'मलाजीर्ण' इति—मलाजीर्णेषु वस्तावपक्वान्नस्य दाहोत्पादकत्वात्। गुर्वीति—गर्भस्य गौरवाद् वातस्थानस्था धरापि गौरवं भजते। तस्माद् गर्भोऽस्तीति ज्ञेयम् ॥३३॥

पित्त-वायोस्तत्र वाच्या लघुना गौरवेण च ।
साम-पक्व-विभागश्च दिन-मासादिकं बुधैः ॥३४॥

सो हि गर्भः पक्वो वा, आमो वेति ज्ञापयितुमाह—पित्तवायोरिति । पित्तेन गर्भस्यामता, वायुना च पक्वता ज्ञेया। लोकेऽपि च पश्यामः अपक्वो हि मृद्घटो वह्नौ

अर्शरोग में–गुदवल्लियों में त्रिदोष-विकार होने से, आम मल से विदाह कारक होने से, मस्सों का त्रिदोषोद्भव होने से तथा क्रिमियों के कारण नाडी का स्पन्दन, शीघ्र गति से होता है। अर्श के क्रिमियों का नाम 'दुर्नाम' है। यद्यपि यहां भगन्दर रोग का नाम नहीं लिखा गया, तथापि भगन्दर में भी नाडी की गति अर्श के समान ही होती है। हमने अनेक रोगियों पर स्वयं इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया है।

भगन्दर में रसक्षय होने के कारण भगन्दर के चरकोक्त लक्षण स्मरण रखने चाहियें—

किसी प्रकार की चेष्टा करने पर हृदय आलोडित सा होता है। ऊंचे शब्द को नहीं सहन करता और 'धक् धक्' शब्द करता है। शूल होता है, ग्लानि होती है और स्वल्प परिश्रम से भी थकावट मालूम होती है। हृदय का वमन ही नाडी में ध्मान उत्पन्न करता है। अतः यहां पर निर्देश किया गया है।

मल के अजीर्ण में—अधोवस्ति से मल बनकर आया हुआ अपक्व अन्न, दाह को उत्पन्न करता है। अतः नाडी का स्पन्दन शीघ्रगति से होता है।

गर्भवती स्त्री की नाडी, गर्भ के भार से भारीपन लिये हुए होती है अर्थात् स्त्री की धरा यदि वात के स्थान में गुरु हो तो उसे गर्भवती समझना चाहिये ॥३३॥

गर्भवती स्त्री की नाडी में पित्त और वायु के लाघव से तथा गौरव से गर्भ का पक्कापन, कच्चापन, एवं मास, दिन आदि समझने चाहियें।

गर्भ, कच्चा है या पक्का इसका निर्णय इस श्लोक द्वारा किया गया है। वातस्थान में यदि पित्त का वेग हो तो गर्भ को कच्चा और यदि नाडी में हल्कापन हो तो पक्का समझना चाहिये।

निधाप्यते पक्तुम् । स पच्यमानावस्थायमग्निसंयुक्तो भवति । तथैवायं गर्भः पित्त-तेजसा पित्तप्रधानां धरां स्पन्दयति । पक्वेन च वातं सहानुशेते तस्माद् वातस्याप्यंश-कल्पना विधातव्यैव । तत्र लाघवं गौरवञ्च स्पर्शेन ज्ञात्वा दिनमासादिकञ्च ब्रूयात् ।

अत्र किञ्चिद् विशेषं ब्रूमहे— यथा हि गर्भस्यामनिरामाभ्यामुच्यते कालः, तथैव दोष-धातु-मलानामपि साम-निरामाभ्यां वक्तव्यो व्याधिः कालश्च । काल-कथनं हि सम्प्रदायवशाज्ज्ञातव्यम्, आगमाद्वा । वह्वचो हि काल-परिज्ञानाय युक्तयः सन्ति । तत्र प्रधाना वात-पित्त-कफात्मिका एव ।

ज्योतिःशास्त्र-सम्प्रदायाद् वा । तद्यथा—

विलग्ने षष्ठपः पापो जन्मराशि निरीक्षते ।
रोगिणस्तस्य मरणं निश्चयेन वदेद् बुधः ॥
चतुर्थाष्टमगे चन्द्रे पापमध्यगतेऽपि वा ।
मृतिः स्याद् बलसंयुक्तसौम्यदृष्ट्या चिरात्सुखम् ॥
विधौ लग्ने स्मरे भानौ रोगी याति यमालयम् ।
प्रश्ने क्रूरगृहे लग्ने रोगवृद्धिश्चिकित्सकात् ॥

लोक में भी देखा जाता है कि कच्चे घड़े को अग्नि में पकाने के लिये रख देते हैं, वह पकते समय अग्नियुक्त होता हैं । इसी प्रकार गर्भ भी पकते समय नाडी को पित्तयुक्त रखता है । गर्भ के पक जानेपर उसमें लघुता आ जाती है, वही लघुता नाडी में स्पन्दित होती है । नाडी की गुरुता तथा लघुता को स्पर्श से जानकर मास तथा दिन का निर्णय भी वैद्य को करना चाहिये ।

कुछ विस्तार से कहते है जैसे—गर्भ के आम तथा निराम होने से उसका समय कहा जाता है, ऐसे ही दोष, धातु तथा मलों के साम तथा निराम होने से व्याधियों का काल भी कहा जाता है । व्याधिकाल का कथन करने की अनेक युक्तियां हैं; जिन्हें शास्त्रों द्वारा या गुरुपरम्परा से जाना जा सकता है । उनमें सबसे सरल युक्ति वात, पित्त, कफ की ही है । ज्योतिष सम्प्रदाय से भी कालका परिज्ञान किया जाता है ।

लग्न में षष्ठेश हो जन्मराशि को पाप-ग्रह देख रहा हो तो रोगी का मरण निश्चय से कहना चाहिये ।

यदि चौथे आठवें भाव में चन्द्रमा हो या पापी ग्रहों के मध्य में हो तो भी रोगी का मरण होता है । यदि सौभाग्य ग्रहबली होकर जन्मराशि को देख रहा है तो देर से रोगी सुखी होगा ऐसा जाने ।

यदि चन्द्रमा लग्न में और सूर्य सप्तम स्थान में हो रोगी मर जाता है । रोगी के शुभ-अशुभ ज्ञानार्थ किये हुये प्रश्न के समय में यदि क्रूरग्रह लग्न में हो तो चिकित्सक से रोग वृद्धि होती है ।

तथा लग्नगते सौम्ये वैद्योक्तममृतं वचः ।
लग्नं वैद्यो द्युनं व्याधिः खं रोगी तुर्यमौषधम् ।।
रोगिणो भिषजो मैत्री मैत्री भेषज-रोगयोः ।
व्याधेरुपशमो वाच्यः प्रकोपः शात्रवे तयोः ।
लग्ननाथे च सबले केन्द्रसंस्थे शुभगृहे ।
उच्चगे वा त्रिकोणे वा रोगी जीवति निश्चयम् ।।
एकः शुभो बली लग्ने त्रायते रोगपीडितम् ।
सौम्या धर्मारिलाभस्थास्तृतीयस्था गदापहाः ।।

—ताजिकनीलकण्ठी-प्रश्नतन्त्रे ५६-६२

अस्मद्गुरुचरणैः श्रीसुधाकरद्विवेदि-शिष्यैर्ज्योतिषाचार्य-श्रीपूर्णचन्द्र-त्रिपाठि-महोदयैरस्य वहुधा परीक्षा कृतेति चन्द्रनन्दाङ्कार्कमिते (१९९१) वैक्रमाब्दे ममाध्ययन-काले नैकशः प्रतिपादितं तैः ।

तथा च यद्गणितं रोगमूलज्ञानाय त्रिदोष-संगणनीयेऽध्याये निरूपितमस्ति, तेन व्याधेर्वर्ष--मास--दिन--घटयोऽप्युच्यते, कथयाश्चाहर्निशमेव जिज्ञासुभ्य आतुरेभ्यश्च । ज्योतिःशास्त्रक्रमाद् भिन्न एव स क्रमः, यज्ज्ञानाय भिषग् बुभूषुभिः पृथक्

इसी प्रकार यदि लग्न में सौम्यग्रह हो तो वैद्य का कथन अमृत के समान समझना चाहिये । वैद्य लग्न है सप्तम भाव व्याधि है, दशम भाव रोगी है, और चतुर्थ भाव औषध है ।

यदि रोगी और वैद्य की मैत्री है तो रोगी स्वस्थ हो जाता है । यदि भेषज और रोगी की मित्रता है तो रोगी स्वस्थ हो जाता है । यदि इनकी परस्पर शत्रुता है तो रोग बढ जाता है ।

यदि लग्न स्वामी सबल हो या केन्द्र में सबल शुभग्रह हो अथवा उच्चराशि का हो या त्रिकोण में सौम्यग्रह स्थित हो तो रोगी निश्चय रोग मुक्त हो जीवन धारण करता है ।

यदि एक शुभ ग्रह बली होकर लग्न में बैठ जाय तो रोगी रोग से मुक्त हो जाता है । इसी प्रकार सौम्यग्रह यदि ३-६-९-११वें में हों तो ये रोग हटाने वाले होते हैं । अर्थात् रोग निर्मुक्ति के ज्ञापक होते हैं ।

जब मैं [ग्रन्थ कर्त्ता] वि० सं० १९९१ में श्री सुधाकर द्विवेदी जी के शिष्य डुमरांव स्टेट के राज ज्योतिषी बलिया जिला निवासी श्री गुरुवर पूर्ण चन्द्र जी त्रिपाठी ज्योतिषाचार्य, ज्योतिष तीर्थरत्न ने इन उपर्युक्त पद्यों की सत्यता अनेकशः प्रत्यक्ष की और मुझे अध्यापन समय में बताई । वैद्य बन्धुओं को इससे लाभ उठाना चाहिये ।

त्रिदोष—संगणनीय अध्याय में १०८ अङ्क का गणित कहा गया है; उससे व्याधि वर्ष, मास, दिन और घडी भी कही जा सकती है । हम इस विधि द्वारा सदा काल निर्णय करते रहते हैं । वह ज्योतिष से सम्बन्ध रखनेवाला गणित का प्रकार भिन्न है । यहां अप्रासङ्गिक

प्रयतनीयम् ।

आयुर्वेद--विदोऽप्यत्र विषये वदन्ति । यथा—

वाम-नाडी दीर्घ-रेखा बाहुमूले हि स्पन्दते ।
जीवेत् पञ्चशतं वर्षं नात्र कार्या विचारणा ।।
दीर्घाकारा वाम-नाडी कर्णमूले च स्पन्दते ।
जीवेत् पञ्चशतं सार्धं धनिको धार्मिकोऽपि वा ।
वामनाडी स्वल्परेखा हनुमूले च स्पन्दते ।
पञ्चवर्षाधिकं चैव जीवनं नात्र संशयः ।।

(नाडीदर्पणे)

इमे श्लोका आयुर्दीर्घत्वज्ञापनाय तथा च सूक्ष्मतमज्ञानज्ञापनायैव न्यस्ताः । तथा च चरकेन्द्रियविमानोक्तमरिष्टप्रकारणञ्चात्रानुसन्धेयं स्थिरचित्तेन भिषजा । शकुनविज्ञानाद्वा । यस्मिन् पक्षे वैद्यस्याप्रतिहता गतिर्भवेत्तेन कालं ब्रूयाद् यत्र विघातं न संपश्येत् ।

उपर्युक्तमेतत् सर्वं सर्वभावेन दूतनाडी--विषयेऽपि संयोजनीयं भवति निर्वि--शङ्कम् । तत्प्रकारश्च पञ्चमाध्याये स्पष्टमुपपादितः ।

अत्राहु—कुतो नु वहुविधमार्गाणामुपस्थानं कृतम् । अत्र समाधिः पतञ्जलि—गिरा—"सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रं नैकः शक्यः पन्था आस्थातुम्" वैद्यकस्यापि

समझकर उसकी चर्चा नहीं की गई है ।

आयुर्वेद के प्राचीन आचार्यों ने भी नाडी से रोगी के कालनिर्णय पर लिखा है । पाठकों के कौतूहल के लिये कुछ दिग्दर्शन कराते हैं—

जिसकी वाम—नाडी, दीर्घरेखा की आकृति को लिये हुए बाहु के मूल (बगल) में स्पन्दन करती हो तो पुरुप निःसंशय ५०० वर्ष जीता है ।

इसी प्रकार यदि नाडी, कान के मूल में लम्बे आकार को लिये हुये स्पन्दन करती हो वह पुरुष धनिक और धार्मिक होता हुआ साढ़े पांच सौ वर्ष तक जीवित रहता है—यदि वामभाग में नाडी स्वल्पाकार रेखा हनुमूल (ठोडी) में स्पन्दन करे तो ऐसे पुरुष का जीवन ५०५ वर्ष का होता है । इससे हमारे पूर्वजों के सूक्ष्मतम आयुर्विज्ञान और नाडी-विज्ञान का पता चलता है ।

वैद्य को उचित है कि रोगी के अरिष्ट लक्षणों को सोच-समझकर और देखभालकर रोग का यथोचित समय निर्देश करे । शकुन विचार द्वारा भी रोग-काल निर्णय किया जा सकता है । जिस किसी भी प्रकार में वैद्य की निपुणता हो उसी के द्वारा काम लें ।

यह काल सम्बन्धी व्याख्या दूत—नाडी—विज्ञान में भी प्रयुक्त करनी चाहिये । इस सम्बन्ध में ५वें अध्याय में कहा जा चुका है ।

सर्वपरिषत्त्वात् ।

तथा च यास्कः—"वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवतीति ।"

तथा च सुश्रुतः—

एकशास्त्रमधीयानो न गच्छेच्छास्त्रनिश्चयम् ।
तस्माद्बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयाच्चिकित्सकः ।।

तथा च चरकः—

परं प्रयत्नमातिष्ठेद् भिषक् स्वगुणसम्पदि ।

अस्मद्वचनं तु—

यावतीं वेत्ति यो विद्यां जगतः स्थितिबोधिनीम् ।
काल—त्रिदोषयोश्चापि गतिं दुर्गां स वैद्यराट् ।।३४।।

सव पित्तवहा लघ्वी नष्टगर्भां वदेच्च ताम् ।
दोष्—पीडा वक्रिमत्वे प्रहारे त्रसनेऽपि च ।।३५।।
व्यायामेऽट्टाट्टहासे च नैति स्फुरणतां धरा ।

गर्भस्य नष्टानष्ट—विवेचने यदि पित्तधरा सूक्ष्मा, लघ्वी वा स्यात् तदा नष्टो गर्भ इति बोद्धव्यम् । गर्भो हि मांसादिसंघातत्वाद् गुरुः पृथ्व्यंशबहुलत्वाच्च गर्भे नष्टे आकाशस्य सद्भावात् लाघवं स्यादेव, आकाशस्य सूक्ष्मत्वाल्लघुत्वाच्च । दोष्—पीडेति—दोषोल्वणत्वाद् धरायाः । वक्रिमत्वे बाह्वोरेवाघातः । त्रसनेन—भयेनेति भावः ।।३५।।

गम्भीरा या भवेन्नाडी सा भवेन्मांसवाहिनी ।।३६।।

यहां काल कथन के इतने मार्गों का विधान इसलिये किया गया है कि आयुर्वेद शास्त्र अनन्त है । वैद्य को विविध-विद्या-विशारद होना चाहिये । उसके आगे नाना प्रकार के प्रश्न उपस्थित होते हैं । अतः वैद्य की सभी विषयों में अव्याहतगति होनी चाहिये । चरक ने भी कहा है कि 'वैद्य को अपनी गुण सम्पत्ति बढ़ाने में सदा यत्नशील रहना चाहिये ।'

हमारी सम्मति में जो पुरुष, जितने अधिक शास्त्रों उवं उपपत्तियों को जानता है, जगत् के पारस्परिक सम्बन्धों को समझता है एवं त्रिदोष की विविध विषम गतियों को जानता है, वह उतना ही महान् प्राणाचार्य हो सकता है ।।३४।।

जो नाडी, गर्भवती की बताई गयी है, यदि वह पित्त–वाहिनी और हल्की हो तो गर्भवती को नष्टगर्भा समझना चाहिये । भुजदण्डों में पीडा होने से टेढापन होने से, लाठी आदि की चोट से, डर से, अधिक व्यायाम करने से और अट्टहास करने से नाडी का स्फुरण नहीं होता ।।३५।।

मांस–वाहिनी आदि नाडी के लक्षण—

जो नाडी, गम्भीर-स्पन्दन-युक्त हो; वह मांस-वाहिनी होती है अर्थात् गर्भ मांस आदि का संघात होने से गुरु होता है । गुरु–पदार्थ में पृथिवी का अंश अधिक होता है । गर्भ नष्ट होने

मांसवाहिनी--मांसे दोषवाहिनीत्यर्थः । मांसस्य रक्तापेक्षया घनत्वात् । घनत्वं गम्भीरत्वञ्च पृथिव्याम् । ३६ ।

दीर्घा कृशा वातगतिर्विषमा वेपते धरा ।
जीवघ्नी वासमैश्चिह्नैर्व्याकुलाजीर्णसञ्चया ॥३७॥

दीर्घा -आयता । आयामो ह्याकाशस्य गुणः । रूक्षत्वाद् वातस्य स्नेहस्य शोषणात् कृशा । विषमगतिमत्त्वञ्च वायौ । व्याकुलता तु दोषाणाममार्गस्थत्वात् । वक्ति चारिष्टाध्याये भगवानात्रेयः पुनर्वसुः—

क्रियापथमतिक्रान्ताः केवलं देहमाप्लुताः ।
चिह्नं कुर्वन्ति यद्दोषास्तदरिष्टं निरुच्यते ॥ इति

असमैश्चिह्नैरिति विषमक्रियापथारूढत्वाद् दोषाणाम् । एवमजीर्ण--संचया नाडी जीवघ्नी मरणज्ञापिका भवति ॥३७॥

शीतार्दितस्य गात्रस्य चिरात् सूक्ष्माथ मन्थरा ।
शयानस्य बलोपेता नाडी स्फुरण-भुग्वहा ॥३८॥

शैत्यं जलस्य गुणः । शीतं हि सोमप्रधानम् । तस्माच्छीताभिहतो वह्निः स्वा--शयमेति । भस्मावृत इव गोपायत्यात्मानम् । वह्नावाकाश-वायोः सद्भावात् सूक्ष्मेत्यु-

---

पर आकाशतत्त्व की सत्ता हो जाती है । अतः लघुता आ जाती है इसमें युक्ति यह है कि मांस, रक्त की अपेक्षा घन होता है । घनत्व तथा गम्भीरत्व पृथिवी तत्त्व का लक्षण है ॥३६॥

सञ्चित अजीर्णवाली नाडी—

जो नाडी, अजीर्ण के सञ्चित होने से कभी लम्बी, कभी छोटी, वायु के समान कांपती हुई टेढी गतिवाली और विषम रूप से चले तो वह इन विषम लक्षणों से प्राणहारिणी होती है ।

तात्पर्य यह कि आयत होना आकाश का गुण है । वायु के रूप और स्नेह–शोषक होने से नाडी में कृशता आ जाती है । व्याकुलता का लक्षण तो वायु के विमार्ग-गामी होने से होता है ।

अरिष्ट का निर्वचन करते हुये भगवान् पुनर्वसु आत्रेय कहते हैं—

दोष निज अन्तः मार्गस्थ क्रियाक्रम का उल्लङ्घन करके देह के बाहर की ओर जो लक्षण उत्पन्न करते हैं वे अरिष्ट ज्ञापक होते हैं ।

विषमक्रियारूढ होने के कारण दोष, विषम–चिह्नों को उत्पन्न करते हैं । अतः अजीर्ण–सञ्चया नाडी मरण–सूचक होती है ॥३७॥

जिस मनुष्य के शरीर में अधिक मात्रा में शीत का प्रवेश हो जाता है उसकी नाडी सूक्ष्म तथा मन्द गति वाली होती है । सोये हुए पुरुष की नाडी में प्रबल स्पन्दन होता है । कहीं-कहीं 'शीतार्तस्यार्द्रगात्रस्य' पाठ मिलता है । अतः चिरकाल तक गीला रहने पर भी नाडी सूक्ष्म और मन्द गतिवाली होती है ।

शीत, जल का गुण है और सोमगुण-प्रधान है । इसीलिये शीत से अभिहत अग्नि अपने आशय में चली जाती है । जैसे—भस्म से ढकी अग्नि ऊपर से शीत और अन्दर से दाहकता युक्त होती है । वह्नि में आकाश और वायुतत्त्वों की सत्ता होने के कारण नाडी सूक्ष्म होती है ।

पपद्यते । मन्दगामित्वञ्च शीतेन निर्वलीकृतत्वात् । 'मन्दगामी तु मन्थरः' इत्यमरः । शीतं व्यपोढुमग्निस्तीक्ष्णयत्यात्मानम् । शयानस्येति । शयानस्य हि श्लेष्मा विशेषेणोत्पद्यते । 'प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मे' त्युक्तत्वात् । तथा च दिवा श्रमातिशयात् कार्श्यमुपगतान् धातून् पुपूर्षु रग्निः स्वभावत एव बलमुपैति । पश्यामश्चानिद्रितस्य वात-पित्त-प्रकोपणमिति ॥३८॥

स्वस्थानस्थेषु वातादिदोषेषु नाडीलक्षणानि—

किञ्चिदाभुग्नगतिका स्वस्था निर्वहते ध्रुवम् ।
सूक्ष्मरूपा स्फुटा शीता स्वस्थानस्थे कफे तथा ॥३९॥
पित्त स्वस्थानगे तद्वत् प्रबला सरला चला ॥

कुपितवातादिदोषेषु—

अनृजुर्वात-कोपेन चण्डा पित्त-प्रकोपतः ॥४०॥
सरला श्लेष्म-कोपेन नाडी दोषैः पृथक् स्मृता ॥

हीनकफादिषु नाडीलक्षणानि—

कफे हीनेऽधिके वात-गतिं वहति नाडिका ॥४१॥
हीने वाते कफे चातिस्वल्पे पित्ते चिरात् स्फुटा ॥

शीत प्रकोप से निर्बल अग्नि, नाडी की गति में मन्दता उत्पन्न करती है ।

निद्रावस्था में कफ की अधिकता रहती है । कफ का प्राकृत स्वरूप बल है । दिनभर के परिश्रम से कृश हुए धातुओं की कमी को पूरा करने के लिये अग्नि भी स्वभावतः बलवती होती है । इसलिये निद्रावस्था में नाडी बलवती होती है यह उपपन्न हो जाता है । प्रायः देखा जाता है कि रात को जागनेवाले पुरुष के वायु और पित्त कुपित हो जाते हैं ॥३८॥

स्वस्थानस्थ वातादिदोषों की नाडी—

वायु के अपने समुचित स्थान पर स्थित रहने के कारण नाडी कुछ टेढी गति से चलती है । इसी प्रकार कफ के स्वस्थान पर स्थित रहने के कारण नाडी की गति सूक्ष्म किन्तु स्फुट एवं स्पर्श में शीतल रहती है । पित्त के स्थान में रहने पर नाडी प्रबल, सरल एवं चञ्चलगतिवाली होती है ॥३९॥

कुपित वातादि दोषों में नाडीलक्षण—

वायु के कुपित होने पर नाडी की गति वक्र हो जाती हैं, पित्त के प्रकोप से प्रचण्ड भाव से उछलती है एवं कफ के कोप से नाडी की गति सरल हो जाती है । इस प्रकार दोष-भेद से नाडी की भिन्न-भिन्न गतियां होती हैं ॥४०॥

कफ के क्षीण होने पर नाडी, वायु की गति से सूक्ष्म और वक्र चलती है तथा वायु के क्षीण, कफ के अधिक एवं पित्त के अल्प होने पर विलम्ब से स्पन्दित और स्फुट होती हैं ।

कफे हीने सति वायुः पित्तेन संसृज्य नाडीं वातप्रधानां स्पन्दयति, वह्नियोगा-दूष्मण उत्पद्यमानत्वात् । एवं वाते हीने सति कफः पित्तेन संसृज्य, पित्तं वा कफेन संसृज्य मध्यमां गतिं प्राप्नुतः । यतो हि गतिर्वायौ । तस्य स हीनत्वाद् वायुः कफं पित्तमुभयं वा वहनेऽसमर्था भवति । सारांशस्त्वयम्—यस्य दोषस्यातिशयः, स एव धरां स्वगुणानुरूपां चालयति ॥४१॥

सौम्या सूक्ष्मा स्थिरा मन्दा नाडी सहज–वातजा ॥४२॥

वक्रा च सेषच्चपला कठिना वात–पित्तजा ।

स्थूला च चञ्चला शीता मन्दा स्यात् श्लेष्मवातजा ॥४३॥

निगदव्याख्यातम् ।

सूक्ष्मा शीता स्थिरा नाडी पित्त-श्लेष्म-समुद्भवा ।

पित्ताधिके च चपला कटुकादेश्च भक्षणात् ॥४४॥

कटुकादेर्भक्षणात् पित्त–प्रकोपो भवति । उक्तमेव पूर्वम्—'कट्वम्लोष्ण-विदाही'त्यादि पञ्चभूतत्रित्वीयेऽध्याये त्रिदोष–कोपन-संग्रहे ॥४४॥

निरन्तरं खरं रूक्षमन्नमश्नाति वातलम् ।

सूक्ष्मा वातोल्वणा तस्य नाडी स्यात् पित्तसन्निभा ॥४५॥

कारण यह कि कफ के हीन होने पर वायु, पित्त-संसर्ग से वायु-प्रधान स्पन्दन को उत्पन्न करती है । इसी प्रकार वायु के हीन होने से कफ, पित्त के साथ और पित्त, कफ के साथ मिल-कर मन्दवेग से नाडी को स्पन्दित करते हैं । कफ और पित परस्पर सम्बद्ध होकर मध्यम गति वाले हो जाते हैं । क्योंकि वायु के विना कफ और पित्त शीघ्र वहन में असमर्थ होते हैं । वायु के स्वाभाविक अवस्था में होने पर नाडी, सौम्य,सूक्ष्म, स्थिर तथा मन्दगति से चलती है ॥४१।४२॥

वात-पित्तकी नाडी कुछ चपल और वक्रगति करती है कफ-वात की नाडी स्थूल, चंचल शीतस्पर्शवाली एवं मन्द गतिवाली होती है और कफ-पित्त की नाडी, स्थूल, चञ्चल शीत-स्पर्श युक्त एवं स्थिर गतिवाली होती है ।।४३।।

पित्तकी अधिकता अथवा नीम आदि कटु-रस-प्रधान पदार्थ खानेसे, अथवा कटु रसवाले पदार्थ खाने से नाडी चपल बन होती है । पित्त प्रकोपक कट्वम्लोष्ण आदि पंचमहाभूत त्रित्वीय अध्याय में त्रिदोष प्रकोपक संग्रह में देखने चाहियें ।।४४।।

जो पुरुष निरन्तर खर, रूखे तथा वायुकारक (कोदों, सांवा आदि) पदार्थों का सेवन करते हैं उनकी नाडी रूखी और पित्त को साथ लिये अधिक-वायुवाली होती है । कहीं–कहीं पित्त–सन्निभा के स्थान पर पिण्ड–सन्निभा पाठ भी मिलता है । अतः उसका अर्थ गठीली करना चाहिये ।

खर-रूक्ष-पदार्थानां वातप्रधानत्वात् प्रवृद्धबलो वायुः पित्तं वर्धयति ज्वलयति; यथा हि व्यजनादिना ध्मातः स्वल्पोऽप्यग्निस्तैक्ष्ण्यमापद्यते तथा। अत एवोपपद्यते वातोल्वणापि पित्तसन्निभा स्यादिति। क्वचित् 'पिण्डसन्निभे'ति पाठान्तरम्

नाडी तन्तु-समा मन्दा शीतला सर्वदोषजा।
रिरंसोरुज्झितरते रतस्यापि च वातवत् ॥४६।

क्वचित्तु 'रतस्य' स्थाने 'चलतः' इति पाठान्तरम्। अध्वगस्य पुरुषस्यापि धमनी वातवद् वक्रगतिमुपेत्य यातीति भावः।

यथास्वं दोष-लिङ्ग-दर्शनात् सर्वदोषजा तन्तुसमेत्यादि युज्यते। रिरंसोरिति-कामोष्मा हि वायुमनुनयति। उज्झितरत इत्यादि-स्नेहक्षयात् शुष्ककाष्ठमिव पित्तं शरीरधातून् सन्तापयति वातश्चानुशेते। रतस्येति-रतिश्रमेण सर्वधातुस्नेहस्य मथ्यमानत्वाद् वाताधिक्याद् रौक्ष्यभावाच्च तन्तुसमा मन्दा चेत्युपपद्यते। तथा च सुश्रुते—

"तत्र स्त्री-पुंसयोः संयोगे तेजः शरीराद् वायुरुदीरयति, ततस्तेजोऽनिलसन्निपाताच्छुक्रं च्युतं योनिमभिप्रपद्यते" (शा० ३।३)

कारण यह कि वायु-प्रकोप-कारण खर और रूखे पदार्थों के सेवन से बढा हुआ वायु पित्त को बढा देता है। जैसे पंखे आदि की वायु से थोडी सी भी अग्नि प्रदीप्त हो जाती है। इसीलिये वातोल्वण नाडी का पित्त-सन्निभ होना सार्थक होता है ।।४५।।

यदि नाडी, सूत के समान पतली, मन्दगतिवाली और शीतल हो तो उसे सर्वदोषज (त्रिदोषज) जानना चाहिये। "सर्वदोषजा" पद के स्थान पर कहीं-कहीं "श्लेष्मदोषजा" भी पाठ मिलता है, अतः कफ के कोप से नाडी कमल तन्तु के समान अतिसूक्ष्म होकर मन्दगति से चलती है एवं स्पर्श में शीतल प्रतीत होती है। त्रिदोष युक्त नाडी के निरोग होने पर तन्तुसमा आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

मैथुन करने को प्रबल इच्छावाले की, मैथुन किये हुए की तथा मैथुन करते हुए की नाडी वायु की नाडी के समान अर्थात् वात-प्रधान दोष की सी चलती है। कहीं-कहीं 'रतस्य' के स्थान पर 'चलतः' पाठ मिलता है—इसका तात्पर्य यह कि रास्ता चलते हुये या चलकर आये हुए मनुष्य की नाडी, वात नाडी के समान वक्रगति से चलती है।

कामेच्छा वाले की नाडी, वायु का अनुषंग करती है। मैथुन कर चुकने पर स्नेह का क्षय हो जाता है, पित्त, सूखी लकड़ियों की भांति धातुओं को सन्तप्त करता है और रूक्षता के कारण वायु उसके अनुबल हो जाता है। मैथुन करते हुये व्यक्ति के रति श्रम से सभी धातुओं में रहनेवाले स्नेह के मथित होने के कारण वायु की वृद्धि होती है, उससे रूखापन बढ़ता है और इसलिये नाडी सूत के समान पतली प्रतीत होती है। सुश्रुत में कहा है—

स्त्री और पुरुष के संयोग में तेजोरूप पित्त, वायु को उदीरित करता है, तब अग्नि और वायु के संयोग से गिरा हुआ शुक्र योनि में जाता है।

भावप्रकाशेऽपि—

ऋतौ स्त्रीपुंसयोर्योगे मकरध्वजवेगतः ।
मेढ्रयोन्यभिसंघर्षाच्छरीरोष्मा—निलाहृतः ॥
पुंसः सर्वशरीरस्थं रेतो द्रावयतेऽथ तत् ।
वायुर्मेहनमार्गेण पातयत्यङ्गनाभगे ॥

त्वचि वाताधिक्यं भवति—

स्पर्शनेऽभ्यधिको वायु। स्पर्शनं च त्वगाश्रितम् ।

इति चरके ।।४६।।

रुद्धवेगस्य वातस्य शल्य-विद्धस्य पित्तवत् ।
निद्रालोर्मेदुरस्यापि कामवत्तृप्तदृप्तयोः ॥४७॥

अत्र युक्तिः-वातस्य वेगोष्मणा रुद्धत्वात् । शल्यं जातमात्रं पित्तं पाचना-योपक्रमते, तस्मात् पित्तवदिति साधुः । निद्रालुरतिनिद्रः । आलुच् प्रत्ययः प्रसंग--प्राप्तमत्र किंचिदुच्यते--वालको हि निद्रालुर्भवति । तस्माद् वालस्य स्वभावादेव पित्तवहुला नाडी भवति, कफं पाचयितुं वर्धयितं च वपरिति । मेदुरस्येति-स्निग्धमतिशयेन भुञ्जानस्य, सुहितस्य कफवद्धमति धमनीति । उक्तञ्च कफकर्मसु—

भावप्रकाश में भी लिखा है—

ऋतु में स्त्री और पुरुष के योग में मकरध्वज (काम) के वेग से मेढ्र (शिश्न) और योनि के संघर्ष से वायु द्वारा आहत (उदीरित) पित्त पुरुष के सारे शरीर के शुक्र को द्रवित करता है और वायु शिश्नस्थ शुक्रवाही स्रोत से ले जाकर स्त्री के गर्भाशय में गिराता है ।

त्वचा में वायु की अधिकता होती है इसलिये स्पर्शज्ञान त्वचा के आश्रित है ।।४६।।

मल-मूत्रादि शारीरिक, क्रोध, शोक आदि मानसिक वेगों के रोकने से, कांटा या शस्त्र आदि का आघात होने या वैद्य द्वारा शल्यक्रिया (आपरेशन) आदि होने से नाडी की गति पित्त समान होती है । यहां प्रसंग से यह भी लिखना आवश्यक है—क्योंकि बालक निद्रालु होता है इसलिये कफ को पचाने तथा शरीर को वढ़ाने के लिये स्वभाव से ही बालक की नाडी पित्त-बहुल होती है । अधिक सोने वाले, मेदस्वी (अधिक चर्बीवाले), अन्न आदिसे तृप्त और मदसे उन्मत्त पुरुष की नाडी कफके समान चलती है ।

वेग से रुका हुआ वायु ऊपरकी ओर गति करता है और पित्तको चञ्चल कर देता है इस लिये मनोवेगों के रोकने से नाडी, पित्त की गति को प्राप्त करती है । कांटा,कील या शस्त्रके लगते ही पित्त वहां पहुँचकर विंधे या कटे स्थानको पकाना प्रारम्भ कर देता है, इसलिये नाडी, पितगतिसे चलती है । निद्रा में कफ की प्रधानता होती है,पहले कहा जाचुका है । अधिक चर्बी-या अति स्निग्ध भोजन करनेवाले की नाडी कफ के समान चलती है । मेद और कफ में चिक-नाहट अधिक होती है । कफ के कार्यों में कहा गया है कि—

तृप्तिस्तन्द्रा निद्रा गुरुता स्तैमित्यं कठिनता मलाधिक्यम् ।
स्नेहापक्त्युपलेपः श्वैत्यं कण्डूः प्रसेकश्च ॥
चिरकर्तृत्वं शोथो निद्राधिक्यं रसौ पटु--स्वादू ।
वर्णः श्वेतोऽलसता कर्माणि कफस्य जानीयात् ॥ इति।।४७।।

मलाजीर्ण-मलशेषयोर्नाडीलक्षणम्—

समा सूक्ष्मा ह्यणुस्पन्दा मलाजीर्णे प्रकीर्तिता ।
विषमा कठिना स्थूला मलशेषात् निगद्यते ।।४८।।

मलाजीर्णोष्मणा रुद्धगतिर्वायुः सूक्ष्मतयाणुस्पन्देन च नाडीं धमयति । मलशेषादिति--मलस्य पृथ्व्यंशवहुलत्वात्, वस्तिर्हि विकृतस्य वायोरधिष्ठानमिति कृत्वा तथा च दुर्गन्धवहुलत्वात् । दुर्गन्धवाहुल्यञ्च सामे पित्ते भवति-तस्माद् युक्तमेवैतद् धरा-स्पन्दन--लक्षणं 'विषमा कठिने' ति । पश्यामश्चातो विपरीतं विवन्धनाशात् स्फुटत्वात् स्रोतसां दोषाः स्व-स्व-स्रोतःसु चलन्तो लाघवाय प्रसादाय हर्षाय च कल्पयन्ति धारागतिमिति । स्वाभाविकं यथावश्यकं तु मलं शरीरे सर्वदैव विश्रमत एव, तथा च वचनम्--'**मलायत्तं बलं पुंसा** मिति । तथा चातिशयेन मलनिरेकात् प्राणहानिश्चेति । तथा च कणादः--**निरोधे मूत्र-शकृतोः विड्ग्रहे वक्रगा शिरा**' इति ।।४८।।

तृप्ति, तन्द्रा, निद्रा, गुरुता, गीलापन, कठिनता, मल की अधिकता, चिकनाहट, फूलना, उपलेप, श्वेतता (सफेदी), कण्डू (खुजली), प्रसेक (मुंह से पानी आना), दीर्घसूत्रता, सूजन, और अधिक नींद इत्यादि कर्म कफ के हैं, ।।४७।।

मलाजीर्ण तथा मलशेष में नाडी के लक्षण—

मल (दोषों) के अजीर्ण में नाडी एक समान रूप से सूक्ष्म और मन्दगति से चलती है और मल-शेष रहने से विषम, कठिन एवं स्थूलता लिये हुए चलती है। कारण यह कि मल की अजीर्णता से रुका हुआ वायु नाडी को सूक्ष्म और मन्द स्पन्दन वाली करता है। मलों में पृथिवी-तत्त्व की प्रधानता होने से,वस्ति के विकृत वायु का स्थान होने और दुर्गन्धयुक्त होने से नाडी,विषम, कठिन और स्थूलगति से चलती है। दुर्गन्ध-बहुलता साम-पित्त का लक्षण है। इसके विपरीत अर्थात् मलशुद्धि होनेपर स्रोतों की स्फुटता और निर्मलता के कारण दोष,अपने मार्ग से चलते हुए लघुता, प्रसाद और हर्ष की गति प्रकट करते हैं। स्वाभाविक और जीवनोपयोगी मल तो शरीर में सदा रहता ही है। मल के सर्वथा निकल जाने पर प्राण हानि की स्थिति हो जाती है क्योंकि पुरुषों का बल, मल के आधीन है।

कणाद ने भी कहा है कि मूत्र, पुरीष आदि के वेगों को रोकने से मल संग्रह में नाडी की गति टेढ़ी हो जाती है।।४८।।

रक्तादजीर्णाद् वमनाद् विरेकाद् वीजक्षयाद् रक्तस्रुतेर्निवन्धात् ।
सम्मूर्च्छनाद्यैर्जठराग्निमान्द्यात् नाडी वहेत्तन्तु–चला च जन्तोः ॥४९॥

रक्तादिति—रक्ते पित्ताधिक्यात् पित्तं हि वातमनुनयते, तस्मात्तन्तु चला स्यादेव धरा । अजीर्णादिति--विदग्धाजीर्णादिति ज्ञेयम्, पित्तेन विदग्धीकृतत्वादाहारस्य । वमनादिति—यदोद्रिक्तं पित्तमुदानसाहाय्यं प्राप्य विदग्धादिभावमाप्तमाहारमन्नरसं वा लभते तदा छर्दयति । तथा चाञ्जननिदाने—

'अत्यजीर्ण-- पटुस्निग्धाहृद्य'''गर्भ'''कृमिद्रुतैः ।
दोषैः पृथक् समस्तैश्च हृद्यैः पञ्चविधा गतिः' ।

विरेकादिति—अत्रास्मत्पद्यानि—

विषमादजीर्णाम्लात् प्रयाति पित्तं प्रकोपणम् ।
प्रकुपितं तद् द्रवत्वाच्च रक्तोष्मामुपहत्य च ॥
तत्र वायुः स्वयं क्रुद्धः पौनपुन्याय कल्पते ।
विट्-कोष-विस्तृतौष्ण्याद्भित्वा द्रव-सर-धर्मतः ॥
स करोति पुरीषस्य सरणं विधिवर्जितः ।
आगन्तू द्वावतीसारौ मानसौ भयशोकजौ ॥

रक्त आदि निर्दिश्यमान हेतुओं से नाडी की गति का वर्णन—

रक्त से, अजीर्ण से, वमन से, विरेचन से, वीर्य के क्षय से, रक्त गिरने से अथवा रक्त का मार्ग रुक जाने से, मूर्च्छा आदि के आ जाने से और अग्नि के मन्द पड़ जाने से मनुष्य की नाडी सूत के समान पतली और चञ्चल होती है ।

रक्त में पित्त की अधिकता से पित्त, वायु का अनुसरण करके नाडी को तन्तु के समान चलाता है । क्योंकि पित्त रक्त का मल है । अजीर्ण से विदग्धाजीर्ण समझना चाहिये । वमन का कारण भी वह पित्त है, जो अन्न को विदग्ध करके या आहार-रस को दूषित करके उदान-वायु को प्रबल बनाता है । उसकी प्रबलता वमन का कारण होती है । अञ्जन निदान में कहा भी है 'अजीर्ण से, लवण, स्नेह और अहृद्य पदार्थों के सेवन से, गर्भ धारण से, कृमियों के सञ्चार से, वातादि पृथक्-पृथक् दोषों से; सन्निपात से तथा अन्यान्य अहृद्य कारणों से वमन होता है ।'

विषम भोजन करने से, अजीर्ण से, अम्ल पदार्थों के सेवन से, प्रकुपित पित्त, द्रव होने से ऊष्मा को उपहत करके, पुरीष-वस्ति की वायु तथा ऊष्मा के अपने द्रव और सर धर्म के कारण अतिसार को प्रवृत्त करता है । भय तथा शोक से आगन्तुक अतिसार होते हैं, इसलिये विरेक में भी नाडी की गति तन्तु के समान पतली रहती है ।

वीजं हि पुरुषे शुक्रमुच्यते। तस्य क्षयात् स्नेहाल्पता भवति शरीरे, स्नेहाल्पत्वात् प्रकोपमाद्यते वायुः। स कुपितो वायुः पित्तसंसर्गेण तापयति शरीरम्। तस्मादुपपद्यते वीजक्षयात्तन्तुचलेति। रक्तसृतेरुपपत्तिर्वीजक्षयेग तुल्या। सम्मूर्च्छनात्मूर्च्छायाश्चापि पित्तबाहुल्यात्। **'मूर्च्छा पित्ततमःप्राया'** इति चरकवचनात्। जठराग्निमान्द्याद् जाठराः सर्वं एव विषमाग्निमुपशेरते लघु—सूक्ष्म—तीक्ष्णत्वाच्च पित्तस्य' लघु—सूक्ष्मत्वाच्च वातस्य। तस्माद् युक्तमेव 'नाडी वहेत्तन्तुसमा च जन्तो' रिति।

उक्तं च—

> विषमो वातजान् रोगान् तीक्ष्णः पित्तनिमित्तजान्।
> करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान् कफसम्भवान्॥ इति।

अत्र प्रसंगप्राप्तं भस्मकभेदज्ञानाय निदानम्—

> कफे क्षीणे यदा पित्तं स्वस्थाने मारुतानुगम्।
> तीव्रं प्रवर्तयेद् वह्नि तदा तं भस्मकं वदेत्॥४६॥

निरामकफज-सर्वदोषज-नाड्योर्लक्षणम्—

बीज शुक्र कहाता है क्योंकि यह ही स्त्री—रूप क्षेत्र में पुनः पुरुष को उत्पन्न करता है। वीर्य के क्षय होने से स्नेह की अल्पता हो जाती है। स्नेह की अल्पता से वायु कुपित होता है। कुपित वायु, अपने साथ पित्त का संसर्ग करके शरीर को सन्तप्त करता है—इसलिये बीज के क्षय होने पर भी नाडी तन्तु के समान रहती है। अधिक रक्त—स्राव से रक्तवाही स्रोतों में वायु की वृद्धि हो जाती है—इससे नाडी, तन्तु के समान होती है। मूर्च्छा भी पित्त की अधिकता से होती है। कहा भी है—'मूर्च्छा में पित्त और तम की प्रधानता रहती है'। उदराग्नि की मन्दता से भी नाडी तन्तु—समा हो जाती है। कारण यह कि उदर सम्बन्धी सभी रोग विषम—अग्नि से होते हैं। पित्त, लघु, सूक्ष्म और तीक्ष्ण होता है तथा वायु भी लघु और सूक्ष्म होता है—इसलिये उदर विकारों में नाडी का सूक्ष्म होना उचित है। कहा है 'विषम अग्नि, वायु के रोगों को; तीक्ष्ण—अग्नि, पित्त सम्बन्धी रोगों को और मन्द-अग्नि, कफ—सम्बन्धी विकारों को उत्पन्न करती है,।

यहां प्रसंग से 'भस्मक' का निदान भी लिखते हैं—कफ के क्षीण होने पर पित्त अपने स्थान में स्थित वायु का बल प्राप्त करके वह्नि को तीव्र कर देता है तब उस रोग को 'भस्मक' कहते हैं॥४६॥

निराम-कफज तथा शीत-दोषज नाडी के लक्षण—

निरामा सूक्ष्मगा ज्ञेया कफेनापरिपूरिता ।
नाडी तन्तुसमा मन्दा शीतला सर्वदोषजा ॥५०॥

निगदव्याख्यातं पूर्वार्धम् । उत्तरार्धञ्च रक्तादजीर्णादित्यनेनैव व्याख्यातम् । क्वचित् तु 'सर्वदोषजा' इत्यस्य स्थाने 'शीत-दोषजा' इति पाठ उपलभ्यते ॥४०॥

कफपित्ते नाडीलक्षणम्—

मन्दं मन्दं मिताहारे कफ-पित्त-समन्विता ।
वहुदाह-करे रक्ते प्लावयन्ती विशेषतः ॥५१॥

यथाग्निवलं परिमितं हि भुक्तं सम्यग् विपाकमायाति,विपक्वरसे हि सर्वधातूनां पोषक-परमाणूनामविकृत्या सद्भावात् कफेन समा मन्दा वहति धरा । हितं मितं मात्रावच्च भुक्तमग्निं समानं कुर्वन् वलवर्णौजसां वृद्धये कल्पते । वहुदाहकरमिति-कट्वम्लोष्णविदाहीनां सुरासवारनाल-प्रभृत्याहाराणां प्रायेण सेवनाददृष्टवशाद् वा वायौ वैषम्याद् रक्ते पित्तातिशययोगाद्, यथा तरिता वीचिषु तरति, तथा प्लावयन्ती धरा स्पन्दनमेति विशेषत इत्यभिप्रायः ॥५१॥

मध्ये करे वहेन्नाडी यदि दीर्घा पुनर्द्रुता ।
तदा नूनं मनुष्यस्य रुधिरापूरिता मलाः ॥५२॥

कफ से पूर्ण आमदोष-रहित नाडी सूक्ष्म रूप से चलती है । सब दोषों से युक्त नाडी तन्तु के समान सूक्ष्म, मन्द तथा शीतल-स्पर्श वाली होती है । इस श्लोक का पूर्वार्ध स्पष्ट है और उत्तरार्द्ध की व्याख्या पूर्व श्लोक में हो चुकी है । इस श्लोक में 'सर्वदोषजा' के स्थान पर 'शीतदोषजा' पाठ भी मिलता है जिसका अर्थ यह हुआ कि शीतदोषाक्रान्त नाडी तार के समान मन्द और शीतल स्पर्शवाली होती है ॥५०॥

कफ पित्तादि में नाडी लक्षण—

कफ और पित्त से समन्वित नाडी, अल्प आहार करने पर धीरे-धीरे स्पन्दन करती है । दाह उत्पन्न करने वाले और पित्त-विदग्ध रक्त-दोष में, नाडी, लहरों पर तैरती हुई सी असम गति से चलती है । तात्पर्य यह कि अग्नि-बल के अनुसार किया हुआ भोजन ही भलीभांति पचता है । सुपक्व रस में समस्त धातुओं के पोषक परमाणु शुद्धरूप से विद्यमान रहते हैं । वे पोषक-परमाणु संयोगधर्मा होने के कारण कफ-स्थानीय है । अतः नाडी का पित्त-मिश्रित होने पर भी मन्द गमन युक्ति-युक्त सिद्ध होता है । हित और मात्रानुसार किया हुआ भोजन अग्नि को समान करता हुआ बल, वर्ण और ओज को बढाता है । वहुदाहकर का तात्पर्य यह कि—कड़वे, खट्टे, गरम, दाहकारी,(मधु, आसव, काञ्जी आदि)पदार्थों के अधिक सेवन से, अथवा पूर्वजन्म कृत अदृष्टके कारण या वायु के विषम हो जाने से और रक्त में पित्त की मात्रा अधिक होने से नाडी लहरों पर तैरती हुई सी प्रतीत होती है ॥५१॥

जो नाडी, मध्य हाथ में—बिचली अँगुलि में लम्बी सी प्रतीत होती हुई शीघ्रगति से गमन करती है, उसे रक्तदूषित समझना चाहिये ।

वात--पित्त--कफेति न्यासमनुसरता मध्यमं पदं पित्तस्यैवोपलभ्यते। रक्तेऽपि च तन्मलस्य पित्तस्य विशेषेण सद्भावाद् रक्तस्य दूषिते दोषे रुधिरापूरिता नाडी पित्तस्थानत एव ज्ञेया। तस्माद् युक्तमुक्तं 'भवति मध्ये करे वहे'दिति। यदि दीर्घेति-यथा मलधर्मयोगादनेकविधांशांशकल्पना चिकित्साकुशलेनोहितव्या भवति; शास्त्रस्य दीपकत्वात्। पित्तस्थानस्थ--नाड्या एव शूलमुच्यते, तत्रैवांशांशविभागेन शूलोपेताङ्ग-स्याप्युपलब्धिर्भवति। वयं त्वनेनैव विधिनाहर्निशं ब्रूमः ॥५२॥

वातज्वरादिषु नाडीलक्षणानि—

वक्रा च चपला शीत—स्पर्शा वातज्वरे भवेत्।
द्रुता च सरला दीर्घा शीघ्रा पित्तज्वरे भवेत् ॥५३॥
मन्दा च सुस्थिरा शीता पिच्छिला श्लेष्मके भवेत्।
मृणाल–सरला दीर्घा नाडी पित्तज्वरे भवेत् ॥५४॥

निगद एव व्याख्यातम् ॥५४॥

मलाजीर्णे—

शीघ्रमावहते मन्दं मलाजीर्णात् प्रकीर्तिता।
स्थूला च कठिना शीघ्रं स्पन्दतेऽतीव शान्तये ॥५५॥

'वात–पित्त–कफ' इस क्रम से नाडी में त्रिदोष की स्थिति का अनुसरण करने से मध्य में पित्त का स्थान आता है। रक्त में भी अपने मलरूप पित्त की सत्ता अधिक मात्रा में रहती है। अतः दूषित रक्त का ज्ञान पित्त–स्थान से करना चाहिये। 'मध्य करे' का यही तात्पर्य है। अपने-अपने मल के स्वरूप को समझते हुए वैद्य को अनेक प्रकार की अंशांश-कल्पना करनी चाहिये, क्योंकि शास्त्र तो दीपक के समान प्रकाशमान है। पित्त स्थान की नाडी से शूल का ज्ञान होता है और उसी स्थान से शूल–युक्त अङ्ग का भी ज्ञान किया जाता है—दोषों की अंशांश-कल्पना के आधार पर हम तो प्रायः प्रतिदिन इसी प्रकार कहते हैं ॥५२॥

वात आदि ज्वरों में नाडी—

वात–ज्वर में नाडी; टेढी चञ्चला और शीतस्पर्शवाली होती है। पित्त–ज्वर में शीघ्र-गतिवाली, सरल और दीर्घ (तीनों अंगुलियों के नीचे स्पन्दन करनेवाली) होती है ॥५३॥

कफ-ज्वर में नाडी, मन्द, सुस्थिर, पिच्छिल और अपेक्षाकृत शीतस्पर्शवाली होती है और पित्त-ज्वर में मृणाल (कमल-नाल) की भांति सरल और दीर्घ प्रतीत होती है ॥५४॥

मल के अजीर्ण में अर्थात् मलों का अच्छी प्रकार पाक न होने पर नाडी शीघ्र किन्तु मन्दगति से चलती है और रोग के शान्त होने पर नाडी, मोटापन लिये हुए कठिन और द्रुत-रूप से स्पन्दन करती है।

मलाजीर्णेति—मलाजीर्णे सति वह्निः पिपक्षया मलेषु सविशेषं सन्तापं जनयति, तथा मलाः स्वस्मिन स्वोष्मणावरोधात् शीघ्रं स्पन्दयन्ते धराम्। मलाश्च निस्तेजस्त्वात् तमोवहुलाः पृथ्व्यंशप्रधानत्वाच्च गुरवः, तस्मात्ते मन्दयन्ति धरामिति भावः विश्लेषमापन्ना दोषा लाघवाद् धरामापद्यन्ते, धरायां स्थौल्यं गाम्भीर्यञ्च प्रकाशयन्तः शीघ्रत्वाय स्पन्दयन्ति। दोषाणां लघुत्वञ्च शान्तये कल्पते। पश्यामश्चैवमेव नाडीगतिं विषमज्वरेषु। लोकेऽपि 'शान्तो भवे'ति वक्तव्ये 'प्रकृतिस्थो भवे'ति कथ्यते। क्वचित्तु—

'स्वल्पं यदा दोषविवृद्धमामं लीनं न तेजःपथमावृणोति।
भवत्यजीर्णेऽपि तदा बुभुक्षा सा मन्दबुद्धिं विषवन्निहन्ति॥'

इति न्यायेन विकृतिमापद्यते धरा; तेजसा पथोऽवरोधात्, आमादीनां दोष--धातु--मलानां विकृतत्वाच्च। क्वचिच्च--'स्थूला च कठिना शीघ्रं स्पन्दते तीव्र-मारुते इति पाठान्तरम्॥५५॥

शीतज्वरे—

पुरा मन्दा च शनकैश्चण्डतां याति नाडिका।
ज्वरं शैत्यं वेपथोर्वा सम्भवं व्रजति द्रुतम्॥५६॥

मलाजीर्ण होने पर उदर-अग्नि, पाचन के लिये मलों में विशेष सन्ताप उत्पन्न करती है और मल अपनी ऊष्मा के अपने में ही रुकजाने के कारण नाडी की गति में शीघ्रता उत्पन्न करते हैं। मल निस्तेज होने से और पृथिवीतत्त्व की अधिकता से भारी होते हैं। अतः वे मल नाडी को मन्द करते हैं।

विश्लेष को प्राप्त होते हुए दोष, लघु होने से नाडी में स्थूलता एवं-गम्भीरता को प्रकाशित करते हैं और नाडी के स्पन्दन में शीघ्रता उत्पन्न करते हैं तथा दोषों की शान्ति-स्वस्थता के सूचक होते हैं। ऐसी नाडी की गति, विषमज्वरों में देखी जाती है। लोक में भी 'शान्त हो' इसके स्थान पर 'प्रकृतिस्थ हो' ऐसा कहा जाता है।

"जब स्वल्प सा भी सदोष आम लीन न होकर तेजस् के मार्ग का अवरोध कर देता है, तब अजीर्ण में भी भूख लगती है और यह झूठी भूख, मन्द बुद्धि व्यक्ति के लिये विष के समान घातक होती है।"

इस नियम से नाडी विकारी हो जाती है। क्योंकि तेजस् से रस मार्ग रुक जाने से अथवा यूं कहो आमदोष से दोष धातु मलों के विकृत होने से अजीर्ण में भूख प्रतीत होती है।

पित्त—ज्वर में आम-दोष के पचने पर नाडी, अमन्द भाव से शीघ्र चलती है और तीव्र वायु में दोष पूर्ण होने के कारण मोटी तथा कठिन प्रतीत होती है। कहीं-कहीं पाठ भेद भी मिलता है॥५५॥

शीतज्वर में—

यदि किसी रोगी की नाडी, प्रथम बार मन्दगति करती हुई शनैः शनैः प्रचण्डवेग से चलने लगे तो उसे शीघ्र ही ज्वर, शीत तथा कम्प उत्पन्न होने की सम्भावना होती है।

शीतज्वरे हि पुरा कफः प्रकोपमापद्यते स्वल्पत्वात् श्लेष्मणः। तस्मादुपपद्यते--पुरा मन्देति। तदनन्तरं पित्तं प्रकुप्यति। तस्मात् शनैस्तीव्रवेगतां प्राप्नोतीत्युपपन्नं भवति। शीतधर्मत्वात् कफस्य वायुः संसर्गात् शीतीभावं भजन् कम्पयति। तस्माल्लक्ष्यते निपुणेन भिषजा 'ते शीतज्वर' इत्यपि शक्यते, कम्पपूर्वो भविष्यतीति वा। नाड्यां कफगतिं दृष्ट्वा शीतज्वरोऽभवदित्यपि वक्तुं शक्यते ॥५६॥

इयमेकाहिकादीनां व्याधीनां जननी मता।
भूतग्रहे शिराऽलक्ष्या भाविन्यैकाहिके ज्वरे ॥५७॥

उपर्युक्तलक्षणा नाडी, ऐकाहिकादीनामपि ज्ञापिका भवतीत्यवगन्तव्यम्। निदानेऽप्युक्तम्—

सोऽन्येद्युः पिशिताश्रितः मेदोगतस्तृतीयेऽह्नि।
अस्थिमज्जागतः पुनः, कुर्याच्चातुर्थकं घोरमन्तकं रोगसंकुलम् ॥'

तृतीयके—

कफपित्तात् त्रिकग्राही, पृष्ठातृवातकफात्मकः।
वातपित्ताच्छिरोग्राही त्रिविधः स्यात्तृतीयकः ॥

कारण यह कि शीतज्वर में श्लेष्मा के न्यून होने के पहले कफ प्रकुपित होता है। इसीलिए कहा गया कि पहले मन्दगति होती है। श्लेष्म-प्रकोप के अनन्तर पित्त प्रकुपित होता है इसलिए नाडी धीरे-धीरे प्रचण्ड होने लगती है। शीत, कफ का धर्म है। अतः वायु कफ के साथ संसर्ग करके कम्पन उत्पन्न करता है। निपुण वैद्य उसे शीतज्वर अर्थात् कम्प-पूर्वक ज्वर कह सकते हैं। नाडी में कफ की गति को देखकर यह भी कहा जा सकता है कि तुझे शीत-ज्वर हुआ था ॥५६॥

जिस भविष्य कम्पवाली नाडी के लक्षण ऊपर लिखे गये हैं वही नाडी, ऐकाहिक आदि ज्वरों (अंतरा, तिजरिया, चौथिया आदि) को उत्पन्न करनेवाली होती है। अर्थात् इन ज्वरों में भी ऐसी ही नाडी-गति होती है। भूत, प्रेत आदि की बाधा तथा ऐकाहिक ज्वर में नाडी अलक्ष्य हो जाती है।

उपर्युक्त लक्षणवाली नाडी ऐकाहिक आदि ज्वरों की ज्ञापिका होती है, ऐसा जानना चाहिए। निदान में इन ज्वरों के लक्षण इस प्रकार लिखे हैं—

मांस को आश्रित करनेवाला ज्वर दूसरे दिन, मेदोगत ज्वर तीसरे दिन, अस्थि और मज्जा में आश्रित ज्वर चौथे दिन प्रकाशित होता है।

तृतीयक (तिजरिया) ज्वर के ३ भेद हैं—कफ और पित्त से उत्पन्न होनेवाला ज्वर पहले त्रिक-अस्थियों में वेदना उत्पन्न करता है। वात और कफ से उत्पन्न तृतीयक पीठ में जकड़न उत्पन्न करता है तथा वात-पित्त से होने वाला तृतीयक ज्वर पहले सिर में भारीपन और शूल उत्पन्न करता है। इस प्रकार वैद्य को तृतीयक के भेदों का भी ध्यान रखना चाहिये।

चतुर्थके—

जङ्घाभ्यां श्लैष्मिकः पूर्वं शिरसोऽनिलसम्भवः ।

अलक्ष्येति—इदमित्थमिति रूपेण निर्देष्टुमशक्येत्यर्थः ॥५७॥

द्विदोषकोपे नाडी—

कदाचिन्मन्दगमना कदाचिद् वेगवाहिनी ।

द्वि-दोष-कोपतो ज्ञेया हन्ति च स्थान-विच्युता ॥५८॥

कफ-पित्तेन पूर्वार्धोक्तां नाडी–गतिमाधत्ते । अपरार्धोक्तां वात--पित्ततः, कफ-पित्ततो वा । स्थानविच्युता हि वातस्यातिकोपात्, विकृता हि वात–बहुल—दोषा मारणनिमित्त--व्याधीनामाभासदा भवन्ति । तस्माच्छास्त्रोक्तं लक्षणं सुतरां संगच्छत एव । तद्यथा—राजयक्ष्मादिषु दीर्घरोगेषु नाड्याः स्थानविच्युतिर्मरणज्ञापिका भवति । विशूचिकादौ तु न तथा ॥५८॥

चतुर्थक ज्वर भी दो प्रकार का होता है । एक तो कफप्रधान, जो जांघों को भारी करता : और दूसरा वात-प्रधान; जो सिर में व्यथा उत्पन्न करता है ।

विशेष—हम इस नाडी प्रबन्ध में स्थान स्थान पर नाडी विषय को निदानादि द्वारा स्पष्ट एवं निःसंदेह करने का इसलिए यत्न करते हैं कि वैद्य को वक्तव्य रोग का निदान व उपपत्ति भली भांति समझ आवे और उपस्थित हो जावे, क्योंकि इस सम्पूर्ण नाडी विज्ञान का मूल है 'निदान का सोपपत्तिक ज्ञान ।'

यहां हमारा संक्षेप संग्राहक पद्य स्मरण रखना चाहिये—

रोगाणां सर्वभावेन निदानं सोपपत्तिकम ।

वेत्ति यो हेतुयुक्तिज्ञो स नाड्याः सर्वमीरयेत् ॥

अलक्ष्येति—

"यह नाडी ऐसी है" इस प्रकार नहीं कही जा सकती । अथवा जो स्पर्श में लक्षित (ज्ञात) न हो ॥५७॥

जो नाडी, प्रथम भाग में कभी मन्द और कभी तीव्र गति से चले वह दो दोषोंवाली समझनी चाहिये । यदि द्विदोषवाली नाडी अपने स्थान से भ्रष्ट हो जाये तो वह प्राणहारिणी समझनी चाहिये ।

इस श्लोक के प्रथम भाग में कही गयी नाडी की गति कफ और पित्त-इन दो दोषोंवाली समझनी चाहिये । श्लोक के उत्तरार्द्ध में कहा हुआ लक्षण, वात–पित्त या वात्त–कफ का जानना चाहिये ।

वायु का विशेष कोप होने से नाडी स्थान भ्रष्ट हो जाती है । वात प्रधान दोष, विकृत होने पर मृत्युकारक व्याधियों के सूचक होते हैं । राजयक्ष्मा जैसे दीर्घ रोगों में स्थानच्युत नाडी मृत्यु सूचक होती है । विसूचिका, मूर्च्छा आदि में नाडी, स्थान-विच्युता होने पर भी मारक नहीं होती ॥५८॥

रक्तपित्ते कफजकासे श्वासे च नाडीलक्षणानि—

रक्त-पित्ते वहेन्नाडी मन्दा च कठिना ऋजुः ।
कास-श्लेष्मे स्थिरा मन्दा श्वासे तीव्रगतिर्भवेत् ॥५९॥

रक्तपित्ते हि रजोगुणेन पित्तं युज्यते । तत्र यदा धातुमला न बहिर्यान्ति, तदा कठिना मन्दा च जायते । कासेत्यादि--श्लेष्मणोऽप्पृथिवी--बहुलत्वात् स्थिरा मन्देत्यु--पपद्यते । प्राणे च विगुणे श्वासे तीव्रगतिर्भवतीत्यर्थः ।

वायुर्हि यदान्नपाचनाय जिगमिषुं पित्तं विमार्गीकृत्य रक्तमार्गे प्रापयति, तदा रक्तपित्तं भवति । रक्ते पित्तं रक्त--पित्तमिति समासस्य व्यासात् । यद्यपि रक्तस्य पित्तमलाद्रक्ते पित्तमविच्छिन्नरूपेणोक्तमस्ति, तर्ह्यपि बाहुल्यं पित्तस्य रक्तेऽभिप्रेयते । रजस्तमोबहुलं पित्तम् । तस्माद्रक्त--पित्ते हि रजस्तमोगुणेनोद्रिक्तं रक्तं युज्यते । तत्र रक्तपित्ते यदा धातुमला बहिर्नयन्ति तदा कठिनां मन्दां च धरां गमयन्ति, मलानां गुरुत्वात् श्लेष्मरूपत्वाच्च ॥५९॥

राजयक्ष्मणि मदात्यये च नाडीः—

नाडी नागगतिश्चैव रोगराजे प्रकीर्तिता ।
मदात्यये च सूक्ष्मा स्यात् कठिना परितो जडा ॥६०॥

रक्त-पित्त कफज कास श्वास में नाडी, लक्षणः—

रक्त—पित्त में नाडी मन्द कठिन तथा ऋजुगति से चलती है । श्लैष्मिक कास में नाडी स्थिर और मन्द होती है । श्वास रोग में नाडी तीव्र हो जाती है ।

अन्न का पाचन करने के लिए जाते हुए पित्त को जब वायु, मार्ग—भ्रष्ट करके रक्तवाही स्रोतों में पहुंचाता है, तब रक्त-पित्त कहा जाता है । रक्त-पित्त का अर्थ है—रक्त में पित्त (यद्यपि पित्त, रक्त मल होने के कारण सदा ही रक्त में रहता है तथापि रक्त में पित्त का अधिक मात्रा में प्रवेश होने से रोग रूप में परिणत होता है । पित्त स्वभावतः रजस् और तमस् गुणवाला है इसलिए रक्तपित्त में रक्त, तमोगुण तथा रजोगुण से उद्रिक्त रहता है । रक्त-पित्त में जब धातुमल बाहर नहीं निकलते तब नाडी की गति कठिन और मन्द रहती है । मल गुरु है और श्लेष्म-स्थानीय है । श्लेष्मा स्वभावत: जल और पृथिवीतत्त्व प्रधान है । अतः श्लेष्म-प्रधान कास में नाडी, स्थिर और मन्द हो जाती है । श्वास रोग में पित्त का अनुश्लेष रहता है अर्थात् पित्त के द्वारा श्वास-वाही स्रोतों के विवृत हो जाने से तथा श्लेष्मा से उन स्रोतों के संवृत हो जाने से श्वास का अनुपात विषम हो जाता है अतः श्वास-रोगी की हृदय गति तीव्र हो जाती है ॥५९॥

यक्ष्मा और मदात्यय में नाडी का लक्षण—

रोगराज अर्थात् राजयक्ष्मा में नाडी की गति हाथी के समान गम्भीर (मस्त) होती है। मदात्यय-अर्थात् मद्य आदि नशीली चीजों के अत्यधिक सेवन करने वाले की नाडी, कठिनता के साथ सूक्ष्मगति से चलती है और जड़ता को लिये होती है ।

रोगराजे=यक्ष्मणि । नागो-हस्ती । तद्गतिसाम्यम् । उक्तञ्च त्रिरूपं दर्शयता-

अंस-पार्श्वाभितापश्च सन्तापः करपादयोः ।
ज्वरः सर्वाङ्गगश्चेति लक्षणं राजयक्ष्मणः ॥

तथा च—

अग्निमाद्यं ज्वरः श्वैत्यं वान्तिः शोणित-पूययोः ।
सत्त्वहानश्च दौर्बल्यं रोगराजस्य लक्षणम् ॥ इति ।

तदवधिस्तु—

परं दिनसहस्रं तु यदि जीवति मानवः ।
सुभिषग्भिरुपक्रान्तस्तरुणः शोष-पीडितः ॥

यक्ष्मिणो जीवनाधारस्य वर्णने—

मलायत्तं वलं पुंसां शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्माद्यत्नेन संरक्षेद्-यक्ष्मिणो मलरेतसी ॥

यक्ष्मिणो रेतसः क्षयात् मलाधारेणैव जीवितत्वाद्नाड्यां नागगतिरुपपद्यत एव; मलानां पृथ्व्यंशवहुलत्वाद् गुरुत्वाच्च । तत्रापि च श्लेष्म-प्रकोपमागते भवति नागसमा गतिर्विशेषेण । प्रत्यक्षीकृतमेतदस्माभिर्बहुधा परीक्षासु ।

तत्रैतद् विशेषं ज्ञेयम्--यदि यक्ष्मिणो रोगप्रसङ्गे प्रसूतिर्जायते तदा धन्वन्तरिणापि जीवयितुं न पार्यते, तस्माच्छुक्ररक्षा सुतरां विधेयैव । प्रत्यक्षदृष्टत्वादुद्वोधयामः ।

राजयक्ष्मा के प्रायः तीन लक्षण होते हैं–कन्धे और पार्श्व (वगल) के अभिताप, हाथ पैरों में सन्ताप [जलन] और सारे शरीर में ज्वर ।

अग्नि की मन्दता, ज्वर, श्वेतता [सफेदी] रक्त या मवाद का कफ के साथ जाना, उत्साह का भंग और दुर्वलता ये रोगराज के लक्षण हैं ।

उक्त निदान लिखने का कारण यह है कि जैसे-जैसे व्याधि के लक्षण, अधूरे होंगे वैसे ही वैसे नाडी की त्रिदोप-गति में भेद होगा यह अनुभवसिद्ध है । उक्त नाडी का लक्षण सम्पूर्ण लक्षणयुक्त राजयक्ष्मा वाले का है ।

तरुण यक्ष्मा–रोगी की यदि सद्वैद्यों द्वारा चिकित्सा हो तो वह एक सहस्र दिनों [२ वर्ष, ९ मास, १० दिन] तक जीवित रह सकता है ।

यक्ष्मा रोगी का वल, मल के आधीन और जीवन, शुक्र के आधीन होता है । अतः इन दोनों की भलीभांति रक्षा करनी चाहिये ।

सारांश यह कि यक्ष्मा वाले का शुक्र तो तीक्ष्ण रहता ही है केवल मल का बल रहता है इसी कारण नाडी की गति गज-गम्भीर हो जाती है । हमने अनेक यक्ष्मा के रोगियों की नाडी परीक्षा करके उक्त लक्षण को यथार्थ रूप में पाया है । अतः हम इसकी पुष्टि करते हैं । यक्ष्मरोगी को यदि सन्तान हो जाये तो फिर उसे धन्वन्तरि भी वचा नहीं सकते-यह प्रत्यक्ष अनुभव किया गया है । अतः रोगी की शुक्ररक्षा का पूर्ण प्रबन्ध करना चाहिये ।

उक्तञ्च—

मैथुनं च दिवानिद्रां क्षयी कोपञ्च वर्जयेत् । इति

अत्र प्रसङ्गतः साध्यं यदप्यसाध्यञ्च संगृह्यते—

किञ्चिल्लिङ्गयुतं दीप्तपावकं त्वकृशं नरम् ।
उपाचरेदात्मवन्तं यक्ष्मिणं साध्यलक्षणम् ॥
अर्धलिङ्ग कृच्छ्रसाध्यं सर्वलिङ्गैः परित्यजेत् ।
यक्ष्मिणं शुक्लनयनं तथा भक्तद्विषं कृशम् ॥
तथोर्ध्वश्वासिनं कृच्छ्रं मेहन्तं परिवर्जयेत् ।

अत्र भिषजा नाग-गतेः प्राधान्यं जानतापि यथादोषमंशांशकल्पना नाड्या एव परिज्ञेया ।

मदात्ययेति—दोषाः, तमोगुणयोगाद् हृदयमापूरयन्ति तस्मात् कठिनेति । पित्तमन्तरा मदात्ययो न भवति, पित्तो चांशत आकाशवाय्वोः सद्भावो भवत्येव, तस्मात् सूक्ष्मेत्युपपद्यते; लघुत्वात्सूक्ष्मत्वाच्चकाशस्य । तत्र च वातसंसर्गात् कुटिलापि यथा दोषवल भवत्येव ॥६०॥

कहा भी है कि–यक्ष्मी को मैथुन, दिवास्वाप और क्रोध न करना चाहिये ।

साध्यासाध्य के लक्षण—

किंचित्, लिङ्ग, बलवान्, दीप्ताग्नि, संयमी, थोड़े लक्षण युक्त रोगी की चिकित्सा करे जिसको रोगमुक्त होने वाला समझे ।

उपरोक्त लक्षणों में यदि आधे लक्षण हों तो वह रोग कृच्छ्रसाध्य हो जाता है, सर्वलक्षण युक्त यक्ष्मी की चिकित्सा त्याग दे ।

यदि आंखों में सफेदी आ गई हो, अन्न खाने में रुचि न हो, कृशता बढ़ गई हो, जिसको ऊर्ध्वश्वास हो गया हो, मूत्र पीड़ा से आये ऐसे लक्षणों वाले यक्ष्मी को छोड़ देवे ।

उपसंहार—इस व्याधि में नाडी जनित नागगति की प्रधानता को जानते हुए भी वैद्य को नाडी से दोषों की अंशांश कल्पना करनी ही चाहिये, क्योंकि गति विकार उत्पन्न हो जाया करता है ।

मदात्यय में तमोगुण प्रधान दोष, हृदय को तम से भर देते हैं । इससे नाडी में कठिनता आ जाती है । पित्ताधिक्य के विना मदात्यय नहीं होता । पित्त में अंशतः आकाश और वायु की सत्ता होती है अतः सूक्ष्मता भी होती है । आकाश लघु गुणवाला है । मदात्यय में वायु का सम्पर्क होने से दोष बलानुसार नाडी में कुटिलता की प्रतीति भी होती है ॥६०॥

अर्शस्यतिसारे च—

अर्शोरोगे स्थिरा वक्रा क्वचिन्मन्दा क्वचिद् ऋजुः ।
अतीसारे तु मन्दा स्याद् हिमकाले जलौकवत् ॥६१॥

गतिज्ञान–सौकर्य्यायार्शसा स्वरूपमुच्यते—

'दोषास्त्वङ्मांसमेदांसि सन्दूष्य विविधाकृतीन् ।
मांसांकुरानपानादौ कुर्वन्त्यर्शांसि ताञ्जगुः ॥

अर्शसां षट्त्वेऽपि सर्वदोष–प्रकोपत्वमत्र भवति । उक्तञ्च—

पञ्चात्मा मारुतः पित्तं कफो गुदवलित्रये ।
सर्वं एव प्रकुप्यन्ति गुदजानां समुद्भवे ॥'
तस्मादर्शांसि दुःखानि बहुव्याधिकराणि च ।
सर्वदेहोपतापीनि प्रायः कृच्छ्रतमानि च ॥

एवमर्शसां त्रिदोषमयत्वाद् यदा कफ–प्रधानो रोगस्तदा धरा स्थिरा स्यात् न हि सर्वथा स्थिरा भवति,परन्तु रक्तच्युत्या दौर्बल्यमालक्षयन्ती मन्दा भवति । सा वलोपेता पुनरन्यादृक् स्पन्दते । तस्माद् दोष–दूष्ययोरपेक्ष्य स्थिरता ज्ञातव्या । तत्र 'वातोल्वणे क्वचिद् वक्रा, समे वाते क्वचिद् ऋजु'रित्यप्युपपद्यते । अत्रानेकधाचार्यस्य क्वचित्प्रयोगो ध्वनयत्युक्तार्थगर्भतां रोगे दोषाणां वैषम्यञ्च ।

अर्श तथा अतिसार में नाडी लक्षणः—

अर्श रोग में नाडी की गति स्थिर तथा मन्द होती है और कभी कुछ टेढी और कभी कुछ सरल गति भी होती है । अतिसार में नाडी ऐसी मन्द हो जाती है जैसे शीतकाल में जोंक।

अर्श (बवासीर) की नाडी को सरलता से जानने के लिये अर्शों का स्वरूप ज्ञान भी आवश्यक है । दोष; त्वचा, मांस और मेदा को दूषित करके गुदा की वल्लियों में विविध प्रकार के मांस के अंकुरों को उत्पन्न करते हैं,वे मांसांकुर अर्श कहलाते हैं । यद्यपि दोषों की पृथक्ता द्वन्द्व और सन्निपात से अर्श ६ प्रकार के होते हैं, तो भी सभी प्रकार के अर्शों में सभी दोषों का प्रकोप होता है । निदान में कहा है कि पांचों प्रकार के वायु, पित्त तथा कफ कुपित होकर अर्श को उत्पन्न करते हैं । अर्श से अन्य अनेक व्याधियां उत्पन्न होती हैं । यह महान् कष्ट देता है और सारे शरीर को सन्ताप देता है। यह विशेष यत्न से दूर होता है ।

इस प्रकार अर्श के त्रिदोषमय होने से कफ प्रधान अर्श में नाडी की गति स्थिरता को लिये हुए होती है परन्तु सब अवस्थाओं में स्थिर नहीं रहती । अर्श रोगी का अधिक रक्त गिरने पर नाडी मन्द हो जाती है । रोग की प्रचण्ड अवस्था में नाडी का स्वरूप भिन्न ही होता है । इसलिये दोष और दूष्य की अपेक्षाकृत स्थिरता जाननी चाहिये । वायु की प्रधानता में नाडी, वक्रगति से भी चलती है । वायु के समचारी होने पर कभी ऋजुगति भी होती है । इसलिये आचार्य ने 'क्वचित्' शब्द का प्रयोग किया है कि अर्श में दोषों का वैषम्य होता रहता है ।

अतीसारे त्विति–मलानामब्धातूनाञ्चातिसरणात् मन्दा भवति धरा–गतिः, मलोपस्तम्भात्, कायस्य, तत्रातिक्षयात् मलमार्गेण बलहानित्वान्मन्दा स्यादेवेति भावः। अतिसाराणां षड्विधत्वमुक्तं भवति। तत्र यथादोषं गतेर्भेदः स्यादेव। उक्तञ्च—

संशम्यपां धातुरग्निं प्रवृद्धो वर्चोमिश्रो वायुनाधःप्रणुन्नः।
सरत्यतीवातिसारं तमाहुर्व्याधिं घोरं षड्विधं तं वदन्ति॥ इति।

प्रवाहिकायामसारवदेव।'तासामतीसारवदादिशेच्च लिङ्गं क्रमं चामविपक्वताञ्च, इत्युक्तमेव निदाने। अत्रोदाहरति हिमकाले जलौकवदिति मन्दाववोधाय॥६१॥

मांसवृद्धा तु सा धत्ते ज्वरातीसारयोर्गतिम्।
त सर्प-समा-नाडी ग्रहणी-रोगमादिशेत्॥६२॥

रक्तं हि पित्त–बहुलम्। तद्धि स्वाग्निना पच्यमानं परस्परानुरागधर्मस्वभावात् पित्रोर्वीजे मांसाणूनां विवर्धिषूणां सद्भावाच्च प्राणिनां काले प्राप्ते मांसं वृद्धिमारभते। अथवा रक्ते यदा संघातधर्म–प्रधानानां श्लैष्मिकानामणूनामतिशयेनोपचय आरभते, तदापि मांसोपचयो भवति। एत एव च वैद्या अपि पार्थिव—

अतिसार में मल तथा अप् धातु के अतिसरण से अतिसार रोगी की नाडी की गति मन्द हो जाती है। कारण यह कि मल काया का एक स्तम्भ (धारक) है। उसका अतिशय सरण हो जाने से नाडी में मन्दता आ जाना स्वाभाविक है। अतिसार भी छः प्रकार का होता है इसलिए दोषभेद से नाडी में भेद हो जाता है।

निदान में कहा है कि 'शरीर में बढा हुआ अप् धातु-कफ अग्नि को बुझाकर स्वयं मलयुक्त होकर और वायु द्वारा नीचे की ओर ढकेला जाकर बार-बार सरण करता है-इसी से उसे अतिसार कहते हैं। यह भयानक व्याधि ६ प्रकार की होती है'।

प्रवाहिका में भी नाडी, अतिसार के समान चलती है। निदान में भी कहा है कि 'प्रवाहिका में भी अतिसार के समान साम और निराम लक्षण समझने चाहिये

शीतकाल में जोंक के समान मन्दगतिवाली होती है। यह उदाहरण मन्दबुद्धि लोगों के लिये है। सद्वैद्यों को भी लोक–सादृश्य ढूंढ लेना चाहिये॥६१॥

मांस–वृद्धि होने पर नाडी, ज्वर और अतिसार की नाडी के समान चलती है और ग्रहणी रोग में मरे हुए सांप की भांति शान्त अर्थात् बहुत क्षीण होकर मन्द भाव से चलती हुई प्रतीत होती है।

रक्त, पित्त–प्रधान होता है। वह अपनी आश्रयभूत अग्नि से पकता है और अनुराग धर्म (परस्पर मिलन) वाला होता है। माता पिता के बीज में भी बढनेवाले मांस के परमाणु रहते हैं, इसलिये मांसवृद्धि होती है। अथवा जब रक्त में संघातधर्म-प्रधान कफ के परमाणुओं की वृद्धि होने लगती है तब भी मांस-वृद्धि होती है। इसीलिये वैद्य भी मांसकी वृद्धि के लिये पार्थिव-

गुण-प्रधानानां स्निग्धानां जीवनीय-पदार्थानां मांसाभिवृद्धये प्रयोगं विदधति। तस्मादाचार्येण साधूक्तं 'मांसवृद्धे'ति।

यदा दोषा ऊर्ध्वदिशमतिशयेन वहन्ति; तदोष्णप्रायत्वादुत्तमाङ्गस्य ज्वरस्येव नाडी-गतिमाधत्ते। अथ चेदधोदिशि दोषा वहन्ति तदातीसारस्येव गतिमिति।

ग्रहणीरोगवांस्तु अश्नन्, गच्छन्, स्वपन्, श्वसन्नपि वृद्धिं नैति। मन्दा नाडी श्लेष्मधानस्य, वात--पित्त--बहुल--श्लेष्मेतरस्य वा। अत एवाचार्येण मृतसर्पेण साम्यं प्रकटीकृतम्। मरणान्ते यथा सर्पः क्वचित् क्वचित् वलयानि धत्ते तथैवेयं नाडी, ग्रहणीग्रस्तस्य कुटिला, मन्दा विषमा च ज्ञेया। न हि मृते सर्पे गति--सम्भवः। नाड्याश्च गतिना सम्बन्धः। वक्ति चाचार्यो मृतसर्पसमेति, तच्च नानुसन्दधते, लोके चापि व्यवहरन्ति 'कुतो नु मृतं मारयति' इत्यादि। तत्रैष प्रयोगो मृतकल्प एव भवति, तथात्र ज्ञेयम् ॥६२॥

मूत्राघात-प्रमेहादिषु नाडी—

मूत्राघाते मुहुर्भेद-स्फुरणे संप्लुता भवेत्।
प्रमेहे च जडा सूक्ष्मा मृदुराप्यायते सिरा ॥६३॥

मूत्राघातस्वरूपं त्वञ्जन-निदाने। यथा—

गुणवाले चिकने पदार्थों का सेवन बतलाते हैं। इसलिये आचार्य का उपर्युक्त कथन सङ्गत होता है।

दूसरे, जब दोषों की गति ऊपर की ओर अधिकता से होती है, तब ऊपरी भाग के अधिक उष्ण होने के कारण नाडी की गति ज्वर के समान और जब दोष नीचे की ओर बढते हैं तब अतिसार के समान नाडी स्पन्दन करती है।

ग्रहणी रोग में रोगी, खाता-पिता, चलता-फिरता या सोता-जागता हुआ भी वृद्धि को प्राप्त नहीं करता। श्लेष्म-प्रधान ग्रहणी रोग में नाडी, मन्दगति से चलती है-इसी को आचार्य ने मृत-सर्प के समान कहा है। मरने के अनन्तर जैसे सर्प कभी कभी वल खाता है इसी प्रकार ग्रहणी में नाडी की गति कुटिल, मन्द और विषम होती है। यहां मृतसर्प का अर्थ मृतकल्प सर्प है। लोक में भी व्यवहार होता है कि 'मरे हुये को क्यों मारते हो, 'यहां मरे हुये का तात्पर्य 'मरे हुए जैसे' से है। इसी प्रकार मृत सर्प समान नाडी ग्रहणी में भी समझनी चाहिये।

मूत्राघात प्रमेहादि में नाडीः—

मूत्राघात तथा वार-वार भेद-स्फुरण (शूल) में नाडी की गति शीघ्रता से उछलती हुई सी मालूम होती है और प्रमेह में जड़ तथा सूक्ष्म गति होती है अर्थात् नाडी तृप्त सी चलती है।

अञ्जन-निदान में मूत्राघात का लक्षण इस प्रकार हैः—

मूत्रादि धृत्वा दुष्टेन रुद्ध्वा रुद्ध्वा शनैः शनैः ।
मरुतोत्सृज्यते मूत्रं मूत्राघातस्तदा भवेत् ।।

अन्यच्च—

जायन्ते कुपितैर्दोषै—र्मूत्राघातास्त्रयोदश ।
प्रायो मूत्रविधाताद्यैर्वातकुण्डलिकादयः ।।

मूत्राघातास्त्रयोदश भवन्ति । तेषु सर्वेष्वपि सामान्येन सामान्यतो विधानं नाड्या ज्ञेयम्, पार्थक्येनानुक्तत्वात् । भेदस्फुरणे-रुक्प्रवृत्ताविति भावः, सर्वविधेष्वेव रुजः साद्भाव्यात् । संप्लुतेति--संक्षुब्धवेगेत्यर्थः । मूत्रे पित्तांशस्य सद्भावात् । तस्माद् वात-पित्त लक्षणजुष्टा नाडी संप्लवते । तथा च कणादः—

"निरोधे मूत्रशकृतोर्विड्ग्रहे वक्रगा सिरा ।

अनुक्तार्थसंग्रहे—मूत्रकृच्छ्रे कणादः—

'आनाहे मूत्रकृच्छ्रे च वहेन्नाडी गरिष्ठताम्' इति ।

मूत्रकृच्छ्रस्वरूपं त्वञ्जननिदाने यथा—

नालस्य मूले मध्ये वा रुद्धं वाग्रे सदाहरुक् ।
कणशश्च स्रवेन्मूत्रं मूत्रकृच्छ्रं तदुच्यते ।। इति ।

'विकृत वायु मूत्र आदि को धारण कर उसे रोक रोक कर धीरे धीरे छोड़ती है, उसे मूत्राघात कहते हैं' और भी कहा है । मूत्राघात त्रिदोष-प्रकोप से वातकुण्डलिकादि तेरह प्रकार का होता है । इन तेरह भेदों में प्रायः करके प्रधान मूत्रविघात है । यद्यपि नाडी के लक्षणों का कथन करते हुए यहां मूत्राघात का सामान्य रूप से ग्रहण किया है परन्तु फिर भी वैद्य को नाडी की गति में सभी का सामान्यतः विधान समझना चाहिये । भेदस्फुरण का अर्थ रुक्प्रवृत्ति-शूल है सभी प्रकार के मूत्राघातों में यह शूल (चुभन) होती है । संप्लुता का अर्थ संक्षुब्ध वेगवाली है ।

अनुक्तार्थ संग्रह में—

क्योंकि मूत्र में पित्तांश की सत्ता होती है । इस मूत्राघात में वात-पित्त के लक्षणोंवाली नाडी-गति होती है । कणाद ने भी कहा है—

मूत्र तथा पुरीष के रुकने पर या विबन्ध होने पर नाडी, टेढापन लिये हुये होती है ।
कणाद के मत में मूत्रकृच्छ्र रोग में नाडी, गुरुता को लिये हुए चलती है ।
मूत्रकृच्छ्र का लक्षण अञ्जन निदान में इस प्रकार लिखा है—
मूत्रवाही स्रोत के आरम्भ, मध्य तथा अन्त में दाह और शूल सहित कण कण के रूप में मूत्र का आना मूत्रकृच्छ्र कहा जाता है ।

कृच्छ्रे रुग्दाहगौरवमिति वचनादाचार्यस्य संप्लुतेति पदमेव मूत्रकृच्छ्रमपि व्यनक्ति ।

अत्रोपपत्तिः मूत्रे पित्तांश–प्रच्यवनातिशयाद् यदा मूत्राघातत्वं तदापि याकृत-कर्मणि व्यतिक्रमो भवत्येव । अथ चेत् तीक्ष्णांश–वलुल–सुरादीनां दुष्टर्तव–विदूषित-योनीनां च सङ्गमान्मूत्रे मुहुर्भेदस्फुरणं च स्यात् तदापि याकृतक्रिया विकृति--मायाति, तद्विकृत्या पित्तं हि वायुना विषमं प्रक्षिप्तं रक्तं पित्तांश-बहुलं कुर्वन् धरां संप्लावयति ।

अत्र प्रसङ्गप्राप्तं शूलादिषु कणादः—

'वातेन शूलेन मरुत्प्लवेन सदातिवक्रा हि सिरा वहन्ति ।
ज्वालामयी चित्तविचेष्टितेन साध्मानशूलेन च पुष्टिरूपा' ।।

प्रमेह इति-प्रमेहाणां सामान्यत ओजःक्षयकर्तृत्वं प्रसिद्धमेव तस्मादोजःक्षये नाड्यां जाड्यं स्वाभाविकमेव । प्रमेहे वायोर्वैषम्यमपि भवति । तत्र वायोर्वैषम्य-कारणात् मुहुराप्यायते-गौरवमापद्यते इत्याचार्यवचः सुतरामुपपद्यते । तथा च कणादः—

'प्रमेहे ग्रन्थिरूपा च' इति । विशेषस्तु 'मेहेऽर्शसि' इत्यादिश्लोकव्याख्याने द्रष्टव्यम् ।।६३।।

पाण्डु कुष्ठ-रोगयोर्नाडीलक्षणम्—

मूत्रकृच्छ्र में शूल, दाह तथा भारीपन होने से आचार्योक्त संप्लुता विशेषण समुचित हो जाता है। कारण यह कि मूत्र में पितांश के अतिमात्रा में च्युत होने से यकृत् क्रिया में विकार उत्पन्न होता है-अर्थात् जिस पित्त को अन्त्र में जाना चाहिये यह मूत्राशय की ओर जाता है। यदि तीक्ष्णता–प्रधान मद्य आदि तथा दुष्ट रजवाली या दूषित योनिवाली स्त्री का सेवन करने से मूत्र में मुहुर्भेदस्फुरण (शूल या चुभन) हो तो भी यकृत् क्रिया में विकार हो ही जाता है। यकृत् क्रिया की विकृति से विषम–वायु द्वारा फेंका हुआ पित, रक्त में अधिक उष्मा उत्पन्न करके नाडी में संप्लव उत्पन्न करता है।

प्रसंङ्ग से कणादका शूलोपनाडी–लक्षण लिखा जाता है—

'वायु के शूल और वायु के प्रकोप में नाडी की गति सदा अति टेढी रहती है, पित्त–कोप से जलती हुए और अफारे के साथ होने वाले शूल में दृढता लिए हुए स्पन्दन करती है।

प्रमेह में ओजोधातु का क्षय सामान्यतः होता ही है और औजःक्षय से नाडी में जड़ता होना भी स्वाभाविक है। प्रमेह में वायु की विषमता भी होती है अतः उसके कारण नाडी में तृप्ति की प्रतीति होती है। कणादने प्रमेह में नाडी को गँठीली कहा है। प्रमेह का विशेष विवरण पहले किया जा चुका है ।।६३।।

पाण्डु तथा कुष्ठ रोग में नाडी का लक्षणः—

पाण्डुरोगे चला तीव्रा दृष्टादृष्टविहारिणी।

कुष्ठे तु कठिना नाडी स्थिरा स्यादप्रकीर्तिता ॥६४॥

पंच पाण्डुरोगः । यथा—

पाण्डुरोगाः स्मृताः पञ्च वात--पित्त-कफैस्त्रयः ।

चतुर्थः सन्निपातेन पञ्चमो भक्षणामृदः' ॥(च० चि० १६।३)इति।

तथा च पञ्च पाण्डुरोगाः च० सू० १९--४। व्यवायादीनि निषेवमाणस्य पुंसो दुष्टा दोषा रक्तं विदूष्य त्वचि पाण्डुरोगं कुर्वन्ति।

अन्यच्च सुश्रुते (सु० उ० ४४।४)—

सर्वेषु चैतेष्विह पाण्डुभावो यतोऽधिकोऽतः खलु पाण्डुरोगः।

सन्निपाते—

सर्वान्नसेविनः सर्वे दुष्टा दोषास्त्रिदोषजम्।

त्रिलिङ्गं संप्रकुर्वन्ति पाण्डुरोगं सुदुःसहम् ॥(च० चि० १६-२७)

मृद्भक्षणजे विदेहः—

मृद्भक्षणाद् भवेत् पाण्डुस्तन्द्रालस्य-निपीडितः।

सकास-श्वास शोषार्शः सदारुचिनिपीडितः' ।

एवं सामान्यतः स्वरूपे संप्रोक्ते नाडी व्युत्पाद्यते—आचर्योक्ता नाडीगतिः पित्त-पाण्डावेव सङ्गच्छते। कफ-पाण्डौ तु कफस्य मन्दत्वाद् रक्ते च कफांश-

---

पाण्डु रोग में नाडी की गति, चञ्चल और तीव्र होती है और कभी २ स्पर्शगम्य होती है और कभी स्पर्शगम्य नहीं होती है। कुष्ठ में नाडी की गति कठिन तथा स्थिर रहती हुई भी सदा एकसी नहीं रहती।

'पाण्डुरोग पांच प्रकार का होता है—वात, पित्त और कफ से पृथक् पृथक् तीन, चौथा सन्निपात से और पांचवां मिट्टी खाने से,।

चरक और सुश्रुत में भी यह रोग पांच प्रकार का कहा गया है। मैथुन आदि के अत्यन्त सेवन से पुरुष के दोष, रक्तको दूषित करते हुए बाहर की त्वचा में पाण्डुरोग को प्रदर्शित करते हैं। चरकने लिखा है—"सब प्रकार के भक्ष्य और अभक्ष्य अन्नों के अथवा विधि-विवर्जित अन्नों के सेवन से दूषित एवं विकृत हुए दोष, त्रिदोषज-चिन्हों को प्रदर्शित करते हुए दुःसह पाण्डु रोग को उत्पन्न करते है"।

मिट्टी खाने से उत्पन्न होने वाले पाण्डुरोग के विषय में विदेहका वचन है—

मिट्टी खाने से पाण्डु हो जाता है, जिस के लक्षण हैं-तन्द्रा, आलस्य, कास, श्वास, शोष तथा सदा अरुचि रहना'।

इस प्रकार पाण्डुरोग के निदान पर सामान्य विचार किया गया; किन्तु ग्रन्थकारका पाण्डु नाडी लक्षण पित्तज पाण्डु में घटित होता है। कफ-प्रधान पाण्डु में तो रक्त में कफका अंश

तिशयत्वात् मन्दत्वमेव भवतीति प्रत्यक्षीकृतमस्माभिः । त्रिदोषजे तु दृष्टादृष्टविहारिणी । मृद्भक्षणजे तु पित्तसमाना नाडी-गतिर्भवति । कुतः ? मृदा स्रोतसां मन्दीकृतत्वाद् दोषा विपथगामिनः सन्तो नान्नं पाकाय नयन्ति, न च वर्णं दीपयन्ति ।

कुष्ठे त्विति—

'वातादयस्त्रयो दुष्टास्त्वग्रक्तं मांसमम्बु च ।
दूषयन्ति सकुष्ठानां सप्तको द्रव्यसंग्रहः ॥ इति ।

अत्र वातादीनां त्रित्वे प्रतीतेऽपि त्रय इति वचनं सर्वकुष्ठेषु मिलितानामेव दोषाणां दुष्टिप्रदर्शनार्थमिति मधुकोषे ।

सप्तको यथा—

रक्तं लसीका त्वङ्मासं दूष्यं दोषास्त्रयो मलाः ।
विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्तधातवः ॥ इति ।

कुष्ठविसर्पयोर्भेदः-कुष्ठं चिरक्रियैः स्थिरैश्च दोषैर्जन्यते, विसर्पस्त्वचिर-विसर्पणशीलैरिति । तत्र नाड्यां सङ्गतिः-प्रायस्त्रिदोषोद्भवाः सन्तः कुष्ठव्याधयः प्रधान- गौणकल्पनया त्रिदोषविभागेषु विभक्ताः । तत्र श्लेष्म-विकारमेव प्रधानीकृत्य-कठिना स्थिरेत्यादि निदर्शनमात्रमुक्तम् ॥६४॥

अधिक होने से नाडी में मन्दता होती है—ऐसा हमारा प्रत्यक्ष अनुभव है । कफ स्वभावतः मन्द होता है, वह अपनी मन्दता नहीं छोड़ता । त्रिदोष-जन्य पाण्डुरोग में कभी दीखती है,कभी नहीं । मिट्टी खाने से उत्पन्न होने वाले पाण्डुरोग में नाडी, पित्त--नाडी के समान होती है, क्योंकि मिट्टी स्रोतों को मन्द कर देती है । अतः विपथगामी दोष, अन्नका पाक नहीं करते और न वर्णको ही ठीक रखते हैं । मिट्टी में क्षारकी अधिकता होती है ।

कुष्ठ रोग में वायु आदि तीनों दोष, त्वचा, रक्त, मांस, लसीका को दूषित करके कुष्ठों को उत्पन्न करते हैं । अतः ये ही कुष्ठ के अधिष्ठान हैं ।

वातादि—दोषों के स्वभाव से ही तीन होने पर त्रयः (तीन) निर्देश इस वात का ज्ञापक है कि कुष्ठ त्रिदोष दूषण से ही होते हैं ।

तीन दोष और त्वचा, मांस, रक्त और लसीका ये चार दूष्य--इस प्रकार यह कुष्ठ का द्रव्य—सप्तक है । विसर्पों की उत्पत्ति में भी यही कारण है ।

कुष्ठ और विसर्प में भेद यह है कुष्ठ तो चिरकाल से दूपित दोषों की स्थिर और मन्द गति से होता है और विसर्प दोषों के शीघ्र विसर्पण रूप कोप से होता है । वास्तव में कुष्ठ और विसर्प दोनों भिन्न भिन्न हैं । इसकी नाडी में सङ्गति इस प्रकार है कि कुष्ठ प्रायः त्रिदोषज होते हैं तथापि प्रधान तथा गौण कल्पना से पृथक् पृथक् दोषों में उन्हें विभक्त किया जाता है । उन में श्लेष्म-प्रधान कुष्ठ को ले कर ही आचार्य ने कठिना, स्थिरा आदि दिग्दर्शन कराया है ॥६४॥

वात-कफरोगयोर्नाडी—

वातरोगे स्थिरा च स्यादावृते सर्वलक्षणा।
बलासे स्फुरणोपेता, सूक्ष्मा द्रुतगतिर्भवेत् ॥६५॥

वातरोग इति। सामे वायौ, वात-प्रदूषित-हेतुभिर्वा दुष्टे वातरोगे स्थिरा नाडी स्यात्। आवृतवाते तु—यद्दोषोल्वणो वायुस्तद्दोषलक्षणानुरूपां नाडीं धत्ते वायुरिति। तस्मादुक्तमुपपद्यते—'आवृते सर्वलक्षणा' इति।

बलासे इति। वायुर्हि रूक्षधर्मत्वात् स्नेहगुणप्रधानस्य श्लेष्मणः स्नेहं शोषयति स्नेहक्षीणे बलासे 'स्फुरणोपेता' इत्युपपद्यते। बलासः=क्षीणबलः। असु क्षये धातुरत्र। 'प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मलमुच्यते' इति वचनात् ॥६५॥

ऊर्ध्वजत्रुविकारेषु नाडी—

ऊर्ध्वजत्रुविकारेषु यथादोषबलेषु च।
विज्ञाय लक्षणं तेषां भिषग् ब्रूयाद् धरागतिम् ॥६६॥

उक्तं हि सुश्रुते—

सर्वैभावैस्त्रिभिर्वापि द्वाभ्यामेकेन वा पुनः।
संसर्गे कुपितः क्रुद्धं दोषं दोषोऽनुधावति ॥ (सु० सू० अ० ३१)

वात रोग और कफ में नाडी लक्षण—

वातरोग में नाडी, स्थिरगति से चलती है। पित्त आदि से आवृतवायु में सभी लक्षणों वाली होती है और कफकी नाडी सूक्ष्म--स्फुरणयुक्त होकर द्रुत गतिवाली होती है।

आमयुक्त वायु में अथवा वात-दूषक कारणों से वायु के दूषित होने पर नाडी, स्थिरता के साथ स्पन्दन करती है। वायु जिस बढे हुए दोष से युक्त होता है उसी दोष के अनुरूप नाडी की गति होती है। इसीलिए कहा है कि—आवृते सर्वलक्षणा।

वायु रूक्ष है, अतः स्नेह धर्मवाले कफ के स्नेह को सुखा देता है। स्नेह-रहित-शुष्क कफवाली नाडी थोड़ी फड़फड़ाहट वाली तथा शीघ्र गति वाली होती है। बलास शब्द बल और 'असु क्षये' के घञन्त 'आस' रूप के मिलने से बनता है जिसका अर्थ होता है, क्षीणबल या विकार श्लेष्मा। क्योंकि प्राकृत श्लेष्मा को बल रूप कहा है तथ विकृत श्लेष्मा को मलरूप कहा है ॥६५॥

ऊर्ध्वजत्रु विकार में नाडी का लक्षण:—

गले के ऊपर के अङ्गों में- (नाक, दांत, आंख, कान, सिर अदि) विकार (रोग) होने पर वैद्य को दोष-बल के अनुसार लक्षण समझकर नाडी की गति से दोष-निर्देश करना चाहिए।

सुश्रुत में कहा गया है—

'तीनों दोषों के सन्निपात से, दो दोषों के संसर्गसे, अथवा एकही दोष के संसर्ग से कुपित हुआ दोष, दोष के बलानुसार शरीर में विकारों को उत्पन्न करता हुआ चलता है'।

एतेन ग्रन्थकारस्य 'यथादोषबलेषु च' इति कथनं युक्तियुक्तं सङ्गच्छते ॥६६॥

शोणिताश्रितस्य नाडी—

अर्केन्दु-कठिना सोष्णा स रोगी शोणिताश्रितः ।
सन्निपात-धरा नाडी शीतोष्णाभ्यां गतौ स्फुटा ॥६७॥

परस्परं रागधर्मत्वात् शोणितस्य निजमलस्य पित्ताख्यास्याश्रयीभूतत्वाच्च । अर्कः-सूर्यः । इन्दुः-चन्द्रः । शीतोष्णाभ्यामिति-मन्द-तीक्ष्णा, मन्दा तीक्ष्णा वा पृथक् पृथक् ॥६७॥

इदानीं मरण-ज्ञापिकानां नाडीनां लक्षणानि संगृहीतुमना इदमाह—

अतितन्वी सुवेगा च सन्निपाते प्रशाम्यति ।
शीतला स्निग्धवेगा च रोगिणस्तस्य मारिका ॥६८॥

अतितन्वीति-पूर्वार्द्धं वातोत्तर-पित्तप्रधाने सन्निपाते ज्ञेयम् । अपरार्द्धोक्तं वातोत्तर-श्लेष्मप्रधाने सन्निपाते ज्ञेयम् । लोकेऽपि वह्नौ क्षिप्तो म्रियते, जले वा विन्यु-

---

इससे 'यथा दोषबलेषु' यह कथन सर्वथा सङ्गत होता है ॥६६॥

रक्तविकारी नाडी लक्षण:—

जिस रोगी की दाहिनी तथा बांई नाडी, कठिन तथा स्पर्श में उष्ण मालूम हो तो वह रोगी रक्तविकार से युक्त होता है । अथवा जो नाडी, सूर्योदय और चन्द्रोदय-प्रातः सायं तथा दिन-रात उष्णता के साथ कठिनता लिए हुए चले--उसे रक्त--विकार--युक्त जानना चाहिए । सन्निपात में नाडी शीत और उष्ण—दोनों रहती हैं । अर्थात् सन्निपात में दोषों की क्षीणता हो तो शीत और उल्वणता हो तो उष्ण होती है ।

रक्त--परमाणुओं में परस्पर-मिलन धर्म है और रक्त, अपने मल-पित्त का आश्रय करता है अतः 'अर्केन्दु कठिना सोष्णा कहा गया । अथवा सूर्य—स्वर तथा चन्द्र—स्वर का व्यवहार होने से दक्षिण और वामका भी ग्रहण होता है । मन्द–तीक्ष्ण अथवा मन्द और तीक्ष्ण नाडी की गति होती है । इसीलिये 'शीतोष्णाभ्याम्' कहा गया ॥६७॥

अब यहां से मृत्यु–सूचक नाडियों के लक्षण कहे जाते हैं—

यदि सन्निपात में नाडी की गति अतिशय सूक्ष्म और उत्तम वेगवाली हो तो रोगी मर जाता है और यदि शीतल और स्निग्ध वेगवाली नाड़ी होतो भी रोगी की मृत्यु होती है ।

इस श्लोक के पूर्वार्ध में कहा गया लक्षण,वातोत्तर--पित्त प्रधान सन्निपात में तथा उत्तरार्द्धमें कथित लक्षण वातोत्तर–श्लेष्म प्रधान सन्निपात में जानना चाहिये । लोक में देखा जाता है कि आग में फेंकने से और जल में डुबाने से–दोनों ही प्रकार से मृत्यु होती है । वायु के विना

ब्जो म्रियते । तस्मात् सुतरां युज्यते । वायुमन्तरा वह्निजलयोरवस्थानं नास्तीति कृत्वोभाभ्यां पित्तश्लेष्मभ्यां वातमनुशेत एव । तद्वाते गतिमभिव्यनक्ति ॥६८॥

स्थित्वा स्थित्वा चलति या सा स्मृता प्राणनाशिनी ।
अतिक्षीणा च शीता च जीवितं हन्त्यसंशयम् ॥६९॥

स्थित्वा स्थित्वेत्यारम्यात्रिनवति (९३) 'प्राचुर्यं भजते' इत्यादि पर्यन्तमरिष्टज्ञापिकानामेव नाडीनां सङ्ग्रहः । मूलं त्वेषामरिष्टोपपत्तिविज्ञानम् । तच्च चरक-सुश्रुताद्यार्ष-संहिताभ्योऽवगन्तव्यम् । अरिष्टलक्षणन्तु—

क्रियापथमतिक्रान्ताः केवलं देहमाप्लुताः ।
चिह्नं कुर्वन्ति यद्दोषास्तदरिष्टं निरुच्यते ॥ इति ।

—च०, इ०, ११।२९

तथा च तत्रैवारिष्टज्ञानस्यावश्यज्ञेयत्वं निरूपितम् । यथा—

न त्वरिष्टस्य जातस्य नाशोऽस्ति मरणादृते ।
मरणं चापि तन्नास्ति यन्नारिष्टपुरस्सरम् ॥
मिथ्यादृष्टमरिष्टाभमनरिष्टमजानता ।
अरिष्टं वाप्यसंबुद्धमेतत् प्रज्ञापराधजम् ॥

च०, इ०, अ० २ श्लो० ५-६

अस्माकमनुभवः—

"दुर्बले सबला नाडी सा नाडी प्राणघातिनी । इति ।

अग्नि और जल की सत्ता ही नहीं है । इसलिये पित्त और कफ के साथ वात का अनुबल होता हैं, अतः वायु, उसी प्रकार की नाडी गति द्वारा दोष के बल को अभिव्यक्त करता है ॥६८॥

जो नाडी, रुक-रुककर चलती है, वह भी प्राणघातिनी होती है और अतिक्षीण तथा अति शीतल नाडी भी निःसन्देह मृत्यु–सूचक होती है ।

इस श्लोक से लेकर ९३ वें श्लोक तक अरिष्टसूचक नाडियों का वर्णन किया गया है । इनका मूल 'अरिष्टोपपत्ति-विज्ञान' है । अरिष्ट-विज्ञान का विशेष परिचय चरक, सुश्रुत आदि आर्षग्रन्थों से जानना चाहिये । चरक में अरिष्ट का लक्षण इस प्रकार कहा गया है—'दोष, आभ्यन्तर मार्गों का अतिक्रमण करके केवल शरीर के बाह्य भाग में आकर जिन चिह्नों को उत्पन्न करते हैं वे (चिह्न) अरिष्ट कहे जाते हैं ।' अरिष्ट ज्ञान वैद्य के लिये अत्यावश्यक है । इस सम्बन्ध में चरक का मत है—

उत्पन्न हुए अरिष्ट का मरण के सिवा अन्य कोई प्रतिकार नहीं है ऐसा कोई मरण भी नहीं है जो अरिष्ट-पूर्वक न हो । अनरिष्ट को अरिष्ट समझना तथा अरिष्ट को अनरिष्ट समझना भी प्रज्ञापराध है, ।

रोग से दुर्बल शरीर में यदि नाडी सबल चले तो वह रोगी की मृत्यु-ज्ञापिका होती है, ऐसा समझना चाहिये, यह हमारा प्रत्यक्षतः अनुभव किया हुआ है ।

अरिष्टमार्गोपपन्नदोषाणां नैकमार्गता सम्भवति । तस्माद् ग्रन्थकारोक्तमरण-स्थितिज्ञापकानां पद्यानामुपपत्तिज्ञानसौकर्यायोत्तमाङ्गेन मध्यमाङ्गस्य सादृश्यं भिषजां कौतूहल-प्रशमाय ज्ञानाय च प्रदर्श्यते । प्रायश उत्तमाङ्गेऽरिष्टानां लक्षणान्युपपद्यन्ते, भवन्ति च मूत्र–पुरीषादिष्वपि । तद् यथा—

१. मुखमादानद्वारम्=गुदं विसर्जनद्वारम् ।
२. सार्द्धपञ्चांगुलं गलस्य प्रमाणम्=तदेव गुदौष्ठात् प्रारभ्य तिसृणां गुदवलीनां प्रमाणम् ।
३. यौ गण्डौ मुखे=तावेव नितम्बौ ।
४. यौ प्रगण्डौ=तावेव श्रोणिफलकौ ।
५. रदा मुखे=पुरीषं गुदे ।
६. यादृशी मलाढ्यता दन्तेषु=तादृशी पुरीषविकृतिर्गुदायाम् ।
७. मुखे सौषीर्यम्=वस्त्यां सौषीर्यम् ।
८. मुखस्थ—जिह्वायां जलस्रावः=अधोवस्त्यां मूत्रेन्द्रियेण मूत्रस्रावः ।
९. नासा मुखे=शिश्नमधः ।
१०. नासायां द्वे द्वारे, तयोरादिमार्ग एकः=शिश्ने मूत्र-शुक्रवहे द्वे द्वारे, तयोः प्रसेकमार्ग एकः ।
११. मुखस्य सौषीर्ये वायोः सद्भावः=वस्तयोर्वायोः सद्भावः ।
१२. नासा प्रतिश्यायस्य, श्लेष्मणश्च स्रवणद्वारं श्वासप्रश्वासयोश्च=शिश्नं मेहनद्वारं विकृतिमागतस्य प्रमेहस्य च ।
१३. या त्रिकुटी=सा नाभिः ।
१४. कर्णौ शब्दवाहनद्वारे=उदरान्त्राणि वाताकाशप्रधानानि ।
१५. चक्षुषी प्रेक्षणद्वारे=यकृत्प्लीहानौ रक्तस्य रञ्जन-शोधनकर्मणा सर्वशरीरं वर्णाय कल्पयतः ।
१६. मस्तिष्कञ्च मज्जाप्रधानम् उरः श्लेष्म प्रधानम् ।
१७. गले विवरं पिहितम्=शिरसि ब्रह्मरन्ध्रं पिहितम् ।
१८. मुखं विकारव्यञ्जन-प्रधानम्=मध्यमाङ्गस्याशयादिप्रधानत्वाद् रोगाणामाश्रयप्रधानत्वाद् व्यञ्जकत्वम् ।
१९. हृदयं रक्तं धमति=वृक्कौ मूत्रं प्रक्षिपतः ।

अरिष्ट मार्ग से प्राप्त होनेवाले दोषों के अनेक मार्ग हैं । इसलिये रावणाचार्य कृत पद्यों की उपपत्ति जानने के लिये उत्तम अङ्ग से मध्यम अङ्ग का सादृश्य विद्वान् वैद्यों की जानकारी के लिये ऊपर संस्कृत में दिया गया है जो सरल होने के कारण स्वल्प-संस्कृतज्ञ भी समझ सकते हैं । प्रायः अरिष्टों के चिह्न, उत्तमाङ्ग (गले से ऊपर का भाग) में तथा मध्यम अङ्ग के मल मूत्र आदि में भी देखे जाते हैं ।

२०. मस्तिष्के ज्ञानम्=मेरुदण्डे सुषुम्णा ।
२१. ज्ञानमधैर्यं स्तम्भयति=मेरुदण्डं मध्यमाङ्गं स्तम्भयति ।
२२. यन्नासयोर्मलम्=तदेव शिश्नमलम् ।
२३. सीता मस्तिष्के=अन्त्राणि उदरे ।
२४. शिरसि दृढता=तदेवोरसो दार्ढ्यम् ।
२५. ओष्ठ–वैवर्ण्यम्=आन्त्रस्थ–मलदोष–प्रकोप–ज्ञापकं भवति ।
२६. उत्तरौष्ठ–विकृतिः=नाभेरूर्ध्वोदरविकारं विस्पष्टयति ।
२७. अधरोष्ठेन=नाभेरधोभागज्ञापकत्वम् ।
इत्येमादि विशेषज्ञैः स्वयमप्यूहनीयम् ।

अस्य सङ्गतिप्रकारस्त्वित्थम्—यथा नासाग्रस्य कौटिल्यं दृष्ट्वा वैद्येन ज्ञातव्यमधोवस्त्यां (मूत्राशये) वातप्रकोप इति । नासाग्रस्य कार्ष्ण्यं दृष्ट्वाधोवस्त्यां वात-पित्त-प्रकोपोऽवधेयः । दन्त-कार्ष्ण्येन वस्तौ पित्तप्रकोपोऽनुमातव्यः । अक्ष्णोर्दृषद्भावं (स्थिरीभावं) दृष्ट्वाग्नेः सर्वथावसदनं वोध्यम् । सास्रावे कलुषे नेत्रे दृष्ट्वा ग्रहण्यां यकृत्-प्लीह्नोश्च वात-श्लेष्म-प्रकोपोऽवसेयः । एवं ह्यधोऽङ्गप्रधाना स्त्री, तस्या मुख-शोथोऽरिष्टम् । ऊर्ध्वाङ्गप्रधानः पुमान्, तस्याधःशोथोऽरिष्टलक्षणमित्यादि । विपरीत-गतिमत्त्वाद्दोषाणामिति ।

यथा ह्यरिष्टं काये प्रकाशते तथैव लोकेऽपि प्रकृतिस्थः पुमान् स्वानि कर्माणि कुर्वन् जिगमिषां प्राप्य प्रात्यहिकीं क्रियां विषमयति । सा विषमतामापन्नैव स्वाभाविकी क्रिया शास्त्रेण संगच्छते-क्रियापथमतिक्रान्तेति । अत्र दोषा इति

ऊपर प्रदर्शित उत्तम और मध्यम अङ्गों की समता की संगति इस प्रकार है। जैसे—रोगी के नाक के अग्रभाग में टेढ़ापन देखकर वैद्य को समझना चाहिये कि इसकी अधोवस्ति (मूत्राशय) में वात-प्रकोप है । दांतों की कालिमा देखकर अनुमान करना चाहिये कि मलाशय में पित्त का प्रकोप है । पथराती हुई आंखों को देखकर समझना चाहिये कि कोष्ठकी अग्नि सर्वथा बुझ चुकी है । अश्रुयुक्त कलुषित आंखों को देखकर समझ लेना चाहिये कि ग्रहणी में तथा यकृत्-प्लीहा में वात-श्लेष्मा का प्रकोप है । इसी प्रकार स्त्री का निचला भाग प्रधान है, अतः उसका मुख-शोथ अरिष्ट है और पुरुष का ऊर्ध्व अङ्ग प्रधान है अतः उसके पैरों का शोथ (सूजन) अरिष्ट है । तात्पर्य यह है कि दोषों की गति विपरीत हो गयी ।

जैसे दोषों के अमार्गस्थ होने से शरीर से अरिष्ट लक्षण उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार लोक में भी देखा जाता है कि पुरुष अपनी नित्यक्रिया को नियमित रूप से करते हुए भी जब कहीं विदेश आदि जाननेवाला होता है तो अपनी नियमित नित्यक्रिया में विषमता कर देता है—जिससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि यह कहीं जाना चाहता है; ठीक उसी प्रकार अरिष्ट युक्त पुरुष के त्रिदोष भी अपने स्वाभाविक शरीर–पोषणरूप मार्ग का व्यभिचार करके

पदस्थाने लोके कर्तारं मत्वा सर्वं लोकेन साधु संगच्छते ।

स्थित्वा स्थित्वेति-हृदयस्य कार्याक्षमत्वस्याभिमुख्यात् । अतिक्षीणेति-वह्नेर-वसादाभिमुख्यात्सङ्गच्छते आचार्योक्तम् ॥६९॥

शीघ्रा नाडी प्रलापान्ते दिनार्धेऽग्निसमो ज्वरः ।
दिनैकं जीवितं तस्य द्वितीये मरणं ध्रुवम् ॥७०॥

प्रलापो हि वाताधिक्ये पित्तानुषेके च भवति शेषं स्पष्टार्थम् ॥७०॥

मृतिकाले भवेन्नाडी जीर्णा डमरुकोपमा ।
तन्तुमन्दा ह्युपरितो ह्यधस्तात् वक्रतां गता ॥७१॥

उपरितः—अंगुष्ठदिशि । अधस्तात्–अधोदिशीत्यर्थः ॥७१॥

असाध्या नाडी—

यात्युच्चिका स्थिरा या च या चेयं मांसवाहिनी ।
अतिसूक्ष्मा च वक्रा च तामसाध्यां विनिर्दिशेत् ॥७२॥

यात्युच्चिकेति—बीजं त्वस्य पञ्चमहाभूतानां नाड्यां पृथक् पृथक् परिज्ञापने निरूपितत्वात् । दोषाणां क्रियापथातिगत्वादनेकविधत्वं स्यादेवेति स्पष्टमुपपद्यते । सान्निपातिकी गतिरियम् । मांसवाहिनीति-मांसवन्मार्दवं धारयति, कठिनानुभूयत इति भावः । एवमेव कणादोऽप्याह—

शरीर के ऊपरी भाग में अपने लक्षणों का प्रदर्शन करते हैं जिससे शरीर का देशान्तर गमन (मरण) सूचित होता है ।

'स्थित्वा स्थित्वा' का कारण यह है कि दोष–पूर्ण हृदय के अपनी क्रिया में असमर्थ होने के कारण रक्त–सञ्चालन अव्यवस्थित हो जाता है जिससे नाडी रुक-रुक कर चलती है ॥६९॥

जिस प्रलापयुक्त रोगी की नाडी, प्रलाप के अनन्तर तीव्रगति से चलने लगे और मध्याह्न में अग्नि के समान तीव्र ज्वर हो जाये, ऐसे पुरुष का जीवन, एक दिन ही रहना है । अर्थात् दूसरे दिन मर जाता है । कारण यह कि प्रलाप का कारण, पित्तसंसर्गवाले वायु की अधिकता है ॥७१॥

मृत्यु के समय रोगी की नाडी, अति दुर्बल और डमरू के समान हो जाती है अर्थात् ऊपर (अंगूठे) की ओर तन्तु के समान मन्द और नीचे की ओर टेढापन लिये हुये रहती है ॥७१॥

जो नाडी, कभी स्थिरता और कभी सूक्ष्मता और टेढापन लिये हुए चले उस नाडी को असाध्य या मरण–सूचक समझना चाहिये ।

इसका बीज तो पंचमहाभूतों का नाडी में पृथक् पृथक् परिज्ञान में निरूपित किया होने से वहां से ही समझना चाहिये । उपर्युक्त में कारण यह दोष कि जब अपने क्रिया-पथ को छोड़ देते हैं तब नाडी में नियमित या नियन्त्रित गति का होना सम्भव नहीं है । इसी से अनेक अव्य-वस्थित गतियां उत्पन्न होती हैं । यह सन्निपात की गति है । यहां मांसवाहिनी पद का अर्थ यह है कि मांस के समान मृदुता और कुछ कठिनता होती है । कणाद ने भी अपने नाडी-विज्ञान में

यात्युच्चका स्थिराऽत्यन्तं यां चेयं मांसवाहिनी ।
या च सूक्ष्मा च वक्रा च तामसाध्यां विनिर्दिशेत्' इति ॥७२॥
स्थिरा नाडी मुखे यस्य विद्युद्द्युतिरिवेक्ष्यते ।
दिनैकं जीवितं तस्य द्वितीये मरणं ध्रुवम् ॥७३॥

स्थिरेति-मुखस्य वस्तिना साम्यं पूर्वं प्रदर्शितमेव, तस्मात् यदा दोषाः स्वनिलयं वस्तिमधिकुर्वन्ति; तदा मुखे नाड्याः स्पन्दनं विद्युदिव क्वचित् क्वचित् वीक्ष्यते । तस्मात् स्पष्टमुपपद्यते आचार्योक्तम् । दिनैकमिति--मलोष्मणः शान्तौ काल-निवन्धोऽपि प्राकृतः स्यादेव साधरिति । कणादनाड्यामप्येवमेव ॥७३॥

असाध्य--सन्निपाते नाडी—

मन्दं मन्दं कुटिल-कुटिलं व्याकुलं व्याकुलं वा,
स्थित्वा स्थित्वा वहति धमनी याति नाशं च सूक्ष्मा ।
नित्यं स्थानात्स्खलति पुनरप्यङ्गुली संस्पृशेद् या,
भावैरेवं बहुतरविधैः सन्निपातादसाध्या ॥७४॥

मन्दं मन्दमिति—**'मन्दस्तुन्दपरिमृज आलस्यः शीतकोऽलसोऽनुष्णः'** (का० ३, व० १० श्लो० १८)तथा च **'मूढाल्पापटुनिर्भाग्याः मन्दा स्यु'रिति चामरः**(३।३।९५)। मन्दस्याऽनेकविधस्वरूपत्वात् सन्निपातेऽपि चानेकरूपत्वाद् योजना-सौकर्याय कोष उपन्यस्तः । व्याकुलमिति कर्तव्यता-विमूढमिव विह्वस्तं व्याकुलम् । "विह्वस्त-व्यकुलौ समा'वित्यमरः । स्थित्वेति–स्थायं स्थायमिति स्पष्टम् । याति नाशमिति--सूक्ष्मा भूत्वादर्शनं याति । अथवा नित्यं स्थानात् स्खलतीति—स्थानाद् विभ्रंशतां प्राप्तापि पुनरंगुलीं स्पृशति । एवं बहुतरविधैरिति—प्रत्यक्षज्ञानगम्यैरनेकविधैरिति । कुत एवम् ? सन्निपातस्य नैकपथारूढत्वात् ।

'अतिसूक्ष्म, के स्थान पर 'या च सूक्ष्मा' पाठभेद से यही पद्य उद्धृत किया है ॥७२॥

जिस रोगी की नाडी, मुख में (आगे की ओर) स्थिर और स्पर्श में बिजली की भांति मालूम हो ऐसे रोगी का जीवन एक दिन ही शेष समझना चाहिये । दूसरे दिन निश्चय ही उसका मरण हो जाता है । मुख की वस्ति के साथ समानता कही गयी है । जब दोष अपने स्थान को छोड़कर वस्तिका आश्रय करते हैं तो मुख में नाडी का स्पन्दन कभी कभी बिजली की भांति दीखता है । एक दिन की अवधि इसलिये दी गयी कि मलस्थ ऊष्मा की शान्ति या दोषों को वहां विकार उत्पन्न करने में कुछ समय तो अवश्य लगेगा । कणाद-नाडी-विज्ञान में भी यह श्लोक इसी प्रकार है ॥७३॥

असाध्यसन्निपातकी नाडी—

यदि सन्निपात में धीरे-धीरे, टेढापन लिये हुए, भयभीत जैसी या घबराये हुए के समान अस्त-व्यस्त स्थिति वाली, ठहर ठहर कर चलने वाली, अतिसूक्ष्म गतिवाली कठिनता से स्पर्श गम्य होकर पुनः लुप्त हो जाये और बार-बार स्थान छोड दें अर्थात् कभी अंगूठे की ओर कभी नीचे की ओर स्पन्दित हो तो इस प्रकार के अनेक भावोंवाली नाडी असाध्य होती है ।

कणादमतेऽप्येवमेवायं पाठः । वसवराजीये तु—'नित्यं स्कन्धे स्फुरति पुनरङ्गुलीन् संस्पृशेद्वा ।················सन्निपाते त्वसाध्या ।' इत्येवमीषत्पाठभेदः । योगरत्नाकरेऽपि—'याति सूक्ष्मा च सूक्ष्मा' इत्ययं पाठभेदः ।७४।।

पूर्वं पित्तगतिं प्रभञ्जनगतिं श्लेष्माणमाबिभ्रतीं,
स्व-स्थान–भ्रमणं मुहुर्विदधतीं चक्राधिरूढामिव ।
तीव्रत्वं दधतीं कलापिगतिकां सूक्ष्मत्वमातन्वतीं,
नो साध्यां धमनीं वदन्ति मुनयो नाडीगतिज्ञानिनः ।।७५।।

पूर्वं पित्तगतिमित्यादि । सर्वं निगद एव व्याख्यातम् । कलापिर्मयूरः । तथा च कणादोक्तौ–'सन्तानभ्रमण'–मित्येव पाठभेदः, शेषं समानं रावणोक्तेः । योगरत्नाकरे तु—'अत्यन्तभ्रमणं 'भीष्मत्वं दधती' 'कलासु पतिता' इत्येवं पाठभेदः । अन्यत् समानं रावणेन ।।७५।।

काष्ठकुट्टो यथा काष्ठं कुट्टते चातिवेगतः ।
स्थित्वा स्थित्वा तथा नाडी सन्निपाते भवेद् ध्रुवम् ।।७६ ।

व्याख्यातपूर्वोऽयं श्लोकः ।।७६।।

कम्पते स्पन्दते तन्तुवत् पुनश्चाप्यङ्गुलीं स्पृशेत् ।।
तामसाध्यां विजानीयात् नाडीं दूरेण वर्जयेत् ।।७७।।

निगद एव व्याख्यातम् । योगरत्नाकरे तु—'कम्पते स्पन्दतेऽत्यन्तं पुनः स्पृशति चाङ्गुलीः" इति पाठान्तरम् । अन्यत् समानम् ।।७०।।

कणाद, वसवराज तथा अन्य नाडी सम्बन्धी योगरत्नाकर आदि में यह श्लोक स्वल्पतम पाठभेद के साथ उद्धृत किया है ।।७४।।

जो नाडी, चक्र पर चढी हुई सी पहले पित्त की गति, पुनः वायु की ओर अन्त में कफ की गति को धारण करती हुई वार-वार इसी क्रम को बनाए रखती है अथवा क्रमशः तीव्रगति, या मयूर की सी गम्भीर गति और सूक्ष्मगति को प्रकट करती है, उसे नाडी–विज्ञान–वेत्ता असाध्य कहते हैं।

यह श्लोक भी कणाद—नाडी तथा योगरत्नाकर में "सन्तानभ्रमण" तथा "अत्यन्तभ्रमण" इतने पाठ भेद के साथ इसी प्रकार उपलब्ध होता है ।।७५)

जैसे कठफोरवा पक्षी काठ पर अपनी चोंच को ठहर–ठहर कर दे मारता है, उसी प्रकार ठहर-ठहर कर अंगुली को स्पर्श करनेवाली नाडी सन्निपातज होती है और असाध्य है ।।७६।।

जिस रोगी की नाडी का स्पन्दन, कांपता हुआ सा मालूम पड़ता हो। पहले सूत के समान सूक्ष्म स्पन्दन होता हो अथवा अंगुलियों में वार–वार स्पन्दन की प्रतीति हो तो उस रोगी को दूर से ही नमस्कार करे अर्थात् उसकी चिकित्सा न करे ।।७७।।

मुखे नाडी वहेत्तीव्रा कदाचिच्छीतला वहेत् ।
आयाति पिच्छिलः स्वेदः सप्तरात्रं न जीवति ॥७८॥

मुख इति—पित्तकफयोरुदरेऽनवस्थितवलत्वाद् वायुर्विषमयति । पिच्छिलः-लसीका–रुधिर--वसा-प्रभृतीनां द्रव-स्निग्ध–धातूनां पित्तोत्तर-वातकोपात् प्रातिलोम्येन त्वक्स्रोतःसु प्रक्षेपात् पिच्छिलः स्वेद उपपद्यते । सप्तरात्रमिति नैकान्तिकी कालमर्यादा, कृतमिथ्योपचारस्य तत्पूर्वमपि जीवनत्याग-सम्भवात् ॥७८॥

देहे शैत्यं मुखे श्वासो नाडी तीव्रातिदाहवत् ।
मासार्धं जीवितं तस्य नाडी-विज्ञान-भाषणम् ॥७९॥

देहे शैत्यमिति--रोगोष्मणोरन्तर्वेगाविर्भावात् । उक्तञ्च यथा--'रोगसामान्येऽपि ज्वरशब्दः प्रयुज्यते' । स ज्वरः पुनर्द्विविधः—अन्तर्वेगो बहिर्वेगश्च । मुखे श्वासश्च शीतलः इति । दाहातिशयत्वं स्यादेवान्तर्वेगेषु दोषेषु । मासार्धं वलवतो जीवनं ज्ञेयम् । मांसवलाभ्यां रहितस्यानियमः ॥७९॥

मुखे नाडी यदा नास्ति मध्ये शैत्यं वहिः क्लमः ।
तन्तु-मन्दा वहेन्नाडी त्रिरात्रं न स जीवति ॥८०॥

सात दिन में मृत्यु–सूचक नाडी—

यदि रोगी की नाडी, मुख में–अर्थात् तर्जनी अंगुली के नीचे कलाई के अग्रभाग में शीघ्र-गति से चले कभी–कभी स्पर्श में ठण्डी मालूम हो और गाढा चिकना पसीना आता हो तो वह रोगी सात रात तक नहीं जी सकता ।

कारण यह कि वायु उदरस्थ पित्त और कफ को विषम कर देती है । चिकना पसीना आने का कारण यह है कि पित्तानुवली विषम-वायु के कोप से लसीका, रुधिर, वसा आदि द्रव धातु त्वचा के विपरीत स्रोतों में फेंक दिये जाते हैं । सात रात का तात्पर्य यह है कि सात दिन के भीतर कभी भी मृत्यु हो सकती है । मिथ्या उपचार होने से इतने दिनों तक जीवित रहना भी असम्भव है ॥७८॥

जिसका शरीर ठण्डा हो गया हो, मुंह से श्वास चलता हो और नाडी अत्यन्त जलती हुई सी तीव्र गति से चलती हो तो रोगी का जीवन १५ दिन तक रह सकता है ।

तात्पर्य यह कि रोग की गर्मी अन्तर्मुखी हो जाती है और बाहर से शरीर ठण्डा मालूम देता है । ज्वर दो प्रकार का है–अन्तर्वेग, और बहिर्वेग । इसी प्रकार सभी रोग दो प्रकार के होते हैं क्योंकि ज्वर नाम रोग मात्र का है । अन्तर्वेग दोषों में प्रातः दाह की अधिकता होती है। १५ दिन का तात्पर्य वल और मालवाले वीर्य से है । इनसे क्षीण रोगी इन दिनों के भीतर कभी भी मर सकता है ॥७९॥

जिसके मुख में अर्थात् मणिबन्ध के मूल में–तर्जनी के नीचे नाडी स्पन्दन प्रतीत हो, मध्य में शीत-स्पर्श हो, शरीर के बाहर थकान सी हो एवं नाडी सूत के समान पतली हो-वह मनुष्य तीन दिन में मर जाता है ।

मुख इति–नानुभूयते इव । क्लमो ग्लानिः । दुर्बलः आकाशप्राधान्यादूर्ध्वगामित्वं लघुत्वञ्च तस्मात्तन्तुमन्दा उपपद्यते। मन्दा तु स्यादेवोजसो व्याधिषु क्षीणत्वात्। मन्दत्वं पृथिवीगुणः। आकाशप्रधानत्वयुक्तिः कथं सङ्गच्छते ? अत्रोच्यते—दुर्बलस्य शरीरस्थ-दोष-दूष्ययोरेव याथातथ्येन वोढुमशक्यत्वात् मन्दा स्यादेवेति सुतरां संगच्छते। त्रिरात्रमिति--दोषदूष्ययोर्गतिवैशिष्ट्यादिति। अदृष्ट एवात्र हेतुः। अनिर्वचनीयता--एवारिष्टप्राप्तौ। क्वचित्तु तन्तुमन्देतिस्थाने 'यदा मन्दे'ति पाठान्तरम्। कणादस्तु—

हिमवद् विशदा नाडी ज्वरदाहेन तापिनाम्।
त्रिदोषस्पर्शभजतां तदा मृत्युर्दिनत्रयात्॥
पादांगुलगता नाडी चञ्चला यदि तिष्ठति।
त्रिभिस्तु दिवसैस्तस्य मृत्युरेव न संशयः॥८०॥

पूर्वं नाडी तु वेगोत्था ततः परदिने यदि ।
शीता विहतवेगा स्यात् सन्निपातात्तदा भयम्॥८१॥

स्पष्टोऽर्थः। कणादस्तु—

महातापेऽपि शीतत्वं शीतत्वे तापिता सिरा।
नानाविधगतिर्यस्य तस्य मृत्युर्न संशयः॥ इति॥८१॥

तात्पर्य यह कि दुर्बल मनुष्य में आकाशतत्त्व की प्रधानता रहती है इसलिये नाडी में पतलापन आ जाता है और दोषों में लघुता एवं ऊर्ध्वगामिता आ जाती है। ओजस् के क्षय से मन्दता पृथिवी का गुण है और दुर्बल में आकाश की प्रधानता रहती है तो उसकी संगति कैसे ? इसका समाधान यह कि दुर्बल शरीर को दोष और दूष्यों का वहन कठिन हो जाता है। अतः दुर्बल में आकाश की प्रधानता होने पर भी अशक्ति से मन्दता रहती है। तीन दिन का तात्पर्य दोष और दूष्यों की स्थिति से है। इसमें अदृष्ट भी कारण है। अरिष्ट की प्राप्ति अनिर्वचनीय होती है।

कणाद ने तीन दिन में मृत्यु करानेवाली नाडी का लक्षण इस प्रकार लिखा है:—

सन्निपात-ग्रस्त रोगी, यदि ज्वर ऊष्मा संतप्त हो और उसकी नाडी बर्फ के समान ठण्डी हो तो तीन दिन में मृत्यु होती है। नाडी, यदि अपने स्थान से सवा अंगुल हट गई हो और उसमें चञ्चलता हो तो निश्चित रूप से दिन में रोगी की मृत्यु होती है ॥८०॥

नाडी, यदि पहले दिन वेगवाली हो और दूसरे दिन वेग न हो तथा नाडी में शीतलता हो तो सन्निपात के रोगी को मृत्यु का भय है।

कणाद ने लिखा है—'शरीर भयानक रूप से जलता हो और नाडी ठण्डी हो ठण्डे शरीर पर अत्युष्ण अनुभव हो एवं अनेक प्रकार की गतिवाली हो—वह रोगी निश्चय ही मरेगा॥८१॥

ज्वरो वह्निसमोऽत्यर्थं भवेत् पूर्वदिने यदि ।
निरन्तरं यदा नाडी लवेनैकेन सञ्चरेत् ॥८२॥

लवेनेति—लवेन--कालखण्डवाचिना क्षणेन । गत्यवच्छिन्नत्वं द्योतयति । गतेः स्थाननिर्देष्टुमाह—

मुखस्थाने रोगिणश्च चतुर्थे मरणं दिने ।

तथा च कणादः स्पष्टयति—

निरीक्ष्या दक्षिणे पादे तथा चैषा विशेषतः ।
मुखे नाडी वहेन्नित्यं ततस्तु दिनतुर्यकम् ॥
पादांगुलगता नाडी कोष्णा वेगवती भवेत् ।
बहुभिर्दिवसैस्तस्य मृत्युरेव न संशयः ॥८२॥

मुखे त्रुटयत्यकस्माच्च न किञ्चिद् दृश्यते यदा ।
तदा विद्यात् सरुग्णानां द्वितीये मरणं ध्रुवम् ॥८३॥

मुखस्योक्तः सम्वन्धो वस्तिना । तस्माद् वस्तिस्थ-दोषाणां वातेन विषमीकृतानां सुतरां क्रियापथमतिक्रान्तानां सद्भावात् सङ्गच्छत एव मुखे त्रुटचयत्यकस्माच्चेति ।

कणादस्तु—

यदि रोगी को दिन में अग्नि के समान तीव्रज्वर हो और उसकी नाडी, केवल तर्जनी के नीचे एक लव से निरंतर चलती रहे तो उसकी मृत्यु चौथे दिन होगी ।

"लव" यहां काल खण्डवाची क्षण का पर्याय है, इससे नाडी की निरन्तर गति का पता चलता है ।

कणाद नाडी विज्ञान में कहा है—'त्रिदोष-सन्तप्त रोगी की नाडी, दाहिने पैर में तथा विशेषकर हाथ के अंगुष्ठमूल में बर्फ के समान सदा गति करे तो ऐसी नाडी केवल चार दिनों तक चल सकती है' ।

'अपने स्थान से सवा अंगुल हटी हुई नाडी उष्ण और तीव्र हो तो अवश्य ही चार दिनों में मृत्यु होगी ।

यदि नाडी, रोगी की तर्जनी अंगुली के नीचे अकस्मात् त्रुटित हो जाय और कुछ भी पता न चले तो दूसरे दिन उसकी मृत्यु निश्चित है ।।८२।।

मुंह का सम्बन्ध वस्ति से बताया गया है । इसलिये वस्ति में स्थित दोष, वायु से विषम होकर अपने-अपने क्रियापथ से दूर हो जाते हैं, इसलिये नाडी अकस्मात् लुप्त हो जाती है ।

कणाद ने भी कहा है—

'स्थित्वा स्थित्वा मुखे यस्य विद्युद्-द्योत इवेक्ष्यते ।
दिनैकं जीवितं तस्य द्वितीये मरणं ध्रुवम् ।।

कणादोक्तौ तु वायुना वस्तेः श्लेष्मदोषस्य विषमीकृतत्वाज्ज्ञेयम् । कुतः ? कृतकर्मणां प्रकृतिनाञ्च भेदात्, आशांशकल्पनायाश्चातिदुरूहत्वात् । नाडीप्रकाशे तु—

शीघ्रा नाडी बलोपेता शीतला वाथ दृश्यते ।
द्वितीये दिवसे मृत्युर्नाडी-विज्ञातृ-भाषितम् ।।८३।।

यदा नाडी हतवेगा स्पन्दते नैव लभ्यते ।
तदा दिनस्य मध्ये तु मरणं रोगिणो भवेत् ।।८४।।

निगद एव व्याख्यातम् । कणादस्तु—

कन्दे न स्पन्दते नित्यं पुनर्लगति चाङ्गुलौ ।
मध्ये द्वादशयामानां मृत्युरेव न संशयः ।।८४।

निरन्तरं मुखस्थाने भ्राम्येद् डमरुकोपमा ।
चला नाडी व्याधितस्य दिनैकान्मरणं भवेत् ।।८५।।

निगद एव व्याख्यातम् । कणादस्तु—

गति भ्रमरकस्येव वहेदेकदिनेन तु ।।

योगरत्नाकरे—

मरणे डमरुकस्येव भवेदेकदिनेन तु । इति ।।८५।।

'जिस मनुष्य के अंगुष्ठमूल में नाडी, ठहर-ठहर कर बिजली की भांति चमकती है उसका जीवन एक दिन का है, दूसरे दिन अवश्य मरण होता है' ।

नाडी-प्रकाश में लिखा है—'मल दोष को बतलाती हुई नाडी, शीघ्रगति से चलती हो अथवा शीतलता-युक्त चलती हो तो ऐसे रोगी की मृत्यु दूसरे दिन अवश्य होती है' ।।८३।।

जब नाडी का वेग हत हो जाता है तब वह रुक-रुक कर धीमी-धीमी चलती है। अथवा इतनी हतवेग हो जाती है कि इसका स्फुरण हो लेकिन उसकी प्रतीति न हो; तो ऐसे रोगी की मृत्यु एक दिन में ही हो जाती है ।

कणाद ने भी कहा है—अंगूठे के मूल में जिसका स्पन्दन मालूम न हो और कभी-कभी अकस्मात् अंगुलियों में स्पर्श करे—ऐसी नाडीवाले की मृत्यु, १२ प्रहर में हो जाती है' ।।८४।।

यदि रोगी की नाडी, तर्जनी के नीचे ही डमरू की भांति चञ्चल भाव से चलती हो तो एक दिन में ही उसकी मृत्यु होती है ।

कणाद-नाडी में कहा है—'अंगूठे के मूल में भौंरे के समान गति करनेवाली (बार-बार अपने स्थान से आवे और जावे) नाडी, एक दिन में मरण-सूचक होती है' । योग योगरत्नाकर में भी इसी प्रकार लिखा है ।।८५।।

अतिसूक्ष्मा पृथक् शीघ्रा सवेगा भरितार्दिता ।
भूत्वा भूत्वा म्रियेतैव तदा विद्यादसाध्यताम् ॥८६॥

दोषाणां क्रियापथातिक्रान्तत्वमेव हेतुरत्र । नाडीप्रकाशे पाठान्तरम्—

अतिसूक्ष्मातिवेगा च शीतला च भवेद् यदि ।
तदा वैद्यो विजानीयात् स रोगी त्वायुषः क्षयी ॥

तन्त्रान्तरेऽप्ययमेव पाठः ॥८६॥

स्वस्थस्य तलगा पूर्वं नाडी स्यात् प्रपञ्चनात् ।
भूयः प्रपञ्चनात् सूक्ष्मा त्रिदिनैर्म्रियते नरः ॥८७॥

तलगा—पादतलगेत्यर्थः । 'अधःस्वरूपयोरस्त्री तलम्' इत्यमरः ।
वसवराजस्तु—

जहाति यस्य स्वस्थानं यवार्धमपि नाडिका ।
न स जोवितमाप्नोति त्रिदिनेनैव पञ्चताम् ॥ इति

कणादस्तु--

क्षणाद् गच्छति वेगेन शान्ततां लभते क्षणात् ।
सप्ताहान्मरणं तस्य यद्यंगं शोथवर्जितम्' ॥ इति ॥८७॥

मुखे नाडी भवेत्तीव्रा कदाचिच्छीतला भवेत् ।
आयाति पिच्छिलः स्वेदः सप्तरात्रं न जीवति ॥८८॥

यदि रोगी की नाडी, अत्यन्त सूक्ष्म, पृथक् रूप से शीघ्रगति करनेवाली, वेगयुक्त गीली होने के समान भारयुक्त और इन सब अवस्थाओं में हो-हो कर पुनः पुनः लुप्त होती हो तो उस रोगी को असाध्य समझना चाहिये ।

इसका कारण यह है कि दोष, शरीर–पोषणात्मक अपने कर्म-मार्ग को छोड़कर बाहर निकलने का यत्न करते हैं ।

किसी किसी नाडी विवरण में इस प्रकार लिखा है कि 'मृत्यून्मुख रोगी की नाडी, कभी अतिसूक्ष्म, कभी अतिवेगवाली होती हुई यदि शीतल हो जाये तो इसे मरा हुआ ही समझना चाहिये' । चतुर्थ चरण को छोड़कर नाडीप्रकाश में यह श्लोक इसी प्रकार है ॥८६॥

यदि स्वस्थ मनुष्य की नाडी–गति, विना पसारी हथेली के नीचे प्रतीत हो और हाथ पसारने पर अपने स्थान पर सूक्ष्मरूप से लक्षित हो तो उस मनुष्य की तीन दिनों में मृत्यु हो जाती है ।

वसवराज ने कहा है–'जिसकी नाडी, अपने स्थान से आधे जौ भर हट जाये, उस मनुष्य की तीन दिन में अवश्य मृत्यु होती है' ।

कणाद के मत में–'यदि नाडी, क्षण भर में तीव्र और क्षणभर में मन्दगति से चलती हो शरीर के किसी अङ्ग में शोथ (सूजन न हो तो उसकी एक सप्ताह में मृत्यु होती है' । नाडी प्रकाश और योगरत्नाकर में भी सप्ताह-मृत्यु-सूचक अरिष्ट इसी प्रकार लिखे हैं ।

अत्र प्रसङ्गतः किञ्चित् संगृह्यते ।

यथा वसवराजः—

व्याकुला शिथिला मन्दा स्थित्वा स्थित्वा प्रयाति या ।
स्थानं क्रमेण मुञ्चन्ती नाडी मरणशंसिनी ॥
अत्यन्तशीतला नासा स्तैमित्यं नेत्रयोरपि ।
स्थानच्युतिश्च नाडीनां सद्यो मरणहेतवः ॥ इति ।

कणादस्तु—

त्रिदोषे स्पन्दते नाडी मृत्युकालेऽपि निश्चला ।
ज्ञेयं सर्वविकारेषु वैद्यैः कुशलकर्मभिः ॥
महातापेऽपि शीतत्वं शीतत्वे तापिता सिरा ।
नानाविधगतिर्यस्य तस्य मृत्युर्न संशयः ॥
भू-लता-भुजगाकारा नाडी देहस्य संक्रमात् ।
विशीर्णे क्षीणतां याति मासान्ते मरणं ध्रुवम् ॥

योगरत्नाकरे यथा—

विद्युद्वन्नमिता नाडी दृश्यते च न दृश्यते ।
अकाल-विद्युत्पातेन स गच्छेद् यमशासनम् ॥

यहां हमने प्रसङ्ग से इस विषय के अन्यपद्यों का भी संग्रह कर दिया है । जैसे—

वसवराज—अव्यवस्थित गतिवाली, शिथिल, मन्द, रुक-रुक कर चलने वाली और धीरे-धीरे अपने स्थान अंगुष्ठमूल को छोड़ती हुई नाडी मरण की सूचक होती है ।

नाक का अत्यन्त शीतल होना, आंखों का पथरा जाना और नाडी का अपने स्थान से हट जाना—ये तुरन्त मृत्यु-सूचक चिह्न हैं ।

कणाद—त्रिदोष और मृत्यु के लक्षणों को देखते हुए यदि नाडी निश्चल रहे तो उसे असाध्य समझना चाहिये ।

शरीर के घोर सन्तप्त रहने पर भी नाडी, यदि ठण्डी हो और शरीर के अत्यन्त शीतल होनेपर भी यदि नाडी, अति उष्ण हो और अनेक प्रकार की अव्यवस्थित गतियां उसमें उत्पन्न होती हों तो-ऐसी नाडीवाले रोगी की मृत्यु निश्चित है ।

रोग की अवस्था में शरीर के शिथिल हो जाने पर यदि नाडी, केंचुए और सर्प की भांति गमन करे तो एक मास के अन्त में अवश्य मृत्यु होती है ।

योगरत्नाकर—जिस रोगी की नाडी का स्पन्दन विजली के समान प्रतीत होकर पुनः लुप्त हो जाये, वह रोगी अकाल में विद्युत्पात की भांति मर जाता है ।

तिर्यगुष्णा च या नाडी सर्पगा वेगवत्तरा ।
कफ--पूरित--कण्ठस्य जीवितं तस्य दुर्लभम् ॥
चैलाञ्चलितवेगा च नासिकाधारसंयुता ।
शीतला दृश्यते या च याममध्ये च मृत्युदा ॥
दृश्यते चरणे नाडी करे नैवाभिदृश्यते ।
मुखं विकसितं यस्य तं दूरात् परिवर्जयेत् ॥
वातपित्तकफाश्चापि त्रयो यस्यां समाहिताः ।
कृच्छ्रसाध्यामसाध्यां वा प्राहुर्वैद्य-विशारदाः ॥८८॥ इति ।

मृतस्य चिह्नानि—

शान्ते नाडी–विताने शमनमुपगते चेन्द्रियाणां प्रचारे
सूक्ष्मेवानुष्णरूपां विकृतिमुपगते सर्वथा शीतभावे ।
शून्ये चिन्तात्मवर्गे स्फुरणविरहिते नष्टसंज्ञाप्रदोषे
सूर्ये चन्द्रात्मसंस्थावगत-गुणगणे पञ्चतेयं प्रत्राच्या ॥८९ ।

विताने—प्रसारे । प्रचारे—व्यवहारे । सूर्ये चन्द्रात्मसंस्थे-अमावास्यायां सूर्य-चन्द्रमसोर्लुप्तभावमिव दक्षिण-वाम-स्वरयोर्लोपः । पञ्चता—मरणम् ॥८९॥

जिस पुरुष की नाडी, टेढापन लिए हुए उष्ण हो, या सर्प की भांति टेढापन लिए-हुए वेग से चल रही हो और कण्ठ में कफ घरघरा रहा हो उसका जीवन कठिन है ।

जिस रोगी को ढंके हुए वेगवाली नाक धार के समान हो और शीतल हो तो वह रोगी एक प्रहर में मर जाता है ।

जिस रोगी के पांवों में नाडी फड़क रही हो अंगूठे के मूल में स्पन्दन प्रतीत न हो और मुंह खुला हो—उसे दूर से ही परित्याग करे अर्थात् उसकी चिकित्सा न करे ।

जिस रोगी की नाडी में वात, पित्त और कफ के वेग समान काल में प्रतीत हों, उस सान्निपातिक नाडी को कष्ट साध्य या असाध्य समझना चाहिये ।

यहां वैद्यों की सुविधा के लिए प्रसङ्ग से अरिष्टों का संग्रह कर दिया गया है।८८।।

मृत–चिह्न—

जिसकी नाडियों की गति बन्द हो, इन्द्रियों की क्रिया नष्ट हो गई हो, सारा शरीर ठण्डा हो गया हो, शरीर के सभी विकार शान्त हो गये हों, चिन्ता और मानसिक विकारों का मार्ग शून्य हो गया हो, शरीर में किसी प्रकार का स्पन्दन न हो, सब प्रकार की चेष्टाएं बन्द हो जायं संज्ञा नष्ट हो जाय और चन्द्र–सूर्य-स्वर (दाहिने बांए स्वर) अपने गुणों से रहित हो जायं तो समझना चाहिये कि उसकी मृत्यु हो चुकी ।।८९।।

नाड्यधिप्रवरं प्रयाति विकृतिं शान्तिपरां सूक्ष्मतां,
शान्तिर्याति विपर्ययश्च यदि वा हित्वास्य मार्गानिलम् ।
अज्ञानेऽपि हि शून्यतामुपगते ज्ञानेन्द्रिये शाम्यति,
सूर्याचन्द्रमसौ तथा च पिहिते पञ्चत्वमेति स्फुटम् ॥९०॥

स्पष्टोऽर्थः ॥९०॥

मृत्युकाले मनुष्याणां देहदशावर्णनम्—

शुष्कौष्ठः श्यावकौष्ठोऽप्यसित-नख-रदः शीत-नासाप्रदेशः,
शोणाक्षश्चैकनेत्रो लुलित-कर-पदः श्रोत्र-पातित्य-युक्तः ।
शीतश्वासोऽथ चोष्णः श्वसन-समुदयी शीतगात्रः सकम्पः,
सोद्वेगो निष्प्रपञ्चः प्रभवति मनुजः सर्वथा मृत्युकाले ॥९१॥

असितनखरदः—कृष्णनखदन्तः । शेषं स्पष्टम् ॥९१॥

पञ्चाभिभूतास्त्वथ पञ्चकृत्वः पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयन्ति ।
पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयित्वा पञ्चत्वमायान्ति विनाशकाले ॥९२॥

नाडी का अधिष्ठान विकृत हो जाय और नाडी की गति बन्द हो जाय अथवा उसका स्पन्दन अत्यन्त सूक्ष्म हो, नाक के नथनों से श्वास का आना-जाना न हो मुंह खुला रहे, ज्ञान का नाश हो जाय, अज्ञान से अव्यवस्थित चेष्टा करे, ज्ञानेन्द्रियों के सभी व्यापार बन्द हो जाएं; और दक्षिण नाक का सूर्य–स्वर तथा वाम नासाका चन्द्र-स्वर चलना बन्द हो जाये तो यह स्पष्ट समझ ले कि मनुष्य की मृत्यु निश्चित रूप से होगी ॥९०॥

मृत्यु के समय पुरुष की अवस्था—

मृत्यु काल में मनुष्य का ओष्ठ सूख जाता है तथा काला हो जाता है, दांत और नख भी काले हो जाते हैं, नासिका-प्रदेश ठण्डा हो जाता है, आंखें लाल हो जाती हैं, एक आंख की दृष्टि-शक्ति नष्ट हो जाती है, हाथ-पांव शिथिल होकर विवश हो जाते हैं, कान झुक जाता है, शीत और उष्ण-श्वास चलने लगता है ऊर्ध्व श्वास का उदय हो जाता है, शरीर ठण्डा पड़ जाता है, कंपकपी होने लगती है और मनुष्य सर्वथा उद्वेग–युक्त या प्रपञ्चशून्य–शान्त जो जाता है ॥९१॥

आकाश आदि पांच भूतों से उत्पन्न हुई धमनियां, पांच इन्द्रियों वाले जीवात्मा को इन्द्रियों के आधिष्ठान श्रोत आदि पांचों में पांचों वार करके पृथक् पृथक् पहुंचाती है और पांचों ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों एवं मन को अपने अपने विषयों में पहुंचाकर वे ही मृत्यु के समय (आकाश आदि भाव) को प्राप्त होती है अर्थात् अपने कारणभूत पञ्चमहाभूतों में लीन हो जाती हैं । इसी से पञ्चत्व को प्राप्ति होने का नाम लोक में मृत्यु है ।

पञ्चाभिभूतः -पञ्चमहाभूतज-मलदोषधातूपधातुरूपैः पञ्चमहाभूतैरभिभूतो व्याप्त इति । उक्तञ्च—दोष-धातु-मल-मूलं हि शरीरमिति ।

> आपादतः प्रततगात्रमशेषमेषां,
> आमस्तकादपि च नाभि-पुरः-स्थितम् ।
> एतन्मृदङ्गमिव चर्मचयेन नद्धं,
> कार्यं नृणामिह सिराशतसप्तकेन ।।

तथा च श्रुतिः—**'वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्'** (यजु० ४०।८)

अथ-तदनन्तरं पञ्चमहाभूतानि पञ्चकृत्वः-पृथक् पृथक् पञ्च संख्याभ्यावृत्तिं प्राप्य । पञ्चेन्द्रियं-पञ्चज्ञानेन्द्रियं समनस्कमात्मानं; मनसा विना ज्ञानोपलब्धेर-भावादनुक्तमपि मनः संगहीतं भवति । पंचसु भावयन्ति—इन्द्रियाणां पञ्चविध-विपर्ययेषु व्यापयन्ति, सत्तामाधापयन्ति वा। तानि पञ्चमहाभूतानि निजविकारै-रात्मानं रममाणं कृत्वा विनाशकाले—मृत्युकाले पञ्चत्वमायान्ति—पृथक् पृथक् पञ्चतन्मात्रासु लयं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । ततो मृत इत्युच्यते ।

तथा च चरकः—

> **यस्मात् समुपलभ्यन्ते लिङ्गान्येतानि देहिनाम् ।**
> **न मृतस्यात्मलिङ्गानि तस्मादाहुर्महर्षयः ।।**

पांच महाभूतों से उत्पन्न मल, दोष, धातु, तथा उपधातु रूप से समस्त शरीर को व्याप्त करने के कारण 'पञ्चाभिभूत' पद से ज्ञात होता है ।

नाभिमूलक सिरायें आपादमस्तक सारे शरीर में व्याप्त होकर, मनुष्यों के शरीर को कार्य करने में समर्थ कर रही है । जैसे चर्म से आवृत मृदंग शब्द को प्रवाहित करने में समर्थ होता है । सात सौ प्रधान सिरायें हैं, शेष इन्हीं के अनुप्रतान है ।

'पञ्चकृत्वः' का अर्थ है बार-बार या पृथक्-पृथक् करना । 'पञ्चेन्द्रियों' में मन की गणना नहीं है । परन्तु अनुक्त होने पर भी मन का ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि मन के विना ज्ञाने-न्द्रियां ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ रहती है । पञ्चसु भावयन्तिका तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों को अपने अपने पांचों विषयों में व्यापृत करते हैं पुनः वे पांच भूत मृत्युकाल में अपने अपने कारण में मिलजाते हैं—तब उसे मृत कहा जाता है ।

इसी आशय को चरक ने भी स्पष्ट किया है—आत्मा के रहने पर शरीर में जीवन के चिह्न दीखते हैं आत्मा के निकल जाने पर ये नहीं दीखते । इसीलिए ऋषिगण, सूने घर के समान

शरीरं हि मृते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम् ।
पञ्चभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वं गतमुच्यते ।।
(च० शा० १।७३-७४) ।।९२।।

वातावर्तित-मानुषेऽतिविषमं संस्पन्दते नाडिका
पित्तस्यैव समागमं न कुरुते मन्दा च मन्दोदये ।
प्राचुर्यं भजते रसाश्रयवशात् क्षीणा रसेनोज्झिता
नीत्वा श्वासमुपैति शान्तिमचलैः स्वैरन्तकाले नृणाम् ।।९३।।

मन्दोदये—मृत्युसमये । रसाश्रयेषु दोषेषु प्राचुर्यं नाड्याः । शेषं स्पष्टम्
जीवन—सूचिका नाडीः—

स्पन्दते चैकमानेन त्रिंशद्वारं यदा धरा ।
स्वस्थानेऽपि धरा नूनं रोगी जीवति नान्यथा ।।९४।।

दोषाणां सममार्गाखधत्वमारोग्यज्ञापकं भवति । तत्परीक्षायां धरायाः त्रिंशद्-वारमेकमानेन गतिमत्त्वमुक्तम् । सूर्यो हि त्रिंशदंशै राशिं संक्रमते । तथैवायं सूर्यांश-भूतोऽन्तर्बहिः पुरुषे साधुकर्म करोतीति कृत्वा त्रिंशद्धा मानमुपपद्यते । क्वचिद् व्यतिक्रमोऽपि भवति सूर्यांशानां त्रिंशत आधिक्येन संक्रमस्य दर्शनात् ।।९४।।

अ-चेतन देह को पञ्चभूत-अवशेष रहने से पञ्चता-प्राप्त कहते हैं ।।९३।।

जीवन के अन्तिम काल में वात-प्रकोप से युक्त होने पर मनुष्य की नाडी अत्यन्त विषम-भाव से चलती है और नाडी में पित्त का सम्बन्ध नहीं रह जाता । कफ की अधिकता होने पर नाडी मन्द हो जाती है परन्तु रस के आश्रय से तेजी रहती है और रसहीन होने पर क्षीण हो जाती है । अर्थात् नाडियों में रहने वाला श्वासवायु-निकल जाता है और मनुष्य के सभी अवयव अचल हो जाते हैं ।।९३।।

रोगी की जीवन-ज्ञापिका नाडीः—

यदि रोगी की नाडी, अपने स्थान में एक मान से ३० बार फड़कती हो तो वह निश्चय ही जीवित रह सकता है । इससे अन्यथा होने पर रोगी का जीवन कठिन होता है ।

कारण यह कि दोषों का समानरूप से अपने मार्ग पर स्थिर रहना ही आरोग्य सूचक है । इसका ज्ञान नाडी के ३० बार चलने से होता है । एक राशि ३० अंश की होती है और सूर्य एक राशि का भोग ३० दिनों में करता है । सूर्य का अंश पित्तरूप अग्नि, शरीर में विद्यमान है अतः उसका एकमान में ३० बार चलना युक्तियुक्त है । सूर्य के मास संक्रमण में कभी २९ और कभी ३१ दिन भी लगते हैं । अतः नाडी का इस प्रकार चलना सम्भव है ।।९४।।

अन्तर्ज्वरनाडीः —

शरीरं शीतलं नाडी नूनं चोष्णतरा भवेत् ।
ज्वरमन्तर्गतं तस्य जानीयाद् भिषगुत्तमः ॥९५॥

शरीरं शीतलमिति–रस–रक्तादिष्वन्यतमं प्राप्तं पित्तं नाडी मोषयति, परन्तु त्वचि शीतत्वमेव, तस्मादुपपद्यतेऽन्तरज्वरे वेगाधिकाचार्योक्ता नाडीति ॥९५॥

अन्तिम उपदेशः—

मृत्यून्मुखां धरां ज्ञात्वा न चिकित्सेद् गदातुरम् ।
(राम-नामौषधं तत्र प्रकुर्यात् पारलौकिकम्) ॥९६॥

निगद एव व्याख्यातम् ॥९६॥

संपूर्णेयं रावण–नाडी–विवृतिः ।

समाप्तञ्चेदं नाडीतत्त्वदर्शनम् ।

६. १०. १९४८ ई०
आश्विन प्र० २१,२००५

अन्तर्गत ज्वर की नाडी—

यदि रोगी का शरीर ठण्डा हो और नाडी अधिक उष्ण हो तो रोगी के अन्दर ज्वर समझना चाहिये ।

तात्पर्य कह कि पित्त, रस आदि सात धातुओं में से किसी भी धातु को प्राप्त होकर नाडी को उष्ण करता है और त्वचा शीतल रहती है ॥९५॥

अन्तिम उपदेशः—

जब नाडी के लक्षणों से रोगी की मृत्यु निश्चित हो जाये तब उस रोगी को अ–साध्य समझकर उसकी चिकित्सा न करे और रोगी को परलोक में सहायक राम–नाम रूपी औषध करावे ॥ ९६ ॥

रावण कृत–नाडी—विवृति समाप्त हुई ।

'नाडीतत्त्वदर्शन' निबन्ध समाप्त हुआ ।

३१- ७. १९४९ ई०
१६ श्रावण २००६

—:o:—

अथ कणाद-नाडीविज्ञानम्

एतेन व्याख्यातपूर्वेण ''रावणनाडीविवृति''-प्रबन्धेन ''कणाद-नाडी'' ''वसवराजीया'' च नाडी सहजतया व्याख्याता भवति, तस्मान्नास्माभिः पदशो व्याख्यायते । (सत्यदेवो वासिष्ठ.)

मंगलाचरणम्—

यद्वक्त्रेभ्यः पञ्चसंख्यागतेभ्यो वेदा जाता ऋग्यजुःसामरूपाः ।
सायुर्वेदाथर्ववेदश्च तस्मिन्नास्तां शम्भौ श्रीकणादस्य भक्तिः ॥१॥

वैद्यक प्रचारकाः—

आस्ते वेदः पञ्चमो वैद्यकाख्यो वेत्ता कश्चित्तस्य नास्ते महेशात् ।
तस्माद्धाताऽध्यैष्ट तस्मात् तुराषाट् तस्माज्ज्ञात्वा वक्तुमर्हामि शास्त्रम् ॥२॥

नाडीनां संख्या मूलस्थानञ्च—

सार्द्धत्रिकोट्यो नाड्यो हि स्थूलाः सूक्ष्माश्च देहिनाम् ।
नाभिकन्दनिवद्धास्तास्तिर्यगूर्ध्वमधः स्थिताः ॥३॥

आकृतिकर्मभेदेन नामभेदः—

द्वासप्ततिसहस्रन्तु तासां स्थूलाः प्रकीर्त्तिताः ।
देहे धमन्यो धन्यास्ताः पञ्चेन्द्रियगुणावहाः ॥४॥
तासां च सूक्ष्मशुषिराणि शतानि सप्त स्युस्तानि यैरसकृदन्नरसं वहद्भिः ।
आप्यायते वपुरिदं हि नृणाममीषामम्भः स्रवद्भिरिव सिन्धुशतैः समुद्रः ॥५॥
आपादतः प्रततगात्रमशेषमेषामामस्तकादपि च नाभिपुरःस्थितेन ।
एतन्मृदङ्ग इव चर्म्मचयेन नद्धं कायं नृणामिह शिराशतसप्तकेन ॥६॥

परीक्षणीया नाडी—

शतसप्तानां मध्ये चतुरधिका विंशतिः स्फुटास्तासाम् ।
एका परीक्षणीया या दक्षिणकरचरणविन्यस्ता ॥७॥
तिर्यक्कूर्मो देहिनां नाभिदेशे वामे वक्त्रं तस्य पुच्छं च याम्ये ।
ऊर्ध्वे भागे हस्तपादौ च वामौ तस्याधस्तात् संस्थितौ दक्षिणौ तौ ॥८॥
वक्त्रे नाडीद्वयं तस्य पुच्छे नाडीद्वयं तथा ।
पञ्च पञ्च करे पादे वामदक्षिणभागयोः ॥९॥
वातं पित्तं कफं द्वन्द्वं सन्निपातं रसं त्वसृक् ।
साध्यासाध्यविवेकञ्च सर्वं नाडी प्रकाशयेत् ॥१०॥

सव्येन रोगधृतिकूर्परभागभाजाऽऽपीड्याथ दक्षिणकराङ्गुलिकात्रयेण ।
अङ्गुष्ठमूलमधि पश्चिमभागमध्ये नाडीं प्रभञ्जनगतिं सततं परीक्षेत् ॥११॥

परीक्षायाः कालरीती—

प्रातः कृतसमाचारः कृताचारपरिग्रहम् ।
सुखासीनः सुखासीनं परीक्षार्थमुपाचरेत् ॥१२॥
तैलाभ्यङ्गे च सुप्ते च तथा च भोजनान्तरे ।
तथा न ज्ञायते नाडी यथा दुर्गतमा नदी ॥१३॥
अङ्गुष्ठस्य तु मूले या सा नाडी जीवसाक्षिणी ।
तस्या गतिवशाद्विद्यात् सुखं दुःखं च रोगिणाम् ॥१४॥
स्नायुनाडी वसा हिंस्रा धमनी धामनी धरा ।
तन्तुकी जीवितज्ञा च शिरापर्य्यायवाचिकाः ॥१५॥

अङ्गुलित्रयेण त्रिदोषज्ञानम्—

आदौ च वहते वातो मध्ये पित्तं तथैव च ।
अन्ते च वहते श्लेष्मा नाडिकात्रयलक्षणम् ॥१६॥

दोषलक्षणज्ञानम्—

वाताधिका वहेन्मध्ये त्वग्रे वहति पित्तला ।
अन्ते च वहते श्लेष्मा मिश्रिते मिश्रलक्षणा ॥१७॥
आदौ च वहते पित्तं मध्ये श्लेष्मा तथैव च ।
अन्ते प्रभञ्जनो ज्ञेयः सर्वशास्त्रविशारदैः ॥१८॥

स्वस्था नाडी—

भूलताभुजगप्राया स्वच्छा स्वास्थ्यमयी शिरा ।
सुखितस्य स्थिरा ज्ञेया तथा वलवती मता ॥१९॥
प्रातः स्निग्धमयी नाडी मध्याह्नेऽप्युष्णतान्विता ।
सायाह्ने धावमाना च चिराद्रोगविवर्जिता ॥२०॥

नाड्या वातादिज्ञानम्—

वाताद्वक्रगता नाडी चपला पित्तवाहिनी ।
स्थिरा श्लेष्मवती ज्ञेया मिश्रिते मिश्रिता भवेत् ॥२१॥
सर्पजलौकादिगतिं वदन्ति विवुधाः प्रभञ्जनेन नाडीम् ।
पित्तेन काक-लावकभेकादिगतिं विदुः सुधियः ॥२२॥
राजहंसमयूराणां पारावतकपोतयोः ।
कुक्कुटस्य गतिं धत्ते धमनी कफसंवृता ॥२३॥
मुहुः सर्पगतिं नाडीं मुहुः भेकगतिं तथा ।
वातपित्तद्वयोद्भूतां तां वदन्ति मनीषिणः ॥२४॥

भुजगादिगतिं नाडीं राजहंसगतिं तथा ।
वातश्लेष्मसमुद्भूतां भाषन्ते तद्विदो जनाः ॥२५॥
मण्डूकादिगतिं नाडी मयूरादिगतिं तथा ।
पित्तश्लेष्मसमुद्भूतां प्रवदन्ति विचक्षणाः ॥२६॥
सूक्ष्मा शीता स्थिरा नाडी पित्तश्लेष्मसमुद्भवा ।
कफवातोद्भवा नाडी सर्पहंसगतिर्भवेत् ॥२७॥

त्रिदोषे नाडीगतिः—

उरगादिलावकादिहंसादीनां च विभ्रती गमनम् ।
वातादीनां च समं धमनी संवन्धमाधत्ते ॥२८॥
लाव—तित्तिरि—वार्ताक—गमनं सन्निपाततः ।
कदाचिन्मन्दगा नाडी कदाचिच्छीघ्रगा भवेत् ।
त्रिदोपप्रभवे रोगे विज्ञेया सा भिषग्वरैः ॥२९॥

असाध्यसन्निपातजा नाडी—

मन्दं मन्दं शिथिलशिथिलं व्याकुलं व्याकुलं वा
स्थित्वा स्थित्वा वहति धमनी याति नाशं च सूक्ष्मा ।
नित्यं स्थानात् स्खलति पुनरप्यंगुलिं संस्पृशेद् या
भावैरेवं वहुविधविधैः सन्निपातादसाध्या ॥३०॥

अन्यच्च—

अत्युच्चका स्थिराऽत्यन्तं या चेयं मांसवाहिनी ।
या च सूक्ष्मा च वक्रा च तामसाध्यां विनिर्दिशेत् ॥३१॥

अन्यच्च—

महातापेऽपि शीतत्वं शीतत्वे तापिता शिरा ।
नानाविधगतिर्यस्य तस्य मृत्युर्न संशयः ॥३२॥
त्रिदोषे स्पन्दते नाडी मृत्युकालेऽपि निश्चला ।
ज्ञेयं सर्वविकारेषु वैद्यैः कुशलकर्मभिः ॥३३॥

अन्यच्च—

पूर्वं पित्तगतिं प्रभञ्जनगतिं श्लेष्माणमाविभ्रतीं
सन्तानभ्रमणं मुहुर्विदधतीं चक्राधिरूढामिव ।
तीव्रत्वं दधतीं कलापिगतिकां सूक्ष्मत्वमातन्वतीं
नो साध्यां धमनीं वदन्ति मुनयो नाडीगतिज्ञानिनः ॥३४॥

मृत्युकालज्ञानम्—

भूलताभुजगाकारा नाडी देहस्य संक्रमात् ।
विशीर्णे क्षीणतां याति मासान्ते मरणं ध्रुवम् ॥३५॥

क्षणाद्गच्छति वेगेन शान्ततां लभते क्षणात् ।
सप्ताहान्मरणं तस्य यद्यंगं शोथवर्जितम् ॥३६॥

हिमवद्विशदा नाडी ज्वरदाहेन तापिनाम् ।
त्रिदोषस्पर्शभजतां तदा मृत्युर्दिनत्रयात् ॥३७॥

निरीक्ष्या दक्षिणे पादे तथा चैषा विशेषतः ।
मुखे नाडी वहेन्नित्यं ततस्तु दिनतुर्य्यकम् ॥३८॥

गतिं भ्रमरकस्येव वहेदेकदिनेन तु ॥३९॥

कन्दे न स्पन्दते नित्यं पुनर्लगति चाङ्गुलौ ।
मध्ये द्वादशयामानां मृत्युरेव न संशयः ॥४०॥
स्थित्वा स्थित्वा मुखे यस्य विद्युद्द्योत इवेक्ष्यते ।
दिनैकं जीवितं तस्य द्वितीये म्रियते ध्रुवम् ॥४१॥
स्वस्थानविच्युता नाडी यदा वहति वा न वा ।
ज्वाला च हृदये तीव्रा तदा ज्वालाऽवधि स्थितिः ॥४२॥
अङ्गुष्ठमूलतो बाह्ये द्व्यङ्गुले यदि नाडिका ।
प्रहरार्द्धाद्बहिर्मृत्युं जानीयाच्च विचक्षणः ॥४३॥
द्व्यङ्गुलाद्बाह्यतो नाडी मध्ये रेखा वहिर्यदि ।
सार्द्धप्रहरकान्मृत्युर्जायते नात्र संशयः ॥४४॥
मध्ये रेखासमा नाडी यदा तिष्ठति निश्चला ।
षड्भिश्च प्रहरैस्तस्य ज्ञेयो मृत्युर्विचक्षणैः ॥४५॥
पादाङ्गुलगता नाडी चञ्चला यदि तिष्ठति ।
त्रिभिस्तु दिवसैस्तस्य मृत्युरेव न संशयः ॥४६॥
पादांङ्गुलता नाडी कोष्णा वेगवती भवेत् ।
चतुर्भिर्दिवसैस्तस्य मृत्युरेव न संशयः ॥४७॥
पादाङ्गुलता नाडी मन्दमन्दा यदा भवेत् ।
चञ्चर्भिर्दिवसैस्तस्य मृत्युर्भवति नान्यथा ॥४८॥
एवं संख्यादिभेदेन नाडी ज्ञेया विचक्षणैः ।
स्वर्गेऽपि दुर्लभा विद्या गोपनीया प्रयत्नतः ॥४९॥

असाध्यवल्लक्षितायामपि साध्यत्वम् —

भारप्रवाहमूर्च्छाभयशोकप्रमुखकारणान्नाडी ।
सम्मूर्च्छितापि गाढं पुनरपि सा जीवितं धत्ते ॥५०॥
पतितः संधितो मेदी नष्टशुक्रश्च यो भवेत् ।
शाम्यते विस्मयस्तस्य न किञ्चिन्मृत्युकारणम् ॥५१॥

निष्पन्दनाड्यामपि मृत्योरपवादः—

तथा भूताभिषङ्गे च त्रिदोषवदुपस्थिता ।
यद्यकस्मात्तथा नाडी न तदा मृत्युकारणम् ॥५२॥
समाङ्गा वहते नाडी तथा च न क्रमं गता ।
अपमृत्युर्न रोगाङ्गा नाडी तत्सन्निपातवत् ॥५३॥
स्वस्थानहीने शोके च हिमाऽऽक्रान्ते च निर्गदाः ।
भवन्ति निश्चला नाड्यो न किञ्चित्तत्र दूषणम् ॥५४॥
स्तोकं वातकफं दुष्टं पित्तं वहति दारुणम् ।
पित्तस्थानं विजानीयाद् भेषजं तस्य कारयेत् ॥५५॥
स्वस्थानच्यवनं यावद् धमन्या नोपजायते ।
तदा तच्चिह्नसत्वेऽपि नासाध्यत्वमिति स्थितिः ॥५६॥

मृत्युभयापवादः—

न विमुञ्चति स्वस्थानं नाडी सूक्ष्मा विभाव्यते ।
तस्य मृत्युभयं नास्ति व्याधिरप्युपशाम्यति ॥५७॥

स्वस्थनाडीलक्षणम्—

सुव्यक्तता तिर्म्मलत्वं स्वस्थानस्थितिरेव च ।
अचाञ्चल्यममन्दत्वं सर्वासां शुभलक्षणम् ॥५८॥

दुष्टनाडीलक्षणण्—

रक्तं वमति सूक्ष्मत्वं स्वस्थानस्य विमोक्षणम् ।
चाञ्चल्यं दोषपूर्णत्वं काठिन्यमतिमन्दता ।
स्तैमित्यं गतिकौटिल्यं सर्वासां दुष्टलक्षणम् ॥५९॥

सुखसाध्या नाडी—

यदा यं धातुमाप्नोति तदा नाडी तथागतिः ।
तदा हि सुखसाध्यत्वं नाडीज्ञानेन बुध्यते ॥६०॥
नाडी यथाकालगतिस्त्रयाणां प्रकोपशान्त्यादिभिरेव भूयः ॥६१॥

द्रव्यविशेषभक्षणे नाडीगतिः—

पुष्टिस्तैलगुडाहारे मांसे च लगुडाकृतिः ।
क्षीरे च स्तिमिता वेगा मधुरे भेकवद्गतिः ॥६२॥
रम्भागुडवटाहारे रूक्षशुष्कादिभोजने ।
वातपित्तार्तिरूपेण नाडी वहति निष्क्रमम् ॥६३॥

रसविशेषभोजने नाडीगतिः—

मधुरे बर्हिगमना तिक्ते स्याद् भूलतागतिः ।
अम्ले कोष्णा प्लवगतिः कटुके भृङ्गसन्निभा ॥६४॥

कषाये कठिना म्लाना लवणे सरला द्रुता ।
एवं द्वित्रिचतुर्योगे नानाधर्म्मवती धरा ॥६५॥

रसानां शमनकोपनत्वं—

स्वाद्वम्ललवणा वायुं कषायस्वादुतिक्तकाः ।
जयन्ति पित्तं श्लेष्माणं कषायकटुतिक्तकाः ॥६६॥

कट्वम्ललवणाः पित्तं स्वाद्वम्ललवणाः कफम् ।
कटुतिक्तकषायाश्च कोपयन्ति समीरणम् ॥६७॥

प्रसंगवशात् रसानां विपाकमाह—

कटुतिक्तकषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः ।
अम्लोऽम्लं पच्यते स्वादुर्मधुरो लवणस्तथा ॥६८॥

मधुरो लवणाऽम्लश्च स्निग्धभावास्त्रयो रसाः ।
वानमूत्रपुरीषाणां प्रायो मोक्षे सुखा मताः ॥६९॥

कटुतिक्तकषायाश्च रूक्षभावास्त्रयो रसाः ।
दुःखानि मोक्षे दृश्यन्ते वातविण्मूत्ररेतसाम् ॥७०॥

प्रसङ्गवशात् द्रव्याणामपि रसधर्मत्वमाह—

मधुरं श्लेष्मलं प्रायो जीर्णात् शालियवादृते ।
मुद्‌गाद् गोधूमतः क्षौद्रात् सिताया जाङ्गलामिषात्॥७१।

प्रायोऽम्लं पित्तजननं दाडिमामलकादृते ॥७२॥

द्रवेऽतिकठिना नाडी कोमला कठिनाशने ।
द्रवद्रव्यस्य काठिन्ये कोमला कठिनापि च ॥७३॥

अम्लैश्च मधुराम्लैश्च नाडी शीता विशेषतः ।
चिपिटैर्भृष्टद्रव्यैश्च स्थिरा मन्दतरा भवेत् ॥७४॥

कुष्माण्डैर्मूलकैश्चैव मन्दा मन्दा च नाडिका ।
शाकैश्च कदलैश्चैव रक्तपूर्णेव नाडिका ॥७५॥

मांसात् स्थिरवहा नाडी दुग्धे शीता वलीयसी ।
गुडैः क्षारैश्च पिष्टैश्च स्थिरा मन्दवहा भवेत् ॥७६॥

गुडरम्भामांसरूक्ष—शुष्कतीक्ष्णादि—भोजनात् ।
वातपित्तार्त्तिरूपेण नाडी वहति निश्चला ॥७७॥

अम्लेऽपि हृद्यसुस्थत्वे भवन्ति तापिताः शिराः ॥७८॥

प्रातरादौ सुस्थनाडीगतिमाह—

प्रातः स्निग्धमयी नाडी मध्याह्नेऽप्युष्णतान्विता ।

सायाह्ने धावमाना च रात्रौ वेगविवर्जिता ।
प्रकृतिस्था च सा नाडी सदा ज्ञेया भिषग्वरैः ॥७९॥

ज्वरपूर्वरूपे नाडीगतिः—

अङ्गग्रहेण नाडीनां जायन्ते मन्थराः प्लवाः ।
प्लवः प्रबलतां याति ज्वरदाहाभिभूतये ॥८०॥

सान्निपातिकपूर्वरूपे नाडी—

सान्निपातिकरूपेण भवन्ति सर्ववेदनाः ॥८१॥

संप्राप्तज्वरे नाडीगतिः—

ज्वरकोपे तु धमनी सोष्मा वेगवती भवेत् ॥८२॥

वातोल्वणज्वरे नाडी—

ज्वरे वक्रञ्च धावन्ति तथा च मारुतप्लवे ।।८३॥

रमणान्ते नाडीगतिः—

रमणान्ते निशि प्रातस्तप्ता दीपशिखा यथा ॥८४॥

समतीव्रवायौ नाडीगतिः—

सौम्या सूक्ष्मा स्थिरा मन्दा नाडी सहजवातजा ।
स्थूला च कठिना शीघ्रा स्पन्दते, तीव्रमारुते ॥८५॥

पित्तज्वरे नाडीगतिः—

भृता च सरला दीर्घा शीघ्रा पित्तज्वरे भवेत् ।
शीघ्रमाहननं नाड्याः काठिन्याच्च चला तथा ।
मलाजीर्णेन मितरां स्पदनञ्च प्रकीर्त्तितम् ॥८६॥

श्लेष्मला नाडी

नाडी तन्तुसमा मन्दा शीतला श्लेष्मकोपतः ॥८७॥

वातपित्तजा नाडी—

चञ्चला तरला स्थूला कठिना वातपित्तजा ॥८८॥

वातश्लैष्मिकी नाडी—

ईषच्च दृश्यते तूष्णा मन्दा स्याच्छ्लेष्म-वातजा ।
निरन्तरं खरं रूक्षं मन्दश्लेष्मातिवातला ॥८९॥

रूक्षवातजा नाडी—

रूक्षवातभवे तस्य नाडी स्यात् पिण्डसन्निभा ॥९०॥

पित्तश्लेष्मजा नाडी—

सूक्ष्मा शीता स्थिरा नाडी पित्तश्लेष्मसमुद्भवा ॥९१॥

रक्तपूर्ण-मलवती नाडी—

मध्ये करे वहेन्नाडी यदि सन्तापिता ध्रुवम् ।
तदा नूनं मनुष्याणां रुधिरापूरिता मलाः ॥९२॥

कामादौ नाडीगतिः—

कामाद् क्रोधात् वेगवती क्षीणा चिन्ताभयाप्लुता ॥९३॥

भूतज्वरे नाडीगतिः—

भूतज्वरे सेक इवातिवेगा धावन्ति नाड्यो हि यथाब्धिगामाः ॥९४॥

विषमज्वरे नाडी गतिः—

एकाहिकेन क्वचन प्र र-क्षणान्तगामा विषमज्वरेण ।
द्वितीयके वाथ तृतीयतुर्य्ये गच्छन्ती तप्ता भ्रमिवत् क्रमेण ॥९५॥

क्रोधजे सङ्कलग्नाङ्गा ससङ्गा कामजे ज्वरे ।
उष्णा वेगधरा नाडी ज्वरकोपे प्रजायते ॥९६॥
उद्वेगक्रोधकालेषु भयचिन्ताभ्रमेषु च ।
भवेत् क्षीणागतिर्नाडी ज्ञातव्या वैद्यसत्तमैः ॥९७॥

ज्वरे रमणादौ नाडीगतिः—

ज्वरे च रमणे नाडी क्षीणाङ्गी मन्दगामिनी ।
ज्वरे कालार्त्तिरूपेण भवन्ति विकलः शिराः ॥९८॥

ज्वरे दध्यादिभोजनजा नाडी—

उष्णत्वं विषमावेगा ज्वरिणां दधिभोजना ॥९९॥
काञ्जिकया ज्वराक्रान्ते जायते मन्थरा गतिः ।
अम्लाशित्वादसुस्थत्वं जायन्ते तापिताः शिराः॥१००॥

ज्वरमुक्तौ व्यायामादौ नाडीगतिः—

व्यायामे भ्रमणे चैव चिन्तायां धनशोकतः ।
नानाप्रकारगमनं शिरा गच्छति विज्वरे ॥१०१॥

इति ज्वरज्ञानम्

—:०:—

अजीर्णे नाडी—

अजीर्णे तु भवेन्नाडी कठिना परितो जडा ।
प्रसन्न तु द्रुता शुद्धा त्वरिता च प्रवर्त्तते ॥१०२॥
पक्वाजीर्णे पुष्टिहीना मन्दं मन्दं वहेच्छिरा ।
असृक्पूर्णा भवेत् कोष्णा गुर्वी सामा गरीयसी ॥१०३॥

सुखितमन्दाग्न्यादौ नाडी—

सुखितस्य स्थिरा ज्ञेया चपला क्षुधितस्य च ।
मन्दाग्नेःक्षीणधातोश्च नाडी मन्दतरा भवेत् ।
मन्देऽग्नौ क्षीणतां याति नाडी हंसाकृतिस्तथा ॥१०४॥

आमाशयदुष्टयादौ नाडी—

अमाशये पुष्टिविवर्द्धनेन भवन्ति नाड्यो भुजगाग्रवृत्ताः ।
आहारमान्द्यादुपवासतो वा तथैव नाड्यो भुजगातिवृत्ताः ॥१०५॥

दीप्ताग्नौ नाडीगतिः—

लघ्वी वहति दीप्ताग्नेस्तथा वेगवती स्मृता ॥१०६॥

ग्रहण्यां नाडीगतिः—

पादे च हंसगमना करे मण्डूकसंप्लवा ।
तस्याग्नेर्मन्दता देहे त्वथवा ग्रहणीगदः ॥१०७॥

ग्रहण्यतिसारादौ नाडीगतिः—

भेदेन शान्ता ग्रहणीगदेन निवीर्यरूपा त्वतिसारभेदे ।
विलम्बिकायां प्लवगा कदाचिदामातिसारे पृथुला जडा च ॥१०८॥

वेगरोधविसूच्योर्नाडी—

निरोधे मूत्रशकृतोर्विड्ग्रहे त्वितराश्रिता ।
विसूचिकाभिभूते च भवन्ति भेकवत्क्रमाः ॥१०९॥

आनाहमूत्रकृच्छ्रयोर्नाडी—

आनाहे मूत्रकृच्छ्रे च भवेन्नाडीगरिष्ठता ॥११०॥

शूलरोगे नाडी—

वातेन शूलेन मरुत्प्लवेन सदातिवक्रा शिरा वहन्ति ।
ज्वालामयी पित्तविचेष्टितेन साध्मानशूलेन च पुष्टिरूपा ॥१११॥

प्रमेहरोगे नाडी—

प्रमेहे ग्रन्थिरूपा सा प्रतप्ता त्वामदूषणे ॥११२॥

नडीगत्या विषादिज्ञानम्—

उत्पित्सुरूपा विषविशिष्टकाले विष्टम्भगुल्मेन च वक्ररूपा ।
अत्यर्थवातेन अधः स्फुरन्ती उत्तानभेदिन्यसमाप्तिकाले ॥११३॥

गुल्मादौ नाडी—

गुल्मेन कम्पोऽथ पराक्रमेण पारावतस्येव गतिं करोति ॥११४॥

व्रणादौ नाडी —

व्रणेऽतिकठिने देहे प्रयाति पैत्तिकं क्रमम् ।
भगन्दरानुरूपेण नाडीव्रणनिवेदने ।
प्रयाति वातिकं रूपं नाडीपावकरूपिणी ॥११५॥

वान्तशल्याभिहतादेः नाडीगतिः—

वान्तस्य शल्याभिहतस्य जन्तोर्वेगावरोधाकुलितस्य भूयः ।
गतिं विधत्ते धमनी गजेन्द्रमरालमालेव कफोल्बणेन ॥११६॥

॥ इति कणादनाडीविज्ञानं सम्पूर्णम् ॥

अथ वसवराजीया नाडी

सिरादिस्वरूपम्—

पत्रे रेखानिभा भिन्ना सूक्ष्मा वर्णाः स्युराश्रिताः ।
मृणाल-नाडिका-रूपा स्रोतांसि सर्वदेहगाः ।

नाडी-लक्षणम्—

जीवितं लाघवं स्वास्थ्यं ज्वरस्य च विमोचनम् ।
यत्तु स्थानं न मुच्यते पादनाडी विनिर्दिशेत् ॥१॥

नाडी-स्पर्शविधिः—

सव्येन रोगिधृतकूर्परभागमध्यं सम्पीड्य दक्षिणकरांगुलिकात्रयेण ।
अंगुष्ठमूलमधि पश्चिमभागमध्ये नाडी-प्रभञ्जनगतिं सततं परीक्षेत् ॥२॥

स्त्री-पुरुषयोर्नाडीभेदः—

स्त्रीणामूर्ध्वमुखः कूर्मः पुंसां पुनरधोमुखः ।
अतः कूर्मव्यतिक्रान्तात् सर्वत्रैष व्यतिक्रमः ॥३॥

लक्ष्यते दक्षिणे पुंसां या च नाडी विचक्षणैः ।
कूर्मभेदेन वामानां वामे चैवावलोकयेत् ॥४॥

हस्त-गल-नाडी परीक्षा—

तिर्यग् यवप्रमाणेन जहाति च निजं पदम् ।
सूचितं जीव-निर्याणं हस्तनाडी गले च या ॥५॥

हस्तनाडी-परीक्षा—

अजीर्णमामदोषञ्च ज्वरस्यागमनं क्षुधाम् ।
वात-पित्त-कफान् दुष्टान् हस्तनाडी निदर्शयेत् ॥६॥

कण्ठ-नाडीपरीक्षा—

आगन्तुकं ज्वरं तृष्णामायासं मैथुनं क्लमम् ।
भयं शोकञ्च कोपञ्च कण्ठनाडी निदर्शयेत् ॥७॥

नासा-नाडीपरीक्षा—

मरणं जीवितं कामं नेत्ररोगं शिरोव्यथाम् ।
श्रावणान् मुखजान् रोगान् नासानाडी विनिर्दिशेत् ॥८॥

शुभ-नाडीपरीक्षा—

सुव्यक्ता निर्मला चैव स्वस्थानस्थितिरेव च ।
अचाञ्चल्यममन्दत्वं सर्वासां लक्षणं शुभम् ॥९॥

वातादि-नाडीपरीक्षा—

वाताद् वक्रगता नाडी चचला पित्तवाहिनी ।
स्थिरा श्लेष्मवती ज्ञेया संसर्गाद् मिश्रलक्षणा ॥१०।

वाताधिक्ये नाडीलक्षणम्—

वाताधिके वहेच्चाग्रेऽप्यन्ते श्लेष्माधिके वहेत् ।
मध्ये पित्ताधिका नाडी सन्निपाते विलक्षणम् ॥११॥

वाते वाताधिका नाडी व्यलीव कुटिला सदा ।
अत्यन्तदुष्टा वहति स्तब्धा तन्त्री-समाकृतिः ॥१२॥

पित्ताधिक्ये नाडीलक्षणम्—

पित्ताधिक्ये तु चपला नाडी वहति काकवत् ।

श्लेष्माधिक्ये नाडीवर्णनम्—

वक-दर्दुर-सञ्चारा चटका-वर्तिका-गतिः ॥१३॥
कफेन दुष्ट-नाडी तु हंस-कुक्कुट-गामिनी ।
कपोत-मन्द-सञ्चारा भवतीति विनिश्चयः ॥१४॥

प्रकारान्तरेण नाडीलक्षणम्—

अग्रे वातवहा नाडी मध्ये वहति पित्तला ।
अन्ते-श्लेष्म-विकारेण नाडी ज्ञेया बुधैः सदा ॥१५॥

वाताद् वक्रगता नाडी पित्तादुत्प्लुत्यगामिनी ।
कफान्मन्दगतिर्ज्ञेया सन्निपातादतिद्रुता ॥१६॥

वात-पित्त-नाडीलक्षणम्—

मुहुः सर्पगतिं नाडीं मुहुर्भेकगतिं तथा ।
वात-पित्त द्वयोद्भूतां प्रवदन्ति विचक्षणाः ॥१७॥

वात-श्लेष्म-नाडीलक्षणम्—

भुजगादिगतिं नाडीं राजहंसगतिं तथा ।
वात-श्लेष्म समुद्भूतां प्रवदन्ति विनिश्चयम् ॥१८॥

पित्त-श्लेष्म-नाडीलक्षणम्—

मण्डूकादिगतिं नाडी मयूरादिगतिं तथा ।
पित्त-श्लेष्म-समुद्भूतां प्राहुर्वैद्यविशारदाः ॥१९॥

सन्निपात-नाडीलक्षणम्—

मन्दं मन्दं शिथिल-शिथिलं व्याकुलं वा,
स्थित्वा स्थित्वा वहति धमनी याति नाशञ्च सूक्ष्मा ॥
नित्यं स्कन्धे स्फुरति पुनरप्यंगुलीन् संस्पृशेद् वा,
भावैरेवं बहुविधतरैः सन्निपाते त्वसाध्या ॥२०॥

असाध्यनाडी—

यात्युत्कटा स्थिराऽत्यन्तं या चैव मन्दगामिनी ।
या च सूक्ष्मा च वक्रा च तामसाध्यां विनिर्दिशेत् ॥२१॥

मृत्यु-नाडीलक्षणानि—

व्याकुला शिथिला मन्दा स्थित्वा स्थित्वा प्रयाति या ।
स्थानं क्रमेण मुञ्चन्ती नाडी मरणशंसिनी ॥२२॥
अत्यन्तशीतला नासा स्तैमित्यं नेत्रयोरपि ।
स्थानच्युतिश्च नाडीनां सद्यो मरणहेतवः ॥२३॥
जहाति यस्य स्वस्थानं यवार्धमपि नाडिका ।
न स जीवितमाप्नोति त्रिदिनेनैव पञ्चताम् ॥२४॥

अजीर्ण-नाडीलक्षणानि—

अजीर्णादुद्भवा नाडी कठिना पूरिता जडा ।
प्रसन्ना स्फुटिता शुद्धा क्षुधा—नाड़ी प्रशस्यते ॥२५॥

बालवृद्धादि-नाडीलक्षणानि—

बालानामपि वृद्धानां मूकानामपि देहिनाम् ।
उन्मत्तानामभिन्यास—-विमूढ—-मनसामपि ॥२६॥
व्यस्तं समस्तं द्वन्द्वञ्च दोषरूपमशेषतः ।
दर्शयत्यचिरादेव नाडी द्रव्याणि दीपवत् ॥२७॥

त्रिकाल-नाडीलक्षणानि—

प्रातः श्लेष्मगतिर्नाडी मध्याह्ने चातिपित्तला ।
अपरा वातिका ज्ञेया पुनःपित्ता निशार्धके ॥२८॥

नाडीगत-वायुसञ्चार-कृत्यम्—

स्पर्शनात् पीडनोद्भूताद् भेदनान्मर्दनादपि ।
तासु प्राणस्य सञ्चारं प्रयत्नेन विशोधयेत् ॥२९॥

नाडीपरीक्षा--निषेधकालः—

व्यायामतृष्णातपपीडितस्य बुभुक्षतो भुक्तवतो हि जन्तोः।
अभ्यञ्जन-स्नान-वधूपभोग-क्रियासु नाडी न विबोधनीया ॥३०॥
सद्यःस्नातस्य भुक्तस्य निद्रितस्योपसेविनः ।
व्यवाय—श्रान्त—देहस्य समर्थोऽपि न बुध्यते ॥३१॥
भुक्तस्य सद्यःस्नातस्य निद्रितस्योपसेविनः ।
व्यवायश्रान्तदेहस्य भूतावेशिनि रोदने ॥३२॥
सुन्दरीणाञ्च संयोगे मद्यपाने मतिभ्रमे ।
गान्धारीभक्षणे चैव पवनाभ्याससाधके ॥३३॥
कुक्कुटी—शश—मण्डूक—सर्प—मांसादि—भक्षणे ।
अपस्मारे श्रान्तदेहे नाडी सम्यङ् न बुध्यते ॥३४॥

नाडी—विरहितवैद्यदोषाः—

नाडी—गतिमविज्ञाय यः करोति चिकित्सितम् ।
आरोहति गिरिं सोऽन्धस्तस्य यानसमं विदुः ॥३५॥

स्पर्शलक्षणम्—

ततः स्वरूपं पश्येद्धा श्यामं भाति प्रभञ्जने ।
हरिद्रा—रक्त—वर्णाभं गात्रं प्रायो विभाति च ॥३६॥
पाण्डुरस्य च वर्णाभं स्वरूपं कफरोगतः ।
मिश्रजं द्वन्द्वरोगे तु विवर्णं सान्निपातिके ॥३७॥

शब्द—स्वरूपम्—

ततः शब्दगुणं वक्ष्ये समशब्दः समीरणे ।
सहर्षोल्वणवाक् पित्ते श्लेष्मरोगे च हीनता ॥३८॥
द्वन्द्वे च मिश्रिता ज्ञेया भिषक्शास्त्रविशारदैः ॥३९॥

इति वसवराजीया नाडी

—:०:—

परिशिष्टम्

[अस्मित् परिशिष्ट-प्रकरणे 'नाडीतत्त्वदर्शन'-निबन्धविषये वाराणस्यां तत्परीक्षणं परीक्षकाणां सम्मतयः, वैद्य-समाजस्याभिनन्दनं, दूतधराद्वारा नाडी-परीक्षण-साफल्यसूचकानि कानिचन प्रमाणपत्राणि संगृहीतानि सन्ति । यस्यां भाषायां यद् विद्यते तस्यां तादृशमेव तत् प्रकाश्यते ।]

हिन्दूविश्वविद्यालयीयायुर्वेदमहाविद्यालय-प्रधानाचार्याणां भिषक्शिरोमणि—श्रीसत्यनारायणशास्त्रिणां सम्मतिः

बुधैरामयज्ञानमुक्तं हि नाड्या त्रिदोषेण विज्ञायते साऽप्यजस्रम् ।
महापञ्चभूतेन तादात्म्यतैषां भृशं लालसीति प्रावोचि वैद्यैः ॥
साङ्गैः सोपनिषद्भिरामचयैर्वाढं प्रमाणीकृतम्,
दूतज्ञानजुषञ्च शास्त्रविधिनाऽऽयुर्वेदसिद्धान्ततः ।
सामञ्जस्यमकारि रावणकृतेः श्रीसत्यदेवेन वै,
पञ्चापाममृते सरे निवसता काश्मीरदेशेऽटता ॥
लोकोपकारः प्रभविष्यतीह ग्रन्थादमुष्मादिति निश्चयो मे ।
महर्ष्यगस्त्याश्रम-पत्तनस्थ-श्रीसत्यनारायणशास्त्रिणो वै ॥

अगस्त्य-कुण्डम् — **सत्यनारायण शास्त्री**
सौर-४,९,२००५ (६,६,१९४८ ई०) — **भिषक्-शिरोमणिः**

—:o:—

श्रीसत्यदेववाशिष्ठमहाशयेन रावणकृतां नाडी-परीक्षामधिकृत्य, विनिर्मितो नाडीतत्त्वदर्शनाख्यो निबन्धः साद्यन्तः समाकर्णितो मया । सोऽयं त्रिदोष-बीजाङ्कुरः, आयुर्वेदीय-विचारधारा-परिसिञ्चितः, पञ्चतत्त्वाप्यायितः, वेदादिप्रमाणशाखात्मकः, शतपथादि-ब्राह्मण-ग्रन्थ-स्कन्ध-संघटितः, भारतीय-दर्शनसिद्धान्त-पल्लवितः, सुसमीक्षित-विचाररमणीय-कुसुम-सौरभ-सुगन्धितः, शोभनार्थसमूह-फलान्वितः, कल्पतरुरिवायुर्वेदाध्ययनार्थिनां चिकित्सकानां च कल्पतरुरिव भविष्यतीति मत्वा मोमुद्यते मे मानसम् । स-फलोऽप्यस्य मनीषिणो मनोरथो निर्बाधां प्रगतिमाप्नुयादिति चाकाङ्क्षाऽस्मदीया ।

इदमपि साश्चर्यं सोल्लासमालोकितं मया यद् दिल्ली-स्थितस्य मदीयात्मजस्य चिरायुष्मतो धर्मचन्द्रस्य स्वास्थ्यं मदीयनाड्या यथायथं कथितमनेन महानुभावेन ।

श्लाघार्होऽयं वाशिष्ठ-महाशयो मदीय-गुरुपारम्पर्येण मदीय एवेति कृत्वा नाधिकं श्लाघ्यते । अलमिति ।

सिद्धेश्वरी, काशी, — **लालचन्द्रो वैद्यः**
२८-१२-४८ — **(प्रिन्सिपल-अर्जुन-आयुर्वेद-महाविद्यालय)**

काशी-पण्डितसभा-प्रमाण-पत्रम्

पञ्चाप-प्रदेशान्तर्गत-जालन्धरमण्डलस्थ-माहिलगहिलाख्यग्रामाभिजनेन,अमृत-सरोनगरस्य सुप्रसिद्धभिषजा, वेद-व्याकरण-काव्य-ज्यौतिषादि-विविधशास्त्रावगाहन-समुज्ज्वलमतिना, श्रीमद्भिषक्प्रवर-पण्डितनाथूराममौद्गल्याद धिगत-वैद्यविद्येन, भिषक्प्रवर-यतिवर-पण्डित-तिलकरामब्रह्मचारिभिः सस्नेहं स-रहस्यञ्च समुपदिष्ट-नाडीविज्ञान-पाटवेन, भिषक्केसरिणा वशिष्ठगोत्रोद्भवेन श्रीसत्यदेव-शर्म्मणा, प्रचुरतर-परिश्रम-सम्पादितस्याभिनव-गवेषणा-गम्भीरस्य, वेद-ब्राह्मणायुर्वेदसंहिता-गणित-दर्शनादि-प्रमाण-परम्परा-परिष्कृतस्य नाडीतत्त्वार्थदर्शनस्य निवन्धस्याक्षरशः श्रवणेन, सम्यगालोचनेन च वयं नितरां सन्तोषं प्रमोदभरञ्चावहामः। रावणकृत-नाडीपरीक्षा-प्रवन्धमुपजीव्य सविस्तरं सान्वेषणं सोपपत्तिकञ्च निवद्धे स्मिन्निवन्धे ग्रन्थकर्तु रस्य परमः प्रतिभा-प्रकर्षः, गवेषण-पाटवं, गभीरतरं विषयावगाहनक्षमत्वं, गहनतमं विषय-विमर्शन-कौशलञ्च दरीदृश्यते ।

पञ्चवर्षपरिश्रमेण वहुतरधनव्ययेन च सम्पादितो लेखकेन वहुशः स्वयमनुभूतो दूतधराविज्ञानविषयस्तु लुप्तप्रायमार्षं नाडीविज्ञानविषयं पुनरुज्जीवयन् गभीरतम-गवेषण-गरिमाणमावहन्, समेषामायुर्वेदोपजीविनां विदुषां छात्राणाञ्च कृते पथ-प्रदर्शकतामावहति। एवं त्रिदोषसंगणनीयाध्यायेऽपि त्रिदोषस्य वैज्ञानिकीं व्यापकतां प्रदर्शयन् पाश्चात्त्यचिकित्सकानां सुतरां मानमर्द्दनं करोति।

निवन्धोऽयमायुर्वेदजगति मौलिकतया प्राचीनतमार्षविज्ञान-गवेषणदृष्ट्या चमत्कारकारी नूतनतमानुसन्धानधिया च परमं महत्त्वं गौरवं प्रचारञ्चावहेदिति निर्विवादं वक्तु पारयामः ।

अस्मिन् स्वाधीनतायुगे नाडीविज्ञानविषये प्रामाणिकं सोपपत्तिकञ्च महनीयं स्पृहणीयनिवन्धं निवध्नता निवद्ध्रा सत्यमुपकृतो वैद्यलोकः समुपकृतञ्चायुर्वेदवाङ्-मयम्। तद्वयमस्य प्रचुरं प्रचारं कामयमानाः प्रखर-प्रतिभा-सम्पन्नं विद्वांसममु सादरं सस्नेहं सस्पृहञ्चाभिनन्दामः साधुवादैश्च संवर्द्धयामः।

श्रीगोपालशास्त्री दर्शनकेसरी—
[म० म०, पण्डितराजः]
[सभापति—काशी पण्डितसभायाः]

राखालदास रायः [एम० बी०, डी० पी एच०]
विद्यावाचस्पतिः

श्रीगङ्गाधरशर्म्मा वैद्यरत्नम्
आयुर्वेदाचार्यः (सभापतिः—
विहारप्रान्तीय-वैद्य
सम्मेलनस्य, गया)

श्री लालचन्द्रशर्म्मा आयुर्वेदाचार्यः
[अध्यक्ष, अर्जु न-आयुर्वेद-महाविद्यालयस्य]

श्रीबलदेववैद्यः (बड़ाग्राम, बनारस)

श्रीहरिकृष्ण-पाण्डेयः वैद्यराजः
(संस्थापकः—गणनाथ-विद्यापीठस्य,अल्मोड़ा)

श्रीकेदारनाथशर्म्मा सारस्वतः; सुप्रभात-सम्पादकः, मन्त्री—**काशीपण्डितसभायाः।**

श्रीमतां विविध-शास्त्रजुषां पण्डितप्रवर-श्रीसत्यदेववासिष्ठ–महोदयानाम्

शुभाभिनन्दनम्

श्रयि मान्या विद्वन्मणयः !

वैदेशिक-शासन-शृङ्खलानिगडितायां भारतावनौ, पाश्चात्य-संस्कृति-चाकचक्य-चमत्कृतायां भारतीय-जनतायां पाश्चात्यानामेव भौतिक-विज्ञानमेघ-संच्छन्ने भास्वरे भारतीये विज्ञान-भास्करे, ग्रस्माकमायुर्विज्ञानमपि मालिन्यमावहत् गाढं विदुनोति भारतीय–वैद्य-समाजस्य हृदयम् ।

तदिदानीं स्वाधीने भारते वर्षे ग्रायुर्वेद-विज्ञान-समुन्नतये समृद्धय् च महत्तरं कार्यमनुष्ठेयं वर्वर्तीति नाऽविदितं केषामपि सहृदयानामायुर्विज्ञानविदाम् । तदस्यां दिशि प्रथमं पदमादधता विविधविज्ञानवता भवता यदपूर्वं गम्भीरञ्च गवेषण-कार्य–मनुष्ठितं तेन सकलोऽपि वैद्यसमाजा गौरवं महिमानञ्चानुभवति, वयमपि काशीस्था वैद्या भवतां गौरवास्पदेन विज्ञानमयेन च कृत्येनानेन नितरां सन्तोषं परं प्रमोद-भरञ्चावहामः ।

विज्ञवराः !

भारतीयायुर्विज्ञानपरम्परायां नाडी-विज्ञानमेव प्रथममाधारभूतमिति निर्विवादम् । पूर्वे हि वैद्याः, नाडीपरीक्षणेन न केवलं रोगविज्ञानमेव कुवन्ति स्म, परं रोगिण ग्राहार-विहारादिकमपि विन्दन्ते स्म, पाश्चात्यभिषजोऽपि भारतीय-नाडी-विज्ञानं सचकितं साश्चर्यमवलोकयन्ति । परं दौर्भाग्य-विलसितेनास्माकं तदिदं नाडी-विज्ञानमधुना शनैः शनैर्लुप्तप्रायमिव दरीदृश्यते । ग्रस्माकं वैद्या ग्रपि ग्राङ्गला-विष्कृतयन्त्रसाहाय्येनैव कार्य्यं कुर्वन्ति ।

तदत्र विषये भवता पञ्चषवर्षाणि यावत् कठारतरतपश्चरणमिव कुर्वता वेद-ब्राह्मण-ग्रायुर्वेद-ज्यौतिष-दर्शनादि-शास्त्राणि निर्मथ्य प्रमाणानि संचिन्वता गुरू-पदेशान् रोगिषु समनुभवता भवता प्राचीनतमस्यार्षविज्ञानस्य गवेषणे प्रत्यक्षीकरणे च प्रचुरं समयधनादिव्ययं विदधता यदपूर्वमनुसन्धानं कृतं, श्रावितञ्च काशीस्थेभ्यः, ग्रन्येभ्यश्च भिषक्शिरोमणिभ्यो विद्वत्प्रवरेभ्यश्च तत् प्राचीनकालीनं संहिता-प्रवचनकाल स्मारयति ।

भिषक्केसरिणः !

भवतो नूतनं मौलिकं, सोपपत्तिकं विविधैरार्षप्रमाणैरञ्चितमपूर्वं निवन्धं श्रावं श्रावं वाराणसेयैर्भिषक्प्रवरैर्विद्वत्तल्लजैश्च यत् प्रमाणपत्रं वितीर्णं काशीस्थ-पण्डित-सभया च 'भिषक्केसरी'ति पदप्रदानेनैव भवदीयं गुणाभिनन्दनं विहितं, तत् सर्वमालोच्य काशी-मण्डलीयं वैद्यसम्मेलनमिदं नितरां गौरवं गर्वञ्च समुद्वहत् भवतः सस्पृहं सादरं सबहुमानञ्च शुभाभिनन्दनं विदधत् स्वात्मानमपि कृतकृत्यं धन्य-धन्यं मन्यते ।

ग्राशास्ते च यद्भवन्तः सर्वदा ग्रायुर्वेद-विज्ञान-सम्पत्ति-संवर्धनाय सततं सन्नद्धा वैद्यसमाजमनुग्रहीष्यन्तीति ।

भवदीय–गुणराशिमुग्धाः—

काशीमण्डल वैद्य-सम्मेलन-सदस्याः
वाराणसी

पौष कृ० १० संवत् २००५
२५ दिसम्बर १९४८

श्रीपूर्णचन्द्रज्यौतिषाचार्यस्य सम्मतिः

पण्डितश्रीसत्यदेववासिष्ठैरमृतपाणिभिर्वसिष्ठनिभे ग्रन्थिते नाडीतत्त्वदर्शनाभिधनिबन्धे निर्दिश्यमानं त्रिदोषसङ्गणनीयाध्यायं परितः समवलोक्य सहर्षमस्य याथार्थ्योपकारबाहुल्योपादेयमङ्गीकुर्वंस्तत्प्रामाण्यमुपपादयति ।

प्रकृतग्रन्थे यदत्र दूतनाडीपरीक्षणविधौ श्रीसत्यदेववासिष्ठसुधाकरेण निबन्धकर्तृणा 'अवश्ये गोचरे मर्त्यः सर्वः समुपनीयते" इति ज्यौतिषसिद्धान्तस्य विनियोगः कृतः स सर्वथा समुचित एवेति सम्मनुते—

गायघाट बनारस **पूर्णचन्द्रः त्रिपाठी ज्यौतिषाचार्यः**

१६—१२—१६४८ ई०

—:०:—

Bhiwani
8th November, 1952-

My dear Pt. Satya dev ji,

I was really wonder struck when you after feeling my pulse gave me the cent per cent correct diagnosis of the malady of my son, Shri Gian Prakash who is at Calcutta, has unfortunately been suffeiing for the last one year. I could really never believe you could give a detailed account of his trouble sitting at Bhiwani many hundreds of miles away from him. I thought there was som system of telepathy by which my pulse showed same account as that of my son at the same time, when I mentally concentrated my thoughts on him and his trouble. To my amazement you disclosed to me that any messanger not to speak of blood relations of the patient could by requesting you to feel his pulse have same to same account you gave me. This is really miracle but you support this miracle on logical basis and have actually produced before me a treatise on the subject written by you and know as which I have gone through and found extremely useful opening new avenues of knowledge not only to students of medicine but to learned vaids if I may be excused to remark this.

I believe your life long research, purity of character, absence of greed coupled with hard work have made it possible for you to unravel the mysteries of great vedas and benefit those who are fortunate enough to come in contact with you.

I wish you every success in your selfless mission and am placing my son under your treatment with prayers to the Almighty to grant cure to him and success to you. with best wishes,

Yours Sincerely,
Sd. Bhagat Ram
Town Rationing officer
BHIWANI.

To
Shri Pt. Satya Dev Vashist,
Vice Principal,
S. D. P. G. Aurvedic College,
BHIWANI.

स्वामी अनुभवानन्द जी 'शान्त' का पत्र

मेरे प्यारे वैद्य जी, स्वस्ति । यह जानकर सुखी हुआ कि काशी की वैद्य मण्डली ने "नाडीतत्त्व-दर्शन" को सुनकर पसन्द किया है । मैं तो विश्वास से कहना चाहता हूं कि कोई "टिड्ढाणत्र्" का पण्डित और "चिकित्सा-चन्द्रोदय" का वैद्य ही इसे नापसन्द करेगा—आयुर्वेद विज्ञान का विद्यार्थी इसे पढकर आनन्दित हुए विना नहीं रह सकता । कारण यह है कि, आयुर्वेदिक भवन की आधार–शिला त्रिदोष-सिद्धान्त की पृष्ठभूमि पर रखी गयी है । त्रिदोष अथवा यह त्रित्व ही मानव (प्राणी) शरीर का सञ्चालक-विचालक या संस्कारक एवं विकारक देखा जाता है । त्रिदोष का यथार्थज्ञान प्राप्त करने के लिए आयुर्वेद में जितने भी साधन प्रस्तुत किये गये हैं उन सव में प्रमुख स्थान इसी नाडीविज्ञान को प्राप्त है । नाडीविज्ञान पर ५वीं सदी (शताब्दी) में लिखे गये रावण आदि के निवन्ध मैंने पढे हैं । संसार आगे वढ रहा है । संसार का ज्ञान-विज्ञान भी अपनी अन्तिम सीमा से थोड़ा ही इधर रह गया है । किन्तु आयुर्वेद और उसका आधारस्तम्भ त्रिदोषवाद तथा नाडी-विज्ञान १६ वीं शताब्दी में लिखे गये भावमिश्र से आगे नहीं निकल सका । मैंने आपके नाडी-तत्त्वदर्शन का जितना अंश सुना और आपने सुनाया मैं तो उसे अश्रुत-पूर्व मानते हुए यही कहना चाहता हूं कि अभिनव वैद्यक–विज्ञान के जिज्ञासुओं के लिये यह आपकी देन है । आवश्यकता है कि आयुर्वेदिक विज्ञान के क्षेत्र को इतना विस्तृत किया जाये कि वह समस्त पैथियों से पूर्ण रूपेण टक्कर ले सके । आप यह जानकर प्रसन्न होंगे कि अमेरिका जैसे विज्ञान सम्पन्न देशों में भी "एट किंसन" एवं "शुशलर" जैसे प्रसिद्ध चिकित्सक मैदान में आ रहे हैं जो समस्त पंथियों को एक ओर धरकर केवल "चरक चिकित्सा पद्धति" का प्रचार करना चाहते हैं । दो साल हुये जब कि लाहौर में मुझे मराठी भाषा में एक पुस्तक देखने को मिली थी, यह अमेरीकन डा० "शुशलर" के लिखे—'रैथीरिकल थिलिङ्ग आफ़ आरटीयस' के आधार पर लिखी गयी थी । इसके अतिरिक्त एक नाडी विज्ञान नामक छोटा सा प्रवन्ध भी देखा था जो एलोपैथिक ढङ्ग पर लिखा गया था । किन्तु जो अद्‌भुत वर्णन शैली मैंने आपके पुस्तक की सुनी; वह सचमुच अश्रुतपूर्व थी, भगवान् आपको दीर्घजीवी रखें ताकि आपके द्वारा आयुर्वेद की उन्नत सेवा हो सके ।

आपका निश्छल सुहृत्—
शान्त स्वामी-अनुभवानन्द

मनोट,
पो०—जलालाबाद, जि०—मेरठ
६—११—४६

आचार्यमौद्गल्यस्य सम्मतिः

श्रीरावणकृतां नाडीपरीक्षामाश्रित्य श्रीसत्यदेववासिष्ठेन यद् व्याख्यानं व्यधायि तन्महतीं चमत्कृतिमावहति। यतो हि कोषनिरुक्त-व्याकरणादिसाहाय्यपुरःसरमप्येतद् व्याख्यानं ज्यौतिषशास्त्रस्य विशिष्टपन्थानमनुसृत्य सुवहुपरिमार्जितां स्वानुभूतिं भूयो भूयो वहुविधातुरेषु तेषामात्मीयदूतेषु च परीक्षां विधाय भिषक्प्रवरवासिष्ठस्तानखिलानप्याश्चर्यचकितानकरोदिति। इह दूतेषु च यौनसम्बन्धो नापेक्ष्यते, इत्यवधेयमिति। परिश्रमेणानेन बहुकालविलीनामेनां नाडीपद्धतिं पुनरुद्धृतां मन्वानोऽहं सुबहुसन्तोषमावहामीति। नाथुरामो मौद्गल्यः। ६. ५. ४८.

आचार्यः सनातनधर्मप्रेमगिरि आयुर्वेदिक-कालेज-लाहौर-भिवानी-दिल्ली-स्थितस्य।

—:०:—

नागपुरस्थ-भिषक्केसरी गोवर्धनशर्मा छागाणी की पुस्तक परिचय तथा आलोचनात्मक सम्मतिः—

इसमें सन्देह नहीं कि यह पुस्तक नाडी ज्ञान के तत्त्व को दर्शानेवाली है। नाडीसे सम्बन्ध रखनेवाले विषयों का विशद विवेचन आयुर्वेद पद्धति के अनुकूल किया गया है। इसके लेखक पण्डित सत्यदेव उर्दू, संस्कृत, वेद, व्याकरण, ज्यौतिषशास्त्र में निष्णात, आयुर्वेद के गम्भीर ज्ञाता और रहस्योद्घाटक हैं। लेखक ने बड़े परिश्रम और कष्ट से अनेक विद्वानों के साहाय्य से इसका निर्माण किया है और पंजाव तथा काश्मीर के हिन्दू मुसलमान विद्रोह के समय कष्ट के साथ इसे बचाकर छपाने में समर्थ हुए हैं। पुस्तक के आदि में नाडीज्ञान विशारद श्री ब्रह्मचारी तिलकराम शर्मा भिषगाचार्य की प्रस्तावना और लेखक की आपबीती कथा के अतिरिक्त इसके सम्पादक काशी वासी विद्वान् पं० केदारनाथ सारस्वत का विद्वत्ता और ऐतिहासिक तथ्य पूर्ण वक्तव्य है। इसके प्रथम अध्याय में त्रिदोष को वेदमूलक सिद्ध कर दूसरे अध्याय में नाडीपद का विज्ञान वतलाया गया है। तीसरे अध्याय में पंचमहाभूतों को त्रिदोष में और त्रिदोष से पृथक्-पृथक् जानने का क्रम वर्णन किया गया है। उस क्रम के विचार से नाडी में उसकी गति समझायी गयी है। चौथे अध्याय में सप्तधातु, त्रिमल और पंचमहाभूतों से त्रिदोष का सम्वन्ध दिखलाया गया है। पांचवें दूतनाडी विज्ञानीय अध्याय में लेखक ने कमाल किया है। विकृति विज्ञान में दूत के द्वारा रोगी के शुभाशुभका ज्ञान वैद्यको कराया गया है। इसमें दूतकी नाडी से रोगी की नाडी या रोगस्थिति जानने का विषय प्रमाण, अनुमान और गणित द्वारा वतलाया गया है। छठे अध्याय में रोगगणना का विषय है। सातवें त्रिदोष संगणनीय अध्याय में सक्षेप और विस्तार के साथ गणित द्वारा त्रिदोषकी व्याख्या की गयी है। आठवें अध्याय में रावणकृत नाडी विषय की विस्तृतव्याख्या कर विषय अच्छी तरह समझाया गया है। परिशिष्ट में कणाद और वसवराजीय नाडीज्ञान का भी उल्लेख है। इस प्रकार यह अपने विषय की आयुर्वेदिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। इसके लेखक अभिनन्दन के पात्र हैं। प्रत्येक विद्वान् वैद्य और नाडीज्ञान का सशास्त्र अध्ययन करने की इच्छा रखनेवालों के लिये अवश्य पठनीय और मननीय है।

श्री बी०बी० सिंह भल्ला की सम्मति

Dated 14th May 1983.

It gives me great pleasure indeed in recording my gratitude to Shri Satya Dev Vasishtha for having looked after my health problems for the past eight years. During the course of these eight long years, I was examined personally by Shri Vasishtha only once in 1975. The entire diagnosis and treatment thereafter has been through a unique system which Shri Vasishtha has himself invented and developed almost to the point of precision.

2 Under the above method which he describes as Doot Nadi system. Shri Vasishtha feels the pulse of the patient's messenger (who may or may not be related by blood to the patient) and diagnoses the ailment of the patient (who may be hundreds or even thousands of miles away) so accurately not only at the stage of diagnosis but also at all points of time in the past which have culminated into the present one. Besides, he precisely times the various stages of the disease and also symptoms occuring at different points of time.

3. During the eight years that I have had the benefit of his treatment, I had sent either the late Shri Hari Ram Shastri or his son and they always came back with an astoundingly accurate diagnosis of the ailments from which I suffered at different points of time.

4. For the weak and the infirm and those stationed at considerable distance from Bhiwani and not in a position to undertake the arduous journey, the Doot Nadi system is really a boon.

5. Such a system of diagnosis is unknown to the western system of medicine. It is indeed a great pity that the pseudo scientific temper of the Indian powers that he would not let them encourage the development and spread of systems like the above.

6. I wish Sh. Satya Dev Vasishtha all the success in his endeavour to bring relief to the suffering millions of poor country by his innovations.

(B. B SINGH BHALLA)

D—13A/7 Modal Town, Delhi-110009

तिथि १४ मई १९८३

मुझे, श्री सत्यदेव वाशिष्ठ के प्रति अपना आभार प्रकट करते हुए सचमुच प्रसन्नता हो रही है जो पिछले ८ वर्षों से मेरी स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं के समाधान हेतु मेरा उपचार करते रहे हैं। ८ वर्षों के इस लम्बे अरसे के दौरान श्री वाशिष्ठ ने व्यक्तिगत रूप से मेरी केवल एक बार १९७५ में, जांच की थी। उसके बाद समग्र रोग-निदान और उपचार एक अनोखी प्रणाली द्वारा किया गया जिस की खोज स्वयं श्री वाशिष्ठ ने की और जिसे लगभग पूर्ण रूप से विकसित किया।

उपर्युक्त पद्धति के अन्तर्गत, जिसे वे दूत नाड़ी प्रणाली कहते हैं, श्री वाशिष्ठ रोगी की नाडी की बजाय दूत की नाड़ी (रोगी के साथ उसका खून का रिश्ता हो या नहीं) देखते हैं और रोगी का भले ही वह सैकड़ों या हजारों मील दूर बैठा हो) इतना सही रोग-निदान करते हैं जो केवल निदान के चरण पर ही नहीं बल्कि वर्तमान में परिणत हो चुके विगत के सभी क्षणों में भी सही होता है। इसके अलावा वे रोग के विभिन्न चरणों और विभिन्न अवसरों पर स्फुट लक्षणों को भी बड़े सूक्ष्म रूप से सूत्रबद्ध कर लेते हैं।

पिछले आठ वर्षों के दौरान, जबकि मैं उनसे उपचार का लाभ उठाता रहा हूं, मैंने या तो स्व० श्री हरिराम शास्त्री को अथवा उनके सुपुत्र को भेजा और वे हमेशा मेरी उन सब बीमारियों के, जिनसे मैं विभिन्न अवसरों पर पीड़ित रहा हूं सही रोग-निदान के साथ वापिस आये।

अत्यधिक कमजोर रोगियों के लिये और ऐसे रोगियों के लिये भी, जो भिवानी से काफी दूर रहते हों और कठिन यात्रा करने में असमर्थ हों, उनके लिए दूत नाड़ी प्रणाली सचमुच एक वरदान है।

रोग निदान का यह तरीका पश्चिमी उपचार पद्धति में उपलब्ध नहीं है। यह सचमुच बड़ी दयनीय स्थिति है कि भारतीय शक्तियों की कृत्रिम वैज्ञानिक प्रवृत्ति इस प्रकार की पद्धतियों के विकास और प्रसार को पनपने नहीं देती।

श्री सत्यदेव वाशिष्ठ को अपने अन्वेषणों द्वारा इस निर्धन देश के करोड़ों पीड़ितों को राहत दिलाने के अपने प्रयासों में पूर्ण सफलता प्राप्त हो, ऐसी मेरी शुभ कामना है।

वी. बी. सिंह भल्ला
डी–13ए/7 माडल टाउन,
दिल्ली–११०००९.

कु० जयरानी भल्ला की सम्मति

Dated 14th May 1983.

Dear Shri Vasishthaji,

1. I understand from Mahesh that the Third Edition of your treatise Doot Nadi Tatva Darshanam is to be published soon. The above work is monumental in the field of Ayurvedic system of medicine in as much as it contains the research done by you in the field of diagnosis through a messenger.

2. If one were to judge the efficacy of your innovation in the field of diagnosis by the precise diagnosis of the complicated and chronic diseases that you are able to have not by feeling the pulse of the patient but by examining the pulse of the patient's messenger one would be really astounded.

3. You have examined me once in 1975 and thereafter in 1978. You have however been able to diagonose accurately each of the gynaecological, psychosmatic and other complex health problems that I have had by examinining the late Shastriji's or his son Mahesh's pulse.

4. It is indeed amazing and unbelieveable that for such a system as this there is a scientific basis. Such a System is wholly unknown to the western system of medicine. I wish research and development of systems like these were encouraged.

5. I wish to express my deep sense of gratitude to you for having looked after my health problems and I wish you all the best.

Yours sincerely,
(MISS JAI RANI BHALLA)
DEPARTMENT OF ECONOMICS
(SR. LECTURER)
MIRANDA HOUSE
UNIVERSITY OF DELHI
DELHI-110007.

तिथि १४ मई १९८३

प्रिय श्री वाशिष्ठ जी,

मुझे महेशजी से पता लगा है कि आपकी "दूत नाडी तत्त्व दर्शनम्" पुस्तक का तृतीय संस्करण शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है। यह पुस्तक उपचार की आयुर्वेदिक प्रणाली के क्षेत्र में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है क्योंकि इसमें दूत के माध्यम से रोग-निदान के क्षेत्र में आप द्वारा किए गए अनुसंधान का वर्णन है।

२. यदि कोई जटिल तथा पुरानी बीमारियों के सूक्ष्म निदान, जो आप रोगी की नाड़ी की वजाय रोगी के दूत की नाड़ी की जांच से कर सकते हैं, रोग के क्षेत्र में आपकी नवीनता की प्रभावोत्पदकता की परख करना चाहे तो सचमुच वह आश्चर्यचकित हुए विना नहीं रह सकेगा।

३. आपने एक वार १९७५ में और उसके वाद १९७८ में मेरी जांच की थी। हर वार आप स्व० शास्त्री जी अथवा उनके सुपुत्र महेशजी की नाड़ी की जांच करके मेरा स्त्री रोग, मनः शारीरिक तथा स्वास्थ्य सम्वन्धी जो भी अन्य जटिल समस्याएं थीं उनका विलकुल सही निदान करने में सफल हुए थे।

४. यह वात सचमुच आश्चर्यजनक तथा अविश्वसनीयसी है कि इस प्रकार की प्रणालो का एक वैज्ञानिक आधार है। रोग निदान की यह प्रणाली पश्चिमी उपचार पद्धति में विल्कुल उपलब्ध नहीं है। मेरी अभिलाषा है कि इस प्रकार को प्रणालियों के अनुसंधान और विकास को प्रोत्साहित किया जाय।

५. आपने मेरी स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं का जो उपचार किया उसके लिए मैं अपना हार्दिक आभार प्रकट करना चाहती हूं और आपके लिये शुभकामनाएं भेजती हूं।

भवदीया
कु० जय रानी भल्ला
अर्थशास्त्र विभाग
वरिष्ठ प्राध्यापिका
मिरांडा हाउस,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली-११०००७.

रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा

प्रकाशित वा प्रसारित प्रामाणिक ग्रन्थ

वेद तथा कर्मकाण्ड

१. **ऋग्वेदभाष्य**—(संस्कृत हिन्दी वा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सहित) प्रति-भाग सहस्राधिक टिप्पणियां, १०-११ प्रकार के परिशिष्ट व सूचियां। प्रथम भाग ३५००, द्वितीय भाग ३०-००, तृतीय भाग ३०-००।

२. **यजुर्वेदभाष्य-विवरण**—ऋषि दयानन्दकृत भाष्य पर पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत विवरण। प्रथम भाग अप्राप्य है। द्वितीय भाग मूल्य २५-००।

३. **तैत्तिरीय संहिता**— मूलमात्र, मन्त्र सूची सहित। ४०-००

४. **अथर्ववेदभाष्य**—श्री पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्यायकृत। १४-१७ वां काण्ड २४-००, १८-१९ वां काण्ड २०-००, बीसवां काण्ड २०-००। ११-१३ यन्त्रस्थ

५. **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-परिशिष्ट**—भूमिका पर किये गए आक्षेपों के ग्रन्थकार द्वारा दिये गए उत्तर। मूल्य २-२०

६. **माध्यन्दिन-(यजुर्वेद) पदपाठ**—शुद्ध संस्करण। मूल्य २५-००

७. **गोपथब्राह्मण (मूल)**—सम्पादक श्री पं० विजयपाल विद्यावारिधि। अब तक प्रकाशित सभी संस्करणों से अधिक शुद्ध और सुन्दर संस्करण। मूल्य ४०-००

८. **वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा**—श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक लिखित वेदविषयक १७ विशिष्ट निबन्धों का अपूर्व संग्रह। विशिष्ट संस्करण। मूल्य ३०-००

९. **ऋग्वेदानुक्रमणी**—वेङ्कटमाधवकृत। इस ग्रन्थ में स्वर छन्द आदि आठ वैदिक विषयों पर गम्भीर विचार किया है। व्याख्याकार—श्री पं० विजयपाल विद्यावारिधि। उत्तम-संस्करण ३०-००, साधारण २०-००।

१०. **ऋग्वेद की ऋक्संख्या**—श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक २-००

११. **वेदसंज्ञा-मीमांसा**— " " १-००

१२. **वैदिक-छन्दोमीमांसा**—श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक। नया संस्करण १५-००

१३. **वेदों का महत्त्व तथा उनके प्रचार के उपाय; वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक मीमांसा**—(संस्कृत-हिन्दी) यु० मी० ५-००

१४. **देवापि और शन्तनु के आख्यान का वास्तविक स्वरूप**—लेखक—श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु। मूल्य १-००

१५. **वेद और निरुक्त**—श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु। मूल्य २-००

१६. **निरुक्तकार और वेद में इतिहास**— " मूल्य १-००

१७. **त्वाष्ट्री सरण्यू की वैदिक कथा का वास्तविक स्वरूप**—लेखक—श्री पं० धर्मदेव जी निरुक्ताचार्य। १-००

१८. **वेद में आर्य-दास-युद्ध-सम्बन्धी पाश्चात्य मत का खण्डन**—लेखक श्री वैद्य रामगोपाल जी शास्त्री। १-००

१९. **शिवशङ्करीय लघुग्रन्थ पञ्चक**—इसमें श्री शिवशङ्कर जी काव्यतीर्थ

लिखित चतुर्दश-भुवन, वसिष्ठ-नन्दिनी, वैदिक-विज्ञान, वैदिक-सिद्धान्त और ईश्वरीय पुस्तक कौन ? नाम के पांच निबन्ध हैं। मूल्य ५-००

२०. **यजुर्वेद का स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ-समीक्षा**—लेखक पं० विश्वनाथ वेदोपाध्याय। बढ़िया जिल्द २०-००, साधारण १६-००।

२१. **वैदिक-पीयूष-धारा**—लेखक श्री देवेन्द्रकुमार जी कपूर। चुने हुए ५० मन्त्रों की प्रतिमन्त्र पदार्थ पूर्वक विस्तृत व्याख्या तथा अन्त में भावपूर्ण गीतों से युक्त। उत्तम संस्करण १५-००, साधारण १०-००।

२२. **बौधायन-श्रौत-सूत्रम्**—भवस्वामि-सायणभाष्यसहितम्। ४०-००

२३. **दर्शपूर्णमास-पद्धति**—पं० भीमसेन कृत। २५-००

२४. **कात्यायन-गृह्यसूत्रम् (मूल)**—अनेक हस्तलेखों से मिलाकर संशोधित वा सम्पादित। इस ग्रन्थ के ऋषि दयानन्द ने संस्कारविधि (प्रथम संस्करण) में लम्बे-लम्बे उद्धरण दिये हैं। मूल्य २०-००

२५. **संस्कार-विधि**—शताब्दी संस्करण, ४६० पृष्ठ, सहस्राधिक टिप्पणियां १२ परिशिष्ट। मूल्य लागत मात्र १२-००। राज-संस्करण १५-००। सस्ता संस्करण मूल्य ५-२५, अच्छा कागज सजिल्द ७-५०।

२६. **संस्कार-विधि-मण्डनम्**—संस्कारविधि की व्याख्या। लेखक—वैद्य रामगोपाल जी शास्त्री। ४-००

२७. **वैदिक-नित्यकर्म-विधि**—सन्ध्यादि पांचों महायज्ञ तथा बृहद् हवन मन्त्रों के पदार्थ तथा भावार्थ व्याख्या सहित। यु० मी० ३-००, सजिल्द ४-००।

२८. **वैदिक-नित्यकर्म-विधि**—(मूलमात्र) सन्ध्या तथा स्वस्तिवाचनादि बृहद् हवन के मन्त्रों सहित : मूल्य ०-६०

२९. **हवनमन्त्र**—स्वस्तिवाचनादि सहित। ०-५०

३०. **सन्ध्योपासनविधि**—भाषार्थ सहित। ०-३५

३१. **सन्ध्योपासनविधि**—भाषार्थ तथा दैनिक यज्ञ सहित। ०-५०

शिक्षा-निरुक्त-व्याकरण

३२. **निरुक्तश्लोकवार्त्तिकम्**—नीलकण्ठगार्ग्यप्रणीतम् १००-००

३३. **वर्णोच्चारण-शिक्षा**—ऋषि दयानन्द कृत हिन्दी व्याख्या। ०-५०

३४. **शिक्षासूत्राणि**—आपिशल-पाणिनीय-चान्द्रशिक्षा-सूत्र २-५०

३५. **शिक्षाशास्त्रम्**—(संस्कृत) जगदीशाचार्य। ५-००

३६. **अरबी-शिक्षाशास्त्रम्**— " ५-००

३७. **अष्टाध्यायी**—(मूल) शुद्ध संस्करण। ३-००

३८. **धातुपाठ**—धात्वादि सूची सहित्, सुन्दर शुद्ध संस्करण। ३-००

३९. **वामनीयं लिङ्गानुशासनम्**—स्वोपज्ञ-व्याख्या सहितम्। ८-००

४०. **अष्टाध्यायी-परिशिष्ट**—सूत्रों के पाठ-भेद तथा सूत्र-सूची। ५-००

४१. **अष्टाध्यायी-भाष्य**—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासुकृत। प्रथम भाग २४-००, द्वितीय भाग २०-००, तृतीय भाग २०-००।

४२. **संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि**—लेखक—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। प्रथम भाग १०-००; द्वितीय भाग १२-००।

४३. The Tested Easiest Method of Learning and Teaching Sanskrit (First boak)–by Pt. Brahma Datta Jijnasu २५-००

४४. महाभाष्य— हिन्दी व्याख्या। श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक। प्रथम भाग ५० ००, द्वितीय भाग २५-०६, तृतीय भाग २५-००।

४५. उणादिकोष—ऋ० द० स० कृत व्याख्या, तथा पं० यु० मी० कृत टिप्पणियों एवं ११ सूचियों सहित। अजिल्द ८-००, सजिल्द १२-००

४६. दैवम्-पुरुषकारवार्तिकोपेतम् लीलाशुकमुनिकृत कृत। १०-००

४७. लिट् और लुङ् लकार की रूप-बोधक सरलविधि— ३-००

४८. भागवृत्तिसंकलनम्—अष्टाध्यायी की प्राचीन वृत्ति। ६-००

४९. काशकृत्स्न-धातु-व्याख्यानम्—संस्कृत रूपान्तर। यु० मी० १५-००

५०. शब्दरूपावली— विना रटे रूपों का ज्ञान करानेवाली। २-००

५१. संस्कृत धातुकोश—धातुओं का अथ निर्देश सहित। १०-००

५२. अष्टाध्यायी-शुक्लयजुः प्रातिशाख्ययोर्मत-विमर्शः—लेखक डा० विजयपाल विरचित पीएच० डी० निबन्ध (संस्कृत)। सुन्दर सुदृढ़ कागज, सुन्दर छपाई, बढ़िया जिल्द सहित मूल्य ५०-००।

अध्यात्म

५३. ईश-केन-कठ उपनिषद्—हिन्दी-अंग्रेजी व्याख्या। मूल्य क्रमशः १-५०, १-५०, ३-५०।

५४. ध्यानयोग-प्रकाश—स्वामी दयानन्द सरस्वती के योग-विद्या के शिष्य स्वामी लक्ष्मणानन्द कृत। मूल्य १०-०० सजिल्द १२-००

५५. अनासक्तियोग—लेखक पं० जगन्नाथ पाथिक। १५-००

५६. आर्याभिविनय (हिन्दी)—स्वामी दयानन्द। गुटका सजिल्द ४-००

५७. Aryabhivinaya–English Translation and notes (स्वामी भूमानन्द) दोरङ्गी छपाई। अजिल्द ४-००, सजिल्द ६-००

५८. वैदिक ईश्वरोपासना— मूल्य १-००

५९. विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रम् (सत्यभाष्य-सहितम्)—पं० सत्यदेव वाशिष्ठ कृत आध्यात्मिक वैदिक भाष्य (४ भाग)। प्रति भाग १५-००

६०. श्रीमद्भगवद्-गीता-भाष्यम्—श्री पं० तुलसीराम स्वामी ६-०८

६१. अगम्य पन्थ के यात्री को आत्म-दर्शन— चंचल बहिन। ३-००

इतिहास-नितिशास्त्र

६२. वाल्मीकिरामायण—हिन्दी अनुवाद सहित। युद्ध काण्ड १०-५०।

६३. सत्याग्रह-नीति-काव्य—आ० स० सत्याग्रह १९३९ में हैदराबाद जेल में पं० सत्यदेव वासिष्ठ द्वारा विरचित। ५-००

६४. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास–श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत। नया संस्करण (सन् १९८३)। तीन भाग। पूरा सैट ७५-००

६५. संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि— लेखक—डा० कपिलदेव शास्त्री एम० ए०। सजिल्द १२-००

६६. **ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास**—ले० युधिष्ठिर मीमांसक परिवर्धित तथा परिष्कृत नया संस्करण। ३५-००

६७. **ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन**—इस बार इस संग्रह में अनेक ऋषि दयानन्द के उपलब्ध नवीन पत्र और विज्ञापन संगृहीत किये हैं। इस बार यह संग्रह चार भागों म छपेगा। दो भागों में ऋ० द० के पत्र हैं। तीसरे तथा चौथे भाग में विविध व्यक्तियों द्वारा ऋ०द० को भेजे गये पत्रों का संग्रह है। भाग १ का ३५-००, भाग २ का ३५-००, भाग ३ का ३५-००, भाग ४ का ३५-००।

६८. **विरजानन्दचरित**– लेखक-भीमसेन शास्त्री एम० ए०। नया परिवर्धित और शुद्ध संस्करण। ३-००

६९. **ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्मचरित**—सम्पादक पं० भगवद्दत्त। १-००

७०. **ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की संस्कृत साहित्य को देन**—लेखक-डा० भवानीलाल भारतीय एम० ए०। सजिल्द १२-००

दर्शन-आयुर्वेद

७१. **मीमांसा-शाबर-भाष्य**—आर्षमतविमर्शिनी हिन्दी व्याख्या सहित। व्याख्याकार–पं० युधिष्ठिर मीमांसक। प्रथम भाग मूल्य ४०-००, द्वितीय भाग ३०-००, राजसंस्क० ४०-००, तृतीय भाग ५०-००। चौथा भाग यन्त्रस्थ।

७२. **नाडीतत्त्व-दर्शनम्**—श्री पं० सत्यदेव जी वासिष्ठ। सजिल्द ३०-००

७३. **परमाणु-दर्शन**—(संस्कृत) जगदीशाचार्य। अजिल्द ५-००

७४. **षट्कर्मशास्त्रम्**—(संस्कृत) जगदीशाचार्य। अजिल्द ८-००

प्रकीर्ण

७५. **सत्यार्थप्रकाश**—(आर्यसमाज-शताब्दी संस्करण)—राजसंस्करण, १३ परिशिष्ट, ३५-०० टिप्पणियां, तथा सन् १८७५ के प्रथम संस्करण के विशिष्ट उद्धरणों सहित मूल्य २५-००, सस्ता संस्करण ३०-००।

७६. **दयानन्दीय लघुग्रन्थ संग्रह**—१४ ग्रन्थ, सटिप्पण, अनेक परिशिष्टों के सहित। लागत मात्र २५-००

७७. **दयानन्द के शास्त्रार्थ और प्रवचन**—विशिष्ट संस्करण। ३०-००

७८. **व्यवहारभानु**—ऋषि दयानन्द कृत। १-००

७९. **आर्योद्देश्यरत्नमाला**— " " ०-५०

८०. **अष्टोत्तरशतनाममालिका**-सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास की सुन्दर प्रामाणिक विस्तृत व्याख्या। पं० विद्यसागर शास्त्री। ६-००

८१. **आर्य-मन्तव्य-प्रकाश**—म० म० पं० आर्यमुनि। दोनों भाग १०-००

८२. Vegetarianism V/s Meat-Eating–कर्मनारायण कपूर ०-५०

८३. **अमीर सुधा**—भक्त अमीचन्द कृत। १-००

रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, जिला सोनीपत (हरयाणा)